आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान

डॉ० देवराज उपाध्याय

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर, हिन्दी विभाग गवर्मेंट कालेज,
अजमेर

द्वितीय संस्करण १९६३ ईसवी

पन्द्रह रुपया

मुद्रक पियरलेस प्रिंटर्स, इलाहाबाद

समर्पण

बाबूजी के श्री चरणों में,
जो केवल बाबूजी हैं,

जिनके हृदय को कोई भी विशेषण माप नहीं सकता,
जो 'बाढ़हिं पूत पिता के धरमा' के सजीव उदाहरण हैं।

—बच्चा

प्रस्तावना

मैंने डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय जी, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के निरीक्षण मे रह कर 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' शीर्षक विषय पर अनुसंधान कार्य किया था और राजपूताना विश्वविद्यालय मे पी० एच० डी० की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया था। १९५४ ई० के दिसम्बर महीने मे थीसिस स्वीकृत हुई। वही थीसिस यत्र-तत्र किंचित् परिवर्तन के साथ प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों मे जा रही है। इच्छा थी कि इसमे कुछ और जोड़-जाड़ कर दूँ और कुछ आधुनिकतम कथाकारों के रचनाओं का भी उल्लेख कर दूँ। इस प्रकार यह पुस्तक इस लाँछन से बच जाय कि इसमे बहुत से उल्लेखनीय कथाकारो की चर्चा नहीं की गई है और उनकी अवहेलना की गई है। पर यह सब कुछ प्रबल कारणों से ही संभव न हो सका।

अनुसंधान शब्द एक अर्थ विशेष के लिए ही सीमित होकर रूढ़ि का रूप धारण करता जा रहा है। किसी कवि या किसी पुस्तक की तिथि, उसकी प्रामाणिकता, पुस्तक मे वर्णित सामाजिक या राजनैतिक घटनाओं की सत्यता की जाँच पड़ताल या एतादृश अन्य बातों को ही प्रधानतया अनुसंधान कार्य समझा जाता रहा है। यह भी धारणा सी है कि अनुसंधानीय होने के लिए अनुसंधेय विषय को कम से कम ३०० वर्ष प्राचीन होना चाहिए। पर इस थीसिस के प्रायः सब कथाकार जीवित हैं और उनकी प्रतिभा आज भी सक्रिय है तथा वे ग्रन्थों के प्रणयन मे तत्पर है। इस पुस्तक मे इन्हीं कथाकारों की रचना पर मनोविज्ञान का क्या प्रभाव पड़ा है तथा उनमे मनोवैज्ञानिक सूझ कितनी-कितनी पायी जाती है, इसी का थोड़ा सा अल्पमति विवेचन किया गया है। मनोविज्ञान की अर्थ-सीमा बहुत विस्तृत है और इसमे अनेक बाते आ सकती है। पर उन सबकी चर्चा करना एक व्यक्ति तथा एक पुस्तक के बूते के बाहर की बात है। उदाहरणार्थ मेरे निरीक्षक महोदय श्री डॉ० वार्ष्णेय जी ने सुझाया था कि रचनाओं के आधार पर 'कथाकारो का मनोविज्ञान' ऐसा भी एक अनुच्छेद रहे तो अच्छा हो, पर यह हो न सका। यदि कोई अन्य आलोचक इस विषय की ओर ध्यान दे तो बड़ी अच्छी बात हो।

इस पुस्तक के पाठक दो श्रेणियों के होंगे मनोविज्ञानवेत्ता तथा साहित्यिक। दोनों को यह पुस्तक अधूरी लगेगी। प्रथम वर्ग तो यह कहेगा कि मनोविज्ञान की उपपत्तियों के साथ न्याय नहीं किया गया है। दूसरा वर्ग यह दोषारोपण करेगा कि कथा को कथा के रूप में न देख कर उसे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के ग्राहक के रूप में देखने की चेष्टा की गई है। पर यह भी बात ठीक है कि दोनों को कुछ सतोष भी प्राप्त होगा। एक कहेगा, चलो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कथा को समझने समझाने की प्रथा की नींव तो पड़ी। दूसरा कहेगा, कि यह तो देखने को मिला कि प्रगतिशील मनोविज्ञान के कथा क्षेत्र प्रवेश ने वहाँ कौन से परिवर्तन उपस्थित किये हैं और क्या संभावनाएँ हैं।

मैं सभी कथाकारों तथा लेखकों का कृतज्ञ हूँ जिनकी रचनाओं ने मुझे अध्ययन की ओर अग्रसर किया है। विद्वद्वर डॉ० वार्ष्णेय जी जिनका पथ प्रदर्शन पद पद पर मिलता रहा है उनके लिए धन्यवाद का कोई भी शब्द मेरे हृदय के श्रद्धापूर्ण भावों का प्रतीक मात्र ही हो सकेगा। उनकी महती कृपा है कि उन्होंने प्रस्तावना लिख कर मुझे प्रोत्साहित किया है। यह उनकी ही चीज है। वे ही इसका प्रस्तावना लिखने के अधिकारी थे।

अन्त में राजपूताना विश्वविद्यालय का तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का कोटिशः धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने आर्थिक अनुदान देकर इस पुस्तक के प्रकाशन में सहायता पहुँचायी है। किमधिकम्।

देवराज उपाध्याय

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' का द्वितीय सस्करण पाठकों की सेवा मे उपस्थित हो रहा है। पुस्तक के प्रथम संस्करण का स्वागत हिन्दी जगत् ने जिस उत्साह के किया, वह सचमुच ही किसी भी लेखक के लिए उत्साह-वर्द्धक होना चाहिए। द्वितीय संस्करण मे अत्यधिक विलम्ब हो गया, इसका उत्तर दायित्व प्रकाशक से अधिक मुझ पर ही है। प्रकाशक ने गत वर्ष ही मुझसे इसकी तैयारी करने के लिए कहा था, परन्तु ऐसा हो नहीं सका, क्योंकि आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। उसमे आये दिन तरह-तरह के प्रयोग होते रहे है। अतः द्वितीय संस्करण मे भी पुस्तक को ज्यों का त्यों जाने देना अच्छा नही लगा। इस तरह पुस्तक पूर्ण रूप से अद्यतन नहीं हो पाती। ऐसी तो आज भी नहीं है। परन्तु अंतिम अध्याय मे कुछ नये उपन्यासों की चर्चा अवश्य कर दी गई है। इस तरह पुस्तक के पढ़ने से पता चल जायेगा कि मनोविज्ञान के समावेश की दृष्टि से हिन्दी कथा-साहित्य कितना आगे बढ़ सका है।

एक अध्याय और भी जोड दिया गया है, जिसमे मनोविज्ञान और कथा साहित्य पर सैद्धान्तिक दृष्टि के विचार किया गया है और यह देखने की चेष्टा की गई है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से कथा-साहित्य की समृद्धि की क्या-क्या सम्भावनाएँ हो सकती है इसमे विदेशी उपन्यासो से भी उदाहरण दिये गए है। सही बात तो यह है कि आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य अनेक बातों मे विदेशी कथा-साहित्य का ऋणी है और वहीं से मूल प्रेरणा ग्रहण कर रहा है। अतः विदेशी उपन्यासों थोडा से प्रकाश लेकर हिन्दी कथा-साहित्य के कोनों को देखना अनुचित नहीं है। मैं इसलिए कह रहा हूँ कि पुस्तक के प्रथम संस्करण को देखकर कुछ लोगों ने यह सकेत किया था कि इसमें विदेशी उपन्यासों की चर्चा आवश्यकता से अधिक है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि आवश्यकता से अधिक है या नहीं ? परन्तु इस तरह की चर्चा की अधिकता इस तरह की पुस्तक मे अनिवार्य है क्योंकि मनोविज्ञान का समावेश हिन्दी में एक नई चीज है।

पुस्तक के प्रथम संस्करण मे मैंने इस बात की कल्पना की थी कि आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य मे मनोवैज्ञानिकता का समावेश बढ़ता जायेगा,

इस बात पर खेद प्रकट किया था कि हिन्दी में कोई भी उपन्यास नहीं मिला, जिसमें मनोवैज्ञानिकों के द्वारा उपस्थित किए गए जीवन वृत्तों (Case histories) का रंग आया हो। क्योंकि जीवन वृत्तों में जो बातें देखने को मिलती हैं, वे किसी भी उपन्यास से कम मनोरंजक तथा विचारोत्तेजक नहीं हैं। मैंने उपन्यास लेखकों का ध्यान इस ओर आकर्षित भी किया था। मुझे प्रसन्नता है कि अब ये बातें कथा साहित्य में आने लगी हैं जैसा कि इस पुस्तक के अंतिम अध्याय के अध्ययन से मालूम होगा। इसीलिए इस अध्याय का नामकरण मैंने किया है—'हिन्दी कथा साहित्य पर मनोविज्ञान का आक्रमण।'

जिस समय मैं यह शीर्षक दे रहा था, उस वक्त मेरे मस्तिष्क पर जोड का लेख नाच रहा था—"Psychology invades literature"। एक बात और है, इस पुस्तक में आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य का व्यवस्थित इतिहास नहीं मिलेगा, उसका विश्लेषण मिलेगा। मिलेगा व्याख्या (Interpretation) दो तरह के उपन्यास होते हैं—एक तो वह, जिसका विश्लेषण हो सकता है, वर्गीकरण हो सकता है। Analysis हो सकती है। थैकरे डिकेन्स, प्रेमचन्द इत्यादि के उपन्यासों पर विचार करने के लिए यह पद्धति अच्छी और उपयोगी प्रमाणित हो सकती है। दूसरे उपन्यास वे होते हैं—जिनकी Analysis हो ही नहीं सकती अथवा यदि analysis करने की चेष्टा भी की जाय तो उनकी ओर से कोई सुविधा नहीं मिलेगी, बल्कि उनकी ओर से विरोध प्रदर्शन हो होगा। मानो उन पर दबाव डाला जा रहा हो। यदि आप उनकी व्याख्या करें, उन पर अपना Interpretation दें तो वे बड़े उत्साह से इस बात का स्वागत करेंगे और आपका साथ देंगे। आधुनिक उपन्यास में Analysis का मादा कम होती जा रही है और Interpretation की मात्रा बढ़ती जा रही है। यही कारण है कि जिन उपन्यासों की यहाँ पर चर्चा की गई है, उनका Interpretation ही अधिक है, यह बात कुछ लोगों को खटकने वाली भी लग सकती है। कहा जा सकता है कि लेखक की ओर से मनमाने ढंग से खींचातानी की गई है। परन्तु पुस्तक में सदा इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करता रहा हूँ कि मैंने एक विशेष दृष्टिकोण से यहाँ पर अध्ययन उपस्थित किया है। आलोचक तटस्थ होने का कितना भी दावा करे, परन्तु वह पूर्ण रूप से तटस्थ हो नहीं सकता। कम से कम उसका अपना व्यक्तित्व तो साथ लगा ही रहेगा और जब यह बात सही है तो खुलकर यह बात स्वीकार क्यों न कर ली जाय कि एक विशेष दृष्टिकोण का

लेकर यहाँ पर अध्ययन उपस्थित किया गया है। अध्ययन उपस्थित करना यह यदि बहुत गम्भीर शब्द लगे और पुस्तक के गौरव के अनुरूप न हो तो मैं यह कहकर संतोष कर लूँगा कि चर्चा की गई है। मेरा यह विश्वास है कि कोई भी दृष्टिकोण त्याज्य नहीं है, यदि उसके द्वारा विवेच्य वस्तु के किसी पहलू पर प्रकाश पड़ता है, कोई ऐसा अंश उद्भासित होता है जो उसके अभाव मे अंधकार के गर्द मे छिपा रहता। यह कहने वाला सचमुच साहसी होगा कि इस पुस्तक मे दी गई व्याख्या से कथा-साहित्य के एक विशेष पहलू पर प्रकाश नहीं पड़ता।

आज कल उपन्यास इतने प्रकाशित हो रहे है कि सबों को पढ़ पाना असम्भव है। सम्भव है, बहुत महत्वपूर्ण उपन्यासों का इस संस्करण मे भी उल्लेख नहीं हो सका है। इसके लिए मैं उन लेखकों के प्रति क्षमाप्रार्थी हूँ। बूँद और समुद्र, शह और मात ये दो बहुचर्चित उपन्यास है पर जिस विशिष्ट दृष्टिकोण को लेकर मैं आगे बढ़ा हूँ, उसके अनुरूप मुझे इनमे कोई बात नहीं मिली। हाँ, 'सुहाग के नुपूर' मे मुझे कुछ उपयोगी बातें अवश्य प्राप्त हुई थीं, पर जिस कागज पर मैंने कुछ नोट्स लिये थे वे न जाने कहाँ खो गए। अतः इस पुस्तक के साथ न्याय नहीं हो सका। कुछ ऐसे उपन्यासों की भी चर्चा यहाँ पर हो गई हो जो, सम्भव है, महत्वपूर्ण न हो। इस तरह मैं दोनो तरह की त्रुटियों-अकरण और करण--(error of ommission and commission) का दो भाजन हूँ।

परन्तु इतने पर भी, इन सब त्रुटियो के बावजूद भी यदि पुस्तक के द्वितीय संस्करण ने कथा-साहित्य के अध्ययन मे थोड़ा भी योग दिया तो यह सार्थक ही रह जायेगी। प्रथम संस्करण ने इस ओर क्या योग दिया था यह तो कथा-साहित्य के मर्मज्ञों के कहने की चीज है।

हिन्दी विभाग
गवर्नमेण्ट कालेज,
अजमेर

—देवराज उपाध्याय

प्राक्कथन

आधुनिक हिन्दी उपन्यास की परंपरा बहुत पुरानी नहीं है। इसके आविर्भावको अभी पूरे सौ वर्ष भी नहीं हुए और शिल्प तथा उद्देश्य की से यह दृष्टि प्राचीन संस्कृत कथा-साहित्य से अनेक अंशों में भिन्न है। उसने अपने तत्व अनेक क्षेत्रों से ग्रहण किये हैं, किन्तु इतने अल्प काल में ही हिन्दी उपन्यास का अत्यन्त तीव्रगति से विकास हुआ है और आज वह विश्व साहित्य में आदरणीय स्थान पाने योग्य है। अपनी समस्त आधुनिक भौतिक एवं मानसिक जटिलताएँ लिये हुए जीवन उसमें इकाई बन कर समा गया है। मध्ययुग में जो स्थान महाकाव्य का था, अथवा भारतेन्दु युग में जो स्थान नाटक का था, वही, वरन् युग के अनुकूल उससे भी कहीं अधिक, महत्वपूर्ण स्थान आज उपन्यास का है। उसके द्वारा मानव मन तथा जीवन की अनेक जटिल और विषम समस्याएँ सुलझाने का पुनीत प्रयास किया जा रहा है और धीरे धीरे वह राष्ट्र की सीमाएँ पार कर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पदार्पण कर रहा है।

पिछले लगभग सौ डेढ़ सौ वर्षों में फ्रॉयड एडलर-युग द्वारा विकसित, मनोविज्ञान के अंतर्गत, मनोविश्लेषण करना तथा अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक विचार धाराओं और कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, यूरोप की इन विचारधाराओं ने मानव जीवन, फलत साहित्य, को अत्यधिक प्रभावित किया है। इन विचारधाराओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा और पड़ रहा है—कुछ प्रत्यक्ष और बहुत कुछ अप्रत्यक्ष रूप में। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हिन्दी उपन्यास की विकास-मूलक भूमिका मनोविज्ञान के क्रोड़ में पालित पोषित होने लगी थी और, ऐतिहासिक दृष्टि से, वह अपने भारतेन्दु युगीन रूप को छोड़ आगे बढ़ी। परवर्ती काल में उसमें अधिकाधिक विविध सपन्नता का जन्म हुआ।

हिन्दी के आलोचकों तथा विद्वानों ने हिन्दी उपन्यास में अभिव्यक्त बाह्य जीवन की मीमांसा तो की थी, किन्तु अन्तर्मन का स्वरूप दर्शन अभी तक अछूता ही पड़ा था। आधुनिक युग की प्रवृत्ति स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने में है। युग की इस प्रवृत्ति के अनुसार विद्वानों का हिन्दी उपन्यास में उपलब्ध अन्तर्जगत की खोज की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। प्रस्तुत

प्रबन्ध मे डॉ० देवराज उपाध्याय ने इसी जगत् मे प्रवेश करने का सफल एवं साधनापूर्ण प्रयास किया है। एक विशेष काल की औपन्यासिक दुनिया को आपने नयी आँखों से देखा और अनेक रहस्यपूर्ण तथ्यो का मार्मिक उद्घाटन किया है। प्रबन्ध में हिन्दी उपन्यास की सामान्य कहानी तो न मिलेगी, किन्तु डॉ० देवराज उपाध्याय ने उसी को नयी तरतीब से सजाया है और वह निस्सदेह अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है। उपन्यास-साहित्य के अन्य विद्यार्थियों के लिए यह प्रबन्ध प्रेरणा प्रदान करेगा।

राजस्थान विश्वविद्यालय ने प्रस्तुत प्रबन्ध को पी० एच-डी० की उपाधि के लिए पूर्णतः उपयुक्त पाया। हिन्दी आलोचना-साहित्य में यह एक महत्वपूर्ण कृति है। आशा है कि हिन्दी के विद्वान इस ग्रन्थ का सहर्ष स्वागत करेंगे।

हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी,
१६-७-१९५६

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

नये संस्करण का प्राक्कथन

डॉ० देवराज उपाध्याय की सुप्रसिद्ध कृति 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' के द्वितीय संस्करण की भूमिका लिखते समय मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है। पुस्तक के प्रथम संस्करण के प्रकाशन के बाद कथा-साहित्य की आलोचना मे भी बहुत कुछ परिवर्तन आया है और वह बहिरंग दृष्टि से अधिक अंतरंग दृष्टि से देखा जाने लगा है। इधर हिन्दी कथा-साहित्य पर बहुत से शोध ग्रंथ प्रकाशित हुए है। सभी मे डॉ० उपाध्याय की पुस्तक से प्रकाश की एक-दो किरणे अवश्य उधार ली गई है और लेखकों ने उनसे अपने क्षेत्र को उद्भासित किया है। लेकिन फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि डॉ० उपाध्याय ने जिस मार्ग का उद्घाटन किया है, उस पर कोई आलोचक अधिक बढ़ सकता है। अभी तक उपाध्याय जी अपने क्षेत्र मे अद्वितीय है।

आलोचक की महत्ता की एक कसौटी यह भी है कि वह आलोचना को कुछ ऐसे शब्द दे जायँ, जो अपनी बातों को सशक्त और समर्थ रूप मे अभिव्यक्त कर सके। सभी प्रसिद्ध आलोचको मे यह बात पायी जाती है। यदि संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियो की ओर देखा जाय तो पता चलेगा कि उनमे अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यो की बहुत सी बाते ज्यो-की-त्यो ले ली गई है। परन्तु उन्होंने कुछ दो-चार ऐसे सशक्त और सजीव वाक्य-खण्ड दे दे दिए है, जिनके द्वारा उनके दृष्टि-कोण की सहज अभिव्यक्ति हो जाती है। उसी तरह डॉ० उपाध्याय ने हिन्दी कथा-साहित्य की आलोचना को बडे ही शक्ति-सम्पन्न और अभिव्यञ्जक शब्द या वाक्य-खण्ड दिये है, जिनका प्रयोग अब आलोचना के क्षेत्र मे स्वच्छन्दता पूर्वक हो रहा है। उनमे से कुछ शब्द ये हैं—आसन्न लेखकत्त्व, पूर्व दीप्ति पद्धति, क्रियारत तथा चिंतनरत मानव, (Man in action and man in contemplation) आदि। इन शब्दों का प्रयोग तो पहले भी होती था, परन्तु डॉ० उपाध्याय ने जिस रूप में इनका प्रयोग किया है, उससे इन शब्दों मे एक विचित्र शक्ति आ गई है और अब जब आलोचक इन शब्दों का प्रयोग करता है, तो उसका अर्थ वही नहीं है, जो आज से ७-८ वर्ष पहले होता था। इन शब्दो के पीछे डॉ० उपाध्याय की सूक्ष्म चिंतन शक्ति आ गई है। यह इस पुस्तक के लिए तथा डॉ० उपाध्याय से लिए बहुत ही गौरव की बात है।

इस द्वितीय संस्करण में दो और अध्याय जोड़ दिये गए हैं। एक 'मनोविज्ञान और कथा साहित्य' बहुत ही महत्वपूर्ण अध्याय है जिसमें विविध दृष्टि से कथा साहित्य पर विचार किया गया है और कहीं कहीं तो बहुत ही विचारोत्तेजक बातें कही गई हैं। आजकल कथानक रूढ़ियों की ओर से साहित्य के अध्ययन की प्रथा सी चल पड़ी है। डॉ० उपाध्याय ने इस अध्याय में दिखाया है कि कितनी तरह की मनोवैज्ञानिक कथा रूढ़ियाँ हो सकती हैं। यद्यपि कथा रूढ़ियों का वर्णन सम्पूर्ण तो नहीं है, परन्तु यह नये मार्ग का निर्देशन अवश्य है। यह एक नया और मौलिक कार्य है। आगे चलकर स्वयं डॉ० उपाध्याय या और लोग इस ओर अपना ध्यान अधिक दे सकते हैं।

दूसरे नये अध्याय का नाम 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य पर मनोवैज्ञानिक आलमन्य है।' इस अध्याय में यह बात दिखाने की चेष्टा की गई है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन सात आठ वर्षों में कथा-साहित्य ने क्या उन्नति की है, कौन सी नयी प्रवृत्तियों ने प्रवेश किया है, तथा वे प्रवृत्तियाँ जो प्रविष्ट हो चुकी थीं, उन्होंने कितनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली है और आगे चलकर क्या सम्भावनाएँ हैं। यूरोपीय देशों में तो कथा-साहित्य ने ऊँचाई और गहराई दोनों दृष्टियों से ऐसा उत्कर्ष प्राप्त कर लिया है कि बहुतों को यह आशंका होने लगी है कि उपन्यास कहीं खत्म तो नहीं होने वाले आये दिन (Death of Novel) पर विचार विनिमय होते रहते हैं। (उदाहरणार्थ दे०, ग्रैनवाल हिक्स 'द लिविंग नॉवेल, न्यू यॉर्क, १९५७ इ०) हिन्दी में यह अवस्था तो अभी नहीं आयी है। पर हमें सतर्क होकर आगे बढ़ना है और यह देखना है कि हमारे यहाँ भी यह समस्या उपस्थित न हो जाय। डॉ० उपाध्याय की इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण से जहाँ कुछ बहुत ही स्पष्ट बातें मालूम होंगी, वहाँ कुछ नयी चर्चाएं चल जाने की सम्भावनाएं भी हो सकती है। मैं इसे शुभ लक्षण मानता हूँ। स्वस्थ दृष्टिकोण से हम अपनी समस्या पर जितना ही विचार करें उतना ही अच्छा है।

आशा है प्रथम संस्करण की तरह ही इस संस्करण का भी हिन्दी जगत के द्वारा सोत्साह स्वागत होगा।

हिन्दी विभाग—इलाहाबाद यूनीवर्सिटी,
३० मार्च, १९६३ —लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

विषय-सूची

उपन्यासों में उनका प्रवेश, प्राचीन और नवीन उपन्यासों में प्रेम चित्रण प्रेम चर्चा, आधुनिक उपन्यासों में असाधारण परिस्थिति की आवश्यकता, युद्धकालीन मान्यताएँ और हिन्दी उपन्यास, पाद टिप्पणियाँ—३६७ ३६७

उपन्यास कला का अन्तर्प्रयाण आधुनिक उपन्यासकार और युग की तिलमिलाहट, इसे अन्य युगों से पृथक् कर देने वाला विशिष्टता का अभाव, पर कोई व्यापकतत्व खोज निकालना ही होगा जिसमे हम उपन्यास कला की गति विधि के समझने मे सहायता मिले, वह व्यापक तत्व है कथा का अन्तर्प्रयाण,इस क्षेत्र म जितने भी वाद आये हैं उनका मूल कारण यही है इसके लिएकथा को चार चरण उठाने पड़े हैं, प्रथम युग एपीसोडिक उपन्यासों का जिसम जीवन की समस्या बाहर से छेड़ी गई है प्रेमचन्द के पूर्व तक हिन्दी उपन्यास की यही अवस्था रही, द्वितीय युग प्लॉट उपन्यासों का, ये 'किम' से आगे बढ़कर कथ' और 'वेन' का वर्णन करते हैं, इस युग के हिन्दी म प्रेमचन्द्र प्रतिनिधि हैं, द्वितीय युग की त्रुटियाँ एव तृतीय युग का प्रारम, तृतीय युग में उपन्यासकला आत्मनिष्ठ हो गई चतुर्थ युग म उपन्यास कला मानव अन्तस्थल क उन भावों को पकड़ने का प्रयत्न करती है जो शब्दातीत भी हो सकते हैं बर्गसाँ के सिद्धान्तों का उपन्यास कला पर प्रभाव, आधुनिक रचना में समय की अवधि का लघुता, आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों क तीन टेकनीक, पूर्व दीप्ति इसम घटनाओं क अतीत का क्रमिक वर्णन नहीं रहता परन्तु वे पात्रों की स्मृति से अतीत क अधकार को दीप्त करती चलती हैं, अत उपन्यास म मनोवैज्ञानिकता बढ़ जाती है, पूर्व दीप्ति पद्धति की त्रुटि, कथा म असतुलन, इसका परिमार्जन चेतना प्रवाह पद्धति ने किया चेतना प्रवाह पद्धति का इतिहास, आधुनिक उपन्यास का आत्म निष्ठता (Subjectivity) उपन्यासकर अपने उपन्यास का महत्वपूर्ण अग हो गया है, वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने वाला तटस्थ प्रेक्षक मात्र नहीं, आधुनिक उपन्यास में स्वगतोक्ति, पहले के उपन्यासों की तानाशाही आज भी है, पर वह बाह्य जगत की न होकर आन्तरिक जगत की है मनोविज्ञान के प्रभाव से घटनाओं के महत्व में ह्रास, मनोविज्ञान,

आमुख

आधुनिक कथा-साहित्य की प्रवृत्तिका मनोविज्ञान से मेल

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य परिमाण की दृष्टि से इतना विशाल है कि इसके प्रत्येक पहलू, प्रत्येक अंग तथा प्रत्येक प्रवृत्ति के विश्लेषण तथा विशदीकरण के लिये अधिक समय, परिश्रम तथा सामूहिक एवं सुसंगठित प्रयत्न की आवश्यकता है। एक पहलू की भी गहराई तथा उसके विस्तार के सम्यक् पर्यालोचन के लिये स्थान, समय और प्रयत्न की विशालता कम अपेक्षित नहीं है, परन्तु यदि अल्प शब्दावली मे, एक शब्द के लाघव को भी पुत्रजन्मोत्सव की तरह मानने वाली सूत्र-पद्धति मे इस अर्द्ध शताब्दी के कथा-साहित्य की प्रगति की कथा कही जाय तो वह होगा आन्तरिक प्रयाण-प्रवृत्ति अर्थात् कथा-साहित्य मनुष्य के स्थूल जगत को छोड़ कर उसके मनो-जगत की ओर अग्रसर होता गया है। यदि आज भी उसमे थोड़ी स्थूलता का अवशेष रह गया है तो इसी लिये कि उस स्थूलता के द्वारा ही हमे आन्तरिक जगत की झाँकी मिल सकती है। यों तो प्रत्येक क्षेत्र मे मनुष्य की प्रवृत्ति स्थूल से सूक्ष्म की ओर ही है। वेदान्त के चिन्मय अद्वैत सूक्ष्म तत्व की बात पर विश्वास करने में हमे आज थोड़ी कठिनाई भले ही हो क्योंकि उस भाषा मे हम आज सोचने समझने के अभ्यस्त नहीं हैं, पर आइन्स्टाइन इत्यादि की वैज्ञानिक शब्दावली ने आधुनिक मस्तिष्क के लिये बोधगम्य रूप में बतला दिया है कि सूक्ष्म जगत का महत्त्व क्या है ?[१] आज हम अणुयुग में निवास कर रहे हैं, जिनमें मनुष्य की बुद्धि बृहदाकार प्रस्तर-खडों की ओर न देख कर इन्द्रियातीत से प्रतीत होने वाले अणु के रहस्यों के साथ उलझ रही है। अतः हमारे कथाकार की प्रतिभा अब बाहरी वस्तुओं से प्रेरित न होकर मानव मनोजगत के सूक्ष्म तत्वों से ही प्रेरणा ग्रहण करती है और जहाँ वे उसे सहज ही प्राप्त हो सकें अपनी कला को उनकी ओर ही मोड़ती है।

प्रस्तुत निबन्ध का दृष्टिकोण

इस निबन्ध में यथाशक्ति यह दिखलाने की चेष्टा की गई है कि आज के मनोविज्ञान के आलोक में हिन्दी कथा-साहित्य की वाटिका में विचरने

वाले व्यक्ति को कैसे-कैसे दृश्य देखने को मिलते हैं। हमने आधुनिक कथा साहित्य को जिस विशेष दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया है वह साधारण पाठक का दृष्टिकोण नहीं है पर एक ऐसे पाठक का दृष्टिकोण है जो आलोच्य साहित्य में एक विशेष वस्तु को ढूँढ रहा है और जहाँ उस वस्तु की थोड़ी झलक उसे मिल जाती है, वहाँ वह थोड़ा ठहर कर उस पर विचार कर लेता है, अपनी चित्तवृत्ति को थोड़ा रमा लेता है और फिर आगे बढ़ जाता है। वह देखना चाहता है कि किस कथाकार की रचनाओं में कहाँ तक आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का साक्षात् उपयोग किया गया है और उनके प्रदर्शन के उद्देश्य से ही कथाओं का निर्माण हुआ। यदि ऐसी दृढ़ सोद्देश्यता न भी हो, तो कहाँ तक आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक के प्रति उनमें सहिष्णुता है अर्थात् जब हम उन्हें आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषा में देखने सुनने लगते हैं तो वे कहाँ तक हमारा साथ देती हैं और उसके अनुरूप ढल जाती हैं। अत वैयक्तिक रुचियों, पक्षपातों तथा निर्णयों के प्रति उदारता से ही देखना होगा।

बीसवीं शताब्दी के ज्ञानवृक्ष की सबसे तरुण, नवजवान, स्फूर्त, कोमल तथा लचीली शाखा मनोविज्ञान की है और वह नवयौवन की उमंग में सारे विश्व पर छा जाना चाहती है। सबसे परिचय करना चाहती है, सबसे से कुछ लेना और सब को कुछ देना चाहती है। जिस तरह युवावस्था जिज्ञासा, कौतूहल, विकास और प्रसार का युग है, उसी तरह इस नवयुवक विज्ञान में सबको अपने अन्दर समाहित कर लेने की अदम्य प्रेरणा है। उसके पास जीवन की सब समस्याओं का हल करने की शक्ति है। चाहे वह विश्वव्यापी युद्ध के विस्फोट की हो, चाहे मिल में हड़ताल की समस्या हो, चाहे परिवार में उठने वाले नित्य प्रति के छोटे-छोटे झगड़े हों—सब का मूल कारण बतला कर उनके समाधान और निराकरण के साधन मनोविज्ञान के पास हैं। ऐसी परिस्थिति में कथा-साहित्य के क्षेत्र में मनोविज्ञान के नेतृत्व में पधारना और उसके द्वारा प्रभावित दृश्यों को देखने की लालसा का जाग्रत होना स्वाभाविक है। यदि तुलसी, सूर, प्रेमचन्द तथा प्रसाद के साहित्य की व्याख्या के लिये मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों की सेवाओं को नियोजित किया जा सकता है तो फ्रायड, एडलर, जुंग इत्यादि ने मानव के रहस्योद्घाटन के जो साधन बताये हैं, उनसे कुछ आलोक के कण माँग कर हम सत्य के तिमिरावृत्त कुछ अंश को उद्भासित क्यों न करें? मनुष्य के इतने विविध रूप हैं और उस पर इतने आवरण हैं, वह इस तरह

निविड़ अंधकार से आच्छादित है कि प्रकाश की चिनगारी जिस ओर से भी आती हो उसकी सहायता ले ही लेनी चाहिये।

हिन्दी कथा-साहित्य ने मनोविज्ञान से प्रभाव ग्रहण तो किया है पर पूर्ण रूप से नहीं

इस शताब्दी के मानव मनोविज्ञान सम्बन्धी अनुसधानों ने व्यक्ति के विविध रूपों के अध्ययन, उसकी रचना, संगठन तथा विकास की नीति के निर्धारण तथा उसे प्रभावित करने वाली कल्पनातीत शक्तियों के प्रमाण—पुष्ट-निश्चयीकरण द्वारा यदि साहित्य के किसी अंग की समृद्धि के लिये मार्ग प्रशस्त किया है तो वह कथा-साहित्य का है। अंग्रेजी मे दो शब्द है ट्रुथ और फिक्शन अर्थात् सत्य और कल्पना। ये दोनों परस्पर-विरोधी तत्व माने जाते हैं। सत्य से हमारा अभिप्राय अनुभव-गम्य, परिचित, इन्द्रिय-ग्राह्य तथा साधारण बुद्धि-संवेद्य भावों से होता है। जिन भावों तथा पदार्थों को अपनी अनुभूति के क्षेत्र के सजातीय मान लेने मे हमे कठिनता नहीं होती, जिनसे हमें समान-धर्मित्व के भाव सहज ही प्राप्त हो जाते हैं, उन्हे हम सत्य की संज्ञा देते हैं और जो जरा दूर पड़ी हुई सी वस्तु मालूम पडती है, जिन्हें देखते ही हम तादात्मय-स्थापन का आनन्द नहीं पाते, जिनसे बंधुत्व के भाव-बधन से बँधने मे कुछ रुकावट सी मालूम पड़ती है उन्हे हम काल्पनिक तथा मिथ्या कह कर अपने हृदय की झुंझलाहट प्रगट करते हैं। परन्तु जिस व्यक्ति ने यह कहा होगा कि Truth is Stranger than fiction[2] अर्थात् सत्य कल्पना से अधिक विस्मयजनक और अद्भुत है यह उसकी आत्मा के उस दिव्य अतः विरल क्षण की वाणी होगी, जिसमें प्रकृति देश और काल के आवरण को हटा कर मनुष्य के सामने विशुद्ध रूप से आत्म-समपर्ण कर देती है। हो सकता है कि इस दिव्य भाव को स्फुरण जिसके कंठ से हुआ हो वह भी इसके यथार्थ गुरुत्व को नहीं समझ सका हो। पर आज के मनोवैज्ञानिकों के अध्यवसाय ने हमारे सामने जो वृत्तेतिहासों (केस-हिस्ट्री) का वृहद् संग्रह उपस्थित कर दिया है उसके सामने तिलस्मी और जासूसी कथाये फीकी पड़ जाती हैं, बच्चों के खिलवाड़ जैसी। स्टेकल ने, फ्रायड ने तथा इस क्षेत्र में कार्य करने वाले मनःविदों ने स्वप्नों की जो व्याख्या की है, बाहर से देखने मे सीधे-सादे लगने वाले अथवा अनर्गल और अर्थहीन लगने वाले स्वप्नों की, मनोविकारग्रस्त मनुष्यों की विचित्रताओं की, बाल्य जीवन को जो नई व्याख्या दी गई है, उसे पढ़ कर कौन आश्चर्यचकित न हो जायेगा?

१८९५ में फ्रायड और ब्रुअर ने सम्मिलित रूप से एक पुस्तक लिखी थी स्टडाज इन हिस्टीरिया (Studies in Hysteria)। इसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा है "मुझे भी यह देख कर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि जिन लोगों की बातें लिख रहा हूँ वे पढ़ने में उपन्यास की तरह लगती हैं, माना किसी वैज्ञानिक विवेचना की सारी विशेषताओं से उन्होंने हाथ धो लिया हो। परन्तु मुझे इस बात का संतोष है कि पुस्तक के इस रूप धारण कर लेने में विषय की विशिष्टता ही उत्तरदायी है, मेरी अपनी रुचि नहीं। हिस्टीरिया के रोगियों के अध्ययन के लिये केन्द्रीय निदान तथा विद्युत प्रतिक्रियायें इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं। परन्तु मानसिक व्यापारों की विस्तृत विवृत्ति से (जैसा कि कवियों द्वारा सुनने में आया है) और कुछ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रयोग से हिस्टीरिया के स्वरूप को समझने में अधिक सहायता मिल सकता है।"[१] मनोविज्ञान और कथा-साहित्य में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसी से पता चल सकता है कि १९३४ में एडवर्ड ग्लोवर ने मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के लिये पाठ्य-क्रम बनाया था। इसमें कुछ उपन्यासों का अध्ययन भी अनिवार्य बतलाया था। (Helene Deutsch) ने अपनी पुस्तक दी साइकोलाजी आफ वामन (The Psychoeogy of Women) में अपने सिद्धान्तों की व्याख्या के लिये रूसी उपन्यासों की विस्तृत मनोवैज्ञानिक व्याख्या का सहारा लिया है।[४] समय आ गया है कि नूतन प्रतिभा इस क्षेत्र की ख्याति से उद्भासित हो तथा प्रतिदान स्वरूप यहीं से प्रेरणा भी ग्रहण करें। जिस तरह मनुष्य जाति अपनी बढ़ती जनसंख्या तथा उसकी माँगों से प्रेरित हो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये नूतन स्थानों की खोज में निकलती है, पृथ्वी में स्थानाभाव की अवस्था में मंगल ग्रह पर जाकर जीवन की परम्परा सुरक्षित रखने के लिये उत्सुक है, उसी तरह कथा का जीवनी शक्ति स्वाभाविक रूप से इसे इसी मनोविज्ञान की नई दुनियाँ की ओर जाने के लिये प्रेरित करेगी।

वास्तव में कथा मनुष्य को बाह्य संसार के क्षेत्र में रम कर उसका रत्ती-रत्ती अंश छान आई है, उसका प्रत्येक अंग अभिशोषित हो चुका है। यदि हमारी दृष्टि वहीं तक सीमित रहा तो कथा के रूप के विकास का सम्भावना कम है। आज भी हिन्दी में एक सजग पाठक-वर्ग उत्पन्न हो गया है जो अपने कथाकारों से कुछ नई चीज माँग रहा है। हमारा कथाकार भी इस माँग के प्रति उदासीन नहीं है। जैनेन्द्र ने अपने 'दो चिड़ियाँ' नामक कहानी संग्रह की भूमिका में कहा है 'पाठक मुझ से और हिन्दी के और

लेखकों से माँग करें कि वे जीवन की अधिक गहराई की, जी को अधिक छूने वाली चीज दें, नहीं तो अपनी जगह छोड़ें।[५] प्रेमचन्द के शब्दों में सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।[६] इलाचन्द जोशी ने भी इसी तरह के विचार अपनी विवेचना[७] नामक पुस्तक मे प्रगट किये हैं। अज्ञेय के सारे साहित्य का प्रयाण ही इसी मनोविज्ञान के झंडे के नीचे हुआ है। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि हम देखे कि इस मनोविज्ञान के प्रवेश ने कथा क्षेत्र में कौन-कौन सी प्रतिक्रियाये उत्पन्न की हैं, उसकी परम्परा को मोड़ने मे कहाँ तक सफल हुआ है, एक दूसरे में कहाँ तक पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ। इसकी अन्तर्निहित संभावनाये क्या हैं, इससे क्या भय हैं और क्या लाभ है?

प्रस्तुत निबंध से पता चलेगा कि हमारा कथा-साहित्य किस तरह ज्ञात या अज्ञात रूप में मनोविज्ञान के सिद्धांतों से प्रभावित होता जा रहा है और यदि साक्षात् प्रभाव ग्रहण नहीं कर रहा है तो भी मनोविज्ञान मे दिलचस्पी लेने के कारण ही उसकी भाव भङ्गिमा मे, वस्तु-विन्यास में, अभिव्यक्ति के प्रकार में, तथा उसकी शिल्प-विधि में क्या अन्तर होता जा रहा है? यदि हमारा कथाकार अपनी कथावस्तु की योजना एक विशिष्ट ढङ्ग से करता है, एक विचित्र भाषा का प्रयोग करता है, घटनाओं को धुनिये के समान धुनक-धुनक कर रुई के मुलायम गल्ले की तरह बना देना देता है अथवा सब्जेक्टिव को ही आबजेक्टिव बना कर उपस्थित करता है या आबजेक्टिव को ही सब्जेक्टिव बना कर पेश करता है तो यह मनोविज्ञान का चमत्कार है। प्रेमचन्द के परवर्ती कथा-साहित्य के पाठक के मन मे एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है। क्या कारण है कि प्रेमचन्द तक की कथाओं मे स्वप्नों का कुछ भी महत्व नहीं है? कथा के सारे पात्र समूह खूब जी भर कर काम करते हैं, उछल-कूद करते हैं, सागर को लाँघते हैं, हिमगिरि को हिलाते हैं, डट कर भोजन करते हैं और रात को टाँग पसार कर गहरी नींद सोते हैं। मध्यकालीन युग के आख्यानकों में पूर्वराग के लिये स्वप्न दर्शन की चर्चा अवश्य है पर स्थूल रूप मे, उसके पीछे मनोवैज्ञानिक संकेत नहीं। तिस पर भी हम इतने भर की योजना के लिये ही उनका महत्व स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि सूर, तुलसी तथा जायसी को मनोवैज्ञानिकता का ज्ञान उच्चकोटि का था।

पर आज का युग बेचैनी का युग है, पाचन शक्ति की दुर्बलता का युग है, फरस्ट्रेशन का युग है, हमारा मन विकृत है, भोजन की गम्भीर तृप्ति

क्या होती है हम नहीं जानते, सुख निद्रा क्या होती है हम भूल गये हैं अ
अपनी अतृप्त आकांक्षाओं के कारण रात भर स्वप्न देखते रहते हैं। मन
विज्ञान ने हमारे सामने स्वप्नों के सांकेतिक महत्व को स्पष्ट कर के रख दिय
है। यहाँ तक कि उनकी भाषा के समझने के लिये कुंजी भी बताई है। अत
क्या आश्चर्य है कि अज्ञेय और इलाचन्द जैसे आधुनिक कथाकारों के साहित्य
में स्वप्नों की चर्चा में अभिवृद्धि हुई हो। इस तरह हम ज्यों-ज्यों गहराई से
विचार करेंगे तो पता चलेगा कि हमारे कथा-साहित्य में परिवर्तन का क्रम
एक निश्चित नियम के अनुसार हो रहा है और वह नियम मनोविज्ञान का
है। मनोविज्ञान अंतिम विश्लेषण में जीवन शब्द का पर्यायवाची हो जाता
है क्योंकि जिसे हम जीवन कहते हैं। वह अधिकांश रूप से हमारे मनोजगत
की सूक्ष्मता की ही वस्तु है। अत मनोविज्ञान हमारे साहित्य की सबसे अधिक
जीवन्त और जागरूक धारा कथा साहित्य को प्रभावित करे तो इसमें कोई
आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य इसी पर है कि वह मनोवांछित रूप में हमारे
साहित्य क्षेत्र को फलप्रद नहीं बना रहा है। दुःख होता है कि फिक्शन से
भी अधिक ट्रू (सच्चे) लगने वाले केस हिस्ट्री के समुदाय ने हिंदी में एक
भी उपन्यास या कहानी की सृष्टि नहीं की है। कहानियाँ तो एक आध मिल
भी जाती हैं पर उपन्यास तो शायद एक भी न हो।

'नाग फाँस' नामक कहानी में आधुनिक मनोविज्ञान का स्पष्ट प्रभाव

उदाहरण के लिये हिंदी के तरुण कहानीकार विष्णु प्रभाकर की "नाग
फाँस" नामक कहानी को लीजिये। एक माँ है, बुढ़िया, पगली, अर्द्ध विक्षिप्त-
सी। उसका एक पुत्र कहीं भाग गया है, दूसरा पुत्र युद्ध में कोई कमीशन
पाकर युद्ध के मोर्चे पर चला गया। इसी तरह उसके सात पुत्र उसको छोड़
कर चले गये। एक ही पुत्र रह गया है। कालेज में पढ़ता है। मलेरिया से
वह आज महीनों से पीड़ित है। अच्छी से अच्छी दवायें दी जा रही हैं।
बीच बीच में अच्छा भी हो जाता है। जब जरा स्वस्थ हो जाता है तो उसे
कालेज जाने की धुन सवार हो जाती है। सब बड़े चिंतित हैं। डाक्टर उसके
रोग के न छूटने का रहस्य नहीं समझ सकता। एक बार वह डाक्टर उस
बालक के पिता की सलाह से रात को छिप कर वातावरण की परीक्षा करना
चाहता है। वह देखता क्या है कि दवा देने के समय मां उठती है और
शीशी से दवा फेंककर केवल शुद्ध जल ही दवा के नाम पर रुग्ण पुत्र को
देती है। यह सब काम कुछ इस ढङ्ग से होता है कि माँ के चेतन को इसका

कुछ भी ज्ञान नहीं, जिस तरह इल्लती (Compulsive neurotic) को अपनी कुछ हरकतों का ज्ञान नहीं होता। वास्तव मे माँ का अन्तर्मन नहीं चाहता कि बालक स्वस्थ हो, क्योंकि स्वस्थ होने पर, डर है, अन्य पुत्रों की तरह दगा देकर वह भाग जायेगा। पर माँ का सचेतन मन पुत्र की स्वस्थता के लिए व्याकुल भी है। इस कहानी की कथावस्तु ऐसी है जो असाधारण मनोविज्ञान की बातों से मिलती-जुलती है। इस तरह की कहानियों का अवतरण हिन्दी के लिये नया दिशा निर्देश है और इस क्षेत्र का कथाकारो को अपनी प्रतिभा के द्वारा उर्वरित करने के अनेक अवसर है। अभी तक हमारे कथाकारों का ध्यान दृढतापूर्वक इस ओर आकर्षित हुआ नहीं है।

निबन्ध में ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव के कारण

इस निबन्ध मे हिन्दी कथा-साहित्य मे मनोवैज्ञानिकता के विकास को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा नहीं की गई है। कारण कि मनोविज्ञान को यहाँ जिस अर्थ मे लिया गया है, वह हमारे सृजनशील कथाकारों के लिये ही नहीं अपितु मनोवैज्ञानिकों के लिये भी सर्वथा नूतन है। जीवन और मनुष्य की समस्या को, मनुष्य के व्यक्तित्व को इस विशिष्ट मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति मनोविदों मे भी बीसवीं सदी के प्रथम दशक मे प्रारम्भ हुई। भारत मे, विशेषतः हिन्दी साहित्यिकों मे तो, फ्रायड, एडलर, जुंग इत्यादि के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रचार १९३० के बाद होने लगा है। अतः हिन्दी कथा साहित्य की धारा पर इन मनोवैज्ञानिक सिद्धातों की छाप बहुत विलम्ब से पड़नी प्रारम्भ हुई। प्रेमचन्द तक का कथा-साहित्य इनके प्रभावों से एक तरह निर्लिप्त सा ही है। कदाचित् प्रेमचन्द की चतुर्शताधिक कहानियों की राशि मे से एक भी कहानी नहीं मिले जिसमे जैनेन्द्र की 'ध्रुव-यात्रा', इलाचन्द जोशी की 'किडनेप्ड', अज्ञेय की 'कोठरी की बात' तथा विष्णु प्रभाकर की 'नागफाँस' जैसी कहानियों का मनोवैज्ञानिक नुकीलापन, तीक्ष्णता तथा उग्रता मिले। यह धारा हमारे साहित्य की गंगा की धारा मे अभी हाल ही मे सम्मिलित होकर सहायक नदी की तरह उसे समृद्ध करने लगी है। इसकी विशिष्टता हमे अपनी ओर ध्यान देने के लिये प्रेरित कर भी रही है। पर इसका कोई इतिहास नहीं बन सका है। कोई परपरा नहीं बन सकी है। इतिहास से हमारा अर्थ यह है कि कोई धारा सौ-पचास वर्षों तक, निरन्तर दो-तीन पीढ़ियों तक चलकर अपने वरदानों से हमारे साहित्य को नये रंगों से रंगती हुई पुनः स्वयं दूसरे रूप में परिणत हो गई हो।

यह बात हमारे आलोच्यकाल अर्थात् प्रेमचन्द के परवर्ती कथा साहित्य में नहीं पाई जाती। सब कथाकार समकालीन हैं, सबों का आविर्भाव करीब करीब एक साथ ही हुआ है और सब कथाकार साहित्यिक पट को विविध मनोवैज्ञानिक तंतुओं के सयोग से चित्र विचित्रमय बनाने में सलग्न हैं। अत हिन्दी कथा साहित्य के आधुनिक काल म बीसवीं सदी के तृतीय दशक के परवर्ती काल में मनोविज्ञान के ऊपर विचार करते समय विशुद्ध और दृढ़ इतिहास के मार्ग पर चलना सभव नहीं था। इसके लिये और कारण न भी हो तो भी इस पथ का अवलम्बन इसलिये ही अवरुद्ध था कि अभी इस क्षेत्र में मनोविज्ञान का इतिहास बना नहीं है। अब बना रहा है। इस निब ध में मनोवैज्ञानिक कथा साहित्य के इस बन रहे रूप को, शत्रु और शान्त प्रत्य यात्त रूप को देखने का प्रयत्न किया गया है। सिद्ध वस्तु को नहीं परन्तु सिद्धि की क्रिया में लगे रहने वाले रूप को देखने की चेष्टा की गइ है। एक आलोचक विद्वान के शब्दों में "बीसवीं शताब्दी की सबसे उल्लेखनीय बात जो इसे पूर्व का शताब्दियों से पृथक् करती है वह यह है कि इसे अपनी प्रतिक्रियाओं का अत्यतम ज्ञान है और यह अपने समय की घटनाओं का उसी समय वर्णन करने की असख्य चेष्टायें करती हैं जब वे हो रही होती हैं।[१] आज बीसवीं शताब्दी की आलोचना अपने साहित्य के किसी अग के प्रवाहमान विद्यमान, बन रहे वाले रूप को देखने समझने के उत्तरदायित्व से मुख नहीं मोड़ सकती। उसे कहीं न कहीं प्रारभ करना ही होगा। अब तो हम जीवन के कीटाणुओं का गति विधि का अध्ययन करने लगे हैं। जन्मोपरात जान की स्थिति की बात दूर रखें हम गर्भ स्थित पिंड के विकास तथा उसकी उचित सुरक्षा की चिन्ता करने लगे हैं। तब हमारे आलोचना साहित्य की बनती परम्परा के प्रति हम क्यों उदासीन रहें और उसकी चरम परिणति तक प्रतीक्षा करें? हम किसी को कहने का क्यों अवसर दें कि साहित्य में तो मनोवैज्ञानिक युग प्रारम्भ हो गया था पर जनता अर्थात् आलाचक उसी स्थूल विवरणात्मक युग में रह रहा था। डा० शुक्ल जी ने आधुनिक गद्य के आविर्भाव का परिचय देते समय तथा भारतेंदु के साहित्यिक महत्व का निर्देश करते हुए कहा है। "इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य का नवीन मार्ग दिखलाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में लाये   काल की गति के साथ उनके "भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गये थ पर साहित्य पाछे ही पड़ा था।"[१] अत थोड़ा मूल्य देकर, कुछ परित्याग कर भी, इतिहास को बाद देने के लिये विवश होने

पर भी हम अपने कथा-साहित्य के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से विरत नहीं होंगे।

इस तरह के अध्ययन के लिये हमे कुछ और भी हानि सहन करने के के लिये तैयार रहना पड़ेगा, विशेषतः इस सीमित समय और स्थान मे। आज हिन्दी साहित्य मे कथाकारों की संख्या सौ से कम नहीं होगी। उन पर पृथक-पृथक लिखना संभव नहीं। किसी विशेष चिन्ता-धारा का अध्ययन कुछ विशेष प्रतिभावान व्यक्तियों के साहित्य के द्वारा सम्यक् रूप से हो सकता है। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द जोशी, यशपाल इत्यादि को हम आधुनिक प्रतिनिधि कथाकार मान सकते है। प्रेमचन्द जी तो हिन्दी मे आधुनिक मनोवैज्ञानिक कथा-साहित्य के प्रवर्तक हैं ही। उनका अध्ययन एक तरह से कौशिक, ज्वालादत्त शर्मा तथा सुदर्शन और विश्वम्भरनाथ 'जिज्जा' का अध्ययन है। इतना ही नहीं। उनके संबंध मे कही हुई बातें अनेक अंश मे भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, अश्क इत्यादि के सम्बन्ध मे भी लागू हो सकती हैं, चाहे समय के प्रवाह के कारण, समाज के सामने नई-नई परिस्थितियों तथा उनके साहित्यिक प्रतिपादन के कारण थोडे रंग मे परिवर्तन भले ही आ गया हो। कुछ विशिष्ट कथाकारों की रचनाओं में भी उनके सब पहलुओं का विचार करना न तो संभव ही है और न आवश्यक।

हम एक विशिष्ट उद्देश्य से प्रवृत्त हुए हैं। हम कथा साहित्य में मनोविज्ञान प्रवेश की प्रतिक्रिया ढूँढ रहे हैं, इसके लिये उन्हीं कहानियों तथा उपन्यासों को लेना समीचीन है जिनमें मनोवैज्ञानिक रंग गाढ़ा हो। उदाहरण के लिये प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कहानियाँ तथा प्रसाद जी की 'प्रतिध्वनि' मे सग्रहीत कहानियाँ इस दृष्टि से विशेष महत्व को नहीं। साथ ही यह भी कोई आवश्यक नहीं कि सब लेखकों के लिये तथा निबन्ध से सम्बन्धित सब विषयों के लिये अलग-अलग परिच्छेद हो। प्रेमचन्द वाले परिच्छेद मे उनके पूर्व के कथा साहित्य मे मनोविज्ञान की क्या अवस्था थी इसकी चर्चा मिल जायेगी। उसी तरह अज्ञेय की कहानियों के सम्बन्ध वाले परिच्छेद मे 'प्रसाद' की कहानियों के मनोवैज्ञानिक महत्व का पता चल जायेगा। मेरा उद्देश्य आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य की एक अधिकार-पूर्ण आलोचना उपस्थित करना उतना नहीं जितना उसकी दृश्यावली के एक अंश को उचित परस्पेक्टिव में, दृष्टि परम्परा मे रखकर देखना और दिखाने का एक प्रारंभिक प्रयत्न रहा है। आज २०-२५ वर्षो से हिन्दी कथा साहित्य मे मनोवैज्ञानिकता की जो एक रेखा प्रवेश कर रही है, उसे प्रभावित कर

रही है और जिसे आज का पाठक उपन्यास पढ़ते समय ढूँढना भी चाहता है, उसी का एक खाका खींचना इतना ही भर इस निबन्ध का उद्देश्य है। मैंने हिन्दी के सब कथाकारों को नहीं लिया है और जिनकी रचनाओं की यहाँ चर्चा की गई है उनमें भी सब पर विचार करने का अवसर यहाँ नहीं आया है। अनेक उपन्यासकार हैं जिसकी रचनायें बड़ी महत्वपूर्ण हैं, जिनके द्वारा हिन्दी कथा साहित्य समृद्ध हुआ और जिनके साहित्य के लिये मेरे हृदय में अत्यधिक आदर के भाव हैं और जिन्हें किसी अन्य परिस्थिति में छोड़ देना असम्भव होता है, उन्हें भी मैंने छोड़ दिया है क्योंकि उनमे मेरी बातों का कोई दृढ़ और स्पष्ट उदाहरण न मिल सका है। उन्हीं कथाकारों को इस निबन्ध में स्थान मिल सका है जिनमे मनोवैज्ञानिकता की धारा दृढ और स्पष्ट है।

पाद टिप्पणियाँ

१ $E = MC^2$ i e Energy = (Mass × velocity of light)^2
अर्थात् E (शक्ति) M (पिण्ड) से गुणित प्रकाश वेग के वर्ग के बराबर है प्रकाश वर्ग वेग = ३ × १०^{१} सेंटीमीटर अथवा १८६००० मील प्रति सेकेन्ड।

२ बायरन की एक पुस्तक डान जुआन से उद्धत।

३ Studies in Hysteria By Breur and Freud 1895 114

3 I myself am struck by the fact that the case histories which I am writing read like novels, and as it were dispense with the serious features of the scientific character Yet I must console myself with the fact that the nature of the subject is apparently more responsible for this issue than my own predil ections Focal diagnosis and electrical reactions are really not important in the study of hysteria Where as a detailed discussion of the psychic processes as one is wont to hear it from the poet and the application of a few psychological formulate allows one to get an insight into the course of the events of hysteria

(Breur and Freud 1895 p 144)

४. Psychology of women Vol. I By Helene Deutsch chapt. 10. "The influence of Environment P. 282-296 जहाँ Alexan dra Kollontay के The ways of नामक उपन्यास के पात्रों के सहारे साइकोएनेलिसिस के सिद्धान्तों को समझाया गया है। इस पुस्तक में टालस्टाय और गोर्की के पात्रो की भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है।
५. 'दो चिड़िया' नामक कहानी संग्रह की भूमिका
६. मानसरोवर प्रथम भाग की भूमिका पृ० ५ पांचवां संस्करण १९४५
७. विवेचना पृ० ११५ से १२६ द्वितीय सस्करण
८. भारतेन्दु युग में भी साहित्यिक स्वप्नो की चर्चा हुई है पर वे स्वप्न मनोवैज्ञानिक न होकर सामाजिक हैं और समाज सुधार की दृष्टि से लिखे गये हैं।

What is more remarkable about the twentieth century, and what marks it off from the previous centuries, is the intense awareness it has of its own processes, and its innumerable attempts to describe what is happening, while it is still happening.

९. Assesssment of Twentieth century Literature by Isaacs P. 15. 1951.
१०. हिन्दी साहित्य के इतिहास ले० स्व० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सातवां संस्करण सं० २००८ पृ० ४४९।

प्रथम परिच्छेद

विषय प्रवेश

निबन्ध का उद्देश्य

प्रेमचन्द जी तथा उनके परवर्ती उपन्यासकारों की रचनाओं से मनुष्य के मनोविज्ञान को किस रूप में उपलब्ध किया गया है, मानसिक वक्रताओं और जटिलताओं को कहाँ तक और किस रूप में सन्निविष्ट करने का प्रयत्न हुआ है, आधुनिक युग के मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों ने उनके उपन्यास साहित्य को कहाँ तक प्रभावित किया है, इत्यादि बातों का अध्ययन करना हमारा उद्देश्य है। साथ ही यह देखने का भी यहाँ प्रयास किया गया है कि मनोविज्ञान के उत्तरोत्तर वर्द्धमान प्रभाव के कारण उपन्यास की रचना पद्धति में, कथा कहने के ढंग में, वर्ण्य विषय के निर्वाचन में, भाषा के प्रयोग में, कथोपकथन के प्रकार में, कथा की अवधि में किस प्रकार के परिवर्तन उपस्थित होते गये हैं। इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि इस शोध निबन्ध का उद्देश्य (१) हिन्दी उपन्यास साहित्य के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत करना नहीं है, (२) किसी विशेष उपन्यासकार तथा कुछ उपन्यासकारों की कला का सांगोपांग अध्ययन करना भी नहीं और न आधुनिक हिन्दी उपन्यासों का एक व्यापक चित्र ही उपस्थित करना है, (३) आधुनिक उपन्यासों पर एक परिचयात्मक विवरण देने का भी यहाँ प्रयत्न नहीं किया गया है, (४) हिन्दी के आधुनिक उपन्यास साहित्य की मुख्य मुख्य प्रवृत्तियों का अध्ययन करना हमारा ध्येय नहीं, (५) अनेक राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक आन्दोलनों को हिन्दी उपन्यासों ने कहाँ तक समाहित किया और उनके समावेश ने हिन्दी उपन्यासों में कौन कौन सी प्रवृत्तियों को जन्म दिया यह हमारे अध्ययन का विषय नहीं है। इनकी चर्चा यत्र-तत्र आ गई है तो इतने भर के लिये कि अन्ततोगत्वा इन सबों का आधार भी मनुष्य का हृदय और मस्तिष्क है और इन सब बाह्य क्रिया-कलापों तथा व्यापारों के माध्यम से मानवता अपने को ही अभिव्यक्त कर रही है।

वास्तविकता तो यह है कि सृजनात्मक साहित्य (उपन्यास जिसका एक रूप है) की रूपयोजना का निर्माण लेखक के अन्तस्तल में होता है और वह तत्स्थानीय नियमों के द्वारा परिचालित होता है। वह आत्मा का क्षेत्र है,

वहाँ की प्रदीप्त दीपशिखा निष्कम्प और निश्चल रूप में जलती रहती है। समाज में उथल-पुथल मचा देने वाली आँधिया और क्रान्तियों के प्रभाव-क्षेत्र से वह दूरस्थ है। वाह्य महत्त्वपूर्ण और डीलडौल वाली घटनाओं की प्रमुखता वहाँ स्वीकृत नहीं होती। यह कथन कुछ विरोधाभास सा भले ही प्रतीत हो पर तथ्य-विहीनता का दोषारोपण इस पर नहीं किया जा सकता। १६१४ के विश्व व्यापी युद्धोपरान्त साहित्य के नेताओं के द्वारा इस बात को जाचने की चेष्टा की गई थी कि इस विप्लव ने साहित्य की गति-विधि और उसके रूप-विधान को कहाँ तक प्रभावित किया है। इस प्रयास के फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकला उससे इसके प्रभाव की नगण्यता ही प्रमाणित हुई? हाँ, इसको लेकर कुछ साहित्य का निर्माण अवश्य हुआ, कुछ कहानियाँ, उपन्यास और कवितायें अवश्य लिखी गईं पर मानवता के आध्यात्मिक रूपान्तर की गम्भीरता वहाँ कहाँ प्राप्त होती है? यह कहाँ मालूम पड़ता है कि सुनाई पड़ने वाला कंठ-स्वर क्रान्तिकारी आत्मा की गहनता मे निसृत हो रहा है, इन घटनाओं ने मानव आत्मा को मूल से हिला दिया है।

फ्राँस की राज्यक्रान्ति ने हमे मानटेस्क, रूसो और वालटियर की गम्भीर रूपान्तरित वाणी का विजय निर्घोष सुनने का अवसर दिया है। पर ध्यान रखना चाहिये कि ये लेखक फ्राँस की राज्य क्रान्ति के नाम से अभिहित घटना-समूह के अग्रदूत के रूप मे उत्पन्न हुए थे। इनको वाणी ने क्रान्ति का सृजन किया था, क्रान्ति ने इनका नहीं। ये क्रान्ति के कारण रूप थे, कार्य रूप नहीं। विचार घटनाओं के पुरोगामी होते है, पहले आने वाले होते हैं, पश्चाद्गामी, बाद मे होने वाले नहीं। अतः राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक वाह्य प्रलयकारी घटनाओं को मनुष्य के आध्यात्म को परिवर्तित करने मे सामर्थ्यवान के रूप मे न देख कर इन्हे आध्यात्मिक के प्रभाव से परिवर्तनशील के रूप मे देखना ही अधिक समीचीन होगा। उपन्यास सृष्टि भी एक आध्यात्मिक क्रिया है। हमारा दृष्टिकोण यही है कि राजनीति, समाजनीति और अर्थनीति तथा इनसे उद्भूत होने वाली घटना उपन्यास-सृजन जैसी आध्यात्मिक क्रिया को प्रभावित करने के बदले स्वयं इससे कितनी प्रभावित होकर उपस्थित हुई है, यही देखना चाहिये। हमारा ध्यान इन घटनाओं से अधिक मानव की ओर हो, मनस्तत्व की ओर हो, यह देखने की ओर हो कि ये घटनायें अपने को न प्रगट कर मनुष्य को कहाँ तक प्रगट कर रही हैं। हम अन्तर्मन की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करे। हम माने कि मनुष्य का अन्तर्जीवन वाह्य सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की प्रति-

है और उसकी अवज्ञा करना उपन्यासकार के लिये कथमपि असम्भव है। वह तत्पर होकर पात्रों के भावोत्कर्ष और भावापकर्ष को, उनकी मानसिक प्रक्रिया को अपने उपन्यास का उपजीव्य बनाने लगा है। पात्रों के भावों के उत्थान और पतन को तथा उसकी मानसिक प्रक्रिया को विस्तृत रूप से पाठकों के सामने रखना यही उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता कहलाती है। आजकल मनोविज्ञान शब्द का प्रयोग जिस पारिभाषिक और शास्त्रीय अर्थ में होता है, उससे यह भिन्न भले ही हो पर इसका अर्थ स्पष्ट है।

मनोविज्ञान का अर्थ, जहाँ तक उपन्यास कला का प्रश्न है, है अनुभूति का विषयीगत तथा आत्म निष्ठ रूप (सब्जेक्टिव आस्पेक्ट आफ एक्सपारियेंस)। यदि किसी उपन्यास में घटना या अनुभूति के आत्म निष्ठ रूप की अभिव्यक्ति पर आग्रह पायेंगे तो हम उसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहेंगे। उपन्यास का वह अंश जहाँ घटना के मूल में पैठ कर उनके मानसिक कारणों की व्याख्या की गई हो अथवा उसके द्वारा उत्पन्न मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण किया गया हो, मनोवैज्ञानिक ही कहा जायेगा। इस तरह इस बात की सम्भावना हो सकती है कि पूरे उपन्यास में मनोविज्ञान का कोई विशेष आग्रह न हो, पर उसके विशेष अंश में या कुछ अंशों में मनोविज्ञान का स्पष्ट झलक हो। प्रेमचन्द जी के आगमन के पूर्व तक हिन्दी उपन्यास साहित्य की यही अवस्था रही। खत्री जी के उपन्यासों में हृदय की भावनाओं तथा मानसिक प्रतिक्रियाओं पर विशेष बल नहीं दिया गया है। उनमें आश्चर्यजनक बाह्य घटनाओं का जमघट खड़ा किया गया है। वे औपन्यासिक बाजीगर हैं जिनके पात्रों के हैरत-अंगेज कारनामें हमें अपने में इस तरह तल्लीन कर लेते हैं कि उनके मूल में जाकर देखने का मन रह ही नहीं जाता। पाठक की कौतूहल-वृत्ति पाठक की शक्ति के अधिकांश को इस तरह निश्चेष्ट कर देती है कि आगे बढ़कर और कुछ देखने सुनने की हिम्मत उसमें रह ही नहीं जाती। यदि उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता का पुट आया है तो केवल उसी रूप में कि उन्होंने कभी-कभी अपने पात्रों के क्रिया कलापों के कारण बतलाये हैं। विशेषतः उस समय जब कि वे क्रिया कलाप परिस्थिति के अनुकूल न हों। एक मित्र अपने मित्र से या प्रेमी अपनी प्रेमिका से सद्भाव पूर्ण व्यवहार करता है, उसकी संगति में उठता-बैठता है तो यह स्वाभाविक ही है। इसमें कोई भी खटकने वाली बात नहीं। परन्तु हम शत्रु के प्रति अनुराग प्रदर्शन करने लगें अथवा जिस व्यक्ति के हृदयस्थ विरोधी भावों का पता

मे दूसरे अकाट्य प्रमाणों द्वारा चल चुका है अपने उस शत्रु के प्रति हम सहृदय हो उठे तो इस असाधारण तथा अस्वाभाविक व्यवहार के लिये यथोचित व्याख्या की माँग अवश्यंभावी है और जब तक इस माँग की पूर्ति नहीं होती पाठक के हृदय को प्रबोध नहीं । ऐसे अवसर पर खत्री जी आगे आकर कथा की बागडोर सम्भाल लेते हैं और अपने पात्रों के अटपटे तथा असंगत व्यवहारों के कारण बतलाते हैं। इसी रूप मे उनके उपन्यासों मे यत्किंचित् मनोवैज्ञानिकता का समावेश पाया जाता है अन्यथा उनके सारे उपन्यास बहिर्मुखी हैं, उनकी घटनाओं के आकर्षण मे पड़कर हम मानव मन को भूल-सा ही जाते है।

उपन्यास की परिभाषा

हमारी सभ्यता के लिये उपन्यास को वही स्थान प्राप्त है जो प्राचीन युग मे लोक कलाओं, (फोक आर्ट) को था। उस युग मे तत्कालीन सम्पूर्ण मानव की अभिव्यक्ति का प्रयत्न नृत्य, गीत, अभिनय, चित्र, मूर्ति इत्यादि कलाओं के द्वारा होता था। आज हम सिनेमा और टेलीविजन तक पहुँच गये हैं और जीवन के परिवर्तन के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति के साधनों में परिवर्तन होता जा रहा है। नये साधनों के आविष्कार और पुराने साधनों के परिष्कार मे मानव जाति सलग्न हैं। मानवता के ऐतिहासिक विकासक्रम मे नयी-नयी कलाओं का विकास होता गया है, उदाहरण के लिये सिनेमा, टेलीविजन। पर ऐसा कभी नहीं हो सका है और न भविष्य मे होने की सम्भावना ही है कि किसी भी कला का मनुष्य ने सर्वथा परित्याग कर दिया हो, एक बार की आविष्कृत कला सदा के लिये मर गई हो। कारण यह है कि सारी प्रकृति मे ही जड़ से चैतन्य की ओर विकसित होने की अदम्य प्रेरणा है और वह इस चैतन्य विस्तार मे सहायक छोटे से छोटे साधन को भी हाथ से जाने देना नहीं चाहती। अपने चारों तरफ विस्तृत जगत के प्रति सम्वेदनशीलता जगाये रखने वाली एक-एक साँस को वह संजोकर रखना चाहती है। अतः यह कल्पना करना कि ऐसा समय भी आ सकता है कि किसी कला का अस्तित्व सदा के लिये मिट जाय, व्यर्थ है।

नावेल (Novel) उपन्यास नवीन युग और सभ्यता की कला के क्षेत्र मे सर्वश्रेष्ठ देन है। इसकी जड बहुत पुरानी और गहरी है। यूरोपीय साहित्य में इसकी जड़ें ट्रिमालचियो के (Trimalchio)[२] वान्केट

(Banquet) डाफनिस (Daphnis)[3] क्लाप (Chlop)[4] तथा हिरोडोटस (Herodotus)[5] तक खींच कर लाई जा सकती है। भारतीय साहित्य में पंचतंत्र, गुणाढ्य की वृहद् कथा, बौद्ध जातक कथाओं से होते हुए वेदों में आये वृत्तान्तों तक इसकी जड़ को खोजते खोजते हम पहुँच जा सकते हैं। परन्तु इतना निस्सन्देह है कि यह आधुनिक सभ्यता की गोद में पल कर ही जवान हुआ है। यहीं पर उसने अपने स्वतंत्र अस्तित्व और अपने स्वतंत्र रूपरेखा, रंगढंग की घोषणा की तथा लोगों से स्वीकृति पाई। अपने २०० ३०० वर्षों की अवधि में आधुनिक सभ्यता ने प्रत्येक कला, मूर्ति, चित्र, स्थापत्य, नृत्य, संगीत को कुछ न कुछ परिमार्जित तथा परिष्कृत कर अपने अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया, पर उपन्यास की स्थिति इन सबों से भिन्न है। कुछ तो इसलिये कि आधुनिक युग में भी यह इधर की उपज है। कह सकते हैं परवर्ती अर्द्धान्द, लेटर हाफ (later half) की। यूरोप में भी उपन्यास कला १८, १६वीं शताब्दी में विकसित हुई। भारत में तो और भी बाद, अंग्रेजों के सम्पर्क के पश्चात्। पर कुछ इसलिये भी कि इस विशाल इतिहास के विकास क्रम की अवधि में अन्य कलायें अपनी चरमावस्था में पहुँच गई थीं। उनका हर तरह से शोषण हो चुका था, हर परिस्थिति और अवस्था में डाल कर वे अपनी परीक्षा दे चुकी थीं। उनकी मुख्य मुख्य समस्यायें हल हो गई थीं। पर उपन्यास कला की अनेक उलझनमयी समस्याओं में से केवल एक ही समस्या हल हो सकी थी। यह सब से सीधी समस्या थी कहानी कहने की कला। १६वीं शताब्दी तक उपन्यास कला ने एक बात में कमाल जरूर हासिल कर लिया था अर्थात् एक चुस्त दुरुस्त सुसंगठित कथा कहने में। पर उपन्यास का काम केवल कथा कहना मात्र नहीं है। यदि इतना ही रहता तो उपन्यास नाम से अभिहित एक नूतन कला की क्या आवश्यकता थी? मानव ने तो इसका आविष्कार इसलिये किया था कि यह वह काम कर सके जो अन्य कलायें आज तक समुचित रूप में करने में असमर्थ रहीं, पर जिसका हो सकना पूर्ण मानव के ज्ञान के लिये नितान्त आवश्यक है। अर्थात् एक ऐसी कला की आवश्यकता थी जो सम्पूर्ण मानव को दिखा सके, विशेषतः उसके आन्तरिक जीवन को। उपन्यास कला सत्य (reality) के इस पहलू का, मानव के आन्तरिक जीवन को स्पष्टतया मूर्तिमान कर देता है, जो अन्य कलाओं के लिये असाध्य है। मानव जीवन के अन्तर्तम रूप को समूर्त उपस्थित कर देने की क्षमता ही एक ऐसा रेखा है जो उपन्यास को

अन्य साहित्यिक रूप विधानों से पृथक् कर देती है और उसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करती है।

उपन्यास की कोई सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है। प्रायः यह अंग्रेजी के नावेल शब्द का पर्यायवाची शब्द समझा जाता है पर नावेल शब्द का प्रयोग अंग्रेजी मे जीन आस्टिन के अंहकार और पूर्वग्रह (Pride & Prejudice) जैसी सुसंगठित कथाओं के लिये भी किया जाता है तथा दूसरी ओर जेम्स ज्वायस के युलिसिस एवं मार्शल प्रुस्ट के अतीत की स्मृतियाँ ऐला रेसर्स दु ताप्येर्द् (A La Recherche de tempo Perdu) के लिये भी जिनमे कथा का कोई भी व्यवस्थित रूप नहीं। खत्री जी की 'चन्द्रकान्ता' और उसकी सन्तति, प्रेमचन्द जी के 'सेवा सदन' तथा अज्ञेय के 'शेखर-एक जीवनी' तथा "नदी के द्वीप" के लिये हम एकही शब्द उपन्यास का प्रयोग करते हैं। जो हो, पर जिस व्यक्ति ने उपन्यास शब्द का प्रयोग नावेल के पर्यायवाची के रूप मे किया होगा वह अवश्य ही साहित्यतत्व तथा उसके नूतन रूप-विधान-तत्व का मर्मज्ञ होगा। उप = निकट, समीप, न्यास = रखना, स्थापित करना अर्थात् उपन्यास शब्द से यह ध्वनि निकलती है कि लेखक इसके द्वारा निकट की, मन की कोई बात कहना चाहता है। इसमे मन ही प्रधान है, बात या घटना है, बात या घटना गौण। घटना कुछ भी हो पर वह मन पर प्रकाश डाले, वह मन के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए है, चाहे लेखक या पात्र का। एक आदर्श उपन्यास की घटनाओं, व्यापारश्रृङ्खलाओं और मानव मन मे पारपरिक सम्वर्द्धनशील आदान-प्रदान आवश्यक है। अंग्रेजी के एक वाक्य द्वारा इसी मंतव्य को इस तरह प्रकट कर सकते हैं—सोल शुड बी डिफाइन्ड बाई दी एक्शन आफ दी स्टोरी एण्ड एक्शन शुड बी डिटरमीन्ड बाई दी सोल आफ कैरेक्टर अर्थात् पात्र के आन्तरिक आत्म स्वरूप का ज्ञान कथा मे वर्णित क्रिया-कलापों द्वारा प्राप्त हो और क्रिया कलापों का उद्भव पात्र की आन्तरिक मनोभूमि पर हो।[६]

उपन्यासों की व्याख्या

इस दृष्टि से उपन्यासों का अध्ययन मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक भी होगा। उपन्यासों को घटनाप्रधान चरित्रप्रधान, आदर्शवादी या यथार्थवादी तथा प्रचलित आलोचना के कुछ शब्दों के सहारे कह सुन भर देने से ही उनके साथ पूर्णरूपेण न्याय नहीं हो सकेगा। हमें उपन्यास के पात्रों के व्यवहार को समझने

के लिए उपन्यास में वर्णित ससार का ध्यान तो रखना ही होगा और उसके आधार पर ही अपना निर्णय देना होगा। माना कि उपन्यास की अपनी स्वतन्त्र एक दुनिया होती है। जिसका सचालन उसके अपने ही नियमों के द्वारा होता है। पर इस स्वतन्त्र और कलात्मक विश्व के अतिरिक्त जो विधाता की सृष्टि है, जिसमें जड़ से लेकर चेतन तक का निवास है, उसका भी ज्ञान रखना नितान्त आवश्यक है। हम मानव के मनोभावों, उसके अनुराग विराग, सुख दुख इत्यादि परिस्थितिमूलक व्यवहार का अच्छा परिचय रहना चाहिये। तभी हम समझ सकते हैं कि वास्तविक जीवन और उपन्यास के वर्णित जीवन में क्या और किस तरह का सम्बन्ध है।

उपन्यास में पात्रों के जीवन की परिमित अवधि की ही कथा होती है। शायद ही कोई उपन्यास मिले जिसने वृद्धावस्था तक अपने पात्रों का साथ क्रियात्मक रूप से दिया हो। प्राय नायक और नायिकाओं का औपन्यासिक जीवन १६ से लेकर ४० तक का ही होता है। भुवन रेखा की ओर से हट कर गौरा के प्रति प्रणयोन्मुख हुआ अथवा सुमन ने सेवासदन की स्थापना कर ली पर अभी भी उनके जीवन की एक लम्बी अवधि अवशिष्ट है जिसकी गतिविधि की कल्पना हम जीवन सम्बधी अन्य ज्ञान के सहारे कर सकते हैं। भले ही यह कहा जाय कि औपन्यासिक अपने पात्रों को घनिष्टतम रूप में जानता है, उपन्यासकार के व्यक्तित्व में स्रष्टा और कथाकार दोनों का व्यक्तित्व सम्मिलित है, वह अपने पात्रों को उस तरह जानता है जिस तरह माँ अपनी सन्तान को। अत वह अपनी कृति के विषय में सजीवतापूर्वक कह सकता है। पर इतना होने पर भी यह निश्चित है कि उपन्यासकार के लिये भी मानव हृदय की सारी तहों को खोलकर उसकी सारी जटिलताओं का प्रदर्शन कर सकना असम्भव है। आजकल के कुछ औपन्यासिकों ने किसी पात्र के कुछ घंटों के ही मानसिक आलोड़न प्रतिलोड़न का विस्तारपूर्वक दिखलाने का प्रयत्न किया है, पर उन्हें भी जीवन की सारी विविधता और संकुलता में दिखला सकने में सफलता नहीं मिल सकती, तो जीवन के अधिकाश अश को घेरने वाले उपन्यासों के लिये तो इसमें अनुल्लघनीय बाधायें हैं। तब उपन्यास में वर्णित जीवन को पूर्णता में देखने में समर्थ होने के लिए अपनी कल्पना का आश्रय लेना होगा—उस कल्पना का जिसको वास्तविक जीवनोपलब्ध ज्ञान सामग्री के पख लगे हों।

अचेतन और उपन्यास की व्याख्या

यह तो हुई मनुष्य के चेतन मस्तिष्क की रहस्यमयता और पेचीदगियों

की बात। पर फ्रायड-प्रमुख मनोविदों ने तो हमारे सामने अचेतन और अर्द्ध-चेतन का नूतन संसार ही उपस्थित कर दिया है जहाँ की आश्चर्यमयी क्रिया-प्रतिक्रियाओं की कथा सुनकर बस तुलसी की तरह 'देखि तव रचना विचित्र अति' 'मन ही मन' समझ कर रह जाना पडता है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियो मे कोलम्बस और उसके साथियों ने नई दुनिया का पता लगाया। सत्रहवीं शताब्दी से हम विज्ञान की दुनिया का आविष्कार करने मे संलग्न रहे। परन्तु १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मनुष्य अपने ही अन्दर रहने वाले विशाल विश्व का आविष्कार कर रहा है जिसे हम आज की मनोविज्ञान की शब्दावली मे अचेतन (unconscious) कहते है। इस अचेतन संसार की गति ही निराली है। उस पर हमारा नियन्त्रण नहीं है, पर हमारे जीवन का सूत्र वहीं पर है और हम अधिकांशतः वहीं से संचालित हो रहे है। यदि उस अचेतन-स्तर की सारी प्रेरक प्रवृत्तियों का हमे ज्ञान हो तो हमारी जीवनानुभूति मे अभिवृद्धि होगी, हम अधिक ग्रहणशील बनेंगे और हम उपन्यास के पात्रों के जीवन व्यापार को अधिक सूक्ष्मता से हृदयगम कर सकेंगे। भले ही उपन्यासकार से हमे पूरी सहायता न मिलती हो। उदाहरण के लिये आधुनिक कथा-साहित्य मे साधिकार प्रवेश करने वाली और अपनी अभिव्यक्ति को जोरदार माँग उपस्थित करने वाली इन प्रवृत्तियों को लीजिये। यौन सम्बन्धी वर्णन-विश्लेषण-विषयक स्वच्छन्दता और साहस, नायिकाओं के गर्भ-स्थापन विधि का उल्लेख, किसी भारी संकटापन्न स्थित मे, मृत्युमुखोन्मुख अवस्था मे प्रणय और आत्म समर्पण की व्याकुलता, भाई-बहिनों के सम्बन्ध के वर्णन को अवाञ्छनीय सीमा तक पहुँचाने वाली स्वच्छन्दता, पुत्र द्वारा माता-पिता के प्रणय क्रीड़ावलोकन, शैशवावस्था की अधिक महत्ता, विवाहिता (परकीया, कुमारी नहीं) से प्रेम करने की प्रवित्ति, विकृत मानस व्यक्ति, शराबी, द्यूत व्यसनी और अपराधी मनोवृत्ति के पात्रों की अधिकाधिक अवतारणा करने की प्रवृत्ति, ये सब बातें ऐसी है, जिनका पूरा स्वारस्य तब तक नहीं आ सकता जब तक कि हमे फ्रायडियन मनोविज्ञान का पूरा परिचय न हो।

ऐसी परिस्थिति मे मानव मन की क्या अवस्था होती है और वह क्यों विशिष्ट रूप मे आचरण करने के लिये बाध्य है, विवश है, उस पर कौन सी ऐसी बाध्यता है कि वह कुमारी से प्रेम न कर विवाहिता के प्रति ही प्रणयोन्मुख हो सकता है। ये सब बाते फ्रायड के द्वारा बतलाई इडिपस ग्रन्थि के द्वारा अधिक स्पष्ट हो सकेगी और हम उपन्यास का रसास्वादन अधिक

सुचारु रूप से कर सकेंगे। किसी कवि की कविता का रसास्वादन हम अपने को काव्य जगत की सीमा में रख कर भी कर सकते हैं, पर कवि के जीवन की घटनाओं की सहायता यदि प्राप्त हो सके तो रहस्योद्घाटन की कुंजी ही मानो हाथ आ जाती है। कबीर की अक्खड़ता, सूर, तुलसी की विनयशीलता और केशव की रसिकता से कौन परिचित नहीं। पर कौन ऐसा व्यक्ति है जो उनके जीवन की परिस्थितियों और घटनाओं के आलोक में इन बातों को देख कर अधिक गहरे सताप का अनुभव नहीं करता। उसी तरह आधुनिक मनोविज्ञान का परिचय तथा उनके आलोक में उपन्यासों की आलोचना निस्सदेह हमारे अध्ययन विधि को अग्रसर करेगी।

आंग्ल साहित्य में उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की परम्परा

आंग्ल साहित्य में इस तरह के अध्ययन की परम्परा सी ही स्थापित हो गई है। स्वय फ्रायड ने तथा उनके प्रशसक अरनेस्ट जोन्स (Earne t Jones) ने कथात्मक साहित्य के पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इस तरह के अध्ययन में डा० जोन्स (Jones) द्वारा उपस्थित किया गया हैमलेट का अध्ययन द्रष्टव्य है।[८] हैमलेट की कथा प्रसिद्ध है। हैमलेट के पिता के निधन के शीघ्र ही पश्चात् उसकी माँ उसके चाचा से विवाह कर लेती है। यह भी पता चलता है कि पिता की मृत्यु स्वाभाविक ढङ्ग से न होकर माँ चाचा के सम्मिलित षडयन्त्र के कारण हुई है, गुप्त रूप से विष प्रयोग द्वारा उसकी हत्या की गई है। प्रथमत तो, हैमलेट इस विष प्रयोग-वाली किम्वदन्ती में विश्वास करने के लिये ही तैयार नहीं होता मानो उनके अन्दर कहीं इसके प्रति विरोध हो। द्वितीयत, हत्या की बात की स्थापना अकाट्य रूप से और दृढ प्रमाणों के आधार पर हो जाने पर भी वह अपने पितृहता चाचा से प्रतिहिंसा लेने में अक्षम्य शिथिलता का प्रदर्शन करता है। कितने अवसर आते हैं जब कि सुविधापूर्वक चाचा की हत्या हो सकता थी पर वह ऐसे अवसरों से लाभ नहीं उठाता। कहीं न कहीं पेंच है, जो इस मार्ग में बाधा के रूप में आ खड़ा होता है। वह मानो अपने पिता के हत्या पर मन ही मन सन्तुष्ट है। इस विचित्र विरोधाभास का क्या कारण ? हैमलेट के हृदय प्रतिहिंसा की भयकर ज्वाला धधक रही है पर उसकी लपटें पितृहता को छू कर ही लौट आती हैं। उसे भस्मीभूत नहीं कर देती जो वे सहज ही कर सकती थीं। इस प्रश्न पर न तो हैमलेट के द्वारा ही प्रकाश पड़ता है और न शैक्सपियर ने ही कुछ कहा है।

डॉ० जोन्स के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से इस प्रश्न के सुलझाने मे सहायता अवश्य मिलती है। उनका कथन है कि अपने संकल्प, विकल्प प्रतिहिंसा लूँ-या-न-लूँ वाली मानसिक स्थिति के प्रति हैमलेट के शैथिल्य का यह कारण है कि अपने मानस की गहराई की कर्मशील प्रवृत्तियों से वह स्वयं अपरिचित है। मनुष्य स्वयं अपने को नहीं जानता। दूसरी ओर शैक्सपियर भी मौन है कारण कि वह भी इस प्रश्न के मनोवैज्ञानिक पहलू से अपरिचित है। शैक्सपियर के व्यक्तित्व के अज्ञात और रहस्यमय कोने मे निवास करने वाली प्रतिभा के द्वारा गम्भीर मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रतिनिधित्व करने वाली घटना की सृष्टि हो गई पर उसे स्वय इसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं। हैमलेट प्रतिहिंसा के लिये व्यग्र अवश्य मालूम पडता है, अपनी असमर्थता को कोसता है, कभी-कभी भूत की बातों मे अविश्वास प्रगट करता है, कभी प्रति-शोध का अवसर पा जाने पर भी अधिक उपयुक्त अवसर के लिये कार्य को स्थगित कर देता है। पर ये सब बहानेबाजियाँ है। डॉ० जोन्स की व्याख्या है कि हैमलेट बाह्य रूप से अपने चाचा की हत्या के लिये कटिबद्ध भले ही दृष्टिगोचर हो पर ऐसे गम्भीर मनोवैज्ञानिक कारण है कि वह अपने चाचा की हत्या कर नहीं सकता। उसके चेतन मन की प्रतिहिंसा-परायणता और व्याकुलता के नीचे लाचारी है जो कार्य-सिद्धि मे बाधक होती है और हत्या के लिये उठी बाँह को थाम लेती है। वह एक वय प्राप्त शिशु है। स्वाभाविक विकास क्रम के अनुसार उसे इडिपस[१] परिस्थिति से आगे बढ़ जाना चाहिये था, पर वह पूर्णरूपेण इस अवस्था से मुक्त नहीं हो सका है। जिस तरह शिशु हृदय मे अपनी माँ के प्रेम के प्रतिद्वन्द्वी पिता के प्रति द्वेषमूलक भाव रहते हैं और वह उसे अपने मार्ग से हटा देने की कामना किया करता है। उसी तरह हैमलेट का अचेतन मन अपने पिता की हत्या पर प्रसन्न ही है। वह इस हत्याकाड मे अपनी सफलता का बीज देखता है और इस विषय मे सहायक अपने चाचा के विरुद्ध उसका हाथ झट से नहीं उठता!

अतः डा० जोन्स की स्थापनाये ये है (१) हैमलेट अपनी माँ को प्यार करता था और पिता के प्रति द्वेप के भाव उसके हृदय मे वर्तमान थे। पर ये भाव सामाजिक दृष्टि से उतने ही निन्दनीय थे। अतः दमित होकर अचेतन मन की गुप्त कन्दरा मे चले गये और अति क्षतिपूरण (over compensation) की प्रक्रिया द्वारा निस्तारित होकर पिता के प्रति बाह्य रूपेण अत्यादर के रूप मे परिणत हो गये। (२) हैमलेट अपने चाचा की

हत्या करने में असमर्थ इसलिये है कि उसने पिता की हत्या करने वाला जो वही किया है जो वह स्वयं चाह रहा था और (२) कि वह व्यक्ति अब पितृ प्रतिनिधि (father surrogate) हो गया था, उसने पिता का रूप ले लिया था। अत हैमलेट की सारी नैतिक भावनायें इस प्रतिनिहित पितृरूप के नाश का विरोध कर रही थीं।

एक कहानी की व्याख्या

यदि इस दृष्टि से हम हैमलेट, ओथेलो या किंगलियर का अध्ययन करें तो हम पात्रों के मनोविज्ञान का अधिक गुह्य परिचय प्राप्त कर सकते हैं। ऊपर हैमलेट के सदृश्य विकार के मनोवैज्ञानिक पहलू पर डा० जोंस के विचारों का उल्लेख किया गया है। पर हमलेट एक नाटक ग्रंथ है और नाटकों से हमारा विशेष सम्बन्ध नहीं। हमारे अध्ययन का आधार उपन्यास और कहानी है। अत कथा साहित्य का उदाहरण लेना अच्छा होगा। स्वयं फ्रायड ने स्टेफन ज़्विग की (Stefen Zwig) की एक कहानी एक नारी के जीवन के चौबीस घंटे (four and twenty hours in a woman's life) की की व्याख्या अपने मनोविश्लेषण की दृष्टि से की है।[१०]

कथा का साराश यह है। एक सभ्रान्त महिला छोटी उम्र में ही विधवा हो जाती है। वह अपने दो पुत्रों को बड़े यत्न से पालती है, उनका लालन पालन करती है। बच्चे बड़े हो जाने के पश्चात् अपने जीविकोपार्जन में सलग्न हो, माँ से पृथक् हो जाते हैं। उन्हें अब माता की सरक्षता की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब वह महिला ४२ वर्ष की अवस्था में देश पर्यटन के लिये निकलती है और मान्टाकारेला में रूमस नामक स्थान पर विश्राम के लिये ठहरती है। वहाँ एक नवयुवक को देखती है। उसकी हथेलियों के सौन्दर्य तथा उसके द्यूत-क्रीड़ा कौशल पर मुग्ध हो उसका सामीप्य कामना से आन्दोलित हो उठती है। लेखक ने उस नवयुवक की अवस्था वही बताई है जो उसके पुत्र की हो सकती है। (महिला के पुत्र और उस नवयुवक के अवस्था साम्य की बात को ध्यान में रखना चाहिये) नवयुवक द्यूत क्रीड़ा में सर्वस्व गँवाकर निराश हृदय जाने लगता है तो उस महिला का हृदय उसके लिये भर उठता है। नवयुवक के लिये तो यह महिला और अनेक नारियों की तरह रूपाजीवा मात्र है और वह उसे अंक शायिनी बना लेने में सफल भी होता है। नारी को उसके सहवास में अपूर्व तृप्ति लाभ होता है और जब वह नवयुवक उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र जाने

लगता है तो उससे वह यह प्रतिज्ञा करा लेती है कि वह द्यूत-क्रीड़ा के व्यसन का परित्याग कर देगा। साथ ही वह महिला उसे पर्याप्त सम्पत्ति भी देती है कि वह शांति और सुख से जीवन निर्वाह कर सके। पर दूसरे दिन वह उस नवयुवक को पूर्ववत् पुनः द्यूत क्रीड़ा-लग्न पाती है। इस पर बड़े कातर शब्दों में उससे दुर्व्यसन त्याग कर देने की प्रार्थना करती है। परिणाम-स्वरूप नवयुवक के हृदय मे भयानक प्रतिक्रिया होती है, वह झल्ला कर उसकी दी हुई सब सम्पत्ति लौटा देता है और अन्त मे आत्म-हत्या कर लेता है।

कहानी मे मुख्य घटनाये ये ही हैं। इस कहानी पर साधारण दृष्टि से विचार करने पर, पात्रों के चेतन मस्तिष्क की प्रक्रिया पर ध्यान रख कर विचार करने पर भी तथा उसके अचेतन मानस-व्यापार को अपरिगणनीय मानने पर भी कहानी के मनोविज्ञान को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। पर यह सर्व विदित है कि फ्रायडियन मनोविज्ञान मे चेतन का उतना महत्व नहीं जितना अचेतन का। अतः अचेतन मनो-प्रदेश की सक्रिया प्रेरणाओं को फ्रायड ने इन पात्रों मे ढूढने का प्रयत्न किया है। प्रश्न है कि उस नवयुवक में द्यूत क्रीड़ा सलग्न होने की ही कौन सी बाध्यता थी, उसमे किसी दूसरे दुर्व्यसन की लत न पड़ कर द्यूत-क्रीडा की ही आदत क्यों पड़ी? उस महिला को नवयुवक की अकशायिनी होने का क्या साकेतिक अर्थ है? महिला नवयुवक के सुधार के लिये इतनी चिन्तित क्यों है? नवयुवक आत्महत्या क्यों कर लेता है?

फ्रायड का कथन है कि इन सब घटनाओं के मूल मे किशोरावस्था (Puberty) के मन की वह कल्पना है जो बालक के मन मे बार-बार उठा करती है कि माता को चाहिये कि वह स्वयं उसे काम जीवन के रहस्यों और आनन्दों से परिचित कराये ताकि वह हस्त-मैथुन, अप्राकृतिक साधनों द्वारा काम-तृप्ति लाभ की भयानक हानियों से सुरक्षित हो सके। इस हस्त मैथुन की प्रवृत्ति ने ही आगे चल कर द्यूत-क्रीड़ा का रूप धारण कर लिया है। जब हम देखते हैं कि दोनों व्यापारो मे हाथों को ही कार्य निरत होना पड़ता है तो उसका साधित रूप और भी स्पष्ट हो जाता है। द्यूत-क्रीड़ा पुरानी हस्त क्रीडा का ही नवीन संस्करण है। आकर्षण की अदम्यता, अभ्यास-परित्याग की गम्भीर प्रतिज्ञा करना और उसको तोड़ना, एक हलका सा आनन्द तथा यह भावना कि वह अपना सर्वनाश (Suicide) कर रहा है। ये सब बाते इस कहानी मे वर्णित प्रतिनिहित क्रिया में वर्तमान है। इस कहानी मे माँ एक स्वैरिणी नारी का

रूप धारण कर लेती है। यह भी किशोरावस्था का चिरु मरण मात्र है, जिसमें माँ एक दूसरे व्यक्ति पिता से सम्बद्ध रूप में ही देखी जाती है। माँ इस कहानी में पुत्र की अकशायिनी के रूप में चित्रित है। उसने अपने पति के बाद म अपने को अन्य प्रणय प्रार्थनाओं के लिये अप्रवेश्य, अभेद्य भले ही बना लिया हो पर माँ की छिपी आकांक्षा जिसमें वह अपने पुत्र को प्यार करती है, इस उचित और अभीष्ट साधक अवसर को पाकर अपने प्रभाव को दिखलाये बिना न रह सकी।

इसी तरह फ्रायड ने ल्यू नार्डो विन्ची नामक प्रसिद्ध इटैलियन चित्रकार की बाल्यकालीन स्मृति का मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणिक व्याख्या का है और उसके जीवन की कुछ विशिष्टताओं के मनोवैज्ञानिक कारण स्पष्ट किये हैं।* उदाहरणार्थ, उसने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि ल्यू नार्डो विन्ची किस लाचारी के कारण अपने प्रारम्भ किये गये कार्यों को पूरा न करता था, और उसे अधूरा ही छोड़ अन्य किसी काम में संलग्न क्यों हो जाता था।

हिन्दी के कुछ उपन्यासों के पात्रों की, जीवन घटनाओं का मनोविश्लेषणिक व्याख्या का प्रयत्न इस निबन्ध में किया गया है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास 'सितारों के खेल' का नायिका लता जमीलाल की प्रेम प्रार्थनाओं और प्रणय-याचनाओं का सदा ठुकराती रही है। पर जब वह वातायन से गिर कर अंग भंग कर लेता है तो उसे बचाने के लिये लता अपने प्राणों की बाजी लगा देती है। वह बच भी जाता है। पर उसका जीवन मृत्यु से भी बदतर होता है। उसका सूरत बिगड़ गई है। टाँगें और भुजायें बेकार हो गई हैं। दाँत टूट गये हैं। मस्तिष्क पर इतनी चोट पहुँची है कि वह किसी को पहिचानता नहीं। चेतनाहीन सा आँखें बंद किया रहता था। आकाश में ताका करता। पर अब लता के हृदय में इस जीवन्मृत मात्र के

*"It seems that it had been destined before that I should occupy myself so thoroughly with the Vulture for it comes to my mind as a early memory When I was still in a cradle a vulture came down to me he opened my mouth with his tail and struck me a few times with his tail against my lips"

(Cited by Scognamiglio from Codex Atlanticus p 65)

Leo nardo Vinci p 34

लाथके लिये प्रेम की भावना जाग पड़ती है और वह इनके लिये क्या नहीं करती जो प्रेमिका अपने नवयुवक और सर्वगुणोपेत प्रेमी के लिये नहीं कर सकती है। "किमतः आश्चर्यमपरम्।" पर पाठक को इतना ही मानसिक आघात सहना नहीं पड़ता। लता वंसी को विष देकर मार भी देती है।

यदि फ्रायड के पास यह कथा रखी जाय तो वह सारी कथा को इडिपस परिस्थिति के सहारे चीर-फाड़ कर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत कर देगा। वह कहेगा कि मा अपने पुत्र को प्यार करती है, जो एक असहाय प्राणी है और जो उसके पति का प्रतिस्पर्धी है। जब वंसीलाल वातायन से गिर कर असहायावस्था को प्राप्त हो जाता है तब लता के अन्तः प्रदेश से प्रेम का स्रोत उमड़ पड़ता है। जब तक वह स्वस्थ है और पुरुषत्व के दावे के बल पर प्रेम की माग करता है तब तक वह पति का प्रतिरूप है, जो व्यावहारिक रूप मे प्रेम का प्रतिदान पाते रहने पर भी इमोशनल (emotional) भावात्मक रूप मे प्रेम का अधिकार नहीं होता। यह अधिकारी पुत्र के लिये ही सुरक्षित है। मनोविज्ञान की दृष्टि से बाहरी क्रियाये, दृष्टिगोचर व्यापार उतने महत्व-पूर्ण नहीं। किसने हत्या की, किसने प्रेम किया पर अधिक महत्वपूर्ण यह है कि किसके हृदय मे भाव उठे। मनोविज्ञान की दृष्टि से हत्या करके भी मनुष्य निष्कलक रह सकता है, पर हाथ पर हाथ धरे मौन रह कर भी हत्याकारी हो सकता है। अतः जहाँ प्रेम का प्रश्न है वहाँ पति सर्वाधिकारी होने पर भी नित्य है, पर पुत्र आपाततः अनाधिकारी होकर भी सर्वस्व है। अतः वंसीलाल ज्यों ही असहाय पुत्र बन जाता है त्योंही माँ लता का प्रेमाधि-कारी हो जाता है। कहा तो यह भी जा सकता है कि लता ने वंसीलाल के साथ दुर्व्यवहार किया, उसकी प्रणय याचनाओं को निर्दयता से ठुकराया उससे तो यही धारणा बँधती है कि हो न हो लता का अन्तर्मन ऐसी परि-स्थिति उत्पन्न कर रहा था, जो बसीलाल को बालक की असहायावस्था को पहुँचा दे, जिसके कारण लता को अपने प्रेम प्रसाद को एक उपयुक्त पात्र के प्रति बाँट कर गम्भीर तृप्ति प्राप्त करने का सुअवसर मिल सके[११] लेकिन माँ मे या किसी व्यक्ति मे दो परस्पर विरोधी (ambivalent) प्रवृत्तियाँ काम करती रहती है। एक ओर जहाँ उसके हृदय मे पति के प्रति विरोध के भाव रहते हैं दूसरी ओर वह पति के प्रति इस अनुदारता के लिये अपने को दोषी भी समझती रहती है और जो व्यक्ति पति और पत्नी के बीच मे आकर बाधक हो गया है उससे वह झल्लाई भी रहती है। यही कारण है कि वंसीलाल की उपस्थिति डा० अमृतराय (जो पति के पद पर पहुँच गये है) की प्रेमोप-

लब्धि में जब चट्टान की तरह बाधक हो जाती है तो वह बाधा विप्रयोग के द्वारा दूर कर दी जाती है।

ऐसी व्याख्या कहाँ तक उपयुक्त है

उपन्यासों की इस पद्धति पर की गई व्याख्या अनभ्यस्त पाठक को विचित्र सा लगे पर उसमें तथ्य भी है। सम्भव है स्वयं उपन्यासकार अपने उपन्यासों की ऐसी व्याख्या को नापसंद करे। ठीक उसी तरह कि जब मनोविश्लेषक रोगी के जीवन के अन्तर्तम प्रदेश की छिपी बातों को निकाल कर रखने लगता है तो वह रोगी इसका प्रतिवाद करता है। यह भी सम्भव है कि जहाँ पर औपन्यासिक ने अपनी कृति पर विचार किया हो, वहाँ इस प्रकार के कोई विचार नहीं प्रगट किये हों। पर इस कारण मनोविश्लेषण पद्धति पर की गई व्याख्या का महत्व घट नहीं जाता। कोई लेखक अपनी रचना के बारे में जो कुछ कहे वह मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक हो सकता है, उसके द्वारा रचना पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ सकता है पर उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने में सतर्कता से काम लेना चाहिये। स्रष्टा और भोक्ता दो पृथक् व्यक्तित्व हैं अथवा एक ही व्यक्तित्व के दो अंश हैं, जिनमें सम्पर्क नहीं भी हो सकता है। अतः जहाँ तक कृतियों की व्याख्या का प्रश्न है लेखक की कोई विशिष्ट (Privileged Position) स्थिति नहीं होती। एक तटस्थ व्याख्याता लेखक की कृतियों, उपन्यासों के सम्बन्ध में जो कुछ कहे उसमें सत्यता का अंश ज्यादा हो सकता है।

आस्कर वाइल्ड ने अपनी पुस्तक इमिटेशन्स (Imitations) में एक स्थान पर[१२] विरोधाभासात्मक बात कही है कि प्रकृति कला निर्मित कृतियों की (imitations) अनुकृति करती है। उसने अनेक उदाहरणों को उपस्थित करते हुए कहा है कि किसी भी सूक्ष्म निरीक्षक को पता चलेगा कि प्रकृति में आजकल कैरट[१३] (Carot) के द्वारा चित्रित दृश्यों का अनुकृतित्व वर्तमान है। इस उक्ति पर कुछ लोग आश्चर्यचकित हो गये थे। भला यह *भी कोई बात है? प्रकृति कला का अनुकरण करे? यह तो गंगा ही उल्टी* बहने लगी!! पर इस पर आश्चर्य करने वाली जैसी कोई बात नहीं। इस कथन का *अर्थ इतना ही है कि मनुष्य के प्रकृति निरीक्षण की शक्ति* परम्परागत धारणाओं से इतनी सीमित रहती है, परम्परा की शिक्षा उसे इस तरह अभिभूत किये रहती है कि वह वहाँ अपनी शिक्षा के अनुसार ही देख सकता है अर्थात् कलाकारों ने जितना उसे देखने के लिये बतलाया है।

जब कोई प्रतिभाशाली कलाकार अनन्य-साधारण, वैयक्तिक और नवीन अनुभूति को चित्रित करने की चेष्टा करता है तो वह अनभ्यस्त नेत्रों को अजीब सी, निर्जीव सी और विद्रूप कदाकार सी लगती है, पर क्रमशः हम इस दृष्टिकोण को अपना लेते हैं तो यह नई अनुभूति अपने अपरिचय की दूरी को हटा कर हम मे घुलमिल कर तदाकार परिणत हो जाती है और हम उसी रूप से प्रकृति को देखने लगते हैं। अतः यह कहना सचमुच असगत नहीं कि प्रकृति मे कला की अनुकरण-प्रवृत्ति है।

चित्रकला के सम्बन्ध मे जो बात कही गई है ठीक वही बात उपन्यासों और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रणों के विषय मे भी उल्लेखनीय है। हमारा जीवन बहुत कुछ गड्डलिका प्रवाह के रूप में चलता रहता है। हमारी कुछ मान्यतायें हैं जिनके स्तूप पर आसीन होकर हम संसार को देखते रहते हैं। हमारी आँखें अपनी ही नहीं दूसरों से ऋण ली हुई है। हमारे कान अपने नहीं, माँगे हुये हैं। हम अपने परिश्रम की पूँजी पर नहीं, दूसरों के ऋण पर ज्यादा निर्भर करते हैं। आज हम कितने रोगों को जानने लगे है। कारण कि डाक्टरों और अनुसंधित्सुओं ने अपने प्रयोग परीक्षण और निदान के द्वारा हमे बतलाया है, उनका नामकरण किया है। अन्यथा ये रोग पहिले भी नहीं होते हों सो बात नहीं। बात इतनी सी है कि किसी नेतृत्व के, शिक्षा के अभाव के कारण हम इन्हें पहिचान नहीं पाते थे। किसी विशेष नाम से हम उन्हें अभिहित नहीं करते थे। फ्रायड, एडलर, जुंग इत्यादि मनोवैज्ञानिक चिकित्सकों ने जब मानव मन की छान-बीन कर उसके विविध, विचित्र, और विकृत पहलुओं को बतलाया तो हमारी दृष्टि उनकी ओर गई है। आज हम, फ्रायड इत्यादि के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के मार्ग से उपन्यास तथा उसके पात्रों का अध्ययन करते हैं तो कारण यही है कि वे अब बातें दीख पडने लगी हैं जो पहिले संभव न थीं।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन के अन्य रूप

ऊपर की पंक्तियों में फ्रायडियन मनोविज्ञान के आलोक में मानव मन के अचेतन स्तर में काम करने वाली प्रेरणाओं के आधार पर हिन्दी उपन्यासों की मनोवैज्ञानिकता के अध्ययन का प्रोग्राम रखा गया है। पर मनोवैज्ञानिकता का दूसरा रूप यह भी हो सकता है कि किस प्रकार हिन्दी उपन्यासों के पात्रों में उत्तरोत्तर मानसिक जटिलता आती गई है, वे सभ्य होते गये हैं। उनके बाह्य आचरण या क्रिया-कलाप स्वतः पूर्ण नहीं है, वे जो कुछ

ते हैं, उसकी व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है। हो सकता है कि उनके
ाचरण बाहरी रूप में सात्विक और सद्भावना समन्वित दीख पड़ें, पर बात
कुछ दूसरी ही हो। माना कि मनुष्य स्वार्थी होता है पर वह अपने स्वार्थ
सिद्धि लाभ दो रूपों म करता है, वाह्य निष्ठ रूप में और आत्म निष्ठ
प म। मनुष्य क्रूर कर्मों में प्रवृत्त हो अत्याचार करे और अनेकों अर्द्ध
कसित कलियों को अपने पैरों से मसल डाले अथवा सतोगुण के प्रभावोद्रेक
अनेक यज्ञादिक सदनुष्ठानों का आयोजन करे पर उसका लक्ष्य होगा
ब्जेक्टिव (Objective) किसी साम्राज्य की स्थापना, अर्थ राशि की उप
ब्ध, किसी अनिंद्य सुंदरी की प्रणयानुभूति, किसी उच्च पद का प्राप्ति।
हुआ स्वार्थ सिद्धि का Objective वाह्य निष्ठ रूप जिसमें किसा ठास
ार्थ की सिद्धि होता है। स्वार्थ सिद्धि का दूसरा रूप वह होता है जिसम
ुष्य अपनी बाहरी सम्भ्यताओं के प्रति आत्म समर्पण ता कर देता है पर
पनी मनोधारा का घटनाओं क अनुरूप ही परिवर्तित कर देता है।

इसका अच्छा उदाहरण खट्टे अंगूर वाली कथा में है। क नायक पात्र
नाम्नी नारा का प्यार करता है, पर ख की उपलब्धि असम्भवनातात है।
, ग नाम्नी दूसरा नारी की प्राप्ति सम्भव है। इस मानसिक परिस्थिति का
मना करने क लिय क ग म अनेक काल्पनिक गुणों का समावेश कर अपने
दय का प्रबोध द लेगा। इस तरह स्पष्ट है कि उसका वाह्य निष्ठ स्वार्थ
द्धि भले ही नहीं होती हो, *उसका आ तरिक स्वार्थ तो सिद्ध होता ही है।*
ह अपनी दृष्टि म तो ऊचा उठता ही है, उसको एक आत्म निष्ठ तृप्ति
स होती ही ह। जिन उपन्यासों में इस तरह का जटिल मानस प्रक्रिया की
वतारणा की गई हा, आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में रेशनेलाइजेशन
Rationalization) का प्रयत्न दीख पड़े उसे हम मनोवैज्ञानिक उपन्यास
हेंगे। अगले परिच्छेद में अज्ञेय जी के नवीनतम उपन्यास नदी के द्वीप' की
नोवैज्ञानिकता का उल्लेख किंचित विस्तार के साथ किया गया है। इस
न्यास को रेखा और भुवन की प्रणयानुभूति का उपन्यास कह सकते हैं।
ोनों का प्रेम अपनी चरमावस्था पर पहुँचा हुआ है। पर जब किसा
ान्तरिक प्रेरणा के कारण भुवन गौरा के प्रति अनुरक्त होता सा दीखता
तो रेखा डा० रमेशचन्द्र से विवाह कर लेता है, कारण उनमें यथेष्ट उदारता
। "(रमेश) ने एक गहरी सवेदना मुक्त दी है जिसमें मेरा गाँठ बँधी
ई कचोट मानो द्रव्य हाकर बह गई, वह भी तुम्हारा तरह धुना और कार्य
रत जीव है, तुम्हारी तरह कम बोलते हैं। पर जिससे भा मिलत हैं उस पर

उनका गहरा असर पड़ता है। थकी झुकी अप्रसन्न चेतना को जैसे उनकी संवेदना तुरन्त सहारा देकर सीधा कर देती है[१४] इत्यादि।"

उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता का समावेश एक और प्रकार से हो सकता है। एक पात्र को भिन्न-भिन्न लोगों के साथ एक ही प्रकार का व्यवहार करते दिखा कर भी उसके मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म भेद की ओर ध्यान दिलाया जाय। सेठ गोविन्ददास जी के 'इन्दुमती' नामक बृहद्‌काय उपन्यास की प्रधान नायिका इन्दुमती ललित को भी प्यार करती है, त्रिलोकी को भी, वजीर-अली को भी और वीरभद्र देव को भी। पर उस वाह्य साम्य के भीतर क्रिया-शील होने वाली मानसिक प्रवृत्तियों में क्या अन्तर है, यह बात वहाँ स्पष्ट हो जाती है। पाठक देख लेता है कि इन सब क्रियाओं का सांकेतिक महत्व, मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अलग-अलग है। १९३५ में ब्रिटिश मन्त्रिमंडल के द्वारा दिये गये श्वेत पत्र (White Paper) को भारतवर्ष के सब राजनैतिक दलों ने अस्वीकृत कर दिया था। पर इस अस्वीकृति के मूल भूत मानसिक कारण अलग-अलग थे, जिन्हें जाने बिना अस्वीकृति के वास्तविक राजनैतिक रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। ठीक इसी तरह एक से लगने वाले कार्य की मूल-भूत विभिन्नता और विभिन्न से लगने वाले कार्यों की मौलिक एकता को दिख-लाना मनोवैज्ञानिक उपन्यास का ध्येय होगा। 'इन्दुमती' अनेक कार्यों मे प्रवृत्त होती है, जो प्रायः परस्पर विरोधी से लगते हैं। विवाह संस्था मे अटल विश्वास करने वाली इन्दु ललितकुमार से शादी करती है। सुख और सुविधा मे ललित पालित इन्दु जीवन की कठिन से कठिन यातनाओं मे भी अपने को डालने से नहीं हिचकती पर इन सब अकाण्ड ताण्डवों के मूल में उसके पिता अवध-बिहारी के द्वारा उसके मानस पर लौह लेखनी से लिखा उपदेश है "कि विश्व मे अपना व्यक्तित्व ही सब कुछ है।" जिस समय वह अपने को देश सेवा की वेदी पर, पति चरणों पर या जनता जना-र्दन के चरणों पर समर्पित करती सी दिखती है, शायद उसी समय मे उसका अहं, उसका व्यक्तित्व सबसे अधिक जाग्रत रहता है।

यद्यपि इसके लिये कोई विशेष कसौटी नहीं रखी जा सकती कि उपन्यास मे मनोवैज्ञानिकता की पहिचान क्या है और हम क्यों एक उपन्यास को मनोवैज्ञानिक कहें और दूसरे को अमनोवैज्ञानिक। पर साधारणतः यह बात कही जा सकती है कि जिसमें लेखक मानसिक प्रतिक्रिया को एक सुनिश्चित और सीधी-सादी प्रणाली से प्रवाहित होती हुई न दिखला कर टेढ़ी-मेढ़ी राह से, बाँध को तोड़ उफन ऊबती हुई दिखलाये वह मनोवैज्ञानिक

उपन्यास ही होगा। यह हो सकता है कि कहीं प्रक्रिया चेतन स्तर पर चलती हो, कहीं अचेतन स्तर पर। कहीं लेखक पात्रों की मानसिक क्रियाओं को, तोड़ मरोड़ को, (Twists) को, जटिलता को स्वय दिखलाता जाय। यह भी सभव है कि लेखक पात्रों के जीवन में होने वाले उलट फेर का दिख लाता तो जाय पर उनको प्रेरित करने वाली आन्तरिक प्रवृत्तियों की चर्चा न करे, कारण कि लेखक और लेखक निरुद्ध पात्र दोनों के अचेतन स्तर पर उन प्रवृत्तियों की व्यापार लीला प्रारभ होती हो। ऐसे ही अवसरों पर व्याख्याता को स्वतत्रता रहती है कि वह मनोवैज्ञानिक प्रचलित सिद्धान्तों की सहायता लेकर पात्रों को तथा घटनाओं को समझने समझाने का प्रयत्न करे। इस निबन्ध म इस तरह का प्रयत्न यत्र तत्र किया गया है।

मनोवैज्ञानिक विषय

विचारकों का एक सम्प्रदाय है जो साहित्य म विषय की महत्ता को स्वीकार करता है। भट्ट लोल्लट, रामचन्द्र शुक्ल, मेथ्यू आरनाल्ड इसी सिद्धान्त में आस्थावान है। "राम तुम्हारा चरित स्वय ही काव्य है, कोइ कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है" कह कर मैथिलाशरण गुप्त जी ने इसी पक्ष का समर्थन किया है। इस सिद्धान्त की सत्यता का जाँच करना हमारा उद्देश्य नहीं। आधुनिक युग की चिन्ताधारा इस सिद्धात में अधिक निष्ठा नहीं रखती पर इतना अवश्य है कि विषय (Subject) का भी कुछ अपना महत्व है। इसी तरह विषय ऐसे होते हैं जिनके समावेश से उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता का सनिवेश सहज साध्य हो जाता है। यथा एक प्रेमी की दो प्रेमिकायें, दो प्रेमिकाओं का एक प्रेमी, समाज में निरादृत व्यक्ति का चित्रण, बालकों के, विशेषत ज्येष्ठ, कनिष्ठ या एकलौते बालकों के क्रिया कलाप का वर्णन, प्रचलित सामाजिक प्रथाओं और रूढ़ियों के विरुद्ध क्रांति करने वाले पात्र, अकर्मण्य, आत्मलीन तथा हाथ पर हाथ धरे कल्पना-जगत के प्राणी, परस्पर विरोधी आचरण निरत पात्र, किसी विशिष्ट मनोवृत्ति (master spirit) से सचालित न होकर एक क्षण वीर और दूसरे ही क्षण कायर की तरह आचरण करने वाले व्यक्ति, इन सब विषयों की अवतारणा से औपन्यासिक को अधिक मनोवैज्ञानिक जटिलताओं और बारीकियों को दिखलाने का अवसर मिलता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास का टेकनीक

उपन्यास के क्षेत्र में मनोविज्ञान के प्रवेश के आग्रह के साथ ही उसके

बाह्य कलेवर, अभिव्यक्ति के रंग-ढंग में कुछ परिवर्तन आ जाना अनिवार्य ही है। ठीक उसी तरह जैसे भावों के परिवर्तन होने से तद्सूचक अनुभावों मे सहज परिवर्तन हो ही जाते हैं। क्रोध और शोक के अनुभाव पृथक्-पृथक् होते हैं। साहित्य का साधारण विद्यार्थी भी बाह्यरूपाकार (form) और आन्तरिक विषय (content) के यौगपत्य और संलग्नता से अच्छी तरह परिचित है। वह जानता है कि आन्तरिक प्रेरणा अपनी अभिव्यक्ति भी साथ लिए आती है। वसंत आता है अमराइयों को गदराता हुआ, कलियों को चटकाता हुआ और कोकिल-कंठ मे अमृत घोलता हुआ। मनोविज्ञान-प्रवेश के बाह्य पद-चिन्ह भी उपन्यास की भूमि पर स्पष्टतया अङ्कित हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यास का ध्येय, जैसा ऊपर उल्लेख हो चुका है, मात्र अनुभूति का ही नहीं परन्तु अनुभूति के आत्म-निष्ठ तथा विषयीगत रूप का प्रदर्शन होता है। अतः इसमें—

(१) सुसङ्गठित कथावस्तु के प्रति उदासीनता होती है। इसमें इस बात की इतनी परवाह नहीं होती कि कथा की कड़ियाँ इतनी बारीकी से मिलाई जायँ कि कहीं भी जोड़ मालूम न पड़े। इसमे घटनायें गौण होंगी, उपलक्षण मात्र होंगी। उनके सहारे पात्रों के आन्तरिक भावचक्र को खोलकर रखना ही उद्देश्य होगा। आंग्ल साहित्य में तो कथा की सुव्यवस्था (Orderly unfolding of plot) को छिन्न-भिन्न करके देखने वाले औपन्यासिकों का एक सम्प्रदाय ही है। पर हिन्दी में भी इसकी प्रतिक्रिया जैनेन्द्र, अज्ञेय, शिवचन्द तथा अञ्चल जी के कुछ उपन्यासों में स्पष्ट दीख पड़ती है।

(२) कथा भी कोई लम्बी चौड़ी दीर्घकालीन और महाकाव्य की तरह जीवन के बृहदंश को घेरने वाली न होगी। विस्तार से अधिक गहराई की ओर लेखक का ध्यान इसमें अधिक रहेगा। रूसी उपन्यासों में मनोविज्ञान की सूक्ष्मता विशेषतः मनोविकृत विज्ञान की सूक्ष्मता को आग्रह-पूर्वक समाविष्ट करने का श्रेय दास्तावेस्की को है। उसके उपन्यासों का निर्माण जीवन के एक लघु अंश को ही लेकर किया गया है। अपराध और दंड (Crime and Punishment) में केवल पाँच दिनों की कथा है। ब्रदर्श करमन्जोव (Brothers Karemenzov) में सात दिनों की, दी इडियट (The Idiot) मे आठ दिनों की। प्रेमचन्द के परवर्ती, मनोवैज्ञानिकता के पुट को लेकर चलने वाले, उपन्यासों मे इस कथा-कुञ्चन की प्रवृत्ति स्पष्ट है। अज्ञेय का शेखर एक रात मे देखे गये विजन (Vision) का प्रोक्षेपण है, 'नदी के द्वीप' मे डेढ़ वर्ष की कथा है, पहाड़ी के 'सराय' में एक महीने की कथा है और 'निर्देशक' में

तीन महाने की। निकट भविष्य में इस प्रवृत्ति में विकास होने का आशा है।

(३) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कम के कम पात्रों से ही काम चलाने की चेष्टा होती है। पात्रों के अधिक होने से घटना प्रधान वर्णनात्मक उपन्यासों को भी सफलतापूर्वक निर्वाह करने में कठिनता होती है। वे कथा शरीर में सम्यक् प्रकारेण घुल मिल कर एसीमिलेट (assimilate) हो, तद्रूप होकर नहीं रहते अथवा नहीं तो *आत्म हत्या*, किसी दैवी और आकस्मिक दुर्घटना या अन्य किसी उपाय द्वारा उन्हें उपन्यास की रंगभूमि से हटा दिया जाता है। प्रेमचन्द तथा उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों में यह बात पाई जाती है। पर जहाँ वर्णनात्मकता से अधिक मनोवैज्ञानिकता पर बल हो, जहाँ एक पात्र को अनेक मानस में ले जा कर अथवा अनेक को एक के मन में ले जाकर तत्तद्गत प्रदेशों की आन्तरिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करना हो वहाँ पात्रों की सख्या कम करनी ही होगी। आज के उपन्यास में पात्र सख्या संकोच की प्रवृत्ति विशिष्ट है। दास्तावेस्की के किसी भी उपन्यास में चार पाँच से अधिक पात्र नहीं हैं। इटरनल हसबड (Eternal Husband) नामक उपन्यास में तो दो ही पात्र है। शेखर, नदी के द्वीप, सुनीता, त्याग पत्र, कल्याणी में भी पात्रों की सख्या तीन चार से अधिक नहीं हैं।

(४) वार्तालाप की छटा मनोविज्ञान के प्रदर्शन में अधिक सहायक होगी। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यास वाह्य भीमाकार और भारी भरखम घटनाओं से इस तरह लदे रहते थे कि सुन्दर और सजीव वार्तालाप को पनपने का अवसर ही नहीं मिला करता था। आज यह परिस्थिति बदल गई है। उपन्यास का अधिकांश वार्तालाप से घिरा रहता है। अब तो ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं जिनमें अथ से इति तक वार्तालाप के सिवाय कुछ और है ही नहीं। पत्रात्मक कहानी या उपन्यास इसी पद्धति के परिवर्तित रूप हैं।

(५) *मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में वर्णनात्मकता (narration) से अधिक* नाटकीयता (dramatisation) की प्रवृत्ति होगी। अर्थात् घटनाओं का संयोजन कुछ इस ढग से होगा कि वे स्वयं स्फूर्त हों, स्वयं शक्तिमान हों, उनमें अपने स्वरूप को स्पष्ट करने की क्षमता हो, पद पद पर लेखक के साथ चलने की आवश्यकता न हो। लेखक के अस्तित्व का जहाँ तक कम भान पाठकों को हो वही अच्छा। अत इस तरह के उपन्यासों में कुछ विशिष्ट उदात्त और उदात्त चरित्रों और घटनाओं का ही स्थान प्राप्त हो सकेगा। मनोवैज्ञानिक

उपन्यासों पर विचार करते समय नदी की लहरों पर बहते हुए एक कार्क के टुकड़े का चित्र हमारी कल्पना मे जाग पड़ता है। घटनायें कार्क के टुकडे हैं, पात्रों के चेतना-प्रवाह नदी की लहरें हैं जिनके वात्याचक्र पर डूबती उतराती हुए वे हमारा मनोरंजन करती रहती हैं। कार्क तो छोटा सा नगण्य टुकड़ा मात्र है पर नदी की लहरों की उन्मत्तता का सहारा पाकर स्वयं नदी की उन्मत्तता बन जाता है। घटनाये छोटी सी भले ही हों पर मानव मन के उन्माद से समन्वित हैं।

(६) मनोवैज्ञानिक उपन्यास के अध्ययन से पाठक मे जो प्रतिक्रिया होती है अन्योपन्यासोत्पन्न प्रतिक्रिया से भिन्न होगी। वर्णनात्मक उपन्यास का पाठक श्रोता होगा। वह आश्चर्य चकित हो औपन्यासिक के मुख की ओर देखेगा अर्थात् उसका ध्यान उपन्यास की ओर न होकर उपन्यास से बाहर की ओर होगा। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पाठक की दृष्टि उपन्यास के पात्रों की ओर होगी। वह बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होगा। वह पात्रों के क्रिया कलाप से अधिक उनकी मूल प्रेरणा को देखेगा। उसका सम्बन्ध वक्ता और श्रोता का न होकर अभिनेता और दर्शक का होगा। दर्शक नाटककार की ओर न देखकर अभिनेता के अभिनय-कौशल और उसके सहारे मूल वृत्तियों को ही देखता है। वर्णनात्मक उपन्यास के पात्रों के साथ पाठक का सम्बन्ध बहुत कुछ वैसा ही रहता है जैसे इतिहास के पात्रों के साथ, नीरस, निर्जीव। हम उन्हे वैसे ही जानते हैं जैसे अकबर और अशोक को जानते हैं। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पात्रों की जानकारी में आत्मीयता की आर्द्रता रहती है, हम उन्हें इस तरह जानते है जैसे अपने साथी को, अपने स्वयं को।

(७) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रणेता और उसके निर्मित पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध मे भी विभिन्नता है। घटनाप्रधान उपन्यास के लेखक और उनके पात्रों के सम्बन्ध से यह भिन्न है। घटनाप्रधान उपन्यास के पात्रों का स्रष्टा तटस्थ दर्शक है, वह पात्रों से अलग हट कर अपनी सर्व-व्यापिनी दृष्टि से पात्रों की गतिविधि का अवलोकन करता रहता है और उसकी रिपोर्ट देता चलता है। दोनों मे बन्धुत्व का भाव नहीं, वे दोनों 'पथ के साथी' हैं और 'बटाऊ की नाई' कभी भी एक दूसरे को छोडकर चल दे सकते हैं। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यास का निर्माता अपने पात्रों का घनिष्ट मित्र होता है। वह अपने मित्र के बारे मे लिखता है, उसके कथन मे जीवनानुभूति होती है। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक कथाकार को बार-बार अपनी ओर से कहने सुनने

की, उपदेश देने की, नीति-परायणता के नारे बुलन्द करने की आवश्यकता नहीं होती। वह जो कुछ कहता है वह स्वतः-पूर्ण है, उसे किसी बाह्य सहायता की अपेक्षा नहीं होती।

(८) ऊपर उल्लेख हो चुका है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास में सब्जेक्टिव आस्पेक्ट आफ एक्सपिरियन्स (Subjective aspect of experience) अर्थात् अनुभूति के आत्म निष्ठ रूप की अभिव्यक्ति का ही लक्ष्य रहता है। लेखक चाहता है कि जो भी कथा हो, जो भी घटनायें हों वे अपनी प्रधानता का त्याग कर पात्रों की मानसिकता, उनके मानस की प्रवाहमानता को परिस्फुटित कर नजरों से ओझल हो जाँय। इसका परिणाम यह होता है कि ऐसी कथा की योजना हो जिसमें मनोनीत ध्येय की सेवा में ढल जाने की अधिक से अधिक क्षमता हो। कथा, कथा के रूप में छोटी तो हो ही जाती है पर उसमें एक लोच आ जाती है कि पात्रों की जीवन-साँस से भर कर विशालकाय रूप धारण कर सकती है। मानो छोटी सी रबड़ की थैली हो और बच्चे की साँस से फुलाई जाकर बैलून बन गई हो। उसे मानसिक शक्ति से खींचकर बढ़ाया जा सकता है, तोड़ा मरोड़ा जा सकता है। कथा दृढ़ चट्टान की तरह सर ताने खड़ी-खड़ी नहीं रहती पर निरीह नदी की तरह होती है जो जरा ढलान पाते ही वह चलती है, वह गीली मिट्टी की तरह नम्र हो मूर्ति का रूप धारण कर लेती है।

(९) अपने क्षेत्र में मनोविज्ञान को अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करने के लिए उपन्यास को अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। कभी आत्म कथात्मक, तो कभी पत्रात्मक, कभी डायरीनुमा, कभी चेतना प्रवाहात्मक (Stream of Consciousress) और कभी सबों का सम्मिश्रण अर्थात् उपन्यास कला नाना वेश धारण कर मनुष्य के सच्चे स्वरूप को प्रदर्शित करने की क्षमता अपने में लाने की चेष्टा करती रही है और सफलता भी प्राप्त करती रही है। मनुष्य के सच्चे स्वरूप का अर्थ जहाँ पर उसके बाह्य क्रिया कलापों के साथ आतरिक प्रेरणाओं का भी अध्ययन करना है।

निष्कर्ष—ऊपर अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये जो विवेचन किया गया है उसका साराश यह है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास में सब्जेक्टिव आस्पेक्ट आफ एक्सपिरियन्स (Subjective aspect of experience) अर्थात् अनुभूति के आत्म निष्ठ रूपाभिव्यक्ति पर अधिक जोर रहता है। उपन्यास में मनोविज्ञान की बातें कहीं तो अनायास स्वाभाविक रूप में आ जाती हैं, कहीं लेखक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को दृष्टि में रख कर अपने उपन्यास की रचना

करता है। उपन्यास को पूर्णरूपेण समझने के लिये आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से सहायता लेना आवश्यक है। संभव है एक सतर्क पाठक को आलोच्य पुस्तक मे वे बाते मिल जाँय जो लेखक के लिये भी अकल्पनीय हों। कुछ विषय मनोवैज्ञानिक होते ही हैं और कुछ पद्धतियाँ मनोवैज्ञानिक होती हैं। कुछ उपन्यासों के विषय मनोवैज्ञानिक होते हैं, पर प्रतिपादन की पद्धति अमनोवैज्ञानिक। कुछ की पद्धति मनोवैज्ञानिक तो विषय अमनोवैज्ञानिक। कुछ में दोनों का अभाव, कुछ में दोनों का सन्निवेश। इस दृष्टि से हम हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। हिन्दी मे आधुनिक उपन्यासों का इतिहास केवल ४०, ४५ वर्षों की अवधि में सिमटा हुआ है। अतः प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और यशपाल, इन्हीं पाँच प्रतिनिधि उपन्यासकारों की रचनाओं के आधार पर ही इस निबन्ध मे अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

आधुनिक उपन्यासकारों को हम दो श्रेणियों मे विभक्त कर सकते हैं। एक तो वे उपन्यासकार जो प्रेमचन्द का ही अनुकरण करते हैं, विषय और उसके प्रतिपादन की शैली दोनों मे ही। आज भी बहुत से उपन्यासकार प्रेमचन्द के ही पद-चिन्हों पर चल रहे हैं। दूसरे श्रेणी मे वे उपन्यासकार आते हैं जिनमें प्रेमचन्द के विरुद्ध प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है। जैनेन्द्र और अज्ञेय मे विषयगत तथा शैलीगत दोनों तरह की प्रतिक्रियायें परिलक्षित होती हैं। इलाचन्द्र और यशपाल में शैली तो वही है पर विषय निर्वाचन में अवश्य इन लोगों ने मौलिकता का परिचय दिया है। इस निबन्ध में निराला, कौशिक, प्रसाद इत्यादि के उपन्यासों सी चर्चा नहीं की गई है कारण कि जिस अर्थ मे यहाँ मनोविज्ञान को लिया गया है उस अर्थ में उनके उपन्यासों मे कोई ऐसी विशेषतायें नहीं मिलतीं जो प्रेमचन्द में न पाई जाती हों। प्रसाद जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने उपन्यास की ओर जाकर ऐसे विषय को चुनने का प्रयत्न किया था जिसमे मनोवैज्ञानिकता लाई जा सकती थी। उदाहरणार्थ 'कंकाल' मे जारज सन्तान की चर्चा है। पर ऐसा मालूम पड़ता है वे इस क्षेत्र में अधिक मौलिकता न दिखला सके। मेरे कथन का अर्थ उस समय स्पष्ट हो जायेगा जब यह कल्पना करें कि यह विषय यदि इलाचन्द्र जोशी के हाथों मे पड़ता तो वह कौन सी दुनिया न खड़ी कर देते और उन्होंने किया ही है। अतः प्रेमचन्द जी को ही इन लोगों का भी प्रतिनिधि मान लिया जाय।

आज तो अनेकों क्रियात्मक प्रतिभायें हिन्दी उपन्यास क्षेत्र को हरा-भरा

करने में संलग्न हैं। यज्ञदत्त शर्मा, गुरुदत्त, मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अनूपलाल मंडल, मोहनलाल महतो वियोगी, भगवती प्रसाद वाजपयी इत्यादि। पर आज भी इनमें प्रेमचन्द जी की आत्मा का कंठस्वर बोल ही रहा है। यह अवश्य है कि समय के प्रवाह के साथ इन उपन्यासों में नई नई घटनायें आ गई हैं, नये नये विषयों का समावेश हो गया, उदाहरणार्थ देश विभाजन, काला बाजारी, राजनैतिक क्षेत्र में नैतिक पतन इत्यादि। पर इनका आगमन तो अनिवार्य है, स्वाभाविक हैं। प्रेमचन्द के समय में ये समस्यायें नहीं थीं—अतः इनके उपन्यासों में इनका समावेश नहीं हो पाया था। अतः इन विषयों के आ जाने भर से ही ये उपन्यास किसी विशिष्टता का दावा नहीं कर सकते। प्रश्न किसी विशिष्ट विषय के आधार पर उपन्यास लिखने का नहीं है। वास्तविक प्रश्न यह है कि इन विषयों को लेकर लेखक के द्वारा किस तरह के चित्र का निर्माण हो सका है, लेखक ने इन विषयों को कौन सी सार्थकता प्रदान की है। नैयायिकों ने घट निर्मिति के कारणों में कुम्भकार, कुलाल और मिट्टी की गणना की है। देश और काल की नहीं। हालांकि इन सब वस्तुओं का भी घट-निर्मित में कुछ हाथ अवश्य है। अतः यहाँ पाँच प्रतिनिधि तथा किसी मनोवैज्ञानिक विशेषता के लिये प्रसिद्ध उपन्यासकारों की रचनाओं तक ही यह निबंध सीमित रखा गया है।

पाद टिप्पणियाँ

१ वास्तावेस्की ले० आन्द्रा जीद, पाँचवाँ अध्याय, द्वितीय सस्करण पृ०२२५

२ गौस पेट्रिनस नामक लेखक ने पेट्रोनीई आरबिट्री सैट्रिकन (Petrnii Arbitri Satrycon) नामक रोमांस लिखा था। इसमें अनेक घटनाओं का वर्णन है। इस पुस्तक की सबसे प्रसिद्ध घटना वह है जिसमें एक व्यक्ति टलमाचियो नामक नायक को बहुत ही तडक भडक के साथ एक प्रीतिभोज में सम्मिलित होने के लिये निमन्त्रित करता है। कहा जाता है कि 66 A D के लगभग पेट्रिनस ने आत्महत्या कर ली।

३, ४ डाफनस और क्लोई यूनान की एक प्रसिद्ध अति प्राचीन लोक-कथा का नाम है। कहा जाता है कि इसका प्रणेता कोई लङ्गस (द्वितीय शताब्दी नामक व्यक्ति था। इसमें दो अनाथ बालकों की प्रणय-कथाओं तथा साहस-पूर्ण वीरत्व की कथाओं का वर्णन है। ये दोनों बालक गडरियों द्वारा कहीं पाये गये

थे। उन्हीं के द्वारा लालित पालित होकर उनकी भेड़ें चराया करते थे। बाद में पता चला तो वे अपने धनाढ्य माता-पिता के पास चले गये।

५. हीरोडोटस (४८४ से ४२४ ईसा पूर्व), यूनान का प्रसिद्ध ऐतिहासिक जो इतिहास के पिता के नाम से प्रसिद्ध है।

६. Soul should bed efined by the action·of the story and action should be determined by the soul of character. T. W. Beach की प्रसिद्ध पुस्तक 'ट्वन्टियेथ सेंचुरी नावेल का एक वाक्य।

७ इस निबंध के द्वितीय परिच्छेद में देखिये।

८. डा० जोन्स द्वारा सम्पादित एसेज इन अप्लाइड साइको—एनालिसिस, १६२३, में डेथ आफ हेमलेटस फादर नामक लेख में, होगार्थ प्रेस १६५१।

६. इस निबंध का द्वितीय परिच्छेद।

१०. डा० जोन्स द्वारा सम्पादित और जेम्स स्ट्राची द्वारा अनूदित कलैक्टेड पेपर्स दूसरी जिल्द के २३६, २४२ पृष्ठ पर फ्रायड के दस्तावेस्की एण्ड पारासाइड नामक लेख में से, होगार्थ प्रेस १६५०।

११. लिट्रेचर एण्ड साइकालोजी, ले० एल० ल्यूकस, १६५१, पृ० ८४ यहाँ हिटलर के बारे में लेखक कहता है, I have Sometimes wondered even Hitler's fate was not partly self—engineered, if he did not commit his supreme folly of invading Russia (followed by endless smaller follies) partly because something in him actually craved for retribution and destruction.

द्वितीय अध्याय

आधुनिक मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदाय और उनके मुख्य-मुख्य सिद्धांत

मनोविज्ञान किसे कहते हैं ?

मानव विचारशील प्राणी है। वह सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ को जानना और समझना चाहता है। पर सबसे अधिक उसकी अभिरुचि का केन्द्र है मानव। मानव मानव, के समानधर्मी होने के कारण, एक तरह का परिस्थितियों के प्रति क्रियाशील होने के कारण मानव चिंतन का सर्वाधिक अधिकारी रहा है। मानव के मन का चिंतनात्मक और भावात्मक सत्ता पर इस सर्वाधिकार का एक कारण और भी है कि इस व्यापार के द्वारा उसे स्वयं अपने को समझने में भी सहायता मिलती है। इस प्रकार मानव के प्रति मानव की चिंता को, समझने, समझाने, देखने, बूझने के प्रयत्न को मनोविज्ञान (Psychology) का अध्ययन कहते हैं। इसमें मानव व्यापार, उसके क्रिया कलाप, उसके आचरण तथा प्रतिक्रियाओं का अध्ययन होता है।

मनोविज्ञान(Psychology) और शरीर विज्ञान (Physiology)

मानव व्यापार के परिशीलन के मनोविज्ञानातिरिक्त और भी दर्शन हैं जिनमें शरीर विज्ञान (Physiology) भी एक है। यह जीव कृत क्रियाओं का वर्णन करता है। उन क्रियाओं की सिद्धि किस प्रकार होती है, इसका विवरण उपस्थित करता है तथा यंत्र के उन कल पुर्जों की चर्चा करता है जिनके सहारे मानव जीवन धारण करने में समर्थ होता है तथा जीवन धारणार्थ क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। परन्तु मानव की कर्मण्यता, उसके उद्देश और कार्य-तत्परता के पीछे छिपी रहने वाली प्रेरक शक्तियों, मूल कारणों का छानबीन करना शरीर विज्ञान (Physiology) का ध्येय नहीं। इसका काम वर्णन कर देना भर है, मूल रूप में क्रियाशील रहने वाले प्रेरणा-तत्वों को सुलझाना नहीं। यह काम मनोविज्ञान का (Psychology) का है। अतः कहा जा सकता है कि शरीर विज्ञान यह बतलाता है कि किस प्राणी ने किस प्रकार अमुक व्यापार किया, उसके शारीरिक अनुभावों। क्या रूप धारण किये, चेहरा तमतमा गया, भुजाएँ

फड़कने लगीं। पर मनोविज्ञान बतायेगा कि उसके इन शारीरिक अनुभावों के क्या कारण हैं, उसके मनोजगत मे क्रोध नामक भाव का आधिपत्य ही मूल कारण है। मनोविज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक है। शरीर विज्ञान जीव के अवयवों की क्रियाओं का अध्ययन करता है, उदाहरणार्थ श्वास प्रश्वास क्रिया का, रक्त प्रवाह क्रिया का, पाचन तथा अन्य क्रियाओं का। परन्तु मनोविज्ञान वाह्य पदार्थ के प्रति क्रियाशील एक पूर्ण मानव को अपने अध्ययन का आधार बनाता है। एक का विषय शरीर और शारीरिक व्यापार है दूसरे का मानस और मानसिक व्यापार।

इतिहास

मानव मन का अध्ययन अति प्राचीन काल से होता आया है। चेतन के उदय के साथ ही मानव मे अपने सहधर्मियों मे अभिरुचि भी जागृत हुई होगी, उसमें अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों को समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई होगी और उसी समय मनोविज्ञान का अध्ययन किसी न किसी प्रकार प्रारम्भ हो गया होगा। मानव के प्राचीनतम चिन्तन की व्यवस्थित झलक वेदों में मिलती है। उनमें ही मनोविज्ञान के अध्ययन की अनेक सामग्रियाँ उपलब्ध होती हैं। उपनिषदों में, साख्य-दर्शन मे, योग दर्शन मे, न्याय दर्शन मे तथा वौद्ध दर्शन की अनेक शाखाओं में मानव मन-सम्बन्धी उपपत्तियाँ प्राप्त हैं। उनके अध्ययन के द्वारा मनोविज्ञान सम्बन्धी अनेक बातें उपलब्ध हो सकती हैं।

पश्चिम में यूनानियों ने मानव मन के अध्ययन का प्रयत्न किया था। अरस्तू ने अपने ग्रथों में युवा और वृद्धावस्था की भावनाओं का, जागृत तथा सुपुप्त तथा स्वप्नावस्थाओं का, नर और नारी के मनोविज्ञान का, स्मृति और प्रज्ञा की प्रक्रियाओं का तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों का वर्णन किया है। परन्तु तत्कालीन विचारक दार्शनिक थे। अतः उन्होंने मनोविज्ञान को दर्शन का अंग मानकर ही अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। दर्शन शास्त्र ही मुख्य है। मनोविज्ञान की बाते वहीं तक आ सकी हैं जहाँ तक उनसे दर्शन के अध्ययन में सहायता मिल सकती है। मध्य युग तो एक तरह से विचारों के लिये अन्धकार का युग था। चिन्तन के क्षेत्र में इस समय कुछ भी प्रगति नहीं हो सकी।

आधुनिक युग में अनेक ऐतिहासिक कारणों से तथा विशेपतः डारविन के उत्क्रान्ति (Evolution) के सिद्धान्तों के प्रचार और विज्ञान के नित्य नूतन

आविष्कारों के कारण मानव के चिन्तन प्रवाह में प्रगति आ गई और जीवन तथा उसकी प्रक्रियाओं की ओर लोगों का ध्यान गया। मन और उसकी शक्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हुआ, मन को भी अन्य पदार्थों की तरह एक पदार्थ मान लिया गया और कार्य कारण की शृङ्खला में आबद्ध कर प्रयोगशाला की पद्धति पर उसके स्वरूप का निर्णय होने लगा। इस तरह मन के स्वरूप की समस्या को लेकर अनेक मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय खड़े हो गये हैं, जिनका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है। उनके सूक्ष्म भेदों और प्रभेदों से हमारा विशेष सम्बन्ध नहीं है। हम केवल उन्हीं सम्प्रदायों की चर्चा करेंगे जो उन्नीसवीं अर्थात् बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थापित हो गये थे, और लोगों के ध्यान को आकर्षित करने में सफल हो सके थे तथा जिनके द्वारा कला और साहित्य का क्षेत्र प्रभावित होने लगा था। इन सम्प्रदायों के नाम ये हैं—मनोविश्लेषण सम्प्रदाय (Psycho-analysis) सम्पूर्णतावादी सम्प्रदाय (Gestalt), आचरणवादी सम्प्रदाय (Behaviourism)। इनके सिद्धांतों की पृथक्-पृथक् चर्चा की जा रही है। इन सिद्धांतों में मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) ने कथाकारों का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किया है। हिन्दी कथाकारों का परिचय तो मनोविश्लेषण और फ्रायड तक ही सीमित है। अतः उसकी चर्चा सर्व प्रथम थोड़े विस्तार से दी जा रही है।

मनोविश्लेषण सम्प्रदाय

सिगमन्ड फ्रायड (१८५६-१९३९) का जन्म मोरेविया के एक गरीब यहूदी परिवार में हुआ था। वह बाल्यकाल से ही मेधावी और परिश्रमी था। उसने छात्रवृत्ति के सहारे अध्ययन करते करते डाक्टरी विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त की और विख्यात डाक्टरों की प्रसिद्ध नगरी वियेना में स्नायविक रोगों के विशेष चिकित्सक के रूप में उसने अपना व्यवसाय प्रारम्भ किया। पर व्यवसाय प्रारम्भ करने के पहले सुविख्यात् पेरिस के दो विशिष्ट चारकट और जैनेट (Janet) के साथ कुछ दिन रह कर उनके सम्मोहन व्यापार तथा उसके द्वारा अनेक शारीरिक रोगों के निवारण करने के क्रम, पद्धति का प्रत्यक्ष परीक्षण प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिला। उसने देखा कि सम्मोहित अवस्था में मनुष्य का मस्तिष्क एक विचित्र तरह से तरल और लचीला हो जाता है। सूचनाओं द्वारा उसको किस प्रकार तोड़ा मरोड़ा जा सकता है, उस पर किस तरह के शारीरिक लक्षण, चिह्न तथा

उपसर्ग उत्पन्न किये जा सकते हैं। उसमे फोड़े उगाये जा सकते है, किसी अंग को पक्षाघातित किया जा सकता है और एक सीमा के अन्दर उससे इच्छापूर्वक कोई काम लिया जा सकता है। सबसे विचित्र बात यह देखी गई है कि सम्मोहन की अवस्था मे व्यक्ति मे कुछ ऐसी बातों की स्मृति उग आती है जिनके ज्ञान का लवलेश भी उसे जाग्रत अवस्था मे नहीं रहता। फ्रायड को अपने मनोविश्लेषण भवन के निर्माण करने के संकेत सूत्र इन दो व्यक्तियों के सम्मोहन सम्बन्धी प्रयोगों से ही मिले।

मनोविश्लेषण का प्रथम वृत्त (case) और उसका निष्कर्षः[१]

पर इन दो व्यक्तियों से भी अधिक फ्रायड के मन मे तैरते विचारों को निश्चयात्मक रूप देने मे सहायता देने वाला एक तीसरा व्यक्ति हुआ। इसका नाम था ब्रूयर। यह वियेना का प्रसिद्ध और वयोवृद्ध अनुभवी स्नावयिक रोगों का विशेषज्ञ चिकित्सक था। ब्रूयर के पास एक इक्कीस वर्षीया अन्ना ओ नाम्नी जर्मन कुमारी चिकित्सा के लिये लाई गई। दो वर्षों से वह रुग्ण थी और इसी बीच मे उसमें ऐसे अजीबो-गरीब लक्षण उत्पन्न हो हो गये थे जिनके निदान मे मानव बुद्धि कुंठित हो जाती थी। वह प्रायः अन्धी हो गई थी, आँखों से कुछ सूझता नहीं था। उसकी दाहिनी भुजा में पक्षाघात सा मालूम पड़ता था। एक बार तो ऐसा लगा कि प्यासी रहने पर भी वह पानी पीने में असमर्थ रही, उसकी वाक्शक्ति भी कमजोर हो गई थी। और भी न जाने कितने जटिल और पेचीदे चिह्न दृष्टिगोचर होते थे जिनका रहस्योद्घाटन करना कठिन था। कभी-कभी तो ऐसा होता कि वह अपने को सर्वथा भूल जाती, मानो उस अवधि के लिये उसका व्यक्तित्व ही परिवर्तित हो गया हो। अपने रुग्ण पिता की सेवा करते रहने के समय वह बीमार पड़ी थी। पिता के लिये उसके हृदय मे आदर की भावना थी। पर बाध्य होकर स्वयं बीमार हो जाने के कारण उनकी सेवा से उसे वंचित होना पड़ा। अन्त मे उसके पिता की मृत्यु हो गई।

डाक्टर ने लक्ष्य किया कि जब अन्ना विस्मरण की अवस्था अथवा व्यक्तित्व परिवर्तन की अवस्था मे होती थी तो वह कुछ शब्द बड़बड़ाया करती। उन शब्दों को डाक्टर ने सावधानी से नोट कर लिया। उसे संदेह हुआ कि उस बड़बड़ाहट का मूल कारण उसके हृदय को मथित करने वाले विचारों से सम्बद्ध घटनाओं से है चाहे वे कल्पित ही क्यों न हों। ब्रयर ने उसे सम्मोहित किया और सम्मोहन की अवस्था मे उसके सामने उन

शब्दों की पुनरावृत्ति की जिसे वह दुहराया करती थी। परिणाम यह देखा गया कि उस रोगिणी ने अपनी सारी मानसिक कल्पनाओं को कह दिया जिनको लेकर उसे बेचैनी में डाल देने वाले विचारों की उत्पत्ति हुई थी। इन विविध रंगमयी चित्र विचित्र कल्पनाओं में कुछ तो बड़ी ही निराश भावापन्न थीं। कुछ कवि कल्पना सी सुन्दर। पर प्रायः सभों की मूलोत्पत्ति का सम्बन्ध उसके रुग्ण पिता की सेवा करने वाली परिस्थितियों से था। यह भी देखा गया कि मानसिक परिकल्पनाओं को व्यक्त कर देने के बाद वह कुछ समय स्वस्थ तथा प्रसन्न चित्त साधारण मनुष्य की तरह व्यवहार करती थी, मानों उसकी छाती पर गेंडुल मार कर बैठा रहने वाला सर्प भाग गया हो।

एक उदाहरण लीजिये ऊपर कहा गया है कि वह पानी पीने में कुछ दिनों तक के लिये असमर्थ हो गई थी। सम्मोहन की अवस्था में इसका रहस्य खुला। उसकी एक अभिभाविका थी जिसके लिये अन्ना के मन में तीव्र घृणा के भाव थे। एक दिन वह अपनी अभिभाविका के कमरे में गई तो देखती क्या है कि उसका कुत्ता आया और उसके पीने वाले ग्लास से पानी पीने लगा। अन्ना का मन एक अति जुगुप्सा के भाव से भर गया पर शिष्टाचार के नाते वह कुछ भी न कह सकी, मन मार कर रह गई। जब अन्ना ने सम्मोहन की अवस्था में उस घटना का वर्णन अपने पूर्ण भावावेश के साथ घृणा की अभिव्यक्ति करते हुए किया, उसके क्रोध की अभिव्यक्ति को पूर्ण प्रवाह मिल गया तो उसमें स्वस्थता के लक्षण दिखाई पड़े और वह बिना कठिनाई के पर्याप्त मात्रा में पानी पीने में समर्थ हो सकी और कम से कम यह लक्षण सदा के लिये दूर हो गया।

इस रोगिणी के इतिहास के निरीक्षण से ये परिणाम निकलते हैं (१) कि हमारी चेतनावस्था को हमारी मानसिक व्याधियों के मूल कारण का ज्ञान नहीं भी रह सकता है (२) कि सम्मोहन या इसी तरह किसी विशिष्ट पद्धति के सहारे मनुष्य के उस अचेतन भाग तक पहुँचा जा सकता है जिसके गर्भ में व्याधियों के मूल या बीज छिपे पड़े हों। इन दोनों स्तरों के वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर अर्थात् दबी स्मृतियों को जाग्रित कर उसे बाहर लाकर हम मानसिक स्वस्थता प्राप्त कर सकते हैं। ये ही निष्कर्ष ब्रूयर ने निकाले जिनके आधार पर फ्रायड ने अपने मनोविश्लेषण का प्रासाद खड़ा किया। पर इतना अवश्य है कि इस प्रासाद की आधारशिला की प्रथम ईंट ब्रूयर ने रखी।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि मानव व्यक्तित्व में चेतन के अतिरिक्त एक और स्तर होता है जिसे अचेतन कह सकते हैं। इन दोनों स्तरों के बीच एक अभेद्य सी मालूम पड़ने वाली दीवार है जिसे तोड़ कर अचेतन में प्रवेश करना अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित हो जाने, शृंखला की भूली हुई कड़ियाँ पा जाने पर व्यक्ति के जीवन में स्वास्थ्य लाभ की सम्भावना हो सकती है। आगे चल कर ज्यों-ज्यों अधिकाधिक रोगियों की परीक्षा और चिकित्सा के अवसर आते गये और फ्रायड के अनुभवों में अभिवृद्धि होती गई त्यों-त्यों वह अपने मनोविश्लेषण सम्बन्धी सिद्धान्तों को लोगों के सामने क्रम-बद्ध रूप में रखता गया।

अचेतन मस्तिष्क

फ्रायड की मनोवैज्ञानिक पद्धति का अध्ययन हम इन शीर्षकों के अन्दर कर सकते हैं। (१) अचेतन मस्तिष्क (२) लिबिडो (३) दमन (४) इडिपस ग्रन्थि। फ्रायड ने कहा कि मानव मस्तिष्क में तीन स्तर होते हैं, अचेतन, अर्द्धचेतन और चेतन। अचेतन की कल्पना फ्रायडियन मनोविश्लेषण का आधार-भूत सिद्धान्त है जिसके सम्बन्ध में अत्यधिक लिखित सामग्री उपलब्ध है और सबके विचारों में साम्य हो सो बात नहीं। पर इतना समझ लेने से काम चल जायेगा कि मानव मस्तिष्क का $\frac{2}{3}$ अंश इसी अचेतन की परिधि के अन्दर है और मनुष्य के विचार, उसके व्यवहार तथा रहन-सहन के ढंग की स्वाभाविकता या अस्वाभाविकता का मूल प्रेरक यही है। जिस तरह एक नदी मे तैरते हुए बर्फ के चट्टान का अधिकाश जल प्रवाह की तह में पड़ा नजरों से ओझल रहता है, दिखलाई पड़ने वाला तो थोड़ा सा ही है। ठीक इसी तरह मस्तिष्क का चेतन अंश जहाँ पर सोच समझ कर "ऐसा-करूँ-कि-ऐसा-करूँ" इस तरह के व्यापार चलते रहते हैं, वह महज छोटा भाग है पर वास्तविक रूप से उसके व्यापार की प्रेरणा तो अचेतन से ही मिलती है। चेतन मस्तिष्क तो अचेतन के हाथ का एक तरह से कठपुतली सा है और वही अचेतन छिपे-छिपे डोर हिलाया करता है। नदी मे तैरते हुए बर्फ की चट्टान को न देख कर केवल नदी को ही देखिये। पानी का बाह्य स्तर ही दीख पड़ता है। पर उसके नीचे पानी की एक अविकल राशि प्रवाहित होती रहती है। इन दोनों में पारस्परिक आदान-प्रदान बना रहता है और नीचे की तह में रहने वाली जल धारा उठ-उठ कर ऊपर की जलराशि के रूप रंग तथा तापमान मे परिवर्तन उपस्थित करती रहती है। उसी तरह

हमारे व्यावहारिक जीवन के सारे कार्य कलाप अचेतन से प्रभावित रहते हैं, अचेतन ही उनकी डोर हिलाया करता है।

इन दोनों स्तरों का मध्यवर्ती स्तर है अर्द्धचेतन या कहिये स्वल्प चेतन जो वर्तमान में ज्ञान और अनुभूति का विषय तो नहीं होता, पर थोड़े ही प्रयत्नों के बाद अनुभाव्य हो सकता है। मस्तिष्क में सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण अंश अचेतन में हमारे जन्म से लेकर अब तक की अनुभूतियाँ पड़ी रहती हैं और विशिष्ट प्रयत्नों के द्वारा ही उन्हें पाया जा सकता है। कुछ तो ऐसी होती हैं जिन्हें प्राप्त कर सकना प्रायः असम्भव है। जाग्रत अवस्था के सारे विचार और प्रवृत्तियाँ सभी इसी मूल स्रोत से उत्पन्न हो कर अर्द्धचेतन से होते हुए चेतन तक पहुँच जाती हैं। अन्यथा वे विचार जो निन्दनीय हों, निराशाजनक हों, लज्जोत्पादक हों, उन्हें रोक दिया जाता है। चेतन और अचेतन के बीच एक प्रहरी (censor) बैठा रहता है जो अवाञ्छनीय विचारों को आता देख दरवाजा बन्द कर देता है। दमन और रोकथाम का यह व्यापार अज्ञात अवस्था में चलता रहता है, हम अपने दैनिक जीवन में जिस तरह ज्ञानपूर्वक कुछ विचारों पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं उससे यह भिन्न है और अज्ञात रूप में चलता रहता है। ज्ञात रूप वाले प्रतिबन्ध व्यापार को फ्रायड ने निरोध (Supression) कहा है और अज्ञात प्रतिबन्धक व्यापार के लिये दमन (Repression) शब्द का प्रयोग किया है।

मनुष्य के जीवन में सदा संघर्ष चला करता है। कुछ तो संघर्ष ऐसे हैं जो चेतन स्तर पर चला करते हैं। उनके सारे व्यापारों से हम अवगत रहते हैं और कुछ ऐसे हैं जिनका व्यापार गुप्त रूप से छिपा छिपा होता रहता है। संघर्ष चाहे किसी प्रकार का हो, गुप्त या प्रकट, उससे हमारी जीवन शक्ति का ह्रास होता ही है। पर प्रकट रूप से चलने वाले संघर्ष को दृढ़ निश्चय के द्वारा समाप्त कर मानसिक स्फूर्ति प्राप्त की जा सकती है तथा संघर्ष में व्यय होती रहने वाली शक्ति को मुक्त कर अधिक उपयोगी कार्य के लिये उपलब्ध किया जा सकता है। बल्कि होता तो ऐसा है कि संघर्षोपरान्त निर्णय कर लेने में मनुष्य में द्विगुणित उत्साह की अनुभूति होती है। कुरुक्षेत्र में अर्जुन के हृदय में उपस्थित हो जाने वाला संघर्ष इसी चेतन संघर्ष की श्रेणी में आयगा। पर आधुनिक मनोविश्लेषणवादियों ने बतलाया कि इस चेतन संघर्ष के अतिरिक्त मनुष्य के अन्दर एक और संघर्ष चलता रहता है, जिसका उसे पता नहीं और जो इससे अधिक भयंकर और शक्तियों का शोषक होता है तथा तरह-तरह की मानसिक और शारीरिक व्याधियों का जन्मदाता है।

लिबिडो

मनुष्य के मस्तिष्क तथा उसके सारे व्यक्तित्व को परिचालित करने वाली मूल शक्ति को फ्रायड ने लिबिडो कहा है। यह बड़ी शक्तिशालिनी होती है और बाह्य जीवन मे अपनी अभिव्यक्ति के लिये सदा उत्सुक रहती है। पर यह काममूला और स्वार्थ मूलक होती है और समाज की नैतिक धारणाओं से मेल नहीं खाती। अतः हमारा चेतन इसकी अभिव्यक्ति पर नियंत्रण रखता है। फ्रायड के मत से यह काममूला है और स्वार्थी। लिबिडो शक्ति ही जीवन की मुख्य परिचालिका है। यह अवश्य है कि फ्रायड के अनुसार लिबिडो का अर्थ बहुत व्यापक है और यह स्थूल काम भावना तक ही सीमित नहीं है। इसकी सीमा के अन्दर मनुष्य के सारे आनन्द, उत्साहपूर्ण कार्य-कलाप, मिथुन व्यापार, प्रेम, घृणा जैसी मानसिक पक्ष वाली सब बातें आ जाती हैं। पर उसका प्रधान मंतव्य स्पष्ट था। यदि साहित्य शास्त्र के इतिहास को देखा जाये तो शृंगार रस के रस-राजत्व को दिखलाने वाली प्रवृत्ति जो भक्ति, वात्सल्य, करुण तथा उत्साह इत्यादि को रति के अन्दर ही अन्तर्भुक्त करने की पक्षपातिनी है वह इसी लिबिडो के सर्वस्वान्तकारी प्रवृत्ति से मिलती-जुलती दिखलाई पड़ेगी।

इडिपस ग्रन्थि

फ्रायड के मिथुन भाव सम्बन्धी सिद्धान्त मौलिक थे और हमारी अब तक की धारणाओं की जड़ को हिला देने वाले क्रान्तिकारी थे। लोगों की धारणा यही थी कि मनुष्य मे काम भाव का अंकुर एक विशेष अवस्था मे ही उगता है जिसे तारुण्य कहते हैं, जब अंग प्रत्यंग पूर्ण रूप से विकसित हो जाते है और प्रजनन क्रिया के लिये पूरी प्रौढ़ता आ जाती है या आने लगती है। यह कभी किसी ने कल्पना नहीं की थी कि जन्म के साथ ही बालकों में कामभाव की उत्पत्ति हो जाती है और बालक तरह-तरह से उसकी तृप्ति का साधन भी निकाल लेता है। फ्रायड के जितने सिद्धान्त थे उन सबों मे उसके बाल्य मन वाले सिद्धान्त का सबसे अधिक विरोध हुआ था। हम बालक के मन को भोलेपन की कल्पना मे मग्न रह कर शिशु को भगवान के रूप मे देखने के अभ्यस्त थे। ऐसी अवस्था मे फ्रायड एक ऐसी बात कहने लगे जिसके द्वारा हमारे चिर पोषित विचारो की नींव हिल गई। अतः इसका विरोध होना स्वाभाविक ही था।

बाल्यकालीन मिथुन भाव—बाल मन के सूक्ष्म अध्ययन के बाद

फ्रायड ने यह सिद्धान्त निकाला कि बालक के मन में जन्म से ही अनेक क्रियाओं का एक वात्याचक्र चलता रहता है। इस समय की सारी क्रियायें स्वाभाविक होती हैं और उनका ध्येय होता है एंद्रिय सुखानुभूति की उपलब्धि। उसमें काम भाव की बड़ी प्रबलता रहती है और एक बालक के विकास का इतिहास अधिकाश वातावरण के सम्पर्क से उत्पन्न एंद्रिय सुखानुभूति के परिवर्तित होती रहने वाली अभिव्यंजना का इतिहास है। बालक की काम प्रवृत्ति का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जा सकता है—स्वदृष्टि से और पर दृष्टि से। स्वदृष्टि से यहाँ अर्थ यह है कि स्वयं बालक के अपने शरीर के किस अंग में काम भाव की स्थिति रहती है और पर दृष्टि में यह विचार किया जाता है कि किस वस्तु के प्रति उसकी काम प्रवृत्ति प्रभावित है। प्रथम में किस साधन से वासना की तृप्ति होती है और द्वितीय में किस उपलक्ष्य से तृप्ति लाभ होता है, इसका विचार होता है। दोनों दृष्टियों के सम्मिलित हो जाने पर यह विचार हो सकता है कि बालक ने किस अंग से किस व्यक्ति को अपनी काम तृप्ति का लक्ष्य बनाया है।

स्वदृष्टि—सर्व प्रथम बालक की काम भावना शरीर के किसी खास स्थान पर नहीं रहती। उसका कोई रूप नहीं होता। वह असंगठित रूप से सारे शरीर में व्याप्त रहती है पर यह अवस्था अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती। शीघ्र ही काम वासना शरीर के विशिष्ट स्थानों में केंद्रित हो जाती है, जिन्हें काम केन्द्र (Erogeneous zone) कह सकते हैं। इस दृष्टि से काम प्रवृत्ति के विकास को चार अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है—१ विशृंखल २ मौखिक ३ गुदास्थानीय ४ जनेन्द्रियावस्था।

प्रथम अवस्था में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हमारी काम वासना त्वचा पर चारों ओर छितराई रहती है। दूसरी अवस्था में कामवासना मुख में केंद्रित हो जाती है। यह ठीक है कि क्षुधा निवारण के लिये ही बच्चा अपनी माँ के स्तनों को मुँह में लेता है। पर क्षुधा निवृत्ति के बाद में भी जब हम उसे स्तन को मुँह में लेते देखते हैं, आनन्दपूर्वक अंगूठे को चूसते देखते हैं या इस उस वस्तु को मुँह में डालते देखते हैं तो अवश्य कहना पड़ता है कि वह जरूर कुछ अतिरिक्त आनन्दोपभोग कर रहा है जो काम तृप्ति से मिलता जुलता है। आगे चल कर बालक अपनी मल निस्सरण क्रिया में आनन्द प्राप्त करने लगता है और अधिक से अधिक आनन्द

प्राप्त करने के लिये मल निष्कासन पर नियंत्रण करने लगता है। अन्तिम अवस्था मे वह अपनी जनेन्द्रिय मे दिलचस्पी लेने लगता है, उससे खिलवाड करने लगता है, उसके रहस्यों को जानना चाहता है। प्रत्येक बालक का इन अवस्थाओं से गुजरना स्वाभाविक ही है। यदि इन अवस्थाओं का स्वाभाविक विकास होता गया और बालक एक अवस्था को पार कर उसे छोड़ता हुआ दूसरी अवस्था को पहुँचता गया तो उसके व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास होता जायेगा। पर माता-पिता की नैतिक धारणाओं के कारण अथवा किसी अन्य कारण से इस स्वाभाविक विकास मे अनावश्यक बाधा हुई तो इसका प्रभाव चरित्र गठन पर भी पड़ता है। ये प्रवृत्तियाँ दमित होकर अचेतन मन मे चली जायेगी और वहीं से चरित्र को भले या बुरे रूप मे प्रभावित करती रहेंगी। उदाहरण के लिये मुख-काम-प्रवृत्ति वाले मनुष्य मे अधिक से अधिक वस्तुओं को प्राप्त कर और संग्रह करने की प्रवृत्ति होगी। गुदा-काम-प्रवृत्ति वाला व्यक्ति कंजूस तथा जीवन में व्यवस्था का प्रेमी होगा और जिसकी इन्द्रिय-काम-भावना दमित होगी वह आवश्यकता से अधिक धार्मिक और नीति-परायण होगा।

दो वर्ष की अवस्था के बाद बालिका या बालक की लिबिडो (काम शक्ति) माता-पिता की ओर केन्द्रित होने लगती है। बालक अपनी माँ को तथा बालिका अपने पिता को प्यार करने लगती है। बालक और बालिका क्रम से पिता और माता को अपनी प्रेमोलब्धि के मार्ग मे बाधक समझने लगते हैं पर चूँकि इस तरह की भावना समाज के द्वारा निंदनीय समझी जाती है अतः इसके दमन से बालक में Edipus complex और बालिका मे Electra complex नामक ग्रन्थियाँ जम जाती हैं और भविष्य मे जीवन व्यापार को प्रभावित करती रहती हैं।

परदृष्टि—उसी तरह परदृष्टि से (बालक किसको प्यार करता है, किस वस्तु की ओर उसकी काम-भावना प्रवाहित होती है) बालक के विकास की दो अवस्थाएँ होती हैं-निर्वैयक्तिक और सवैयक्तिक। यह सवैयक्तिक अवस्था भी दो रूपों मे विकसित होती है स्वरति और पररति। पररति कभी-कभी अपने स्वलिङ्गी व्यक्ति के प्रति होती है और कभी-कभी विपरीत लिङ्गी के प्रति। इसे नीचे की तालिका से समझा जा सकता है। निर्वैयक्तिक अवस्था मे काम वासना अपने में ही केन्द्रित रहती है पर बालक को अपने स्व का
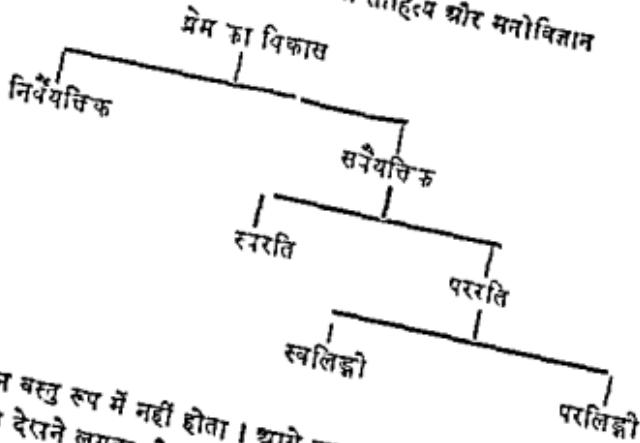
भी ज्ञान वस्तु रूप में नहीं होता। आगे चल कर वह स्व का वस्तुगत दृष्टि कोण से देखने लगता है। वह अपने को भी एक अलग वस्तु समझ कर प्यार करने लगता है। इसी भाव को फ्रायड ने Narcissistic कहा है। आगे चल कर वह दूसरों को प्यार करने लगता है जो उसी से मिलते-जुलते स्वलिङ्गी हों। यही Homo-sexuality अर्थात् स्वलिङ्गी काम भावना कहलाती है। बाद में परलिङ्गी प्रेम का उदय होता है जिसमें अपने से भिन्न लिङ्ग वाले व्यक्ति के प्रति काम भावना उत्पन्न होती है।[२]

यह स्पष्ट है कि मनुष्य को अपने स्वस्थ विकास के लिये एक अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था पर आगे निर्बाध बढ़ता जाना चाहिये। पर लिंगी प्रेम का विकास मनुष्य की स्वाभाविक और स्वस्थ अवस्था है पर यह तभी सम्भव है जब वह पूर्ण रूपेण स्वरति की भावना से मुक्त हो जाय। जिसका अर्थ यह होता है कि पूर्वावस्था में लिप्टा कामुकता छूट कर दूसरी अवस्था में चली जाय और वह अपने शुद्ध रूप में रह जाय। स्वलिंगी से परलिंगी अवस्था में जाने का यही अर्थ है कि प्रथमावस्था से कामुकता अलग होकर दूसरी अवस्था में केन्द्रित हो जाती है और यह स्वरति स्वलिंगी व्यक्ति के प्रति सौहार्द स्नेह इत्यादि के रूप में रह कर सामाजिक व्यवहार में सहायक होता है। यदि किसी कारण से, जिसमें स्वाभाविक प्रवृत्तियों के साथ अनुचित हस्तक्षेप मुख्य है, एक अवस्था की कामुकता का दूसरी अगली अवस्था में स्थानान्तरीकरण नहीं होता तो यह मनुष्य के स्वस्थ विकास में बाधक होकर अनेक तरह के रोगों अथवा विकृतियों का कारण होती है।

प्रवृत्तियों का ध्रुवीकरण : जीवन और मरण प्रवृत्तियाँ

आगे चल कर फ्रायड के सिद्धान्तों में विकास होता गया और उसने प्रवृत्तियों के ध्रुवीकरण वाले (Polarity of motives) सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। फ्रायड ने कहा कि मनुष्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि वह सदा से दो विपरीत प्रवृत्तियों से परिचालित होता रहता है। एक प्रवृत्ति उसे पूर्व को ओर खींचती है और दूसरी उसे पश्चिम की ओर। उसमें स्वप्रेम की प्रवृत्ति है तो साथ परप्रेम की भी, निर्माण की है तो विनाश की भी। उसमें जीवन की अदम्य आकाङ्क्षा है तो मरण की भी उतनी ही है। ये दोनों विपरीत तथा परस्पर—विरोधिनी प्रवृत्तियाँ उसके व्यक्तित्व के साथ लगी रह कर उसके जीवन के व्यापारों मे प्रगटित होती रहती है। पर इन दो विपरीत प्रवृत्तियों की एक ही व्यक्तित्व में निवास करने वाली बात को किस तरह समझाया जाय, अन्धकार और प्रकाश को एक ही स्थान पर बैठा कर किस तरह दिखलाया जाय। इसके परिणाम स्वरूप फ्रायड के जीवन प्रवृत्ति (Eros) और मरण प्रवृत्ति (Thantos) नामक सिद्धान्तों का आविष्कार हुआ।

फ्रायड ने कहा कि जीवन के उदय के साथ ही अन्दर से प्राणिशास्त्रीय आवश्यकताओं के कारण बालक मे लिबिडो की उत्पति होती है। वह अपने प्रवाह का मार्ग ढूँढ़ा करता है। पर प्रारम्भ में कोई अन्य वस्तु न पाकर जीव के ऊपर ही लिपट जाता है। यह स्वरति या Self libido की अवस्था है। बाद में ज्यों-ज्यों व्यक्ति में वस्तुवादी दृष्टि उत्पन्न होती जाती है, 'स्व' से पृथक 'पर' का ज्ञान होता जाता है, त्यों-त्यों उसका लिबिडो अन्य वस्तुओं पर केन्द्रित होने लगता है, वह माँ को प्यार करने लगता है। बाद में सम्पर्क मे आने वाले बंधुओं तथा संसार की अन्य वस्तुओं से संलग्न होकर परात्मक_रति Object libido की अवस्था उत्पन्न होती है। जिस अनुपात में एक का विकास होगा उसी अनुपात से दूसरे का ह्रास होगा। परात्मक रति के साथ स्वरति का ह्रास होता है, और स्वरति से परात्मक रति का। इन दोनों के परस्पर विरोध का समाधान किस तरह सम्भव है। यही प्रश्न फ्रायड के सामने था।

फ्रायड ने उत्तर मे कहा कि जीव में मृत्यु की प्रवृत्ति की कल्पना किये बिना काम नहीं चल सकता। मानव जीवन में जिस तरह जन्म सत्य है उसी तरह मृत्यु भी। मृत्यु जीवन का अचूक लक्ष्य है। रक्षा का लाख प्रयत्न करने पर भी मनुष्य मृत्यु रूपी लक्ष्य पर पहुँच कर ही रहता है। तब यह

अनुमान करना ही पड़ेगा कि मनुष्य में उस लक्ष्य की प्राप्ति की प्रेरणा सहज तथा नैसर्गिक रूप से वर्तमान है (जो उसे मृत्यु लक्ष्य की ओर प्रेरित किये रहती है) और वह प्रगटित भी होगी। पर मनुष्य की मृत्यु तो एक बार ही होती है, वह बार-बार तो मरता नहीं। तब इस मरण प्रवृत्ति का प्रकाशन किस रूप में होता है। मनोविश्लेषणवादियों का कहना है कि जिस तरह मनुष्य का लिबिडो पहिले स्वकेन्द्रित रहता है, अन्तर्मुखी रहता है पर बाद में दूसरों से लिपट कर प्रेम भाव के रूप में परिणत हो जाता है, उसी तरह यह स्व-मृत्यु भावना बहिर्मुखी होकर पर मृत्यु भावना का रूप धारण कर लेती है। मरने की भावना मारने की भावना बन जाती है। चूँकि यह शक्ति दूसरों को मारने में व्यय हो जाती है, अत अपने आश्रय को मारने की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य में दूसरों से प्रतिस्पर्धा करने, दूसरों पर विजय प्राप्त करने, दूसरों को तंग करने, आक्रमण करने की प्रवृत्तियाँ इसी मृत्यु कामना के भिन्न भिन्न रूप हैं। इसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है और कम या अधिक मात्रा में सब मनुष्यों में वर्तमान रहती है। आत्मपीड़न और आत्म भर्त्सना की प्रवृत्ति इसी श्रेणी में आयेगी। सैडिज्म (Sadism) की अर्थात् अपनी प्रेमिका को तरह-तरह से यन्त्रणा देकर मिथुन भाव की तृप्ति पाने की प्रवृत्ति अथवा प्रेमिका द्वारा पीड़ा प्राप्त कर मिथुन भाव की तृप्ति मसोचिज्म (Masochism) भी इसी मरण प्रवृत्ति का विकसित रूप है[1]।

मन के तीन भाग[2]

वास्तविक व बाह्य संसार तथा सभ्यता की माँगों अनुसार व्यक्तित्व को परिवर्तित करने वाले अंश को अहंभाव कहते हैं। यह अहं हमारी सहज और स्वाभाविक अन्तःप्रेरणाओं पर नियन्त्रण रखता है और उन्हें परिमर्जित तथा परिशोधित कर हो क्रियाशील होने की अनुमति देता है। मस्तिष्क का वह प्रदेश जहाँ मनुष्य की प्रारम्भिक उमंगें, प्रेरणायें और प्रबल इच्छाएँ निवास करती हैं, प्रकृत स्तर (ID) कहा जाता है। प्रकृत स्वत्व के निवासी असंगठित होते हैं, उनमें व्यवस्था नहीं होती, सब वस्तुएँ वहाँ पर एक उबलते हुए पानी की तरह बाहर आने का मार्ग खोजा करती हैं, पर इनके पास बाहर आकर अपने को चरितार्थ करने का कोई साधन नहीं होता। अत बाहर आकर अपनी अभिव्यक्ति के लिये उन्हें (Ego) के प्रदेश से होकर जाना पड़ता है। यह Ego पहिले तो इतना कठोर नहीं होता और ID के साथ बहुत हस्तक्षेप नहीं करता पर आगे चल कर ज्यों-ज्यों बाह्य सम्पर्क से इसे अनुभव प्राप्त होता जाता है उसकी कठोरता में वृद्धि होती जाती है

और तब अपनी भूमि से होकर बाहर जाने वाले ID के उच्छृङ्खल सिपाहियों के हथियार रखवा कर, सभ्य बना कर ही जाने की आज्ञा देता है। Ego व्यक्तित्व का चेतन अंश है, यह हमारा बौद्धिक अंश है और इसकी सारी क्रियायें ज्ञात रूप में होती रहती हैं और इसके सारे नियंत्रण जान-बूझ कर होते हैं। पर एक ऐसा अवसर आ जाता है कि इसी Ego के द्वारा दमन या नियंत्रण की क्रिया होती तो है पर उसको इसका ज्ञान नहीं होता। यह एक तरह से अचैतन्य चेतन (Unconscious conscious) है और इसे फ्रायड ने नैतिक अहं (Super-ego) कहा है। Ego जो आदेश देता है या नियंत्रण करता है उसके लिये वह कारण पूछने पर बतला सकता है कि मेरे ये आदेश किन कारणों से दिये जा रहे हैं, इनसे ये लाभ हैं, इनकी यह उपयोगिता है। पर Super-ego अंधा होता है, उसे ज्ञान की आँखें नहीं होती। वह आदेश दे भर ही सकता है, अपने पक्ष की वकालात नहीं कर सकता। इसका निर्माण बाल्यावस्था मे ही हो जाता है जिस समय बालक में इडिपस ग्रन्थि, का निर्माण हो रहा होता है। अतः हम देखते हैं कि Ego को तीन स्वामियों की सेवा करनी पड़ती है बाह्य संसार, अहं भाव (ID) तथा नैतिक अहं (Super-ego)। जब वह कभी इस समन्वय स्थापना की क्रिया मे असमर्थ हो जाता है और भार वाहन मे असफल हो जाता है उसी समय वह चिन्ता का शिकार बन कर तीनों के प्रति प्रतिक्रिया करता है।

फ्रायड की मुख्य-मुख्य मान्यताओं की चर्चा ऊपर दी गई है इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण अंश अचेतन है। वहाँ रहने वाली प्रेरणायें दुर्दमनीय, असभ्य, अनगढ़, क्रूर, स्वार्थ-परायण स्वतृप्ति-कामी होती है। चेतन तथा सुसंस्कृत सभ्य अहं उन्हे सभ्यता की विद्रोहिनी तथा अराजक समझ कर उन्हे दमन करने की भरपूर चेष्टा करता है, पर उसको सफलता नहीं मिलती। कभी तो वे ललकार कर सामने आ जाती हैं और सारे चेतन के राजसिंहासन पर आसीन हो जाती हैं। पर बहुधा चेतन पर विजय प्राप्त करना कठिन है। अतः वे रूप बदल कर उसके राज्य मे प्रवेश करती हैं और मनुष्य के व्यक्तित्व को परिवर्तित करती रहती है तथा उसके चरित्र को गठित करती है। मनुष्य के चरित्र में जो कुछ अच्छाइयाँ बुराइयाँ है, जो कुछ साधारणताएँ या असाधारणतायें हैं, जो कुछ विशिष्टतायें हैं, उन सब की व्याख्या चेतन और अचेतन के पारस्परिक संघर्ष के रूप मे की जा सकती है और मनोविश्लेषण की कुछ विशिष्ट पद्धतियों के सहारे इस संघर्ष का सच्चा रूप समझ कर व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास की व्यवस्था की जा

अनुमान करना ही पड़ता कि मनुष्य में उस अवस्था की प्राप्ति की इच्छा सहज तथा नैसर्गिक रूप से वर्तमान है (जो उस पूर्व अवस्था को पुनः प्राप्त किये रहता है) और यह प्रगटित भी होगी। पर मनुष्य की मृत्यु तो एक बार ही होती है, वह बार-बार तो मरता नहीं। तब इस मरण प्रवृत्ति का प्रकाशन किस रूप में होता है। मनोविश्लेषणवादियों का कहना है कि जिस तरह मनुष्य का लिबिडो पहिले स्वकेन्द्रित रहता है, आत्मप्रेमी रहता है पर बाद में दूसरों से लिपट कर प्रेम भाव के रूप में परिणत हो जाता है, उसी तरह यह स्व-मृत्यु भावना बहिर्मुखी होकर पर मृत्यु भावना का रूप धारण कर लेती है। मरने की भावना मारने की भावना बन जाती है। चूंकि यह शक्ति दूसरों को मारने में व्यय हो जाती है, अतः स्वयं आत्म के नाश की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य में दूसरों से प्रतिस्पर्धा करने, दूसरों पर विजय प्राप्त करने, दूसरों को तंग करने, आक्रमण करने की प्रवृत्तियाँ इसी मृत्यु कामना के भिन्न भिन्न रूप हैं। इसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है और कम या अधिक मात्रा में सब मनुष्यों में वर्तमान रहती है। आत्मपीड़न और आत्म भर्त्सना की प्रवृत्ति इसी श्रेणी में आयगी। सेडिज्म (Sadism) को अपनी प्रेमिका को तरह-तरह से यंत्रणा देकर मिथुन भाव की तृप्ति पाने की प्रवृत्ति अथवा प्रेमिका द्वारा पीड़ा प्राप्त कर मिथुन भाव की तृप्ति मेसोचिज्म (Masochism) भी इसी मरण प्रवृत्ति का विकसित रूप है[1]।

मन के तीन भाग[2]

वास्तविक व बाह्य संसार तथा सभ्यता की माँगों के अनुसार व्यक्तित्व को परिवर्तित करने वाले अंश को अहंभाव कहते हैं। यह अहं हमारी सहज और स्वाभाविक अन्तर्प्रेरणाओं पर नियंत्रण रखता है और उन्हें परिमार्जित तथा परिशोधित कर ही क्रियाशील होने की अनुमति देता है। मस्तिष्क का वह प्रदेश जहाँ मनुष्य की प्रारम्भिक उमंगें, प्रेरणायें और प्रबल इच्छाएँ निवास करती हैं, प्रकृत स्वत्व (ID) कहा जाता है। प्रकृत स्वत्व के निवासी असंगठित होते हैं, उनमें व्यवस्था नहीं होती, सब वस्तुएँ यहाँ पर एक उबलते हुए पानी की तरह बाहर आने का मार्ग खोजा करती हैं, पर इनके पास बाहर आकर अपने को चरितार्थ करने का कोई साधन नहीं होता। अतः बाहर जाकर अपनी अभिव्यक्ति के लिये उन्हें (Ego) के प्रदेश से होकर जाना पड़ता है। यह Ego पहिले तो इतना कठोर नहीं होता और ID के साथ बहुत हस्तक्षेप नहीं करता पर आगे चल कर ज्यों-ज्यों बाह्य सम्पर्क से इसे अनुभव प्राप्त होता जाता है उसकी कठोरता में वृद्धि होती जाती है

और तब अपनी भूमि से होकर बाहर जाने वाले ID के उच्छृङ्खल सिपाहियों के हथियार रखवा कर, सभ्य बना कर ही जाने की आज्ञा देता है। Ego व्यक्तित्व का चेतन अंश है, यह हमारा बौद्धिक अंश है और इसकी सारी क्रियायें ज्ञात रूप मे होती रहती हैं और इसके सारे नियंत्रण जान-बूझ कर होते हैं। पर एक ऐसा अवसर आ जाता है कि इसी Ego के द्वारा दमन या नियंत्रण की क्रिया होती तो है पर उसको इसका ज्ञान नहीं होता। यह एक तरह से अचैतन्य चेतन (Unconscious conscious) है और इसे फ्रायड ने नैतिक अहं (Super-ego) कहा है। Ego जो आदेश देता है या नियंत्रण करता है उसके लिये वह कारण पूछने पर बतला सकता है कि मेरे ये आदेश किन कारणों से दिये जा रहे हैं, इनसे ये लाभ हैं, इनकी यह उपयोगिता है। पर Super-ego अंधा होता है, उसे ज्ञान की आँखे नहीं होती। वह आदेश दे भर ही सकता है, अपने पक्ष की वकालात नहीं कर सकता। इसका निर्माण बाल्यावस्था मे ही हो जाता है जिस समय बालक में इडिपस ग्रन्थि,का निर्माण हो रहा होता है। अतः हम देखते हैं कि Ego को तीन स्वामियों की सेवा करनी पड़ती है बाह्य संसार, अहं भाव (ID) तथा नैतिक अहं (Super-ego)। जब वह कभी इस समन्वय स्थापना की क्रिया मे असमर्थ हो जाता है और भार वाहन मे असफल हो जाता है उसी समय वह चिन्ता का शिकार बन कर तीनों के प्रति प्रतिक्रिया करता है।

फ्रायड की मुख्य-मुख्य मान्यताओं की चर्चा ऊपर दी गई है इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण अंश अचेतन है। वहाँ रहने वाली प्रेरणाये दुर्दमनीय, असभ्य, अनगढ़, क्रूर, स्वार्थ-परायण स्वतृप्ति-कामी होती है। चेतन तथा सुसंस्कृत सभ्य अहं उन्हे सभ्यता की विद्रोहिनी तथा अराजक समझ कर उन्हे दमन करने की भरपूर चेष्टा करता है, पर उसको सफलता नहीं मिलती। कभी तो वे ललकार कर सामने आ जाती हैं और सारे चेतन के राजसिंहासन पर आसीन हो जाती हैं। पर बहुधा चेतन पर विजय प्राप्त करना कठिन है। अतः वे रूप बदल कर उसके राज्य मे प्रवेश करती हैं और मनुष्य के व्यक्तित्व को परिवर्तित करती रहती है तथा उसके चरित्र को गठित करती है। मनुष्य के चरित्र में जो कुछ अच्छाइयाँ बुराइयाँ हैं, जो कुछ साधारणताएँ या असाधारणतायें हैं, जो कुछ विशिष्टतायें है, उन सब की व्याख्या चेतन और अचेतन के पारस्परिक संघर्ष के रूप मे की जा सकती है और मनोविश्लेषण की कुछ विशिष्ट पद्धतियों के सहारे इस संघर्ष का सच्चा रूप समझ कर व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास की व्यवस्था की जा

सकती है। मनुष्य के बाल्यकाल के प्रथम वर्ष बड़े ही तूफानी होते हैं, इनमें काम शक्ति की अति प्रबलता रहती है और इन्हीं दिनों में पड़ी मानसिक ग्रन्थियाँ जीवन के रूप का निर्माण करती हैं।

अब केवल एक ही बात रह जाती है कि फ्रायड द्वारा प्रचलित कुछ पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझ लिया जाय। ये शब्द नूतन तो नहीं हैं पर फ्रायड ने इनका प्रयोग कुछ विशिष्ट अर्थों में किया है जिन्हें समझ लेने से फ्रायड की मान्यताओं के स्पष्टीकरण में सहायता मिलेगी।

आरोपण Projecton

Projection (आरोपण)—मन की एक गुप्त क्रिया है जो अवाछनीय दमन के कारण उत्पन्न होता है। इस क्रिया के प्रभाव में आकर मनुष्य अपने ही भावों का दूसरों पर आरोपण करता है। मान लीजिये कि हमारे जीवन में कोई जुगुप्सा व्यंजक या ग्लानिपूर्ण घटना हो गई है अथवा मेरे मन में कुछ ऐसे भाव हैं जिनकी स्थिति से हम समाज तथा अपने Ego की दृष्टि में नीचे गिर जाते हैं। ऐसी अवस्था में हम इनके प्रति अज्ञ रहना ही चाहेंगे। परिणाम वही होगा जो दमन का हुआ करता है। वे दमित तो क्या होंगे रूप बदल कर सामने आयेंगे। हम अपने दुर्गुणों को, कमजोरियों को, दोषों को दूसरे के मत्थे थोप कर सतोष की साँस लेंगे। एक युवती के मन में यह धारणा बैठ जाती है कि एक नवयुवक उससे प्रेम करता है, उसका पीछा करता है और उसे भगा ले जाना चाहता है। पर वास्तविकता तो यह है कि वह नवयुवक सर्वथा निर्दोष है, उस नारी को जानता तक नहीं। वह नवयुवती स्वय उसे प्यार करती है और उसके साथ भाग जाना चाहती है। पर इसे स्वीकार करना उसकी सच्चरित्रता के प्रतिकूल था। अत मन की आरोपण क्रिया के द्वारा वह उन स्वस्थित दोषों को नवयुवक में ही देखने लगी।

तादात्म्यीकरण (Identification)

आरोपण के ठीक विपरीत तादात्म्यीकरण (Identification) की मानसिक क्रिया होती है। आरोपण में हम अपनी बातों को दूसरों पर आरोपित करते हैं पर तादात्म्यीकरण में हम दूसरों के दोषों को अपना मान लेते हैं। तादात्म्यीकरण का एक उदाहरण पं० लालजीराम शुक्ल ने अपनी पुस्तक आधुनिक मनोविज्ञान में दिया है। एक सज्जन अपनी लड़की को, जिसे फिट आते थे, लेकर रेल से कहीं जा रहे थे। रेल यात्रा में भीड़ के कारण

लड़की के फीट के दौरे बढ गये और उसे फिट पर फिट आने लगे। फिट आने की हालत मे वे सज्जन अपनी पुत्री को होश मे लाने के लिये उसे तरह-तरह से प्यार करते और पुचकारते थे। उनके साथ मे एक कहार की लड़की भी जा रही थी। उसे भी फिट आने लगे। इस लड़की मे कहीं प्यार किये जाने की भूख थी। उसके अचेतन ने फिट को ही प्यार प्राप्त करने का साधन समझ कर उस सज्जन की हिस्टीरिया ग्रस्त लड़की से तादात्म्य कर लिया और इसी कारण उसे भी दौरे आने लगे।

स्थानान्तरीकरण (Transference)

(Transference) स्थानान्तरीकरण मन की वह गुप्त क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य एक व्यक्ति से सम्बन्धित ईर्ष्या, द्वेष या प्रेम की भावना को दूसरे पर आरोपित कर देता है। मनोविश्लेषण चिकित्सालय मे प्रायः देखा जाता है कि रोगिणी अपने डाक्टर से प्रेम करने लगती है और यह प्रेम इतना प्रबल हो जाता है कि रोग मुक्त हो जाने पर भी वह उससे अलग होना नहीं चाहती। दूसरी तरफ इसकी भी संभावना होती है कि रोगिणी के मन मे डाक्टर के लिये अपार घृणा का उदय हो। यह भी सम्भव है कि ये दोनों विपरीत भावनाएँ बारी-बारी से उसके हृदय पर अधिकार कर सकती है। अर्थात् मनोविश्लेपक डाक्टर मनोविश्लेपित के लिये पिता, माता, भाई, बहिन सब हो सकता है और इन व्यक्तियों के प्रति विश्लेषित व्यक्ति की बाल्यावस्था मे जो-जो भावनाये उठी होंगी उन्हीं का आलम्बन मनोविश्लेपक या अन्य कोई भी व्यक्ति हो सकता है। प्रायः ऐसा हो जाता है कि किसी व्यक्ति के प्रेम की तथा किसी के लिये घृणा की भावना अनायास और अकारण उठने लगती है। मन की ऐसी स्थिति स्थानान्तरीकरण की विषय मात्र है।

बद्धत्व (Fixation)

बहुत से मनुष्य ऐसे होते है जो अपनी विगत अवस्था को छोड़ना नहीं चाहते। हालाँकि स्वाभाविक समय क्रम के अनुसार वे उस अवस्था को पार कर चुके होते है। वर्तमान जीवन की कठिनाइयों का सामना करने मे वे अक्षम हैं, अत. पुरानी स्थिति से वे चिपके रहना चाहते हैं। बाल्यावस्था मे बालक हर तरह से अपनी माँ पर निर्भर रहता है, उसे स्वयं कुछ करना नहीं पड़ता पर इस अवस्था के पार कर जाने पर उसे आत्म-निर्भर होना पड़ता है जिसके अनुकूल बनने मे कठिनता होती है। अतः वह बालक ही

रहना चाहता है। बालक बने रहने वाली इस प्रवृत्ति को, पुरानी विगता वस्था से चिपके रहने वाली प्रवृत्ति को मनोविश्लेषणवाद में स्थिरत्व (Fixation) कहा जाता है। कई लोग होते हैं जो पत्नी से माँ के व्यवहार की आकांक्षा रखते हैं, चाहते हैं कि पत्नी भी उनकी उसी तरह से देख भाल करे जिस तरह से माँ करती थी। वे एक तरह से Mother baby हैं। पति बन कर भी वे पुत्र ही बने रहना चाहते हैं। उनका अचेतन सुरक्षा और रक्षा की पूर्वावस्था से चिपका रहना चाहता है, आगे बढ़ना नहीं चाहता।

प्रत्यावर्तन (Regression)

इसी से मिलती-जुलती दूसरी क्रिया होती है जिसे प्रत्यावर्तन कहते हैं। इसमें मनुष्य समय के प्रवाह के साथ अगली अवस्था में बढ़ता जाता है, उसकी माँगों के अनुसार कार्य-व्यापार अपने में लाता भी है पर किसी अवसर विशेष में, विशेषत किसी महान संकट के अवसर पर, वह पुन बाल्यावस्था में लौट आता है। बहुत से वय प्राप्त मनुष्य भी अपने माता पिता के स्नेह के पाने के लिये बाल्योचित व्यवहार करते हैं, तुतला कर बोलना, गोदी में बैठना, दुलराना पुचकारना प्रारम्भ कर देते हैं। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण १९१४-१८ के महायुद्ध में बम के भय से त्रस्त आस्ट्रेलियन सैनिक में मिलता है। वह २५ वर्ष का एक स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट नवयुवक था पर वह अपनी बाल्यावस्था में प्रत्यावर्तित कर गया। एक डेढ़ वर्ष के बालक की तरह घुटनों के तथा हाथों के बल चलने लगा, अस्फुट अनर्थक वाक्यों का उच्चारण करने लगा तथा बच्चों की तरह रंगीन चित्रों से खेलने लगा अर्थात् वह बालक ही बन गया।

उदात्तीकरण (Sublimation)

प्रत्येक दमित इच्छा के साथ भावावेग भी लगा रहता है जो अपने प्रवाह का मार्ग ढूँढा करता है। इन भावावेगों का समाजानुमोदित नैतिक दिशाओं में प्रवाहित होने की क्रिया को उदात्तीकरण कहा जाता है। सम्भव है बालक द्वारा अपने इष्टदेव मातृ की भावना को भुला दे पर वह कुत्ते, बिल्ली, किसी वस्तु को प्यार करने लगे। इस तरह कला प्रेम, साहित्य प्रेम, इष्ट प्रेम, मानवतावादी सेक्स (Sexual) प्रेम का प्रतिनिधि हो सकता है। उदात्तीकरण (Sublimation) की क्रिया भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न प्रकार की हो सकती है। दूसरों को दण्ड देने या दलित करने की इच्छा बन कर प्रकट हो सकती है। ... व्यायाम के द्वारा आत्म शुद्धि

की बातें करते तो शायद यह उनकी पर-पीड़न की भावना थी जो स्व-पीड़न के रूप मे प्रवाहित होती थी। कालिदास का विरही यक्ष या दुष्यन्त चित्रकला मे अपने भावावेगों को प्रवाहित कर अपने जीवन की कटुता को सह्य बनाता था।

स्वप्न (Dreams)

स्वप्न-विज्ञान फ्रायड की एक मौलिक देन है। फ्रायड ने प्रतिपादित किया है कि स्वप्न हमारी दमित वासनाओं की पूर्ति के अतिरिक कुछ नहीं है। सुषुप्ति की अवस्था मे प्रतिहारी थोड़ा असावधान हो जाता है, अतः दमित वासनाओं को थोड़ा रूप बदल कर चेतन के क्षेत्र मे प्रवेश करने की सुविधा हो जाती है। यदि वे वास्तविक रूप से ही आने लगे तो प्रतिहारी उन्हे पहिचान कर रोक देगा। पर थोड़ा सभ्य वेश बना लेने पर उसे बुत्ता देकर निकल चलना उतना कठिन नहीं होता। अतः, स्वप्नों के अध्ययन से मनुष्य के अचेतन के स्वरूप को समझने मे कुछ सहायता मिल सकती है। स्वप्नों की भाषा प्रतीकात्मक होती है। स्वप्न उलूल-जलूल तथा अनर्गल से भले ही मालूम पड़ते हो पर वास्तव मे वे सार्थक होते है।

स्वप्न के दो अंश होते हैं दिखावटी अंश (Manifest) और वास्तविक अंश (Latent content)। प्रथम तो वह है जिसे हम देखते है, याद कर सकते हैं, लोगों से कह सुन सकते है। परन्तु दूसरा अंश ही वास्तविक है जो दिखवाटी रूप धारण कर प्रकट हुआ है। इसी रूप को पहिचानना मनो-विश्लेषक का प्रधान कर्त्तव्य होता है। कहने का अर्थ यह है कि स्वप्न एक अलग चीज है। उसका अर्थ कुछ दूसरा ही है जिसे जानने मे सतर्कता की आवश्यकता है। एक उदाहरण लीजिये। एक महिला ने स्वप्न देखा कि मैं पहाड़ की चोटी पर हूँ, एक घोडे ने मेरा पीछा किया। मैं घोडे के साथ पर्वत शिखर से कूद पडी और तैर कर एक नीले जहाज की ओर चली गयी। स्वप्न कुछ बे सिर पैर का मालूम पड़ता है पर मनोविश्लेषक पद्धति का अवलम्बन ग्रहण कर इसका अर्थ निकाला गया है। महिला के जीवन की थोड़ी कथा जान लेने से स्वप्न का अर्थ स्पष्ट हो जायगा। एक नवयुवक, पोलो का खिलाडी, घोड़ों की अच्छी नस्ल की पहिचानने वाला तथा उन्हें शिक्षित (Train) करने मे सिद्धहस्त उस महिला के पास बहुत आता जाता था। उसका घर एक उपनिवेश मे था जिसे वह (Blue Isle) कहा करता था। उसकी बड़ी आकांक्षा थी कि उस महिला मे उसका विवाह हो जाय

है कि बाल्य जीवन की लचीली अवस्था में ही उस जीवन शैली का निर्माण हो जाता है जिसके अनुरूप सारे जीवन व्यापार परिचालित होते रहते हैं। बालक प्रारम्भ से ही अपने आसपास के वातावरण पर अपनी सत्ता जमाये रहना चाहता है, पर अपने माता पिता तथा अन्य लोगों के सम्पर्क में आने वाले लोगों के सामने अपनी शक्तिहीनता की भी उसे कटु अनुभूति होती है। पहले तो वह सबको अपनी शक्ति से प्रभाव में लाने की चेष्टा करता है, पर बाद में सफल होते न देखकर अन्य उपायों से भी काम लेना प्रारम्भ करता है। कभी रोकर (बालाना रोदन बलम्), कभी हँस कर, कभी लेट-कूद कर, यहाँ तक कि कभी रुग्ण होकर भी लोगों पर अपनी सत्ता या प्रभुत्व जमाये रहना चाहता है। जीवन की समस्या का सामना वह किस ढङ्ग से करेगा, सकट के अवसर पर वीरों की तरह सामना करेगा या कायर की तरह दुम दबा कर भाग जायेगा, ससार के अन्य मनुष्यों तथा अपने कर्त्ताओं के प्रति उसका दृष्टिकोण मैत्री भाव का होगा या शत्रुता का होगा यह सब उसकी जीवन शैली पर निर्भर करेगा जो जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में ही निर्मित हो जाती है और जिसके मूल में दूसरों पर विजय पाने की आकांक्षा रहती है।

फ्रायड ने बड़ी ही सबल तर्कों द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि प्रत्येक मानसिक विकृति के मूल में दमित काम प्रवृत्तियाँ ही हैं। मनुष्य का मानसिक सतुलन इसलिये नष्ट हो जाता है कि उसकी दमित कामेच्छायें अचेतन से निकल कर चेतन के क्षेत्र में प्रवेश कर वहाँ अराजकता का दृश्य उपस्थित कर देता है। एडलर कहता है कि नहीं, ऐसी बात नहीं। मानसिक विकृतियों का कारण यह है कि विजय कामनावश मनुष्य के अन्दर जिस जीवन शैली का निर्माण हुआ है उसमें सामाजिक और वैयक्तिक आदर्श दोनों प्रेम पूर्वक नहीं रह सकते। व्यक्ति ने अपने सामने उच्चता का ध्येय रखा है। जो सामाजिक जीवन के विरुद्ध पड़ता है। अत वास्तविक उपलब्धियों के स्थान पर उनके मार्ग में बाधक होने वाले कुछ कारणों की कल्पना कर लेता है। "यदि मैं स्वस्थ होता धनवान होता, ऐसी अड़चनें मेरे मार्ग में नहीं होतीं तो आज मैं सर्वश्रेष्ठ हुआ होता।" इस तरह की मनोवृत्ति से कुछ तो मनुष्य का स्वय सतोष होता है और कुछ दूसरे लोग भी उसकी अवस्था से प्रभावित होकर उसको ऐसी सुविधायें देते हैं जो दूसरों को सहज प्राप्त नहीं। उसके कार्यों पर विचार करते समय अपने मापदण्ड को कुछ शिथिल कर देते हैं। आधुनिक युग का अति प्रचलित सर्व सिद्धान्तवर्ती हीनता ग्रंथि (Infenonty Complex) शब्द का जन्मदाता

एडलर ही है। उसके मत में यह हीनता-ग्रंथि सब मे पाई जाती है और इसी के कारण मनुष्य की जीवन-शैली का निर्माण होता है जो मनुष्य के प्रत्येक व्यापार मे प्रतिबिम्बित होती रहती है, जिसके उठने-बैठने, चलने-फिरने, खड़ा होने, हाथ मिलाने के ढङ्ग मे, यहाँ तक कि सुषुप्ति की अवस्था मे वह जो आकृति ग्रहण करता है उसमे भी उस जीवन-शैली का दर्शन किया जा सकता है। जो व्यक्ति पीठ के बल सीधे एक तत्पर सिपाही की तरह सोता है तो इससे यह सूचित होता है कि वह लोगों की आँखों मे अधिक ऊँचा उठा दिखना चाहता है। सर पर चादर तानकर घुड़मुडिया कर सोने वाले व्यक्ति से कर्मठता तथा प्रयत्नशीलता की आशा नहीं की जा सकती। पेट के बल सोने वाला दुराग्रही तथा नकारात्मक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति होता है।

जुंग की Analytical Psychology फ्रायड के मनोविज्ञान की उपशाखा कही जा सकती है। जुंग का दृष्टिकोण एक दार्शनिक तथा रहस्यवादी की तरह है। वे फ्रायड के मूलतत्वों मे विश्वास करते है। उन्होंने अपने ग्रंथों में अचेतन, दमन, प्रतीकात्मक स्वप्न इत्यादि सब बातों की पर्याप्त चर्चा की है पर कुछ परिवर्तित अर्थ मे। जुग के ग्रंथों के अध्ययन से ऐसा मालूम होता है कि वे फ्रायड के प्रशंसक अवश्य है क्योंकि फ्रायड ने मानवीय व्यक्तित्व की गहराई मे उतरने का प्रयत्न किया। पर वे उनसे असंतुष्ट इसलिये हैं कि फ्रायड समस्या की अतिम सीमा तक न जाकर बीच में ही दुकान छान कर बैठ गये और वहीं से उन्होंने अपना कारबार प्रारम्भ किया।

जुंग और अचेतन

उदाहरण के लिये अचेतन को लीजिये। जुंग फ्रायड के अचेतन को तो स्वीकार करते हैं पर कहते हैं कि इस स्तर के नीचे भी एक और स्तर है। अर्थात् अचेतन के दो स्तर है वैयक्तिक अचेतन (Personal unconscious) और समस्त अचेतन (Racial Unconsious)। हमारा (Personal Unconscious) भोगेच्छु, स्वार्थी, वीभत्स और क्रूर मूल प्रवृत्तियों का तथा दमित भावनाओं का रहस्यागार भले ही हो पर यदि मन के अन्तःपटल को भेद कर देखा जाय तो पता चलेगा कि उसमे एक समष्टि मन का स्तर है जो हमारी सारी सौन्दर्य-प्रियता, नीतिमत्ता और खूबियों का आदि स्रोत है। हमारे चेतन मन को जिन खूबियों, भलाइयों का ज्ञान रहता है, वे अपने तात्विक रूप में समष्टि मन में वर्तमान रहती है। जिस तरह अचेतन हमारी अनैतिक

भावनाओं का आगार है, वैसे ही हमारी नैतिकता का भी। उसी मनुष्य का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित हो सकता है, जिसके वैयक्तिक अचेतन और समष्टि अचेतन में पूर्ण सामञ्जस्य हो। इस सामजस्य की स्थापना के बाद मनुष्य की प्रतिभा को अधिक से अधिक क्रियान्वित होने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। फ्रायड के द्वारा निर्धारित दमित भावनाओं का आगार अचेतन को मानते हुए भी जुग एक पद आगे बढ़कर कहते हैं कि इसके बाहर समष्टि मन भी होता है जिसे दमित भावनाओं से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। इसमें निवास करने वाली भावनाएँ अस्पष्ट, निराकार, अनियन्त्रित और अनिर्वचनीय होती हैं। पर यह मानव जाति में निसर्ग से प्राप्त है और युग युग से मनुष्य में निवास करती आई है। सत्य की खोज, अदृश्य शक्ति में विश्वास, देवत्व और ईश्वरत्व में आस्था, दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक उत्प्रेरणाओं का निवास चेतनातीत समष्टि अचेतन में रहता है और हमारी चेतना को भी प्रभावित करता रहता है।

पर जुग का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त वह है जिसके द्वारा उन्होंने मनुष्य को दो प्रकारों में विभाजित किया है। बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी मनुष्य सदा प्रसन्नचित्त संसार के कृत्यों में अभिरुचि रखने वाला सामाजिक प्रवृत्ति का होता है, उसमें कल्पना का अभाव होता है और कभी कभी निरुत्साहित भी हो जाता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचार में तल्लीन रहता है उसकी कल्पना अधिक जाग्रत रहती है। सामाजिकता की उसमें कमी होती है, भावावेग में वह कम आता है, नीरस सा होता है। मन की चार शक्तियाँ होती हैं, विचार (Thinking) भाव (Feeling) अन्तर्दर्शन (Intuition), संवेदन (Sensation)। इन्हीं चार शक्तियों के आधार, पर इन दोनों वर्गों को फिर से चार-चार उपवर्गों में विभाजित कर दिया गया है। नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा —
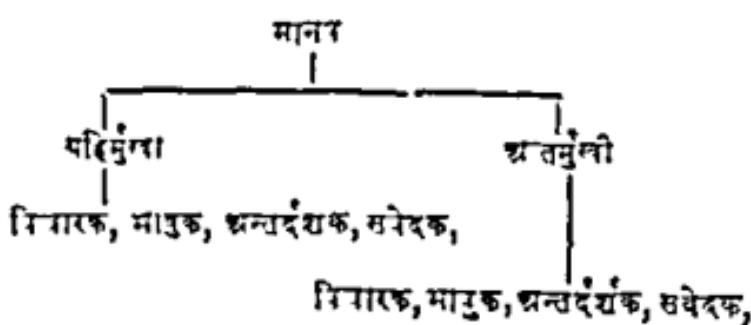
(Psychiatry for Everyman)[६] के आधार पर इन आठों प्रकार के व्यक्तियों के गुणों का उल्लेख कर मैं प्रसङ्ग समाप्त करूँगा। बहिर्मुखी विचारक दुनिया की वस्तुओं और मनुष्यों मे दिलचस्पी लेता है। वह अपने को व्यावहारिक समझता है और ठोस वास्तविक घटनाओं के आधार पर सिद्धान्तों की स्थापना करता है। विचारक होने के कारण उसमे भावावेश की कमी होती है और उसे अपने भावावेगाभाव पर गर्व रहता है। अपने से मत-भेद रखने वाले को वह मूर्ख समझता है। वह अपने विचारों को दूसरों के ऊपर भी लादना चाहता है। इसके उदाहरण राजनीतिज्ञों और प्रयोगशील वैज्ञानिकों मे मिल सकते हैं।

अन्तर्मुखी विचारक मे भावावेश की कमी होती है और वह वास्तविकता से अधिक विचार जगत में अभिरुचि रखता है। अपने प्रिय सिद्धान्त से प्रारम्भ कर उन्हीं के सहारे निश्चित करता है कि घटनायें कैसी होनी चाहिये। विचारक होने के कारण उसमें मानवता तथा सहिष्णुता का अभाव होता है। उदाहरण के रूप मे रोब्सिपायर तथा कार्ल मार्क्स और लेनिन जैसे अनेक क्रान्तिकारियों को उपस्थित किया जा सकता है। स्त्रियों में अन्तर्मुखी भावुक प्रकृति के व्यक्ति अधिक मिलते हैं। इस प्रकृति का व्यक्ति असामाजिक होता है और अपने को अभिव्यक्त कर सकने में उसे कठिनाई होती है। इसमे प्रेम और घृणा के सबल भाव वर्तमान रहते हैं, जिन्हें वह अभिव्यक्त नहीं कर सकता, जिसके कारण उसे तकलीफ होती है। वह चाहता है कि दूसरे उसकी कद्र करे। लोग उसे स्वार्थी समझते है।

यदि बहिर्मुखी भावुक व्यक्ति को देखना हो तो एक साधारण नारी को देख लीजिये। वह परम्परा पालक, सामाजिक तथा दूसरों में इतनी दिलचस्पी लेती है कि उसे अपने मानसिक जीवन का ज्ञान नहीं रहता। वह अनुभव तो करती है कि यह बात ठीक है पर तर्क सम्मत रूप मे सोच नहीं सकती।

काव्य प्रेमी, कला प्रेमी, संगीत-प्रेमी, रसना-स्वाद-प्रेमी, मदिरा प्रेमी, ऐन्द्रिय सुखोपभोगेच्छु लोग अन्तर्मुखी संवेदक कहे जा सकते हैं। ये अकेले एकान्त मे आनन्दोपभोग करना चाहते हैं और संसार को अपने दृष्टिकोण से देखते हैं।

बहिर्मुखी संवेदक भी इन्द्रिय-परायण होता है पर उसकी इच्छाये प्रायः छिछली और गवांरू होती हैं। यह मन्द-बुद्धि होता है और इन्द्रिय-लोलुपता सदा इसके साथ लगी रहती है। यदि यह किसी के प्रति दया-भाव दर्शाता

गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान

आधुनिक मनोविज्ञान के सम्प्रदायों में जर्मनी के गेस्टाल्ट सम्प्रदाय को पर्याप्त प्रसिद्धि है और इसके सिद्धान्तों ने मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया पर प्रकाश डाल कर मानव मानसिक व्यापार के क्षेत्र की ज्ञानवृद्धि में अधिक सहायता पहुँचाई है। जब हम किसी वस्तु को देखते हैं अथवा किसी ध्वनि को सुनते हैं, दूसरे शब्दों में जब हम किसी बाह्य उत्तेजक वस्तु के सम्पर्क में आते हैं तो उसका रूप ग्रहण करने में हमारा मानसिक प्रक्रिया किस तरह क्रियाशील होती है, बाह्य वस्तु से टकरा कर प्रकाश की लहरें लौट पड़ीं और उन्होंने आँखों के चक्षु गोलकों पर आघात किया वहाँ से संवेदन शिराओं द्वारा वे लहरें मस्तिष्क में पहुँचीं और वहाँ एक ऐसा व्यापार हुआ जिसको हमने वस्तु का देखना कहा। प्रश्न यह होता है कि जिसे हम देखना कहते हैं, वह बाह्य पदार्थ से उत्पन्न और सांवेदनिक शिराओं द्वारा मस्तिष्क में उप

लब्ध कराई गई लहरों का संघातमात्र ही है या और कुछ ? यों साधारणतः विचारने से तो यही प्रतीत होता है कि किसी भी ज्ञात, दृष्ट, जिघ्र, श्रुत या स्पृष्ट पदार्थों मे तज्जनित प्रकम्पन-संघात के सिवा और कोई वस्तु है नहीं। अतः वे संघात विशेष रूप से कोई अलग पदार्थ हो ही नहीं सकते। ज्यादा से ज्यादा हम यही कह सकते है कि वे भिन्न प्रकम्पनों के रासायनिक मिश्रण हैं। ठीक उसी तरह जिस तरह हाइड्रोजन और आक्सीजन का मिश्रण पानी है अथवा सोडियम या क्लोरीन का मिश्रण सोडियम क्लोराइड है, जिसे हम साधारण नमक के रूप मे जानते हैं। पर वास्तव मे यह बात है नहीं।

एक प्रयोग कीजिये। .˙. इस तरह के तीन बिन्दुओं को देखिये। वे तो है तीन बिन्दु मात्र ही और उनके बीच मे रिक्त स्थान भी है। पर आप क्या वहाँ तीन बिन्दुओं को न देखकर एक व्यवस्थित त्रिकोण को नहीं देख रहे है ? चलचित्रों मे घोड़ों की स्थिर मुद्राओं के भिन्न-भिन्न चित्र लिये रहते हैं पर आप देखते है, दौड़ते हुए घोड़ों को। ऐसा क्यों ? गेस्टाल्ट मनोविज्ञान ने इसका रहस्य बतलाया है।

सिद्धान्त

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की मान्यता है कि संसार के प्रत्येक वस्तु-जात मे संपूर्णता नामक भाव की अवस्थिति होती है। पूर्ववर्ती वैज्ञानिकों ने इस ओर पूर्णरूप से ध्यान नहीं दिया है। बरदरमियर के साथ दो और मनोवैज्ञानिक इसकी ओर अग्रसर हुए जिनका नाम कोहलर और काफका था। इनके लेखों और पुस्तकों से इस मनोविज्ञान के प्रचार मे अत्यधिक सफलता मिली। इन लोगों ने अपने प्रयोग के द्वारा तथा अनेक सबल तर्कों के द्वारा यह बतलाया कि मानव ज्ञानोपार्जन तथा दक्षतोपार्जन-प्रक्रिया, स्मृति मे अव्याहत, प्रातिभ ज्ञान (Intuition) क्रियात्मक चेष्टायें ये सारे गेस्टाल्ट हैं और ये अपनी खड क्रियाओं के संग्रह मात्र नहीं है। ये अपनी समग्रता को लेकर ही पूर्ण है।

मानव की चिंताधारा तथा विकास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि सदा वह बारी-बारी से दो विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रभावित हो अपना रूप निर्धारित करती आई है। एक विश्लेषणात्मक और दूसरा संश्लेषणात्मक। इसी को स्थूल तथा सूक्ष्म, खंड और पूर्ण, संकुचित तथा व्यापक, निर्जीव तथा सजीव अनेक नामों से पुकारा जा सकता है। पहला दृष्टिकोण किसी वस्तु को बिखेर कर उसका लेखा-जोखा लेता है और दूसरा उसे समेट कर

उसकी पूर्ण इकाई के व्यापकत्व को लगाता है। नाना दृष्टिकोणों के बाद। प्रश्न केवल एक ही है। किसी वस्तु पर विचार करते समय हमें मूल रूप में किस चीज को पहिले प्राधान्य देना चाहिये और किसको गौण समझना चाहिये। विश्लेषणवादियों का उत्तर है कि सृष्टि की उत्पत्ति के मौलिक उपादानों का सूक्ष्म रूप अणु है, ये ही प्रधान हैं, स्वतंत्र हैं, उनकी पृथक सत्ता है और उन्हीं से संसार की उत्पत्ति है और इस प्रकार उन्हीं में लय भी होगा। इस दृष्टिकोण वाले लोग उन नियमों का निर्देश करते हैं जिनके द्वारा इन खण्डों के योग से पूर्ण का निर्माण होता है। परन्तु प्रधानता इन खण्डों की है, पूर्णता की अपनी सत्ता अलग नहीं होती।

पर गेस्टाल्ट मत वाले इस मत से एकदम असहमत हैं। उनका दृष्टिकोण इससे सर्वथा विपरीत है। उनका कहना है कि सबसे प्रमुख वाह्य स्वत पूर्ण और स्वत सिद्ध इकाइयाँ नहीं, पर वह धारा है, वह व्यवस्था है, वह प्रणाली है, वह परिचारिकता है जिसकी परिधि में ये तथाकथित खंडित इकाइयाँ भी अपनी सार्थकता की सिद्धि प्राप्त करती हैं और इसके अभाव में इनकी कोई भी वास्तविक सत्ता नहीं है। इन लोगों की मान्यता है कि जीवन को संचालित करने वाले नियमों को पूर्ण इकाई को व्यापक परस्परानुभूतित्व की राह से देखना चाहिए। पूर्णता ही वास्तविकता है। खण्ड भ्रम है। यदि यह ठीक है कि ये कियदंश टुकड़े अपनी परस्परानुगतित्व की रक्षा करने वाली विशिष्ट पूर्ण व्यवस्था के बीच ही स्थिति धारण करते हैं तो उनकी प्राथमिकता कहाँ रही। पहिले तो वही व्यवस्था ही सामने आती है जिसके द्वारा ये अस्तित्व में आते हैं। देश और काल पृथक संगठित व्यवस्था की पूर्णता ही प्राथमिक वस्तु है। विभाजन और विश्लेषण, चीर फाड़ तो अपनी सुविधा के लिये बुद्धि के द्वारा निर्मित खेल है। भौतिकशास्त्र की दृष्टि से अलग निरपेक्ष तिल नहीं, परन्तु धनात्मक और ऋणात्मक विद्युत संवेग से ही पूर्ण होकर वह आता है। प्राणिशास्त्र की दृष्टि से भी (cell) नहीं परन्तु जीव ही इकाई है। मनोविज्ञान में भी इसी तरह मानव चेतना या व्यक्तित्व की संपूर्णता ही प्रमुख है सावेदनिक या वैयक्तिक संपूर्णता नहीं।

गेस्टाल्ट और प्रातिभ ज्ञान (Intuition)

गेस्टाल्टवाद ने प्रातिभ ज्ञान के क्षेत्र में भी जो प्रयोग किये हैं वे भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। उनके द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक

प्रकार का ज्ञान परस्पर सम्बद्ध रूप से ही प्राप्त होता है। प्रातिभ ज्ञान है क्या चीज ? यही न कि कोई समस्या या उलझन मेरे सामने उपस्थित है, उसका कोई हल समझ मे नहीं आता। तब तक रहस्यमय शक्ति के द्वारा अचानक ही मार्ग सूझ पड़ता है और मेरे मस्तिष्क में कुछ रिक्तताओं के कारण जो तनाव था वह दूर हो गया। मुझे शान्ति मिलती है। यही प्रातिभ ज्ञान है।

कोहलर ने कुछ शिपाजियों के साथ इस तरह का प्रयोग करके देखा है और उनके व्यवहार मे गेस्टाल्ट सिद्धान्तों का समर्थन पाया है। एक शिपाजी को एक बडे कमरे में बन्द कर दीजिये। साथ ही एक केले को इतनी ऊँचाई पर टाँग दीजिये कि वह उसकी पहुँच के बाहर हो। पास ही मे एक डंडा रख दीजिये। शिपाजी कुछ ही प्रयोगो के बाद उस डंडे की सहायता से केले को तोड़ कर खा लेगा। इससे पता चलता है कि जिसे हम प्रतिभा कहते हैं वह को पूर्ण व्यवस्थिति के प्रति ही क्रियाशील होती है, खंडाशों के प्रति नहीं। इस सम्बन्ध मे दो-एक और प्रयोग किये गये है जिनके द्वारा गेस्टाल्ट के सिद्धान्तों का समर्थन होता है और जिनका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

कोहलर के पास एक शिपाजी था जो सबसे तेज था। उसके सामने एक विशेष समस्या रखी गई थी। दो डडे रख दिये गए थे। वे दोनों ऐसे थे कि एक दूसरे मे घुसेड़ कर इतने लम्बे बनाये जा सकते थे कि खास ऊँचाई पर रखे केले को उनकी संयुक्त लम्बाई से तोड़ा जा सके। पर वे अलग-अलग इस काम के लिये छोटे पडते थे। वह शिपाजी करीब-करीब एक घण्टे तक कभी एक डंडे से तो कभी दूसरे से केले तोड़ कर खाने का प्रयत्न करता रहा। अन्त मे हार कर बैठ गया और वह अन्यमनस्क भाव से डंडे से खेलता रहा तब तक ये दोनों डंडे जुड़ गये। शीघ्र शिपाजी उनके सहारे से केले को तोड कर खाने लगा। दूसरे दिन भी देखा गया कि इस ज्ञानोपलब्धि की स्मृति बनी रही। इन सब तथा एतादृश अनेक अन्य प्रयोगों से यही निष्कर्ष निकलता है कि जब कभी ज्ञानोपलब्धि होती है तो वह पारस्परिक सम्बन्धों की पूर्णता के साथ ही होती है।

हमारा ध्येय, गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की विस्तृत व्याख्या करना नहीं है। यद्यपि यह बहुत ही मनोरजक है। हमारा ध्येय इतना ही है कि हम निश्चित रूप से स्वीकार कर लें कि इस मनोविज्ञान सम्प्रदाय के अनुसार कोई वस्तु निरपेक्ष नहीं होती, कोई घटना मात्र नहीं है वह कुछ और है। कोई

विचार या भाव खडित नहीं है, सब जगह पूर्णता है जिसके अन्दर आकर इनको रूप या आकार मिलता है। जिसके कारण ही इनको सार्थकता की सिद्धि होती है। यह बड़ा ही क्रातिकारी दृष्टिकोण है, जिसने जीवन के हर पहलू पर एक नये ढग से विचार करने के लिये प्ररित किया है। शिक्षा, समाज, ज्ञान विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में इसका प्रयोग होना चाहिये। यदि एक बार यह सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है कि पूर्णता ही प्राथमिक है और खडता गौण है, परिकल्पित है तो शिक्षितों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे अपनी बातों को इस ढग से विद्यार्थियों के सामने रक्खें कि उनमें इस समग्रता की दृष्टि का विकास हो। उनमें समस्या को हल करने वाली मन स्थिति पैदा हो। साहित्यिक, कथाकार, समाज सुधारक, राजनैतिक नेताओं को अर्थात् प्रत्येक विधायक स्रष्टा को चाहिये कि वह प्रतिभा को किसी परिस्थिति में पूर्णता की ओर ही केन्द्रित करें, खडाश का ओर नहीं। खडांश की ओर देखने से वास्तविकता हाथ नहीं लगती। तोड़-तोड़ कर सोचने की आदत छोड़ो, यह कोई निश्चितार्थ तक नहीं पहुँचा सकती। परिस्थिति की पूर्ण साकारता पर ध्यान को केन्द्रित करो। उसे स्पष्टतया देखो और समस्या सी लगने वाला जो रिक्तता है उसे पहिचानो। विवरण की छोटी-छोटी बातों की छानबीन करते भी तुम्हारा ध्यान खण्ड शक्तियों को छोड़कर पूर्ण सत्य की ओर लगा रहे। तुम्हारा ध्यान इस ओर लगा रहना चाहिये कि विवरण की इन छोटी-छोटा बातों का परिस्थिति की पूर्णता में क्या स्थान है।*

ससार तथा ससार के सारे वस्तुजात अपनी पूर्ण साकारता में ही सत्य हैं, खण्डाशों के योगफल के रूप म नहीं। यही गेस्टाल्ट-

---

*Werthermer का यही सदेश था। इसी बात को Wood worth ने भी अपनी Contemporary Schools of Psychology नामक पुस्तक में गेस्टाल्ट के सिद्धान्तों को समझाते हुए लिखा है—Avoid piecemeal thinking which is sure to be blind Concentrate upon the structure of the situation Get that clearly in view and locate the gap in it which constitute the *problem* *In scrutinizing details* be always looking for structural pattern than piecemeal truth asking yourself what role each detail play in the structure of the whole situation

वादियों का मुख्य सिद्धान्त है। (Child Coghill, Minkowhki) जैसे विचारकों ने जीवों के व्यवहारों का, यहाँ तक कि गर्भस्थित पिण्डों का भी बड़ी सूक्ष्मता से निरीक्षण किया है और गेस्टाल्ट सिद्धान्तों को क्रियाशील पाया है। हमारा ध्येय कथा साहित्य के मेल मे इन सिद्धान्तों का अध्ययन करना है। जब हम कहने जा रहे है कि इस सिद्धान्त के प्रभाव से हिन्दी कथा साहित्य भी अछूता नहीं, इसके प्रभाव हमारे कथा साहित्य मे स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं तो हमारे कथन का अर्थ यह नहीं कि हमारे कथाकारों ने गेस्टाल्ट के सिद्धान्तों का अध्ययन किया है और उनकी जानकारी प्राप्त कर लेने पर ही उन्होंने अपनी रचनाओं में इनसे काम लेना प्रारम्भ किया है। कलाकार को अथवा किसी भी साहित्य स्रष्टा को किसी वाद या किसी सिद्धान्त के पीछे चलने वाले व्यक्ति के रूप में देखा भी नहीं जा सकता। वह तो अधिकृत (possessed) व्यक्ति के रूप में होता है। वह अन्दर से उमड़ने वाली प्रेरणा के प्रति समर्पित व्यक्ति की तरह होता है। यह बात सम्भव है कि इस आतरिक उमड़न के प्रवाह से सहायक नदियों की तरह कुछ बातें मिल कर उसके रूप में थोड़ा परिवर्तन कर दें और हमे सहायक नदी की धारा प्रबल रूप मे दीख पड़े। पर इससे मौलिक प्रेरणा का महत्व कम नहीं हो जाता।

आचरणवादी मनोविज्ञान

१६वीं शताब्दी के अन्त में बढ़ती हुई यथार्थवादिता

१६वीं शताब्दी के मनोविज्ञान मे आत्म-निरीक्षण, ज्ञानोपलब्धि संवेदना तथा अन्य वृत्तियों के अध्ययन के आधार पर मनुष्य को समझने-बूझने की प्रवृत्ति ने घर कर लिया था। पर इन इन्द्रियातीत, प्रयोगशाला के कारण-कार्य शृंखला के दृढ तथा वैज्ञानिक नियमों की पकड़ में न आने वाली वस्तुओं को सशंक दृष्टि से देखना उस बौद्धिक युग का स्वाभाव सा हो गया था। भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान तथा प्राणिशास्त्र की प्रयोग-शालाओं में जो प्रकृतिवश्यकारी आविष्कार हो रहे थे, उन्होंने मनुष्य के हृदय मे अपनी पद्धति के लिए एक विशेष आग्रह पैदा कर दिया था और वे इसी परीक्षित कसौटी पर अपने सारे निष्कर्षों की परीक्षा करना चाहते थे। वे सारे सिद्धातों को इसी पद्धति द्वारा नाप-तौल कर, चीर फाड़कर, ठोंक-बजाकर देख लेना चाहते थे। परन्तु आत्म-निरीक्षण, ज्ञानोपलब्धि, सवेदना इत्यादि अन्य प्रवृत्तियों के व्यापार मनुष्य के अन्तप्रदेश में चला

करते हैं और वहाँ वैज्ञानिक प्रयोगशाला की पहुँच नहीं हो सकती और खुर्दबीन से उनको देखा नहीं जा सकता, चिमटी में पकड़ा नहीं जा सकता। अत मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी इस अन्तर्वृत्ति निरूपक पद्धति के प्रति लोगों के हृदय में उदासीनता बढ़ी और वे पद्धति की माँग करने लगे, जो वैज्ञानिक पद्धति का तरह ठास हो, दृढ़ हो और जिसे प्रयोगशालाओं के निश्चित वातावरण में भिन्न भिन्न रूप म परीक्षा लेकर देखा जा सके।

इसी माँग की पूर्ति के फलस्वरूप मनोविज्ञान के क्षेत्र म आचरणवाद का जन्म हुआ जिसे लोगों के सामने उपस्थित करने का श्रेय दो ही व्यक्तियों को है अमेरिकी वाटसन का और रूसी पावलभ को। वाटसन की आचरण नामक पुस्तक (Behaviour) १६१४ में प्रकाशित हुई तथा इससे भी एक वर्ष उसने कुछ व्याख्यान दिये और पत्रिकाओं में कुछ लेख भा लिखे थे। उनके अध्ययन से वाटसन का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता ह। वाटसन की दृष्टि वस्तुनिष्ठ है। वे मनोविज्ञान की भी व्याख्या उन सज्ञाओं के सहारे करना चाहते हैं जिनका ठोस रूप हम समझ सकें, जिनके बारे में किसी तरह के सदेह की गुजाइश न हो। उन्होंने कहा कि मनोविज्ञान मानव के अन्त-प्रदेश के अधकार में चलती रहने वाली प्रक्रिया का नाम नहीं ह। वह मनुष्य के बाह्य आचरणों, शारीरिक अनुभावों के ऊपर विचार करने वाला एक शास्त्र है। हमें इसी परिभाषा को दृढ़ता के साथ पकड़े रहना चाहिये। पूर्व में लोग हुए हैं जिन्होंने मनोविज्ञान को आचरणवादी परिभाषा दी है, पर व्यवहार में इस सिद्धान्त का वे पालन नहीं कर सके ह। मनोविज्ञान में चैतन्य मानसिक स्थिति, चेतन मस्तिष्क, इच्छा भाव कल्पना इत्यादि जैसी धारणाओं को लाना साधी बात को उलझा देना है। हम मनुष्य का उसका बाहरी क्रिया कलापों द्वारा उत्तेजक वस्तु तथा तज्जनित प्रतिक्रिया के रूप में, अभ्यास निमाण तथा अभ्यास समन्वय के रूप म अच्छा तरह समझ सकते हैं। चेतन मस्तिष्क की बात छोड़ो, आन्तरिक चेतना का बातें न करो, आत्म निरीक्षण का गोला मारो, मानसिक धारणाओं की बात दूर करो तथा मस्तिष्क के अन्दर कौन-सा धारा काम कर रही है, उसका विचार भी दूर करो। तुम्हारे सामने दो ही ठोस वस्तु हैं, उत्तेजक पदार्थ तथा तज्जनित मानव प्रतिक्रिया। इन्हीं पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हो, इतना ही हमें करना चाहिये। आगे बढ़ना एक अज्ञात और अज्ञेय क्षेत्र में प्रवेश करना ह। अत इन लोगों ने निर्णय किया कि मनोविज्ञान की एक ऐसी शास्त्रीय व्यवस्था की नींव डालना चाहिये जिसके द्वारा प्रवर्तक

स्तु एवं तज्जन्य प्रक्रिया की परिभाषा मे, मनुष्य के वाह्याचरण के रूप मे नोवैज्ञानिक मान्यताओ की व्याख्या की जा सके। अन्यथा अपना अस्तित्व ो मिटा डालना चाहिये। पहले मनोविज्ञान दर्शनशास्त्र का अंग था, वैसे ो वह अपने अतीत की ओर लौट चले। मध्यकालीन युग की आत्मा की रह अस्पृष्ट, अदृष्ट, अनाघ्रात, अछूत, अनास्वाद्य एक शब्द मे इन्द्रियातीत न्तर्दर्शन चैतन्य (Conscious) जैसे पदार्थ को ला बैठाने से तो कोई लाभ हीं होता। यह युग विज्ञान का, अधिभौतिक शास्त्र का है, रसायन शास्त्र ा है। जिसमे विज्ञान की दृढता तथा प्रयोगशालीनता का अभाव है उसे ीवित रहने का कोई अधिकार नहीं। उसका ध्यान इस ओर जाने लगा क देखे कि प्रयोगशाला का कुत्ता भोजनागम सूचक विविध वाह्य उत्तेजनाओं ं प्रति कैसे-कैसे भिन्न आचरण करता है। इसी अध्ययन के फलस्वरूप Conditioned Reflex) वाले विश्व प्रख्यात सिद्धान्त का जन्म हुआ।

यह (Conditioned Reflex) क्या है ? यदि कुत्ते को मांस का टुकड़ा ा कोई ऐसी वस्तु दी जाय जो उसकी भोज्य सामग्री हो तो उसके मुँह मे ार भर आवेगी। यह क्रिया नैसर्गिक होगी। पावलभ के शब्दों मे यह क्रया (Innate Absolute Reflex) है। यदि कुत्ते के सामने एक घटी जाई जाय तो उसके मुँह से लार का निकलना कभी संभव न होगा। परन्तु ाँस के टुकडे के साथ ही घंटी भी वजाई जाय तो आप देखेगे कि ६० या ७० ार की समकालीनता के बाद केवल घंटी की ध्वनि मात्र, भोज्याभाव के ावजूद भी, लार निस्सरण करने मे समर्थ हो सकेगी। दो उत्तेजनाओं—भोजन सामग्री तथा घटी की ध्वनि दोनों—के यौगपद्य की छाप कुत्ते पर ड गई है और उसमे एक नई प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई है कि उसमे ध्वनि के श्रवण से ही उसमे लार निस्सरण वाली प्रतिक्रया होने लगती है। यह प्रतिक्रिया कृत्रिम है, अल्पकालीन है। इसी प्रतिक्रिया को पावलभ ने (Conditioned Reflex) कहा है। वह प्रतिक्रिया जो अपने नैसर्गिक आधार के सिवा दूसरी कृत्रिम उत्तेजनाओं द्वारा जमाई जाये तो वह (Conditioned Reflex) है। यह लार निस्सरण विशुद्ध नैसर्गिक प्रतिक्रिया है और माँस का टुकडा या कोई भोज्य पदार्थ नैसर्गिक उत्तेजना। घटी की ध्वनि लार निस्सरण की नैसर्गिक उत्तेजना नहीं है। पर एक अवस्था विशेष मे वह इस प्रतिक्रिया विशेष को उत्पन्न कर रही है। अतः घटी की ध्वनि मात्र से उत्पन्न लार निस्सरण प्रतिक्रिया को (Conditioned Reflex) कहेगे और घण्टी की ध्वनि को (Conditioned Stimulus) अर्थात् कृत्रिम उत्तेजना।

आगे चलकर पावलभ ने इसी अभ्यस्त क्रिया सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये। इन प्रयोगों को भिन्न अवस्थाओं के बीच करके देखा और मनोविज्ञान के बहुमूल्य सिद्धान्तों का अनुसंधान किया। आप कुत्ते के सामने एक काले रङ्ग का तख्ता रखिये। बाद में हटा दीजिये, तत्पश्चात् घंटी बजा कर खाद्य पदार्थ दिये जाने की व्यवस्था कीजिये। कुछ समय के उपरान्त आप पायेंगे कि काले तख्ते को देखते ही कुत्ते में लार स्रवण की क्रिया प्रारम्भ हो जायेगी। इसी तरह अनेक प्रयोग के बाद पावलभ इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि उपयुक्त अभ्यास से किसी भी वस्तु से कोई भी प्रतिक्रिया जगाई जा सकती है। उदाहरणार्थ बिजली के कष्टकर आघात खाकर भी कुत्ता प्रसन्नतापूर्वक लार श्रवण की क्रिया में प्रवृत्त हो सकता है। दूसरी ओर यह अवस्था उत्पन्न की जा सकती है कि बाँसुरी की सुरीली आवाज सुनकर उसमें रोषावेश के लक्षण प्रकट होने लगे और वह लार श्रवण की क्रिया बन्द कर दे। दूसरे शब्दों में पावलभ अपना इच्छानुसार कुत्ते को चाहे जैसा बना सकता था। स्वाभाविक प्रतिक्रिया को दमित कर उसके स्थान पर आश्चर्य जनक असाधारण प्रतिक्रिया की स्थापना कर सकता था। कुत्ते को शाकाहारी तथा फलाहारी बना देना, सर्प और नेवले को मैत्रीपूर्वक रहना सिखला देना कोई कठिन बात नहीं है। कुत्ते का वृहद मस्तिष्क उत्तेजक (Exciting) और अवरोधक (Inhibitory) प्रेरणाओं को ग्रहण करने वाला एक जटिल यन्त्रागार है और इन उत्तेजक तथा अवरोधक प्रेरणाओं के पारस्परिक संघर्ष के द्वारा ही यह निश्चित होता है कि कुत्ते की प्रतिक्रिया कौन सा रूप धारण करेगी।

आचरण के क्षेत्र में कुत्ता और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं। जो बात कुत्ते के लिए लागू है वह मनुष्य के लिये भी उतना ही ठीक है। बालक बहुत थोड़ा स्वाभाविक क्रिया सामर्थ्य (Reflex) के साथ जन्म लेता है। पर ज्यों-ज्यों बढ़ने लगता है, जैसी-जैसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है उसमें नई-नई प्रतिक्रियायें उत्पन्न होने लगती हैं। वह देखता है कि संघर्ष में टिकने के लिये कहीं तो उसे स्वाभाविक क्रियायें दबा कर रखनी पड़ती हैं और कहीं उभार कर। परिस्थिति-जन्य अवरोधक प्रेरणाओं के कारण बालक की प्राथमिक या भौतिक क्रियाओं का रूप विधान सदा परिवर्तित होता रहता है, परन्तु यह सारी प्रक्रिया अर्थात् जीवन की माँगों से सामञ्जस्य बैठा लेने की प्रक्रिया यन्त्रवत् चलती रहती है। मनुष्य की इच्छा या चेतना का इसमें कोई हाथ नहीं होता। कहने का अर्थ यह है कि पावलभ के

हाथों पड़ कर मनुष्य एक यन्त्र मात्र रह गया। जिस तरह भौतिक या रसायन शास्त्र अणु को इकाई मान कर चलता है उसी तरह पावलभ के प्रतिक्रिया वृत्त खड (Reflex Arc) को ही मनोवैज्ञानिक इकाई के रूप मे ग्रहण कर मनोविज्ञान को वाह्यार्थ निरूपणी दृष्टि से देखने के प्रयास से मनोविज्ञान के स्वरूप मे एक क्रातिकारी परिवर्तन हो गया। वह अन्त-दर्शन की रहस्यमयी कन्दरा से निकल कर विज्ञान की दृढ़ भूमि पर आकर विराजमान हो गया।

इस रूसी आचरणवाद की परम्परा को अमेरिका के वाटसन ने आगे बढ़ाया। इन्होंने मनोविज्ञान के सम्बन्ध मे अनेक अनुसंधान किये हैं तथा शिशु मनोविज्ञान के व्यवस्थित अध्ययन के प्रथम उन्नायकों मे इनका नाम लिया जाता है। इनके व्याख्यान तथा तीन पुस्तकों मे आचरणवादी मनो-विज्ञान सम्बन्धी सारे सिद्धान्तों का संकलन प्राप्त हो सकता है। आचरण १९१४ (Behaviour, 1914) नामक ग्रंथ में पशुओं के मनोविज्ञान की आचरणवादी व्याख्या की गई है। दूसरी पुस्तक है मनोविज्ञान आचरणवादी दृष्टिकोण से, १९२४-२५ (Psychology from the Standpoint of Behaviuorism, 1924-25) जिसमे शिशुओं और प्रौढ़ व्यक्तियों के आचरण का अध्ययन किया गया है।

आचारणवादियों ने मानव मनोविज्ञान को विशुद्ध रूप से वस्तुनिष्ठ (Objective) रूप देने के उद्देश्य से केवल दो ही बातों को अपने अध्ययन का विषय बनाया। एक तो वाह्य उत्तेजक वस्तु को जिसे अंग्रेजों में (Stimulus) कहते हैं और दूसरे मनुष्य के तत्सम्बन्धी आचरण प्रतिक्रिया को (Response)। मनुष्य के अन्दर कहीं देखने की, पीड़ा अनुभव करने की, सूँघने की चेतना प्रक्रिया होती भी हो तो उन्हें स्वीकार नहीं थी। इस तरह की कोई चेतन प्रक्रिया होती भी हो तो उसे वैज्ञानिक रूप मे देखने और परीक्षा करने के साधन हमारे पास नहीं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिये हम प्रतिक्रिया करने वाले मानव, आचरण करने वाले मानव को ही ले सकते है। हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य देखता है, सुनता है। इतना ही कह सकते है कि उसमें इस तरह की चाक्षुष या श्रावणिक प्रतिक्रिया होती है। आपके सामने पटाखे की आवाज हुई। आवाज होते ही आप चौंक पडे अथवा बोल उठे कि आवाज बड़ी तेज थी। आपके नासारन्ध्र के तन्तुओं मे किसी गन्ध का सम्पर्क हुआ। आपमे उसे सूँघने की प्रतिक्रिया होने लगी अथवा आपने कहा कि गन्ध बड़ी तेज है। किसी भी सूरत में आप प्रतिक्रिया को

ही अध्ययन का विषय बना सकते हैं चाहे वह प्रतिक्रिया कायिक या वाचिक हो—

तापमापक यंत्र (Thermometer) मानव शरीर के उत्ताप का उल्लेख अवश्य करता है। पर इससे अनुमान करना कि उसे उत्ताप की मात्रा की अनुभूति भी होती है क्या उचित होगा? नहीं। उसी तरह जीव को जिसम पशु और मानव सब सम्मिलित है प्रतिक्रिया करते देखकर उसकी अनुभूति की भी कल्पना कर लेना गलत होगा। तिस पर भी इस चेतना की बात पर आस्था नहीं करने से हम कुछ घाटे में नहीं रहेंगे। हम मानव का अध्ययन उसके अभाव में भी आचरणवादी रूप में अच्छी तरह वैज्ञानिक ढङ्ग से कर सकते हैं। यदि आचरणवादियों के विरोधी दल की ओर से यह आपत्ति की जाय कि सब उत्तेजक वस्तु तो प्रत्यक्ष नहीं होती तथा मनुष्य के सब व्यापार भी तो प्रत्यक्ष नहीं होते? उदाहरणार्थ, मैं यहाँ बैठा हूँ। यकायक मुझे पुरानी बात स्मृति में आई और मेरा मन घृणा के भाव से भर गया। ऐसी अवस्था में न तो उत्तेजक वस्तु ही सामने है न तज्जनित कोई बाहरी क्रिया ही दृष्टिगोचर हो रही है। एतादृश मानव पर आचरणवादी वस्तुनिष्ठ दृष्टि से विचार कैसे किया जा सकता है? मनुष्य के भाव और उसके विचारों का क्रिया तो अन्तर्गत में होती है। फिर इस अन्त व्यापार के अध्ययन के लिए तो एक ही साधन हो सकता है अन्तर्दर्शन। इस पर हम वाह्यनिष्ठ दृष्टि से कैसे विचार कर सकते हैं?

आचरण के दो प्रकार बाह्य और आन्तरिक

इसके उत्तर में आचरणवादी मनोवैज्ञानिकों का निवेदन है कि मनुष्य के आचरण दो प्रकार के होते हैं—बाह्य (Explicit) और आन्तरिक (Implicit)। बाह्य का अर्थ दृश्य जिनको हम देख सकते हैं। आन्तरिक वे जिन्हें साधारण रूप में देखना सम्भव नहीं होता। जिनको देखने के लिये किसी विशिष्ट प्रणाली का आश्रय लेना पड़ता है। सोचने विचारने की क्रिया तथा मनोवेगों को इसी आंतरिक प्रतिक्रिया की श्रेणी में लिया जा सकता है। इस बाह्य और आन्तरिक प्रतिक्रिया में आकार का भेद भले ही हो पर प्रकार का नहीं। ये आन्तरिक होते हैं सही, पर ये हैं प्रतिक्रियाएँ ही। अभी तक ऐसे सूक्ष्म यंत्रों का निर्माण नहीं हुआ जिनके द्वारा इन्हें इन्द्रिय गोचर किया जा सके पर इससे इनके प्रतिक्रियात्व या आचरणत्व में कोई बाधा नहीं होती।

तर्क या विचार की क्रिया

मानव विचार क्रिया के वास्तविक स्वरूप के ऊपर वाटसन ने जो अपनी मान्यताएँ प्रकट की हैं वे युक्तियुक्त मालूम पड़ती हैं, बोधगम्य हैं और प्रसिद्ध हैं। अतः उन्हीं पर पहिले विचार किया जाय। वाटसन कहेंगे कि इस बात को स्वीकार कर लेने में किसी को आपत्ति नहीं होगी कि जब हम विचार-मग्न होते हैं तो उस समय भी एक तरह से बात ही करते हैं। भले ही वह बात दूसरों को सुनाई न पड़े। विचारक्रिया भी बाह्य क्रिया है, विचार भी मौन वार्तालाप है। जिस तरह श्रव्य रूप में बातें करते समय हमारी वागेन्द्रियाँ और तत्सम्बन्धी अवयव क्रियाशील रहते हैं वही क्रिया विचार अर्थात् मौन वार्तालाप के अवसर पर भी जारी रहती है। भेद इतना ही है कि वह इतनी सूक्ष्म होती है कि उसको ग्रहण करना दूसरों के लिये कठिन होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक छोटा सा शिशु किसी कार्य करने में, जैसे खिलौने को देखने के साथ और खेलने के साथ बातें भी करता जाता है। पहिले वह जोर से बोलता था अब धीरे-धीरे बोलता है। बाद में केवल होठों को स्पन्दित करके ही रह जाता है। अन्त में वह अवस्था भी आ जाती है कि कुछ भी बाह्य शारीरिक चेष्टा नहीं दिखलाई पड़ती वह आन्तरिक हो जाती है। वही प्रौढ़ विचार क्रिया है जो मौन वार्तालाप और (Sensation Motor) के आचरण के रूप में समझी और समझाई जा सकती है। उसके लिये किसी चेतना की कल्पना करना बात को और भी उलझा देना है।

वाटसन और शिशु मनोविज्ञान

ऊपर कहा गया है कि वाटसन ने अपनी पुस्तकों में शिशु मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों को लिपिबद्ध किया है। उसने कहा कि बालकों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बालकों के भावात्मक आचरण के तीन ही मूल रूप होते हैं। भय, क्रोध और प्रेम। चूँकि इन तीन भावात्मक आचरण के सिवाय अन्य कोई रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः इन्हीं तीनों को मनुष्य की मौलिक भावनाएँ स्वीकार कर लेनी चाहिये। भय की उत्पत्ति आधार नष्ट होने तथा तेज, भारी जोर की आवाज से होती है। बालक की स्वाभाविक स्वच्छन्दता में हस्तक्षेप तथा अवरोध से क्रोध की तथा शरीर के सहलाने तथा थपथपाने से प्रेम की उत्पत्ति होती है। इन तीनों भावनाओं के मूल कारण निश्चित हैं, पर परिवर्तित क्रिया की पद्धति के द्वारा किसी भी कारण से कोई भाव उत्पन्न किया जा सकता है। भय

की बात ही लीजिये। यह प्राथमिक रूप में भारी आवाज तथा आधाराभाव से उत्पन्न होता है। पर हम चाहे तो जहाँ भय का नामो निशान भी नहीं होना चाहिये वहाँ भय की सृष्टि कर सकते हैं। एक बालक खिलौने को पकड़ने के लिये प्रसन्नता पूर्वक अग्रसर होता है। तब तक आवाज दी, खट। वह रुक गया और भयभीत मुद्रा से इधर उधर देखने लगा। फिर आगे सरकता है, तब तक आवाज आई खट, अब वह अधिक भयभीत हुआ। इस खट-खट क्रिया के इस रूप में पर्याप्त पुनरावृत्ति होने पर बालक खिलौने से भयभीत होने लगेगा। दूसरे शब्दों में जहाँ भय नहीं था वहाँ स्थापित कर लिया गया। वाटसन का कथन था कि इस तरह की परिवर्तित भावनाओं का उन्मूलन करना कठिन होता है। बहुत से मनुष्यों में किसी वस्तु के प्रति अकारण ही भय घृणा द्वेष इत्यादि के भाव पाये जाते हैं जिनसे उसका पिंड छुड़ाना कठिन हो जाता है, वे भले ही इनकी निरर्थकता का अच्छी तरह अनुभव करते हों।

वाटसन और वातावरणवाद

अन्त में आते आते वाटसन का आचरणवाद वातावरणवाद में परिणत हो गया। वंशानुक्रम से प्राप्त मानसिक विशिष्टताओं एवं सहज प्रवृत्तियों को उसने अपनी विचार शक्ति से दूर कर दिया और उसने अपना सारा ध्यान वातावरण के ऊपर ही केन्द्रित कर दिया। उसने कहा कि मनुष्य के विकास में वातावरण का ही सर्वाधिक महत्त्व है। मनुष्य के चारों ओर अनुकूल वातावरण की सृष्टि कर उसे जिस रूप में चाहें मोड़ा जा सकता है। यहाँ पर उसके शब्द उद्धृत किये जाने योग्य हैं 'यदि मुझे अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने की स्वतंत्रता हो तो मैं किसी भी साधारण शिशु को अपनी इच्छानुसार किसी विषय में विशारद बना सकता हूँ, चिकित्सक, वकील, कलाकार, श्रेष्ठ व्यापारी यहाँ तक कि उसे भिखमंगा और चोर बना सकता हूँ। चाहे उसकी प्रतिभा, रुचि, प्रवृत्ति, योग्यता तथा व्यवसाय कुछ भी हो और किसी भी वंश में उसने जन्म ग्रहण किया हो।"

वाटसन के पश्चात् लैशले टालमैन, हल्ल और स्किनर आदि अन्वेषकों ने आचरणवादी मनोविज्ञान की परम्परा को अग्रसर किया। यद्यपि वे अपने को आचरणवादी ही कहते हैं फिर भी उनके अनुसंधानों के सहारे आचरणवादी और अन्तर्दर्शन पद्धति पर आधारित मनोविज्ञानों का पार्थक्य कम होता गया है। इन लोगों ने अन्तर्दर्शन की प्रतिक्रिया को ही आचरणवादी

और वस्तुनिष्ठ भाषा मे अभिव्यक्त किया है। इन लोगों की मनोवृत्ति यह मालूम पड़ती है कि मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों के क्षेत्र मे अंतर्दर्शन को दूर करने की कोई आवश्यकता नहीं। उनको ही इस रूप मे उपस्थित किया जा सकता है कि वे वैज्ञानिक परीक्षा के वशीभूत हो सकें। किस तरह उन्हे योग्य बनाया जाय यह एक अति पारिभाषिक विषय हो जायेगा जिसके क्षेत्र में प्रवेश करना यहाँ आवश्यक नहीं।

अन्य मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय

ऊपर की पंक्तियों मे आधुनिक मनोविज्ञान के तीन सम्प्रदायों का परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त बहुत से मनोवैज्ञानिक किसी भी सम्प्रदाय से असंलग्न होकर अपने वैयक्तिक रूप मे अनुसंधान का कार्य कर रहे हैं और उन्हें किसी सम्प्रदाय विशेष की श्रेणी में रखना असम्भव है। पर फिर भी कुछ मनोवैज्ञानिकों को उनकी विशिष्टताओं के आधार पर प्रवृत्तिवादी (Hormic) और जीवी (Holistic) कहा जा सकता है। प्रवृत्तिवादी मनोविज्ञान के समर्थकों मे मैकडुगल प्रसिद्ध है और जीवी मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से अनुसंधान करने वाले मनोवैज्ञानिकों में (Adolf Meyer, 1866 तथा George Ellett Coghill (1872-19-49) के नाम लिये जाते हैं।

प्रवृत्तिवादी मनोविज्ञान

मैकडुगल द्वारा प्रचारित मनोविज्ञान के सम्प्रदाय के द्वारा हमें कोई ऐसी विशेष बात नहीं मिलती जो अन्य सम्प्रदायों द्वारा प्राप्त न होती हो। इनकी सबसे प्रसिद्ध संस्थापना को हम प्रवृत्ति सिद्धान्त (Theory of Instinct) के नाम से पुकारते हैं। इस सिद्धान्त के द्वारा मनुष्य मे नैसर्गिक रूप से काम करने वाली मूल प्रवृत्तियों को ढूँढ निकालने का प्रयत्न किया गया है। एक दल के विचारक हैं जिन्हें सुखवादी (Hedonist) कह सकते हैं। उनका कहना है कि जितनी भी हमारी इच्छाएँ होती हैं, उनके मूल मे आनन्द प्राप्ति की भावना रहती है। पर आनन्द को मूल मान लेना और इच्छा को गौण बना देना गलत रूप से देखना है। भोजन कब आनन्दप्रद होता है? जब हम क्षुधित होते हैं अर्थात् जब हमे भोजन की इच्छा है। जब हमे भूख नहीं, भोजन की इच्छा नहीं तब भोजन में आनन्द देने की शक्ति नहीं। इसलिये इच्छा ही हमारे मानसिक जीवन का अधिक मूलभूत प्रकार है और इस मूलभूत भाव को पहिचानना हमारा कर्त्तव्य है।

इन मूलभूत मानसिक तत्वों को (Instinct) कहा जाता है। मैकडुगल अनेक जाँच पड़ताल के बाद इस नियम पर पहुँचे कि मनुष्य में नैसर्गिक रूप से १२ प्रवृत्तियाँ रहती हैं। इन प्रवृत्तियों में तीनों प्रकार के ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक अनुभव रहते हैं। उदाहरण के लिये मनुष्य में खतरे से बचने की सहज प्रवृत्ति है। इसका ज्ञानात्मक पहलू यह है कि जिसमें मनुष्य शीघ्र ही खतरे को पहचान लेता है। इस बोध के साथ ही उसकी सहचर भावना भय जागती है और कँपना, भागना इत्यादि क्रियात्मक रूप को उत्पन्न करता है। जितनी सहज प्रवृत्तियाँ हैं उनमें प्रत्येक में सहचर भावना और क्रियायें लगी रहती हैं। समय और परिस्थितियों की शिक्षा और अनुभव के अनुसार इन सहज प्रवृत्तियों के बाह्य रूप में परिवर्तन हो सकता है पर मूलतः वे ज्यों का त्यों रहता है। युयुत्सा (Fighting) की सहज प्रवृत्ति के रूप का दो कारणों से परिवर्तन हो सकता है। जब बालक के स्वच्छन्द अंग संचालन और कार्य व्यापार में प्रतिरोध होता है वह हाथ पैर चलाने लगता है अथवा रोता है। आगे चलकर वह अवस्था आ सकता है कि बालक में क्रोध उत्पन्न करने के लिये उसके व्यापारावरोधक स्थूल कारणों की आवश्यकता न पड़े। यह स्थूल कारण सूक्ष्म रूप धारण कर ले। सम्भव है थोड़ा भ्रूभंग या थोड़ी डाँट बालक में क्रोध की लहरें उत्पन्न कर दे और वह हाथ पैर चलाने के स्थान पर मारने के लिये, गाली देने के लिये या अपने शत्रु को किसी अन्य प्रकार से पीड़ित करने पर वह उद्यत हो जाय। यद्यपि इन दोनों व्यापारों में बाह्य दृष्टि से अनेक अन्तर हैं और इन दोनों के मूल में रहने वाली सहज प्रवृत्ति एक ही है।

सहज प्रवृत्तियों में एक विशेष तरह का परिवर्तन होता है तब वे भाव (Sentiments) का रूप धारण कर लेती हैं। जब बहुत सी सहज प्रवृत्तियाँ एक वस्तु विषय या विचार के चारों ओर एकत्र हो जाती हैं तो उनके सम्मिलित रूप को भाव कहते हैं। देशभक्ति को हम भाव कहते हैं सहज प्रवृत्ति नहीं। देशभक्ति के भाव सब में वर्तमान रहते हैं पर इसी से देश भक्ति नामक एक सहज प्रवृत्ति मान लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में देश के नाम पर कितनी ही सहज प्रवृत्तियाँ संलग्न हो जाती हैं। हम देश लिये अपने को (Assert) करते हैं। अपनी क्षमता का प्रदर्शन करते हैं (Self assertion)। देश के लिये युद्ध करते हैं (Combat) उसके लिये डरते हैं (Fear)। उसके प्रति आत्म समर्पण करते हैं। देश के लिये बड़े कोमलभाव धारण करते हैं (Parental instinct)।

अतः इन सब प्रवृत्तियों ने देश के साथ सम्बद्ध होकर देशभक्ति नामक भाव का रूप धारण कर लिया है। मैकडुगल कहना यह नहीं है कि हमारा जीवन सहज प्रवृत्तियों द्वारा सचालित होता है जैसा कि कुछ लोगों की धारणा है। नहीं जीवन का संचालन भावों (Sentiments) के द्वारा होता है जो सहज प्रवृत्तियों की भावनात्मक शक्ति से सचलित होते हैं। मनुष्य के जीवन व्यापार और उसके कार्य-कलाप बौद्धिक धारणाओं के द्वारा रूप धारण नहीं करते, परन्तु उनके मूल मे राग द्वेष, उत्साह, प्रतिद्वन्द्विता, अभिरुचि, राग विराग इत्यादि भावों का निवास है जिनका मूल स्रोत सहज प्रवृत्तियाँ है, जिनकी प्रेरणा शक्ति का सहारा पाकर ये इतने परिणामक, पुरअसर या कारगर हो जाते है।

एक बालक पकड़ लिये जाने पर हाथ-पैर हिलाता है और वयस्क समाचार पत्र मे अपनी निन्दा की बाते पढकर सम्पादक के पास आक्रोश-पूर्ण पत्र लिखने के लिये अग्रसर होता है। दोनों के मूल मे काम करने वाली सहज प्रवृत्ति मे कोई अन्तर नहीं हालाकि दोनों के कार्य व्यापार बाह्य दृष्टि से भिन्न हैं।*

अतः ध्यानपूर्वक देखने से मैकडुगल के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का महत्व यही मालूम पड़ता है कि इसने इस विश्व और सारे कार्यारम्भ की शृङ्खला मे व्यक्ति और सहज प्रवृत्तियो का महत्त्व बढा दिया। उसने बतलाया कि इस संसार की किसी भी राजनैतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था मे हमे सहज प्रवृत्तियों की अवहेलना का अत्यधिक मूल्य देना पडेगा। इस मनोविज्ञान का सबसे अधिक विरोध उन लोगों के द्वारा हुआ जो अपने को परिस्थितिवादी (Environmentalist) कहते है जिनका सिद्धात यह है कि मनुष्य के विकास मे तथा विश्व की व्यवस्था मे सबसे अधिक हाथ बाह्य परिस्थितियों का है। सहज प्रवृत्तिवादियों की मान्यता है कि मानव के विकास या चारित्रिक गठन पर और दूसरी बाते भले ही अपना प्रभाव डाल लेती हों पर उनका नेतृत्व सहज प्रवृत्तियाँ ही करती है। पर परिस्थितिवादियों का दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है कि परिस्थितियाँ ही सिर्फ, विशेषतः मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ ही, हमारे चरित्र निर्माण घटकों का सम्पादन करती हैं। जिसको मैकडुगल महोदय सहज प्रवृत्तियाँ कहते हैं, वे

*Where to fight and how to fight are but the primary motive of fighting back against interference which remains the same from infancy to old age.

मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियाँ नहीं हैं पर परिस्थितियों की छत्रछाया में सयोजित एकाधिक प्रवृत्तियों के योग से उनका निर्माण हुआ है। एक मानवी माँ अपने बच्चे का पालन करती है पर इसका अर्थ यह नहीं है कि यह पालन वृत्ति किसी मौलिक सहज मातृ प्रवृत्ति (Mothering Instinct) के परिणाम स्वरूप है। परन्तु यह एक जटिल क्रिया है जो बूढ़ी नारियों और डाक्टरों के अनुकरण करते करते सीख ली गई है। यही बात मैकडुगल द्वारा प्रति पादित अन्य सहज प्रवृत्तियों के बारे में कही जा सकती है और दिखलाया जा सकता है कि उन सब क्रियाओं का रूप बड़ा जटिल है।

अब अन्त में (Holistic) सम्प्रदाय पर विचार करना चाहिये। इन लोगों का कहना है कि अन्य जितने भी मनोवैज्ञानिक हैं उनका दृष्टिकोण एकांगी है। यदि मनुष्य के सच्चे स्वरूप को समझना है तो हम मनुष्य को पूर्ण इकाई के रूप में समझें। सहज प्रवृत्तियों के माध्यम से, अचेतन के माध्यम से अथवा वाह्याचरण के माध्यम से ही मनुष्य पर विचार करना समस्या को विकृत और छोटा करके देखना है। मनुष्य पर विचार करते समय उसकी समस्या का निदान किसी शारीरिक विकार में अथवा बाल्य-कालीन किसी दमित आकांक्षा में मिल जाय, ठीक है पर मनुष्य की मानसिक अवस्था और उसकी विकृतियाँ धीरे धीरे विकसित होती हैं और उसका कारण होता है समाज के प्रति उसका दोषपूर्ण दृष्टिकोण। उदाहरणार्थ समस्या का वास्तविक रूप में न देख कर कल्पना के जगत में पलायन करने की प्रवृत्ति। अत किसी असाधारण मानस वाले व्यक्ति पर विचार करते समय उसे इसी रूप में देखना चाहिये कि उसे एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा है जो उसकी शक्ति के बाहर है। ऐसा करना गलत होगा कि किसी तरह तोड़-मरोड़ कर उसे मनोविज्ञान के द्वारा निर्धारित किसी मानसावस्था की श्रेणी में ला पटका जाय।

पाद टिप्पणियाँ

1 Freud—His dream and sex theories by Joseph Jastrow Pocket book Edition First printing June 1948 Page 11 16

2 Normal and abnormal Psychology by J Ernest Nicole 1948 chapter three P 50 55

3. Introductory lectures on psycho analysis by S. Freud, P.
4. Contemporary Schools of Psychology by R. Woodworth 8th. Edition 1949, P.
5. Normal and abnormal Psychology by J. Ernest Nicole 1948—Page 45.
6. Psychiatry for every man by J A. C. Brown Philosophical Library, New York 1947 Page 96-97.
7. अन्य सम्प्रदायों की सामग्री मुख्यतः वुडवर्थ तथा मैकडुगल की पुस्तकों से एकत्र की गई हैं।

तृतीय अध्याय

उपन्यास और मनोविज्ञान

आधुनिक-कथा साहित्य पर मनोविज्ञान का प्रगतिशील प्रभाव

कथा-साहित्य के साथ मनोविज्ञान की चर्चा करना और उसमें मनोविज्ञान को ढूँढना कोई नई बात नहीं है। यों तो साहित्य की किसी भी विधा में मनोविज्ञान की झलक रहती ही है। इसके अभाव में मनुष्य का किसी प्रकार का कृतित्व सम्भव नहीं। उसकी प्रत्येक क्रिया में उसका हृदय और मस्तिष्क झलकता रहेगा ही। परन्तु साहित्य में उसका रंग गाढ़ा हो जाता है, प्राधान्य प्राप्त करने लगता है। तिस पर भी कथा-साहित्य में तो इसकी चारों ओर से दुहाई फिरने लगती है। आधुनिक कथा-साहित्य में तो दुहाई फिरने तथा विजय दुंदुभि बजने तक ही बात सीमित नहीं रह गई है। अब तो यह मनोविज्ञान यहाँ कोने कोने में छा गया है और उस क्षेत्र के जितने भी आदिम तथा मूल निवासी थे, जैसे कथा, पात्र, चरित्र चित्रण, कथोपकथन सबको निकाल कर या उनकी हत्या कर उनके स्थान पर अपनी तथा अपने बन्धु-बांधवों की स्थापना कर रहा है।

इतिहास में तो इस तरह की अनेक घटनायें घटी हैं। विजेताओं ने किसी नये देश पर आक्रमण कर उस पर अपने प्रभुत्व की स्थापना की। वहाँ के मूल निवासियों को बाहर खदेड़ दिया। उनका नामोनिशान मिटा दिया। उन्हें आत्मसात् कर लिया अथवा उन्हें अपना दास बनाकर रखा। यूरोपीय जातियों ने अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, जैसे उपनिवेशों में जाकर वहाँ के मूल निवासियों के साथ जो व्यवहार किया है या कर रहे हैं, उसको हमने देखा ही है और देख ही रहे हैं। इस्लाम जहाँ गया, यूनान, मिश्र इत्यादि वहाँ उसने मानचित्र पर अपना निजी रंग इस प्रगाढ़ रूप में चढ़ाया कि आज पहलेवाले रंग का पता भी नहीं। मैं यह नहीं कह सकता कि कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी मनोविज्ञान को इस तरह की सफलता प्राप्त हो सकी है या नहीं पर उसकी ओर से अपनी सत्ता की स्थापना के शक्तिशाली प्रयत्न तो अवश्य हो रहे हैं। मैं जानता हूँ इधर मनोविज्ञान को कुछ ऐसे प्रतिभावान तथा कुशल लेखकों का सहयोग भी प्राप्त हो गया है जिनके कलाकौशल से विजय के चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगे हैं।

मनोविज्ञान और यथार्थवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण

वास्तव में देखा जाय तो साहित्य में मनोविज्ञान को ढूँढने और उसके आग्रह की प्रवृत्ति यथार्थवादी दृष्टिकोण का ही एक रूप है। यथार्थवादी दृष्टिकोण भी विज्ञान की देन है। इस विज्ञान का आक्रमण हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आज करीब चार सौ वर्ष पूर्व १६वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ और तब से यह निरन्तर अपने प्रभुत्व का विस्तार करता ही जा रहा है। १६वीं शताब्दी मे खगोल (Astronomy), भूगोल (Geography) तथा शरीरशास्त्र ने जीवन के बडे भूभाग पर अधिकार जमाया, १७वीं शताब्दी मे भौतिक शास्त्र (Physics) तथा रसायनशास्त्र (Chemistry) ने अपने पाँव फैलाये, १८वीं शताब्दी मे अर्थशास्त्र (Economics) तथा राजनीति-विज्ञान की तूती बोलती रही, १९वीं शताब्दी में प्राणि-शास्त्र (Biology) तथा समाजशास्त्र (Sociology) की दुहाई फिरी और यह २०वीं शताब्दी मनोविज्ञान (Psychology) का युग माना जाता है।

ऊपर विज्ञान के बढ़ने चरण की जो एक सरसरी रूपरेखा दी गई है उससे स्पष्ट है कि यह जो मनोविज्ञान नामक जीव है, वह अपने कुल का सबसे नूतन तथा तरुण प्राणी है और इसमे चारों ओर छा जाने की उमंग और उत्साह हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु जिस वंश में इसका जन्म हुआ है उसका आदि सस्थापक विज्ञान है। अतः विज्ञान का सच्चा स्वरूप क्या है यह जान लेना आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति पर अपने पूर्वजों का सस्कार बना रहता ही है जिससे मुक्ति पाना एक तरह से असम्भव होता है। हालाकि कहा जाता है कि तीसरी पीढ़ी मे सतति बदल जाती है, परन्तु मनोविज्ञान मे विज्ञान शब्द जुड़ा हुआ है। अतः मनोविज्ञान मे वैज्ञानिकता का पुट है ही, यही मानकर चलना होगा और इसी दृष्टि से विचार करना होगा कि इस क्षेत्र मे वही प्रेरणा (स्पिरिट) काम करती है जो विज्ञान को अनुप्राणित करती रही है।

किसी मानवीय समस्या पर गहराई से बुद्धिपूर्वक विचार करना, उसे कारण-कार्य की शृंखला में बाँधकर देखने की चेष्टा करना, उसके क्रिया-व्यापारों तथा गुण धर्मों (Properties) का पता लगना ही विज्ञान है। यदि आप केवल प्रकृति प्रदत्त साधनों के सहारे ही किसी वस्तु या घटना का निरीक्षण करते हैं, उस पर मनन करते हैं, बुद्धिपूर्वक विचार करते हैं, उस पर तरह-तरह के प्रयोग कर किसी तथ्य का उद्घाटन करते है तो आप वैज्ञानिक हैं। अनुशासित और व्यवस्थित विचार परम्परा ही विज्ञान की आत्मा है।

मनोविज्ञान भी इसी तरह मस्तिष्क के व्यवस्थित तथा अनुशासित प्रयोग का पक्षपाती है। वह भी धर्म की तरह किसी अशरीरी तथा अपौरुषेय तत्व का सहारा नहीं लेता, जीवन को किसी बाहरी शक्ति के हाथ का खिलौना नहीं मानता। नहीं समझता कि मानव को समझने के लिये किसी देवी, देवता अथवा किसी अशरीरी तत्व को लाने की आवश्यकता है। परन्तु जहाँ विज्ञान किसी वस्तु की बाहरी रूपाकृति को बतलाकर संतोष कर लेता था, वहाँ पर मनोविज्ञान उस बाहरी रूपाकृति के पीछे काम करने वाली मनःशक्तियों को देखने की चेष्टा करेगा। आपकी मेज पर एक सुन्दर दावात रखी हुई है, आपके हाथ के झटके के लगने से वह गिरकर चूर चूर हो गई। यही घटना वैज्ञानिक देखेगा तो इतना कहकर संतोष कर लेगा कि मेज को साफ करते हुए आपका हाथ जरा-सा हिल गया, बस दावात गिर पड़ी। ज्यादा से ज्यादा यही कह सकता है कि दावात मेज पर इस कोण (angle) पर स्थित थी। आपके हाथ का झटका जो लगा, वह प्रति इंच प्रति मिनिट इतनी शक्ति के वेग से था। अतः, दावात गिर पड़ी। यदि दावात दूसरे कोण (angle) पर होती अथवा आपके हाथ के झटके की आवेश शक्ति दूसरी होती तो दावात नहीं गिरती।

पर यदि उससे हम यह पूछते हैं कि आखिरकार हाथ का झटका लगा ही क्यों? आज वर्षों से दावात उसी स्थान पर रखी हुई है और कमरे की सफाई भी प्रतिदिन होती ही रही है पर ऐसी दुर्घटना तो कभी भी नहीं हुई। आज यह दुर्घटना सामने क्यों आई? इस प्रश्न के उत्तर देने में विज्ञान अपनी असमर्थता प्रकट करेगा। वह कहेगा कि हमारा सम्बन्ध तो किम् (what question) तक ही सीमित है, हम तो घटना का बाह्य स्वरूप ही बतला सकते हैं, पर यदि उसके मूल कारण को why question को तुम जानना चाहते हो तो मनोविज्ञान के पास जाओ। चाहो तो हम तुम्हें एक परिचय पत्र (Letter of introduction) दे सकते हैं। जरूर इसका प्रभाव पड़ेगा। जब आप इस परिचय-पत्र के साथ उसकी सेवा में उपस्थित होंगे तो मनोविज्ञान आपको बतलायेगा कि दावात यों ही झटके से नहीं गिरी है। आपने ही उसे गिराया है, वह दावात से असन्तुष्ट था, उसे फेंक देना चाहता था। क्यों असन्तुष्ट था? इसलिये कि उसकी बहिन ने उस दिन उस सुसज्जित कमरे को देखकर यह कहा था यह दावात यहाँ नहीं रखकर वहाँ रखी जाती तो कमरा भिन्न लगता। तब भला अपनी सुरुचि के दिवालियेपन की घोषणा करनेवाली दावात को वह क्यों न फेंक दे? पर

वह व्यक्ति तो अपनी बहुमूल्य दावात के नष्ट हो जाने पर तो बहुत दुखी है। पूछने पर तो इस तरह की किसी इच्छा का पता नहीं देता। नहीं देता तो इससे क्या ? यह सब उसके अचेतन की यह करामात है।

मनुष्य को समझने के दो साधन

बीसवीं शताब्दी के विज्ञान तथा यथार्थवाद ने मनुष्य के स्वरूप को समझने के लिये दो साधन बतलाये है। एक तो कहता है कि मनुष्य के अन्दर की ओर बाहर से झाको। डारविन या मार्क्स यही कहते है। दूसरे का कहना है कि मनुष्य को समझना चाहते हो तो उसके भीतर से बाहरी दुनिया की ओर देखो। यह फ्रायड तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों का कथन है। अन्य मनोवैज्ञानिकों मे निश्चय ही मैं उन आचरणवादियों की बाते नहीं करता जो मनुष्य की बाहरी क्रियाओं को ही मनोविज्ञान का विषय मानते हैं। दोनों विचारधाराओं मे से किसी ने भी दूसरे पक्ष को सर्वथा अस्वीकृत ही कर दिया हो यह बात नहीं। हाँ प्रधानता का अन्तर अवश्य है। चील आकाश मे मडराती रहती है पर उसकी दृष्टि रहती है पृथ्वी पर ही। यही हालत हमारे आधुनिक मनोवैज्ञानिक चकोर रहता है जमीन पर ही, पर उसकी टकटकी बंधी रहती है आकाश में उगे चाँद की ओर। यही हमारे मार्क्सवादी विचारकों है। वे कहेगे कि इन युद्धों, साम्प्रदायिक दंगों, मद्यपान, सामाजिक समस्याओं, अपराध तथा हत्याओं के मूल कारण तत्कालीन आर्थिक एवम् सामाजिक परिस्थितियों मे नहीं है। है तो मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों मे।

ये मूल प्रवृत्तियाँ कितनी है, इसके बारे मे सब मनोवैज्ञानिक सहमत नहीं। कोई काम को मानता है, कोई अहता को, कोई कुछ को। परन्तु इसी के सहारे वे मनुष्य को समझना चाहते है। यही उनका यथार्थवाद है। किसी वस्तु को आपने जिस रूप मे देखा, उसी रूप मे उपस्थित कर देना ही यथार्थवाद है। दो चित्रकार हैं। एक ने एक गाय का चित्रण किया ! एक सुन्दर, स्वस्थ भरीपुरी, बड़ी-बड़ी आँखोंवाली गाय, अपने बछडे के साथ मैदान मे चर रही है। कितना यथार्थवादी चित्र है। दूसरे ने दूसरी तरह का चित्रण उपस्थित किया। एक दुबली-पतली, भूखी हड्डियों का ढाँचा मात्र गाय शहर की गली घूरे पर कुछ दाने खाने को लपक रही है। यह चित्र भी कम यथार्थवादी नहीं है। पर इतना अवश्य है कि इन दोनों चित्रकारों की दृष्टि सतही है, ये दोनों गाय के बाहरी रूप को ही देख रहे

है। मनोवैज्ञानिक कहेगा कि इससे हमारा कोई मतलब नहीं कि किस तरह की गाय का चित्रण किया जा रहा है। किसी भी तरह की गाय का चित्रण किया जाय पर उससे इतना अवश्य झलकता रहे कि वह गाय जो इस अवस्था को पहुँच गई है वह किसी मौलिक प्रेरणा के कारण ही है। वह इसके लिये बाध्य थी। शायद गाय के निर्बुद्धिता के कारण इस बात को ग्रहण करने में कठिनता जान पड़े तो उसके स्थान पर किसी मानव व्यक्ति को रख लीजिये। यों कला में हम किसी चीज का चित्रण करें—मानव, अमानव, अतिमानव जड़ या चेतन कहीं न कहीं उसमें व्यक्ति का स्थापना करनी ही पड़ता है। चित्र की गाय, साधारण गाय नहीं होती, उसमें व्यक्तित्व उभरने लगता है। सम्भव है चित्रकला में इस बात का अवसर अधिक न हो पर साहित्य में, विशेषत कथासाहित्य में तो इसके लिये अपार क्षेत्र खुला ही पड़ा रहता है।

इसलिये कथाकार सदा से ही मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों को अपनाने की चेष्टा करता रहा है। प्राचीनकाल में कथा का ध्यान स्थूलता की ओर जरूर था, वहाँ पर लम्बी चौड़ी घटनाओं को स्थान अवश्य मिलता था, राजाओं एवम् राजकुमारों के वर्णनों की भरमार थी। ऐसी ही बातों को स्थान मिलता था, जिनका सामूहिक प्रभाव तत्काल दृष्टिगोचर हो सके। किसी गरीब परिवार में उत्पन्न बालक का धन सम्पन्न हो जाना, विवाह, पुत्रोत्पत्ति साम्राज्य प्राप्ति दो व्यक्तियों का किसी विदेश में संकटमय परिस्थितियों में मिलना—फिर दोनों का भाई-बहन अथवा पिता पुत्र होना, इस तरह की घटनाओं की भरमार था, जिनकी बाह्य स्थूलता ही पाठकों को अभिभूत कर लेती थी। उनके सारे संदर्भ निश्चित (references fixed) थे, उनके अर्थ निश्चित थे। अत उनके अर्थ को समझने के लिये किसी को कुछ भी श्रम नहीं करना पड़ता था। न तो लेखक को ही चिंता थी कि वर्ण्य वस्तु को अपनी आत्मीयता का पुट देकर प्रतिभा की उष्णता से उत्तप्त कर पाठकों के सामने उपस्थित किया जाय और न पाठक को ही आवश्यकता थी कि वह अपनी ओर से उसके मर्म को जानने की चेष्टा करे। राम राम हैं, रावण-रावण है। बस चलो, छुट्टी हुई रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्।

कल्पना कीजिये कि किसी उपन्यास में एक ऐसी गृहिणी का उल्लेख है जो अपने घर को एकदम साफ सुथरा रखती हो, कहीं भी जरा सी धूल दीख पड़ी या कोई तृण दास पड़ा नहीं कि उसे बुहार कर फेंक देती है। झाड़

स्वस्थ हो जाय। किसी नारी के अपने पति के, किसी माँ के लिए अपने पुत्र के स्वास्थ्य की कामना करने से अधिक स्वाभाविक बात क्या हो सकती है पर मनोवैज्ञानिक इसमें भी किसी न किसी असाधारणता की झलक देख लेगा और कहेगा कि यह सब बकवास की बातें हैं। वास्तविकता तो यह है कि नारी मन ही मन अपने पति की मृत्यु कामना कर रही है और माँ अपने बालक को रोगमुक्त होते देखना नहीं चाहती। एक नारी है, जिसे अपने सतीत्व तथा सच्चरित्रता का बहुत ही अधिक ख्याल है, उसे सदा डर रहता है कि लोग उसकी ओर घूर कर कामुकता की दृष्टि से देखते हैं, पर मनोवैज्ञानिक बतलायेगा कि नारी स्वयं चाहती है कि लोग उसे आँखें फाड़फाड़कर देखें और रस लें।

कहने का अर्थ यह है कि आज मनोविज्ञान का सिद्धान्त यह हो गया है कि घटनाओं की मनोवैज्ञानिक असाधारणता से घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं। मनुष्य के व्यक्तित्व के अध्ययन के लिये असाधारण घटनायें अधिक उपादेय हो सकती हैं।[२]

"आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का प्रधान सिद्धान्त यह है कि असाधारण सा लगनेवाला मनोवैज्ञानिक घटनायें साधारण मनोवैज्ञानिक घटनाओं के अतिरंजित वृहत्तर अर्थात् अति विकसित या अर्द्ध विकसित तथा छद्मवेशधारी अर्थात् विकृत रूप हैं। इस बात का अनुभव सब ने किया होगा कि किसी प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ जिसके अक्षर कहीं कहीं घिस गये हों और पढ़े नहीं जा सकते हों, उन्हें पढ़ने में विस्तारक शीशे magnifying lense से कितनी सहायता मिलती है। उसी तरह इन मनोवैज्ञानिक घटनाओं का तथाकथित असाधारणता (abnormality) ऐसी चीज है, जिससे इनके सच्चे स्वरूप को पहचानने की सुविधा हो जाती है।

इसका कथा पर प्रभाव

अतः मनोविज्ञान का सर्वप्रथम प्रभाव कथा साहित्य के कथा भाग पर पड़ा है। लम्बे चौड़े डील डौल वाली बड़ी-बड़ी घटनाओं का ह्रास होने लगा। यहाँ तक कि अब ऐसे उपन्यासों की रचना होने लगी जिसमें कथा भाग हो ही नहीं। अथवा हो भी तो वहाँ पहले से ही आधिपत्य जमाये रखनेवाली, मान्यता प्राप्त करने वाली घटनाओं के स्थान पर ऐसी घटनायें स्थान पायें, जिनको मनोवैज्ञानिक आवेग के अतिरिक्त और किसी तरह का सहायक प्राप्त न हो। उदाहरण से हमारी बात स्पष्ट होगी। पहले प्रेम की बात लीजिये।

अतर का तिरोधान तो प्राय सदा ही और सब में होता है, परन्तु उसका ज्ञान भी बना रहता है, कर्ता और कर्म के विभिन्न स्वरूप अलग अलग दिखलाई पड़ जाते हैं।

परन्तु जब कर्ता और कर्म में जो एक साधारण, तर्क-सम्मत, सबध है, उसे देख पड़ना कठिन हो जाय, हरि का राधा बन जाय या राधा ही हरि बन जाय, यहाँ तक हरि ही रह जाय राधा लुप्त हो जाय तो कहा जा सकता है दोनों का सबध सूत्र नष्ट हो गया है। यह मानस की वह स्थिति है जिसे न्यूरोटिक कहते हैं। एक तरह से तो हम सब न्यूरोटिक है, बाहरी वस्तु को अपने रग में रग लेने की प्रवृत्ति सब में होती है पर जब यह प्रवृति किसी में एक सीमा का अतिक्रमण कर लेता है तभी उसे न्यूरोटिक कहा जाता है। किसी स्वप्न पर विचार कीजिये। स्वप्न में कर्म कारक होता है। नहीं, बाह्य वस्तु रहती ही नहीं। वहाँ कर्ता ही रहता है। स्वप्न का कर्म कारक (Object) बाह्य पदार्थ एक साथ ही कर्ता और कर्म, (Subject) तथा (Object) दोनों ही हो सकता है। किसी ने स्वप्न में देखा कि मैंने गोपाल को मारा। पर इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि मन गोपाल को न मारकर अपने को दडित किया। गोपाल में कुछ दुर्गुण है जो मुझ में भी है। अत गोपाल को मारने के बहाने में गोपालवत् दुर्गुण दुर्विदग्ध स्व को दडित कर रहा है। स्वप्नद्रष्टा ही गोपाल बन गया है। (Subject) और (Object) का पार्थक्य नष्ट हो गया है। इस Subject और Object के पार्थक्य का तिरोधान के चित्रण का ही अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप का (Subjective Object of experience) अर्थात् चित्रण कहा गया है। कर्ता और कर्म Subject और Object का एकीकरण मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की विशेषता है। और जब तक हम इस ठान तरह न हृदयगम नहीं करते, तब तक हम आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का लम्बानग्रा, डा० एच० लारेंस तथा मार्शल प्रस्ट के उपन्यासों का आनन्द नहीं उठा सकते।

एक उदाहरण

J F Brown ने एक ग्यारहवर्षीय बालिका के स्वप्न की चर्चा की है, जिससे भी कर्ता और कर्म के एकीकरण का बात समझने में सहायता प्राप्त हो सकती है। 'मैं अतिथि शौचालय में बैठा हूँ, जिसका परिवार के सदस्यों के उपयोग में आना बाद शौचालय का उपयोग कर रहे हैं। माँ के लिए [illegible] [illegible] का ही आदर कर देती हैं।'*

वास्तविकता तो यह थी कि स्वप्नकाल मे उस बालिका ने ही बिस्तर को आर्द्र कर दिया था। इस स्वप्न मे बाह्य दृष्टि से बालिका कर्ता है, माँ कर्म है। बालिका माँ को देख रही है। बालिका Subject है, माँ Object है। मनोविश्लेषण से परिचित व्यक्ति के लिए इस स्वप्न के प्रतीकात्मक महत्व को जान लेना कठिन नहीं है। बालिका ने माँ मे तादात्म्य कर लिया है। समाज में पिता और माता का स्थान बराबरी का समझा जाता है। संतान छोटी समझी जाती है। यहाँ बालिका अपने नीचे स्थान से उठकर पिता के बराबर आसन ग्रहण कर रही है। दोनों बाथरूम का प्रयोग कर रहे हैं। स्वप्न मे माता के द्वारा ही बिस्तर आर्द्र होता है। पर वास्तव मे बालिका ही बिस्तर को आर्द्र करती है, अतः वह अपनी माता के स्थापनापन्न रूप मे ही ऐसा कर रही है। इस तरह वह बालिका एक ही साथ दो रूपों मे प्रकट हो रही है। एक तो वह स्वयं बालिका और साथ ही माँ भी है।

आधुनिक उपन्यास और प्रेम का त्रिकोणत्व

उपन्यास में प्रेम के त्रिकोणत्व वाली बात से सभी परिचित हैं। दो नवयुवक एक ही नवयुवती के प्रणयाकांक्षी हैं अथवा दो नवयुवतियाँ एक ही नवयुवक से प्रेम करती हैं। कहा जा सकता है कि सारा उपन्यास साहित्य, कम से कम अधिकाश का, निर्माण इसी तीन कोण वाले फार्मूले के आधार पर हुआ है। अँग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार टामस हार्डी के सारे उपन्यास साहित्य की आधार शिला ही प्रेम का यही त्रिकोण चित्रण है। परिस्थिति की विषमता के बीच पात्रों का रखकर उनके हृदय के राग-द्वेष, संघर्ष तथा अनार्द्वन्द को चित्रित करने मे टामस हार्डी को कितनी सफलता मिली है! नायिकाओं की करुणा तथा उनके हृदय की भावनाओं के उत्थान तथा पतन के चित्रण मे तो वे आज भी अद्वितीय हैं। पर इतना होने पर भी उनके उपन्यासों को हम मनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते।

आज हम जानते है कि मनुष्य का मनोविज्ञान उतना सरल नहीं जितना इन उपन्यासो मे दिखलाया गया है। वह एक सीधे-सादे राजमार्ग पर नहीं चलता, वह वक्रगति से चलता है, वह जटिल जीव है, उस पर आज बहुत बोझ बढ़ गया है। अतः पथ पर उसके पाँव डगमग करते चलते है। मनुष्य तो सीधा-सादा प्राणी कभी भी नहीं था। परन्तु यह सम्भव है कि प्राचीनकाल मे परिस्थितियो की सरलता के कारण उसके हृदय या मस्तिष्क पर उतना बोझ न हो। जीवन उतना संकुल नहीं था, हमारी आवश्यकताएँ

थोड़ी थीं जिन्हें प्रकृति थोड़ा परिश्रम रूपी मूल्य लेकर पूरी कर देती थी। मैंने किसी चीज पर अधिकार कर लिया है। प्रथमत तो मेरी वस्तु पर अपना दावा पेश करने वाला व्यक्ति मिलेगा ही नहीं। प्राकृतिक जीवन की स्वच्छन्दता मे किसी वस्तु का अभाव प्रकृति स्वय पूरा कर देती है। यदि कोई दावेदार आया भी तो उससे दो दो हाथ हो गये, चलो मामला साफ। जो ज्यादा शक्तिशाली उसकी जीत। वीरभोग्या वसुधरा।

पर सभ्यता तथा सस्कृति के विकास के साथ-साथ हमारा जीवन उतना सरल नहीं रह गया, उसमें जटिलता आती गई, हमें अपनी प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ा। उनके आवेगों को स्वाभाविक मार्ग न मिल पा सकने के कारण वे अन्दर घुटती गई। हमारे जीवन का भार बढ़ता गया। पहले हम खुल कर लड़ते थे, पर अब शीत युद्ध या गुरिल्ला युद्ध प्रारम्भ हो गया। हमारी चाल टेढ़ी मेढ़ी हो गई। हमारी भाषा बदल गई। वेश भूषा मे परिवर्तन हो गया। अब हमें समझने के लिए हमारी बाहरी आकृति का निरीक्षण ही काफी नहीं रह गया। अन्दर पैठ कर किसी टार्च लाइट से मेरे व्यक्तित्व की अंधेरी गलियों को भी देखना आवश्यक हो गया। सम्भव है हमारा बाहरी कलश तो सुवर्ण का हो, पर अन्दर विष रस भरा हो। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि ऊपर विष का बड़वानल लहराता हो पर भीतर गगा की धारा बहती हो।

ऊपर एक प्रेमी की दो प्रेमिकाएँ एव दो प्रेमिकाओं का एक प्रेमी को लेकर निर्मित जिस त्रिकोण की बात की गई है, उसी की बात लीजिये। साधारणत देखने मे तो ऐसा ही लगता है कि दो प्रेमी या दो प्रेमिकाएँ एक प्रेमिका या एक प्रेमी के प्रति आकर्षित हैं तथा एक दूसरे को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते है या देखती हैं। पर वास्तविकता यह है कि ये दोनों किसी अन्य तृतीय व्यक्ति का प्यार नहीं करते। वास्तविक प्यार तो उन दोनों के बीच में ही है, भले ही वे आज प्रतिद्वन्दी के रूप मे उपस्थित दीख पड़ते हैं। अन्य लोगों की बात ही छोड़िये। उन्हें स्वय भी इसका पता न हो कि जिसे वे प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं उसी के प्रति उनका सच्चा प्रेम है और जिसके प्रति वे आकर्षित हैं, उसी के लिए उनके हृदय में द्वेष की भावना है। कमला और विमला मोहन को प्यार करती हैं। साधारणत तो यही समझा जाता है और दोनों नारियाँ भी यही समझती हैं कि उनका प्रेम मोहन के प्रति है और आपस में प्रतिद्वन्द्विता है। पर वास्तविकता यह है कि दोनों नारियों मे ही वास्तविक प्रेम है और यदि द्वेष किसी से है तो मोहन से। यह कोई

आश्चर्य की बात नहीं, पूर्णतया स्वाभाविक है। आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य के छद्म को उसकी जटिलता को स्पष्ट कर दिया है और उसकी विचित्रता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उसने बतलाया है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र मे (Subject) तथा (Object), कर्त्ता तथा कर्म, अन्तर तथा बाह्य जैसा विभेद नहीं रह जाता। कर्त्ता कर्म को, अन्तर बाह्य को निर्गीर्ण करता सा जान पडता है। जिस उपन्यास मे विषय के इस रूप को अनुभूति के इस पक्ष को दिखलाने की प्रवृत्ति हो वह मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा जावेगा। दास्तावेस्की के उपन्यासों मे यह प्रवृत्ति स्पष्टतया परिलक्षित है। अतः, वह मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार है।

एक कथा को भिन्न-भिन्न कथाकार किस ढंग से उपस्थित करते हैं।

FRANK O'CONNOR ने इसी बात को समझाने के लिए एक उदाहरण से काम लिया है।[५] मान लीजिये कि मेरी मेज पर एक पाँच रुपये का नोट है। मेरे मित्र गोपाल ने उसे चुरा लिया, यही छोटी सी घटना है। पर इसी का वर्णन भिन्न-भिन्न उपन्यासकार भिन्न-भिन्न रूप मे करेंगे। यह घटना जब जीन आस्टिन के सामने उपन्यास की कच्ची सामग्री के रुप मे उपस्थित होगी तो वह चोरी करने वाले पात्र के चरित्र का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करेंगी और यह ढूँढ़ने का प्रयत्न करेंगी कि पात्र मे क्या त्रुटि थी जिसने उसे इस स्तेन-कर्म की ओर प्रवृत्त किया। ट्रोलोप यह देखने की चेष्टा करेंगे कि परिस्थितियों मे कोई ऐसी चीज है जो इस अपराध की गुरुता को कम कर देती है? यदि हम न्यायासन पर हों तो जिसके चलते हम इस अपराध के प्रति सदय दृष्टि (Linient view) लेने के लिए बाध्य हों और यदि उसे हम सर्वथा दोषमुक्त घोषित करने की स्थिति में न हो सके तो कम से कम दंड विधान में कृपालु हो ही जायें? बालजाक के सामने यह घटना आयेगी तो उनकी कल्पना दूसरे ही ढंग से सक्रिय होगी। उनका ध्यान पात्र की प्रतिभा की ओर जायेगा। वाह, किस सफाई से उसने चोरी की है! देखते ही देखते उसने आँखों में धूल डाल कर मेज से रुपये उड़ा लिये!! जरूर यह प्रतिभावान व्यक्ति है। वह इन पाँच रुपयों को इधर-उधर लुटा नहीं देगा। इनका समुचित प्रयोग करेगा। लाभ-कर व्यापार में लगायेगा। कहानी के अन्त मे आते-आते, यह साधारण सा चोर लखपति के रूप मे उपस्थित होगा। उसके पास बहुमूल्य फर्नीचर तथा दुर्लभ कलाकृतियों का संग्रह होगा और शायद वह अब नैतिकता और अनैतिकता के प्रश्न मे भी रुचि लेता दिखलाई पड़ेगा।

ऊपर जिन कथाकारों का उल्लेख किया गया है, उनकी रचना की भव्यता, रोचकता तथा कलात्मकता के सम्बन्ध में कहना ही क्या है। उसके सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। आलोचकों तथा पाठकों ने मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा की है। फिर भी हम उन्हें मनोवैज्ञानिक कथाकार नहीं कहेंगे। कारण कि सब कुछ होने पर कर्त्ता और कर्म दोनों स्थूल रूप में अपनी सत्ता का प्रदर्शन कर रहे हैं। यह तो नहीं कह सकते कि लेखक की प्रतिभा के आलोक में पड़ कर घटना की चमक दमक में कुछ परिवर्तन नहीं आया है, पर कर्त्ता और कर्म तो अपनी जगह पर ज्यों के त्यों वर्तमान हैं ही। गोपाल चोर है, कर्त्ता है, उसने मेरे रुपये चुराये हैं, मेरा रुपया कर्म है। मेरा रुपया अर्थात् मैं। अतः एक ओर कर्त्ता गोपाल है और दूसरी ओर मैं हूँ कर्म के रूप में खड़ा। पाठक को ऐसा कभी भी सोचने का अवसर नहीं मिलता वास्तव में अपराधी कौन है। मैं अथवा गोपाल। कर्त्ता और कर्म कभी भी एक दूसरे के समीप नहीं आते। दास्तावेस्की के उपन्यास में किसी रहस्यमयी प्रेरणा से कर्त्ता और कर्म में गतिशीलता आ जाती है और उनमें एक हो जाने की प्रवृत्ति जगने लगती है। इसीलिये दास्तावेस्की मनोवैज्ञानिक कथाकार कहे जायेंगे।

दास्तावेस्की के सामने जब यह घटना उपस्थित होगी तो वे यों कहेंगे, गोपाल किसी नारी से प्यार करता था। वह अपनी प्रियतमा को एक भव्य डिनर पार्टी देना चाहता था। चूँकि मैं गोपाल का सबसे बड़ा घनिष्ट मित्र था। अतः मेरे ही रुपये को चुरा लेने की उसमें स्वाभाविक प्रेरणा थी। यहाँ कर्त्ता और कर्म के सम्बन्ध का व्यत्यय स्पष्ट है। गोपाल स्वयं भी है और मैं भी है। हाँ, वह अपराधी है, पर गोपाल अपराध भावना से मुक्त हो चुका था। मुझे मालूम है कि गोपाल ने चोरी की और उसे मालूम है कि यह बात मुझे मालूम है। बेचारे गोपाल के अन्दर से हूक उठती है और चाहता है कि ऐसा अवसर मिले कि वह गिड़गिड़ा कर मेरा पैर पकड़ ले और अपने दुष्कृत्य के लिए क्षमा माँग ले। परन्तु मैं यह अवसर आने देना नहीं चाहता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि क्षमा-याचना कर लेने के बाद उसका हृदय अपराध की भावना से मुक्त हो हल्का हो जायेगा और वह संतोष की साँस ले सकेगा। मैं इतना क्रूर हूँ कि उसकी थोड़ी सी यह प्रसन्नता मुझसे नहीं देखा जाता। मैं यह सब करता हूँ नैतिकता के नाम पर और नैतिकता के आवरण में अपनी क्रूरता को छिपाता हूँ।

गोपाल को मेरे सामने खुलने का अवसर नहीं मिलने के कारण वह

अपने से किसी तरह समझौता करता है। वह सब बातें तो खोल कर कह नहीं पाता, पर बातचीत के दौरान मे यह बात मुझसे कह ही देता है कि उसने अपनी प्रेमिका को एक शानदार डिनर पार्टी दी थी जिसमे उसे ५ पाउंड व्यय करना पड़ा था। इस अवसर पर यदि गोपाल मेरी ओर से थोडा भी प्रोत्साहन पाता और मेरा रुख थोड़ा भी सहानुभूतिपूर्ण होता तो गोपाल अपना हृदय खोल कर मेरे सामने रख देता और सम्भव था कि उसके जीवन मे उन्नायक तत्वों के बीज पड़ते और एक सभ्य, शिष्ट, सुरुचिपूर्ण नागरिक के रूप मे उसका विकास होता। पर यही मैं नहीं चाहता था। मैं उसे उसकी राख कुरेद-कुरेद कर जलाना चाहता था। उसकी बात को सुन कर मैंने अपनी प्रेमिका की कथा कही, जिसने दो पाउड चुराये थे। बाद मे वह फाँसी लगा कर मर गई।

अन्त मे गोपाल किसी तरह अपने अपराध की भावना से मुक्त होने का अवसर न पाकर धैर्य खो देता है। disperate हो जाता है और मेरा गला घोंटने का प्रयत्न करता है। उसका वास्तविक उद्देश्य है कि हत्या के अपराध मे पकडा जायेगा, पकडा जाकर दंडित होगा। दंडित होकर वह अपने अपराध की भावना से मुक्त होगा। आँच पर धीरे-धीरे पकने से बचेगा। मैं उसे दंडित नहीं करना चाहता, दड देना एक तरह से उसकी सहायता करना होता। उसके हृदय को राहत पहुँचाना होता। अतः अपने ऊपर उत्तरदायित्व लेकर भी उस पर हत्या का अपराध प्रमाणित नहीं होने देता। इस तरह घटनाएँ ऐसा मोड ले सकती हैं कि वे एक दूसरे के प्रेमी के रूप मे उपस्थित हों और वे आपस में पारस्परिक आत्महत्या सधि (mutual suicide pact) कर लें। कम से कम इतना तो अवश्य ही होगा कि कहानी के अन्त मे आते-आते यह कहना कठिन हो जायगा कि कौन वास्तविक अपराधी है, जिसने चोरी की है वह अथवा जिसकी चोरी हुई है, वह।[६]

हिन्दी कथा साहित्य से उदाहरण

हिन्दी कथा साहित्य मे भी ऐसे उदाहरण मिल जायेंगे, जिनमे इस subject और object के विपर्ययीकरण की झलक मिले। जैनेन्द्र जी की एक कहानी है 'चलित चित्त'। एक शेख साहब एक वेटिंग रूम मे ठहरे हैं। बारह बजे रात वाली गाड़ी से वे लखनऊ जायेंगे। तब तक एक अमेरिकन आता है, वह जरा सा ठहरता है, जल्दी-जल्दी मे है। १० बजे की ट्रेन से बनारस चला जाता है। इस हडबडी मे उसकी एक बहुमूल्य

बहा करता है। पर दोनों में अंतर है। प्रथम जहाँ शृंगार प्रसाधनों के सामने घुटने टेक कर रूप की भीख माँगता है, वहाँ द्वितीय उसे अधिकारपूर्वक आज्ञा देकर सेना में नियोजित करती है। प्राचीन उपन्यास कला जहाँ राज्य पदार्थों से भीख माँगती थी, वहाँ अब वह उच्च सिंहासन पर रानी के रूप में प्रतिष्ठित होकर कर उगाहती है और जिस पर कृपा-दृष्टि करता है वही सोना बनकर चमक उठता है। एक आलोचक के शब्दों में—अर्थात् नात्यनुकूल, विरोधभावी, मशकूक नजरों से देखनेवाला, अवज्ञाभावी सामग्री पर अपनी प्रतिमा की छाप बैठाना, मत्त गज समूह को अंकुश के सहारे अपने वशानुवर्ती बनाना, किसी की ना, ना में से हाँ, हाँ निकलवा लेना, उसे सौंदर्य और कला के बन्धन में लाकर दिव्य विभूति सम्पन्न बना देना, उसे एक सौंदर्य मूलक व्यवस्था में बाँध कर उपस्थित करना, आधुनिक कथा साहित्य की सबसे बड़ा महत्वपूर्ण देन है"।" इसे स्पष्ट करना कठिन अवश्य है, पर इसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है।

प्रेमचन्द और उपन्यास की मनोवैज्ञानिकता

प्रेमचन्द को एक उपन्यास लिखना है। 'रंगभूमि' या 'गोदान'। उनका दो पात्र कहीं मिल गये, सूरदास तथा होरी। इन्हीं की जीवनगाथा से उपन्यास की रचना हो गई। पहले का उपन्यासकार होता तो एक अंधे भिखारी का, दान हीन किसान को उपन्यास के नायकत्व का गौरव देता ही नहीं। अतः इस अर्थ में इसे उपन्यास के लिए अवज्ञाभावी सामग्री कहा जा सकता है। प्रेमचन्द ने धूल में पड़े हीरे के महत्व को पहचाना और उसे सिर चढ़ाया। यहाँ तक वे आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के साथ हैं। परन्तु फिर भी हम उन्हें आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार नहीं कह सकते हैं। इसके दो कारण हैं। १ यद्यपि सूरदास तथा होरी बाहर से देखने से दुबले-पतले थे, कृशकाय थे, दीन हीन थे पर उनकी आत्मा बहुत सबल था। आत्मा किसी आध्यात्मिक अर्थ में नहीं। इसी अर्थ में कि दुनियाँ के रंग-मंच पर खड़े होकर वे बड़े-बड़े काम कर सकते थे। बड़ा-बड़ा सगठित साम्राज्यवादी शक्तियों को चने चबवा सकते थे, बड़े बड़े जमींदारों से, राजा साहबों से सम्पर्क रख सकते थे। कह सकते हैं कि वे मध्ययुग के सुदामा के आधुनिक संस्करण थे जिसके सीस पर न पगा हो और तन पर न झगा हो पर जिसे देखकर वसुधा अभिराम चकित हो, और जिसकी छोटी मड़ैया सोने के महल में परिवर्तित हो जाय। जरूर सूरदास तथा होरी न माने का

महल नहीं खडा किया। पर उन्होने अपने जीवन को तो महत्वपूर्ण बनाया ही। नहीं, जब तक जीते रहे उनका दबदबा रहा, जीवन के रंग-मंच पर डटकर अभिनय किया। हाथ पैर हिलाये और दर्शकों के हृदय मे विविध भावों का संचार किया। अर्थात् उपन्यासकार के मन मे कहीं न कहीं यह भावना वर्तमान है कि जीवन मृत्यु से महत्वपूर्ण वस्तु है। जीवन और जन्म जीवन का प्रतीक है और मृत्यु नाश का। शरीर के नाश के साथ ही सब चीजों का अंत हो जाता है। इसीलिये उपन्यासकार यह सोचता है कि जब तक पात्र जीता है उसे खुलकर खेलने दो, खूब हाथ पैर हिलाने दो, अकाड ताडव करने दो। उपन्यासकार मानो चार्वाक के शब्दों मे कहता है—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

पर आज का उपन्यासकार कहेगा कि 'पुनरागमनं' क्यो नहीं। जीवन मरण, पुण्य-पाप, अच्छा बुरा यह द्वैत दृष्टि कैसी? कला के क्षेत्र में यह सौतेला व्यवहार क्यो? कलाकार की प्रतिभा तो सबको अनुकूल बना लेती है। उसके लिए जीवन उतना ही प्यारा है जितनी मृत्यु। कथा साहित्य के पात्र अक्षय जीवन तथा अक्षय यौवन सम्पन्न हो सकते है। वे कब्र में से उठकर आ सकते है, चिता से लौट आ सकते हैं, न आकर के भी उतने ही, बल्कि उससे भी ज्यादा प्रभावशाली हो सकते हैं। माना कि शेखर मरा नहीं था, पर कुछ घंटों का ही मेहमान था पर कथा साहित्य में किसी भी शतायु व्यक्ति से उसका महत्व कम है?

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि शेखर कुछ घंटों का ही मेहमान था पर उपन्यास मे तो उन्हीं घटनाओं की चर्चा है जो उसके जीवन मे उसको ही लेकर घटी है। यहाँ पर भी उपन्यासकार ने जीवन का ही जयोच्चार किया है। तर्क के लिए यह बात मान लेता हूँ, यद्यपि इस उपन्यास मे जीवन की घटनाओं मे जो एक चटक आ गई है, कथा के विकास मे जो एक विचित्रता आ गई है, उस पर स्पष्टतः मृत्यु की छाया है। यदि शेखर के जीवन मे बिखरी लोहे की टुकडियों पर फाँसी रूपी चुम्बक का प्रभाव नहीं रहता तो उनमे इस शक्तिशाली ढंग से सक्रिय होने की क्षमता नहीं आती। इतना तो स्पष्ट ही है कि अब कथाकार मे यह क्षमता 'आने लगी है कि वह मृत्यु के महत्व को भी समझे। भले ही मृत्यु के साथ शेखर के शरीर का नाश हो जाय।'

फ्रेंच कथा साहित्य से उदाहरण

इससे भी अच्छा उदाहरण फ्रेंच कथा साहित्य से लीजिये। Jules Romain के प्रथम उपन्यास Mort de Quelqu un (The death of nobody), 1911 में प्रकाशित है। उसमें एक व्यक्ति की कथा कही गई है जो जीवन भर निरादृत रहा। कोई भी उसे पूछनेवाला नहीं। विवाह हुआ नहीं कि पत्नी उसकी चिन्ता करे। माता पिता भी उसकी खोज खबर नहीं लेते। बोर्डिंग में रहता है। साथी उसके प्रति उदासीन हैं। वह अपने काम पर जाता है। आकर सो जाता है। वहाँ के जीवन पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं। तब तक विचित्र घटना घटी। एक दिन वह मर जाता है। मर क्या जाता है कहिये जी उठता है। बोर्डिंग के सब सदस्यों में खलबली मच जाती वहाँ के वातावरण में जागृति आ जाती है। सब उसके कमरे में आ जाते हैं। चंदा एकत्र करते हैं। श्मशान यात्रा की तैयारी बहुत धूमधाम से की जाती है। उसकी अर्थी फूलमालाओं से लद जाती है। ग्राम से उसके माता पिता भी आ जाते हैं। दूर दूर के सब साथी भी पहुँच जाते हैं। उसकी शवयात्रा इतनी सज धज से निकलती है जिसे देखकर किसी राजा को भी ईर्ष्या हो। जिस समय नगर की वीथिकाओं से होकर उसकी अर्थी निकलती है, सब कार्य स्थगित हो जाते हैं, लोगों का आवागमन उसके सम्मान में थम जाता है, पुलिस उसे सलाम करती है, लोग अपने अपने हैट उठाकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हैं। वातायन पर बैठा हुआ नवयुवक उसी जुलूस की गम्भीर तथा अवसादमयी प्रगति को देखता है और उसके मन में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि काश ! यदि अभी मेरी मृत्यु हो जाय, मेरा अस्तित्व नष्ट हो जाय, तो मैं सदा के लिये धरातल से धुल पुछ कर साफ हो जाऊँ सो बात नहीं। मैं एक ऐसी महान आत्मा में मिल कर उसका अंश बन जाऊँगा जो कभी भी मरनेवाली नहीं है।

उपन्यास का स्वारस्य और आनन्द तो उसके पढ़ने पर ही मिल सकता है, पर उसकी सीधी सादी कहानी यही है। वह व्यक्ति जो जीवन भर नगण्य बना रहा, जिसकी ओर किसी ने देखने की भी कष्ट नहीं किया वह मर कर मानो सभी पर हावी हो गया, उसकी छोटी सी आत्मा फैलकर विश्व में परिव्याप्त हो गई। हीरा या सूरदास जब मरे तो मानो मृत्यु ने उन्हें सदा के लिए समाप्त कर दिया। पर यहाँ तो पात्र की कहानी मृत्यु के बाद ही प्रारम्भ होती है। यह कथा साहित्य में उस भावना का प्रतिबिम्ब है जो

यह कहती है कि वाह्य वस्तु कुछ नहीं होती, घटनाओ की स्थूलता का कुछ भी महत्व नहीं। वास्तविक महत्व की चीज है मनोविज्ञान, चाहे लेखक का हो या पाठक का। यदि गोदान का लेखक आज जीवित होता तो मैं उससे यही कहता कि ससार के लिए होरी भले ही मर गया हो पर उपन्यास के क्षेत्र मे तो अपना कृतित्व दिखलाने का उसके लिये अब अवसर आय। है। शेखर भी यद्यपि मरणोपकंठ है पर अभी मरा नहीं। पर जब कभी भी लेखक के मनोविज्ञान मे जुम्बिश आयेगा उस समय उसकी कब्र भी लौ दे उठेगी। प्रेमचद की 'मनोवृत्ति' मे जैनेन्द्र के 'चलित चित्त' मे अज्ञेय की 'कठोरी की बात मे', विष्णुप्रभाकर के 'नागफास' मे मनोविज्ञान का अपूर्व चमत्कार दृष्टिगोचर होता है।

संस्कृत साहित्य में भी इसकी ध्वनि—

ऊपर की पक्तियों मे जो विवेचन हुआ उससे हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता मिली होगी कि कथा मे आत्मनिष्ठता (subjective element) का प्रवेश तथा उसका विकास मनोविज्ञान के बढ़ते चरण की कहानी है। संस्कृत साहित्य (classical) साहित्य है। उसमे लेखक को अपनी बात कहने का कम अवसर मिला था। पर ऐसा लगता है कि उस समय भी साहित्यिक की आत्मा इस अत्याचार से पीड़ित अवश्य थी। नहीं तो यह कैसे संभव था कि काव्यशास्त्र जैसे गुरुगहन विषय पर विचार करता हुआ, काव्य के नियमों की, अलंकारो की, नाटक के अंग-प्रत्यंगों तथा वर्गीकरण की बातें करता हुआ भी काव्यशास्त्री कवि के आत्म अंश की प्रशस्ति गाने लगता और कह उठता —

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु
यद्यप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके।

× × × ×

अपारे खलु संसारे, कविरेव प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्व तथेदं प्रवर्त्तते।

तो प्रकारान्तर से तो वह आत्मनिष्ठ मनोवैज्ञानिकों के पक्ष का ही समर्थन करता है। मेरे लिए इस तरह की उक्तियों का बहुत ही अधिक महत्व है।

इसलिए महत्व है कि ऐसा लगता है कि ये पंक्तियाँ लेखक के असावधान क्षण (unguarded moments) कहिये अचेतन का वाणी है, उसके मुँह से यों ही निकल गई हों, किसी रहस्यमय प्रक्रिया से उसके सतर्क, जागरूक, विवेचक, चेतन मस्तिष्क की जकड़ जरा ढालो पड़ गइ हो और उसकी आत्मा, Id ही कह लीजिये, सामने उपस्थित हो गइ हो। नहीं तो विचारक चला है काव्य शास्त्र की बात करने, कवियों का काव्य के नियम, गुण, दोष बतलाने और कह गया कि कवि ही सर्वोपरि है जैसा मन मे आवे करे। क्या यह मनोवैज्ञानिकों की अन्तरुद्‌भासिनी जीभ की फिसलन (slip of tongue) नहीं है जो लेखक के हृदय की बात कह रही है।

यदि हम इसी सूत्र का पकड़कर आगे बढ़ें तो मनोविज्ञान और कथा साहित्य क लिए कुछ उपयोगी तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं। हम कथा साहित्य में मनोविज्ञान का झलक देखना चाहते हैं। बहुत ठीक। पर मनोविज्ञान की झलक का क्या अर्थ ? यही कि कथा साहित्य में बाह्य सामाजिक तथा व्यावहारिक स्तर का चित्रण इस कौशल से किया जाय कि व्यक्ति की आतरिक प्रक्रिया का, क्रिया का प्रेरित करनेवाला मूल प्रेरणाओं तथा वृत्तियों को देखा जा सके। जब कथाकार एसा करता ह अर्थात् जब वह पात्र क बाहरी क्रिया कलाप को आन्तरिक मन स्थिति के प्रतिनिधित्व का गौरव देता है ता पाठक में मनोविज्ञान की वह प्रक्रिया जगता है जिसे (empathy) कहते ह और उसके लिए अपने अदर पात्र की मन स्थिति का जगा लना सम्भव हाता है। इस तरह उसे जीवन की समृद्धि का अनुभूति होता है और वह आनन्द प्राप्त करता है।

कथा-साहित्य और Autistic gesture

पर मनुष्य अब इतना साधा सादा प्राणी नहीं रह गया है। उसके बाह्य क्रिया-कलाप तथा आन्तरिक अनुभूतियों का एक रूपता नष्ट हो गइ है। सभ्यता ने उसे अपने भावों का छिपाने का कला में पारगत कर दिया है। वह कनक घट में विषरस भर कर भा उस पर अमृत का लेप लगा सकता है। एसा स्थिति में कथाकार क पास पात्रों क आन्तरिक रूप प्रदर्शित करने का कौन सा साधन रह जाता है। काइ किसा की हत्या करने पर उतारू दिखलाइ पड़ता है, पर इसका तो अब काइ गारन्टा रह नहीं गइ कि हत्याकारी उसे घृणा ही करता हा। काइ किसा के लिए जान देने पर तैयार है पर इसका अर्थ यह भी हा सकता है कि वह जान देने नहीं,

जान लेने की तैयारी है। ऐसी समस्या जब फिल्डिंग या प्रेमचन्द के सामने आती तो वे शीघ्र ही कथा के सूत्र को वे अपने हाथ मे ले लेते और मैदान मे आकर सारी परिस्थिति का स्पष्टीकरण करने लगते। इसी को मैने आसन्न लेखकत्व कहा है। (देखिये इस पुस्तक का प्रेमचन्द वाला परिच्छेद) पर आज का कथाकार ऐसे सस्ते साधन से काम नहीं लेगा।

वह कहेगा कि यदि बाह्य क्रिया-कलाप तथा आन्तरिक प्रेरणा मे एकतानता नहीं रह गई है, लोग अपने आन्तरिक भावों को आवरण से ढकने मे प्रवीण हो गये हैं, तो इससे घबराने की क्या आवश्यकता। चोर तथा हत्याकारी कितनी सावधानी से काम लेते है, प्रत्येक सकेत सूत्र को मिटाते चलते हैं पर फिर भी उनका पता चल ही जाता है। उसी तरह मनुष्य अपने बाह्य व्यवहार को नियंत्रित करने की चेष्टा करे, करे फिर भी उसके द्वारा ऐसी क्रियायें होती रहती है जिन पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता। वे उसके बावजूद भी होती रहती है। और उसके आन्तरिक रूप की झलक देती रहती है। इस तरह की क्रियाओं को मनोवैज्ञानिकों ने (Autistic gesture) कहा है। मनोवैज्ञानिक कथाकार कहेगा हम क्यों न इन (Autestic gesture) से काम ले।

यह (Autitsic gesture) क्या है ? आपने देखा होगा कुछ लोग यों ही पैर हिलाते रहते है। कान को खींचते रहते है, अगुलियो को दातों से काटते रहते है। मैंने एक प्रोफेसर मित्र को देखा है कि वे अपनी जीभ के थोडे से अंश को बाहर भीतर निकालते रहते हैं, फुद-फुद करते रहते है, अपने वस्त्रों को, कपड़ों को, टोपी को फाड़ते रहते है। ये क्रियाये अचेतन रूप मे चलती रहती है। कर्त्ता को इसका ज्ञान नहीं रहता। ये शब्द हैं जिनका प्रयोग दूसरों से वार्तालाप के लिए नहीं होता, अपने से वार्तालाप के लिए होता है। मनुष्य दूसरों से बातें नहीं करे, यह तो संभव हो सकता है पर अपने से बाते करना बन्द नहीं कर सकता। चूँकि ये शब्द सामाजिक व्यवहार (Social Cousnmption) के लिये नहीं, स्वव्यवहार (Self Communism) के लिए है अतः इन पर झूठाआवरण देने का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जब ये बाह्य आचरण के रूप में प्रकट हो गये अर्थात् शब्दो का उच्चारण हो ही गया तो इनका अर्थ लग ही सकता है और इनके पीछे सक्रिय रहने वाली मूल प्रेरणा को पहचाना भी जा सकता है। अतः कुशल कथाकार अपने पात्रों के व्यवहार को ऐसे (Autistic gesture) से समन्वित करते चलने की चेष्टा करेगा

जिनके आधार पर पात्र की आन्तरिक स्थिति का अनुमान लगाना लेखक की गवाही के बिना भी पाठक के लिए सहज होगा। पाठक के हृदय में स्थानिष्करण का भावोल्लास लगेगा, उसमें पात्र के साथ (Autistic gesture) पर समन्वयित का भाव जगेगा और वह पात्र को अधिक सहानुभूतिक गहराई से समझ सकेगा।

यहाँ पर Autistic Gesture की बात करते समय हमारा ध्यान बरबस ही संस्कृत साहित्य की ओर जाता है

अंग्रेजी साहित्य के कुछ आलोचकों ने जब शैक्सपियर के हैमलट के विचित्र व्यवहार को देखा और देखा कि हैमलेट अपने पिता के हत्यारा पर हाथ उठाने में विवश है तो उसमें उन्हें (Edipus complex) की झलक मिली। जब लेडी मैकबेथ को बार-बार अपने हाथों को धोते देखा तो उसमे उनको मनोवैज्ञानिकों के (Claustropuobia) का प्रतिबिम्ब मिला। और वे शैक्सपियर का महान प्रतिभा के सामने नतमस्तक हो गये जो फ्रायड के तीन सौ वर्ष पूर्व भी मनुष्य की उस अचेतन गहराइयों को झाँका ले सका था जहा आज मनोविश्लेषण पहुँचता है। यदि उन्हें कालिदास के साहित्य से परिचित कराया जाता तो उन्हें यह देखकर आश्चर्यजनक प्रसादन हुए बिना नहीं रहता कि शैक्सपियर से ७००, ८०० वर्ष पूर्व एक भारतीय कवि था जिसकी प्रतिभा किरण उस प्रदेश में प्रवेश कर सकी थी।

आप जानते ही हैं कि मनुष्य की कोई भी क्रिया निरुद्देश्य नहीं होता। मनोविश्लेषण का प्रमुख सिद्धान्त है कि मनुष्य की निरर्थक सी लगने वाली क्रियाओं, छोटी छोटी भूलें, अंग प्रत्यंग के सचालन इत्यादि यों ही नहीं होते। हमारे व्यक्तित्व की गहराइ में, अचेतन में चलती रहने वाली विचारधारा के प्रतिनिधि होते हैं।[१]

इससे दो उद्देश सिद्ध होते हैं। भाव सम्प्रेषणीय हो जाते हैं और मानसिक तनाव से मुक्ति मिलती है। अत आन्तरिक जीवन के अर्थशास्त्र में इसका महत्व बहुत अधिक है। यहाँ पर हमें फ्रायड का वह कथन याद आता है जिसमें उसने कहा था कि मनुष्य का निमाण ही कुछ इस ढंग से हुआ है कि वह कोई बात गुप्त रख ही नहीं सकता। उसके प्रत्येक रोम कूप से रहस्योद्भेद स्फूल रहता है।

इन्दुमती का स्वयंवर हो रहा है। कुशलविरचितानुकूलवेश क्षितिप समाज कन्यापाणिग्रहणाभिलाषी उपस्थित हैं। इसी बीच क्लृप्तविवाह

वेग्रापतिंवरा इन्दुमती पालकी पर चढ़कर दास-
सभा मे आती है। अब वहाँ पर प्रणय प्रार्थी नृ
होती है वे किसी भी मनोवैज्ञानिक के लिये दि
सकती है। कालिदास कहते हैं[१०] :—

कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालालपत्राभिहताद्व
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥
विस्रस्तमसादपरो विलासी रत्नानु-विद्धांगद कोटिलग्नम्।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारूवक्त्रः ॥
आकुंचिताग्रङ्गुलिना ततोऽन्यः किंचित्समावर्जितनेत्रशोभः।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥
निवेश्य वाम भुजमासनार्धे तत्सनिवेशादधिकोन्नतासः।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥
विलासिनाविभ्रमदन्त पत्रमापाण्डुर केतकवहमन्यः।
प्रियानितम्बोचितसनिवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः॥
कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन।
रत्नागुलायप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥
कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनाव।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेक व्यापारयामास कर किरोटे ॥

क्रमशः इन श्लोकों का अर्थ यह है :—

"कोई राजा हाथ मे कमल लेकर उसकी नाल को पकड़ कर भ्रमित करने लगा जिसके कारण उस पर बैठे हुए भ्रमर तो उड़ गये पर कमल स्थित पराग कमल में कुण्डली मार कर एकत्र हो गये। (इस क्रिया के द्वारा राजा यह प्रगट करना चाहता है कि विवाहोपरान्त मैं तुम्हारे सकेतों पर इसी तरह नाचा करूँगा और सब ओर से ध्यान हटाकर तुम्हारे हृदय मे ही बैठा रहूँगा।)

"दूसरा कोई विलासी नृप जरा से अपने मुँह को मोड़ कर अपने कधे से सरकी हुई और भुजबन्ध मे अटकी रत्नों की माला को उठाकर फिर से गले मे यथास्थान ठीक करने लगा (सकेत यह है कि इन्दुमती तुम सदा गले का हार बनी रहोगी।)

तीसरा राजा जरा आँखे तिरछी कर, पैर की अगुलियों को आकुंचित कर अपने नखों की प्रभा को तिरछी डालते हुए अपने पैर की अगुलियों से सोने के पीढ़े पर कुछ लिखने लगा। (मतलब यह कि वह इन्दुमती

जिनने उसे पास बुला रहा था। कह लीजिये कि यह छायावादी की मूक आह्वान या मौन निमन्त्रण था।)

"एक राजा सिंहासन की ओर बाई भुजा टेककर बैठ जाता पार्श्ववर्ती राजाओं से वार्तालाप में संलग्न हो जाता है। उसका वाम जरा उठ जाता है और गले की माला पीठ पर लटक जाती है। (अ है कि इन्दुमती सदा उसकी वाम पार्श्ववर्तिनी बनी रहेगी।)

"वहां पर धौल के पत्रों को काटकर किसी विलासी स्त्री के शृंगार के रूप में बनाया गया था। एक युवक नृपति उन पत्रों को नखाग्र से कुरेदने लगा। उसके नख मानों प्रिया के नितम्बों पर जमाने के लिये ही बने थे। (अर्थ यह कि यदि विवाह हो गया नखचिह्नों का सुख तुम्हें भी प्राप्त होगा।)

"कमल के समान तथा ध्वजा की रेखाओं से अंकित हथेली वा राजा पासे उछाल रहे थे और उनकी अंगूठी की झलक उन प मुहरों पर पड़ रही थी। (संकेत यह है कि विवाहोपरान्त हम लं तरह पाशक्रीड़ा किंवा प्रणयक्रीड़ा रत में रहेंगे।)

"एक राजा था जो यथाभागावस्थित मुकुट को भी बार-बार सं रहा था और उसकी अंगुलियों का मध्य भाग रत्नों की प्रभा से चमक उठता था।" (कहने का अर्थ यह कि हे इन्दुमती मैं तथा आँखों पर तुम्हें बिठाये रखूँगा।)

ये उदाहरण इस बात के प्रमाण हैं कि कालिदास के साहित्य चेतन की प्रक्रिया के, सारे निरोधों के बावजूद भी प्रतिहारी के द अवहेलना कर भी बाहर आकर अपने अस्तित्व की घोषणा कर प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। भले ही कालिदास का मनोविश्लेषण के का परिचय न हो। यह तो निश्चित है कि राजाओं की ओर से जो होता था वह उनके चेतन मस्तिष्क की क्रिया नहीं था। वे जानबूझ क होकर इन व्यापारों के द्वारा यह नहीं प्रकट करते थे कि इन्दुमती प्यार करता हूँ और मुझसे विवाह में कर लेने के बाद तुम्हें इसी आनन्द मिलेगा। इसके लिये तो यही पर्याप्त प्रमाण था कि वे सजधज कर स्वयंवर में उपस्थित थे। दूसरी बात यह कि इस तरह हार का अवसर भी नहीं था। देश विदेश के चुने हुए राजकुमारों था जिसमें शालीनता, गंभीरता, शिष्ट व्यवहार, कौलीन्य तथा अ का प्रदर्शन होता है। इस तरह का अशोभन, ग्रामीण, बाल्योचित

छिछले व्यवहार मे वे राजागण कभी भी जानबूझकर प्रवृत्त नहीं हो सकते थे। ये व्यवहार उनके द्वारा होते रहे थे, पर वे उसके कर्त्ता नहीं थे। उन्हें नहीं मालूम कि वे कर रहे थे। वस उनके द्वारा ये व्यवहार हो रहे हैं। वस।

तुलसीदास भक्त थे। संभव है कि उनको राजदरबार की तहजीब, एटीकेट, शिष्टाचार का पूर्ण ज्ञान न हो और उनके दशरथ भरी सभा में दर्पण उठाकर मुँह देखने लगे और श्रवण समीप सित भये केश को जठरपन का उपदेश लें। तिसपर इतने के लिये भी तुलसी को कम लोगों ने नहीं कोसा है। पर कालिदास तो विक्रमादित्य के रत्नों मे से थे। उनसे इस तरह की भूल कैसे हो सकती थी? उनके नृपतिगण राजसभा मे इस तरह की वानरी चपलता कैसे कर सकते थे?

यहाँ पर कालिदास के साहित्य मे अचेतन के व्यापारों की झलक देखने की जो चेष्टा की गई है उस कल्पना का समर्थन इस बात से भी हो जाता है कि जब-जब ऐसा अवसर आया है कालिदास की कल्पना में ऐसे चित्र उभर आये हैं। कुमारसंभव की बात है। शिवजी की ओर से ऋषिगण पार्वती के पाणिग्रहण का प्रस्ताव लेकर आये हैं। वे शिव के गुणों की बहुविधि प्रशंसा करते हैं कि हिमालय इस प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। पार्वती भी पिता के बगल मे बैठी हुई है और सारी बातों को सुन रही है। किसी भी सहृदय को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि यौवनभिन्न शैशव, आधुनिक शब्दों में Adolesecent लड़की को अपने विवाह की बातों को सुनकर उसके हृदय में किन-किन तरह के भावों का उत्थान और पतन होता है। कालिदास को भी खूब मालूम था और वे चाहते तो यहाँ पर पार्वती के हृदय की दशा के वर्णन मे कवित्व का चरमोत्कर्ष दिखला देते। पर उन्होंने इतना ही कहा है :

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।

अर्थात् जब देवर्षि इस तरह की बात कर रहे थे तो अपने पिता के पार्श्व में स्थित मुख नीचे किये हुई पार्वती अपने हाथ के लीलाकमल की पंखुड़ियों को गिन रही थी। यह दृश्य ऐसा था जिसके वर्णन करते समय कवि की लेखनी चचल हो उठती है, उसमें एक त्वरा आ जाती है और हृदय हाथ से बाहर हो जाता है। पर यहाँ पर संयम ने काम लिया गया है क्योंकि अचेतन को छद्मवेश से अतिलघु रूप धारण कर ही सामने आना

पड़ता है। उनको खुलकर विचरण करने का स्वतन्त्रता नहीं रहती। वे सकेत से ही अपने अस्तित्व का परिचय दे सकते हैं। यही बात यहाँ पर हुई है।

इस दृष्टि से कालिदास के साहित्य का अध्ययन बहुत मनोरजक हो सकता है। मैं बहुत ही उत्सुकता से एक ऐसे अध्येता का प्रतीक्षा कर रहा हूँ जो कालिदास की कृतियों का अध्ययन इस दृष्टि से करे। मेरा विश्वास है कि यहाँ पर शैक्सपियर से कम मनोवैज्ञानिक सामग्री नहीं मिलेगी। कालिदास की क्यों अन्य सस्कृत कवियों का इस दृष्टि से अध्ययन व्यर्थ न जायेगा।

नैषधचरित से उदाहरण

श्री हर्ष के नैषधचरित से उदाहरण लीजिये। हस दमयन्ती से नल के सौन्दर्य का वर्णन कर रहा है।[११]

> अस्मत् किल श्रोत्रसुधा विधाय
> रभा चिरभामतुलाँ नलस्य
> तत्रानुरक्ता तमनाप्यमेजे
> तन्नामगन्धान्नलकूबर सा।

अर्थात् हमने जब नल के अतुल सौन्दर्य का वर्णन रभा के सामने किया तो उसको सुनकर वह नल म अनुरक्त हो गई। पर उसके लिये नल को पा लेना कठिन था, अत उसने नलकूबर नामक राजा को ही स्वीकार कर लिया क्योंकि उसके नाम के साथ नल का सयोग था।

हमारा अचेतन मस्तिष्क शब्दों को लेकर किसी तरह का खिलवाड़ (Trick) करता है, उस पर लेश का आरोपण कर किस तरह आन्तरिक प्रवृत्तियों का स तुष्ट करने का मार्ग निकाल लेता है इस तरह का सामग्री और उदाहरणों स मनोविश्लेषण के ग्रथ भरे पड़े हैं। Theodore Rek ने अपनी पुस्तक में एक उदाहरण दिया है। एक व्यक्ति न स्वप्न का एक अश यह है 'एक कुत्ता है। मैं डरता हूँ कि कहीं वह काट न ले'[१२] वास्तविक बात तो यह थी कि वे पाप भीरु व्यक्ति थे, समझते थे कि उनके असत्कर्मों का दड ईश्वर अवश्य देगा पर बाहर से वे निरीश्वरवादी बनते थे। यहाँ तक कि ईश्वर का मजाक उड़ाना, तरह-तरह क तर्क-कुतर्क द्वारा ईश्वर विश्वास भावना का खडन करना, उनका नैत्यिक कर्म था। अत स्वप्न में God ही Dog बन गया। God को उलट दीजिये Dog बन गया।

उनका जन्म एक धर्म प्रवण परिवार मे हुआ था और एक बार उन्हें नियमानुसार धर्मो की दीक्षा देकर पुरोहित (priest) बन जाने की बात भी सोची जा रही थी। पर आगे चलकर ईश्वर तथा धर्म मे उनकी निष्ठा का ह्रास होता गया और वे एक गायक बन गये। ऐसा लगता है कि उनकी बाहरी (Official) धर्म तथा ईश्वर विरोधिता के नीचे कहीं न कहीं पुरानी आस्था दुबकी पड़ी थी और God का Dog बनाकर अपने स्वरूप को चरितार्थ कर रही थी। क्या यही या इसी से मिलती-जुलती ही प्रवृत्ति नल तथा नलकूबर शब्दों को लेकर अचेतन द्वारा जो खिलवाड होते रहते हैं उसका एक और उदाहरण फ्रायड द्वारा उल्लिखित स्वप्न मे मिल सकता है। एक लडकी ने स्वप्न देखा कि उसने बिल्ली को अपनी छाती मे दबाया और वह मर गई। स्वप्न के विश्लेषण करने पर बाद मे पता चला कि उस लड़की की एक सौतेली बहन थी जिसका नाम केट (kate) था। उसकी सौतेली माँ अपनी पुत्री केट को अधिक प्यार करती थी। जिसे देखकर उसके हृदय मे ईर्ष्या की आग जलती रहती थी और वह उसकी मृत्यु-कामना करती रहती थी। बस स्वप्न मे अपनी बहन केट को ही मार डाला है। केट और कैट (Cat) के उच्चारण मे कितना साम्य है। जागरण की केट स्वप्न में कैट बन गई है।

कहने का अर्थ यह है कि समय आ गया है कि संस्कृत साहित्य का अध्ययन नूतन मनोविज्ञान के आलोक मे हो।

संस्कृत साहित्य शास्त्र से इसके उदाहरण

मेरा अपना ख्याल है कि मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के साथ लेखकों का परिचय ज्यों-ज्यों बढता जायेगा, त्यों-त्यों इस तरह के Antistic guesture को अधिकाधिक स्थान मिलता जायेगा। मनोवैज्ञानिकों ने मानव मस्तिष्क मे ऐसे क्षेत्र का आविष्कार किया है जहाँ की कार्य पद्धति, व्यवहार करने का ढंग, आचरण प्रणाली सर्वथा भिन्न है। वहाँ के नियम और कानून ही दूसरे हैं। वहाँ तथा कथित कार्य कारण की शृंखला नहीं है, अव्यवस्था का ही साम्राज्य है, गुण ही दोष हैं, दोष ही गुण। यहाँ पगड़ी उछलती है इसे मयखाना कहते हैं। जब हमारे काव्यशास्त्री ने कविता के प्रसंग मे कहा—

वक्रोक्तयः यत्र विभूषणानि वाच्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः
काव्येषु अभिधैव दोषः सा काचिन्दन्यः सरणिः कवीनाम्

कह ही दिया तो इस मनोविज्ञान नवाविष्कृत क्षेत्र पर पदार्पण करने वाले कथाकारों की भी 'काचिदन्य सरणि' हो तो इसमें क्या हानि ? एक लेखक ने कल्पना की है कि यदि अंग्रेजी की प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका जान आस्टिन ने अपने उपन्यास Pride and Prejudice को आधुनिक ढंग से लिखा होता तो क्या होता। जो कुछ होता, होता, पर एक बात नहीं हो पाती। जिस सूक्ष्मता तथा विस्तार के साथ लेखिका ने नायक का चरित्र चित्रण किया है, उसकी अहमन्यता, उग्रता, घमण्ड, गर्व के हरेक पहलू का विवरण दिया है वह नहीं हो पाता। वह उद्यान में एक मयूर को पाकर ही सन्तुष्ट रहता और एलिजाबेथ अन्त में चलकर इसकी गर्दन मरोड़ देती। इन दोनों घटनाओं को इस तरह उपस्थित किया जाता कि वे स्वयं बोल उठतीं। और पात्रों के हृदय को उद्भासित कर देतीं। हमारे घर में एक कुत्ता आया। मैंने उसे इतने जोर से डंडे से मारा कि उसकी टांग टूट गई। बात सीधी सी दीखती है पर सीधी है नहीं। मैंने प्रकारान्तर से अपने एक प्रतिस्पर्धी की टांग तोड़ी है। जिसके पैंट के रंग से कुत्ते का रंग मिलता था। नदी के द्वीप में भी एक ऐसी घटना आती है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास में मुख्य बात यह है कि लेखक के व्यक्तित्व की छाप पात्रों पर रहेगा, लेखक के कुछ Obsessions होते हैं, वह कुछ कहना चाहता है और कुछ ऐसी बात कहना चाहता है जो दूसरों से मेल नहीं खाती, उस पर कोई भूत सवार है, वही पात्रों के रूप में सामने आ जाता है। पहले के उपन्यासकार पर पात्रों की ही छाप रहती था, वे उपन्यासकार को नचाते थे। पर अब उपन्यासकार ही पात्रों को नचाता है। यह बात अर्थात् पात्रों तथा घटनाओं को नचाने वाली बात देवकीनन्दन खत्री इत्यादि के उपन्यासों के बारे में कहा जाता है पर वास्तव में ये उपन्यासकार पाठकों के इशारे पर स्वयं नाचते थे, सदा पाठकों का मुँह जोहते रहते थे। अब लगता था कि पात्र भी नाच रहे हैं।

पूर्व की पंक्तियों में कथा साहित्य मनोविज्ञान के एक सूक्ष्म पहलू की चर्चा की गई। यह देखा गया कि कथाकार जब अपनी अचेतन गहराई में पहुँचने लगता है, जब मनोवैज्ञानिक रूढ़ि उस पर सवार होने लगती है तो सारी दुनिया ही उसको दुश्मन लगती है और उपन्यास दूसरों की कथा न होकर लेखक की आत्मकथा का ही रूप धारण करने लगता है। अतएव हम यह देखते हैं कि आज का कथा साहित्य अधिकाधिक आत्मकेन्द्रिक क्यों होता जा रहा है।

कथा साहित्य में मनोविज्ञानिकता सचेष्ट प्रवेश

पर कथा मे मनोविज्ञान के प्रवेश का स्थूल रूप भी हो सकता है, जिसमें मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों और सिद्धान्तों के प्रदर्शन के लिये ही कथा की रचना की जाय, जिस तरह पहले नीति या उपदेश के लिए शिक्षाप्रद कथानकों की योजना की जाती थी। हैमलेट मे या कालिदास की कुछ कविताओं मे आधुनिक मनोविज्ञान की झलक पा लेना एक दूसरी चीज है, पर इन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर उपन्यास की इमारत खड़ी करना एक दूसरी बात है। कालिदास की बात आधुनिक मनोविज्ञान के सम्बन्ध मे थोडी चौंका देनेवाली बात सी लगे। पर जब उनका एक पात्र कहता है :

> [13]रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्चनिशम्य शब्दान्
> पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तु
> तच्चेतसा स्मरति नूनमवोधपूर्व
> भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।

तब इस भावस्थिर जननान्तर सौहृद के अवोध-पूर्व स्मरण की संगति मनोवैज्ञानिकों के अचेतन या अवचेतन के साथ बड़े मजे मे बैठा ले जा सकती हैं।

प्रेमचन्द जिस समय अपने उपन्यासों की रचना कर रहे थे उस समय देश के राजनैतिक सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले अनेक आन्दोलन चल रहे थे। वे सब आन्दोलन प्रेमचन्द के कथासाहित्य के लिए दृढ़ आधार प्रस्तुत कर रहे थे, यह उनके अध्ययन से स्पष्टतया परिलक्षित होता है। अतः उनके उपन्यासों को हम राजनैतिक या सामाजिक उपन्यास की संज्ञा दे सकते हैं। देवकीनन्दन खत्री या जैनेन्द्र के उपन्यासों मे भी तत्कालीन समाज की झलक आ ही गई है। पर कहाँ आने पाई है? आते-आते रह गई है। कथाकार वह चाहता भी नहीं। उसी तरह हम मनोवैज्ञानिक कथाओं के बारे मे भी कह सकते है। देखने की बात यह है कि कहाँ तक मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों को कला के रेशमी सूत्रों में पिरोया गया है।

मनोविज्ञान के सिद्धान्त पर आधारित कथा का उदाहरण

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर लिखी गई कथा का एक उदाहरण लीजिये। इसे ठीक से कथा तो नहीं कह सकते। यह Opera है, पर कथा शब्द का प्रयोग हम यहाँ बडे लचीले अर्थ में कर रहे हैं। Ravel

का एक Opera है L Enfant at Les Sortilges। जैसे ही पर्दा उठता है कि एक लड़का हिसाब की कापी लिये बैठा है और अपना होमवर्क कर रहा है। पर उसका मन लग नहीं रहा है। वह अपना पाठ कर्म पूरा नहीं करना चाहता, परन्तु पार्क में जाकर मौज करना चाहता है। वह चाहता है ससार की सब रोटिया खा डाले, बिल्ली की पूँछ उखाड़ डाले, तोते के पैरों को नोच डाले, सबको डाट और माँ को तो डाँट कर कोने में खड़ा करदे। स्पष्ट है कि बालक की विचारधारा जिन बातों से प्रभावित है, वे ये हैं

(१) मौखिक प्रवृत्ति (Oral Instinct)। बालक सब वस्तुओं को खा जाना चाहता है। छोटे बच्चों की प्रवृत्ति प्रत्येक वस्तु का मुँह में रख लेने की होती है। मनोविज्ञान का कहना है कि इससे उनकी काम प्रवृत्ति (Sexual impulse) की तृप्ति होती है।

(२) आक्रमण (Agression) प्रवृत्ति बालकों के मन में कहीं न कहीं पिता माता के प्रति आक्रामक भाव होते हैं क्योंकि इनके ही कारण उसके Id तथा Libido को स्वच्छन्द विचरण का अवसर नहीं मिलता। यहाँ पर भी बालक में माँ के विरुद्ध आक्रोश के भाव हैं ही और उनमें से ही छलक कर कुछ भाव अन्य वस्तुओं पर भी पड़ गये है, बिल्ली पर, तोते पर।

इसी समय बालक की माँ आती है। स्टेज पर सभी चीजें बहुत बड़ी-बड़ी दिखलाई पड़ती हैं। बालक की दृष्टि में पिता माता सर्व समर्थ और विशाल दिखलाई पड़ते हैं। लड़कपन में मुझे यह बात समझ में नहीं आती थी कि हाथी जैसा शक्तिशाली और विशालकाय जन्तु एक छोटे से मनुष्य की वश्यता किस तरह स्वीकृत कर लेता है। पूछने पर एक सज्जन ने मुझे समझाया कि हाथी की आँख की बनावट ही ऐसी होती है कि छोटा आदमी भी विशालकाय दीख पड़ता है। अत, वह आदमी से भयभीत रहता है। पता नहीं यह व्याख्या कहाँ तक वैज्ञानिक है, पर बालकों के हृदय में अपने गुरुजनों की शक्ति सामर्थ्य और महानता के बारे में विचित्र कल्पनाएँ होती हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। स्टेज की सारी वस्तुओं की आकार-स्फीति के द्वारा लेखक ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर सकेत किया है।

माता बड़े प्रेम से बालक से उसके गणित कार्य की प्रगति के बारे में पूछती है। बालक रुष्ट हो झुँझला कर उत्तर देता है। देखो, आज चाय के समय तुम्हारी चाय में शक्कर तथा रोटी में मक्खन नहीं मिलेगा यह कह कर माँ चली जाती है। इधर बालक के क्रोध का पारावार नहीं।

वह सब चीजों को तोड़ने फोड़ने लगता है। चाय की प्यालियाँ तोड़ देता है। आग की अंगीठी को बेतरह झकझोर देता है, डेगची वगैरह को पटक देता है। सारा घर राख और धूयें से भर जाता है। दीवाल पर जो कागज का चित्र था उसे चिमटे से फाड़ फूड देता है, पिंजडे की गिलहरी को मारता है, टेबुल पर स्याही गिरा देता है। दीवाल-घड़ी के पेन्डुलम को तोडकर फेंक देता है।

उसके पश्चात् ये निरादृत और तिरस्कृत पदार्थ जीवित हो उठते हैं और बालक को कोसने लगते हैं। फर्नीचर के सामान विरोध मे अपना हाथ उठाते हैं। आग की चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। घड़ी के घंटे बजने लगते है। मानो घड़ी दर्द से कराह रही हो। चित्र मे किसान प्रेमी प्रेमिका की वंशी से करुण रागिनी निकलने लगती है। अन्त मे एक आदमी आता है। वह गणित की आत्मा है। वह बालक से तरह-तरह के प्रश्न करता है। यहाँ तक कि अन्त मे इन प्रश्नों से तंग आकर और थककर वह बालक मूर्छित हो गिर पड़ता है।

सारे व्यापार मे बालक के आक्रामक भाव (Agression) की प्रधानता तो है ही। पर एक-एक क्रिया को ध्यान से देखिये। स्याही का गिराना और घर का धूम्र से भर जाना। बालक का मल-मूत्र से बिस्तार इत्यादि का गंदा कर देना है जिसमे बालक, मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार, पिता-माता पर आक्रामक भावों तथा बदला लेने के भावों से आक्रान्त हो कर प्रवृत्त होता है। मलमूत्र बालकों का अस्त्र है। तोड़ना, फोड़ना, काटना बालक के नख दाँत इत्यादि अस्त्रों का प्रयोग है। तोडे-फोडे गये सामान माता के प्रतीक है। पिंजडे की गिलहरी तथा घड़ी के पेन्डुलम माँ के पेट मे रहने वाली चीजों को प्रतीक हैं। मनोविज्ञान के अनुसार बच्चों की कल्पना मे, माँ के पेट मे बहुत से बच्चे है, जिन्हे वे अपना प्रतिद्वन्द्वी समझते है और नष्ट करने की कल्पना करते है। चित्र में एक स्त्री और पुरुप साथ थे। फाड़ कर दोनों को अलग कर दिया गया है। यह मनोवैज्ञानिक के प्रिय इडिपस कम्प्लेक्स की करामात है। वास्तव मे यहाँ माता और पिता ही अलग किये गये हैं। चित्र में स्त्री और पुरुप माता और पिता के ही स्थानापन्न हैं। ऊपर जिस गणित की आत्मा की बात कही गई है वह पिता के अथवा बालक के Super ego का प्रतीक है जो बालक द्वारा किये गये गर्हित कर्मों के लिए उसे कोस रहा है। यहाँ पर प्रतीक विधान का स्वरूप एकदम स्पष्ट है।

दूसरे दृश्य मे बालक अपने गृह के समीपस्थ उद्यान में चला जाता है।

यहाँ का वातावरण भय से परिपूर्ण है। यह स्थान आहत तथा शत्रुभावापन्न जन्तुओं से भरा है। सब में इस बात पर विचार हो रहा है कि बालक को कौन काटे। यहाँ तक कि इस विवाद में हाथापाई की भी नौबत आ जाती है। इसी झगड़े में आहत होकर एक गिलहरी चीखती हुई जमीन पर गिर पड़ती है। बालक का हृदय करुणा के भावों से भर जाता है। वह गिलहरी को उठा कर मरहम पट्टी करता है और उसके टूटे पंजों को टांकों से सी देता है। और ऐसा करते समय माँ शब्द का उच्चारण करता है। बालक के हृदय में तुरन्त ही अनुभूति जगती है कि वह ऐसी दुनिया में आ गया है जहाँ पारस्परिक सहयोग और सहायता की भावना काम करती है और वह कितना अच्छा बालक है। अंत में सारे जन्तु स्टेज से गीत गाते हुए विदा होते हैं जिसका अर्थ है कि यह कैसा अच्छा राजा बेटा है।

इस दूसरे दृश्य में उद्यान का अर्थ है प्रकृति। जो माँ का मनोवैज्ञानिक प्रतिनिधित्व करती है। आहत पशु-पक्षीगण बालक द्वारा माँ के विरुद्ध किये गये आघातों के दूसरे रूप हैं। बालक ने माँ को दंडित किया है। पर वह अपने कृत्य पर दुखी भी है। अपने अपराध के परिमार्जन का अवसर पाते ही वह उससे लाभ उठाता है और माँ के प्रति सद्व्यवहार कर पुनः स्वस्थ हो जाता है और अपनी मनोवैज्ञानिक जगत की ऊँचाई से उतर कर साधारण दुनियाँ की सतह पर प्रतिष्ठित हो जाता है। गिलहरी की सेवा करते समय माँ शब्द का उच्चारण करना बड़ा ही सार्थक है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि बालक गिलहरी को माँ ही समझता है जिसको उसके व्यवहार से साघातिक चोट पहुँची है।

ऊपर की पंक्तियों में ओपेरा की कहानी दी गई है और उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी की गई है। ऐसा लगता है कि Mrs Melanie klein तथा उनके स्कूल के मनोवैज्ञानिकों के अध्ययन के पश्चात् बालमन के सम्बन्ध में जो स्थापनायें लेखक के मन में जगी हैं, उन्हें यहाँ कलात्मक रूप में बाँधने की चेष्टा की गई है। कथा भी है, संगीत भी है, घटनायें भी हैं, कला का भी अभाव नहीं, पर सब को एकता के सूत्र में बाँधने वाली वस्तु, मनोवैज्ञानिक उपपत्तियाँ हैं। मनोवैज्ञानिकों के इस स्कूल ने बालमन के सम्बन्ध में जिन बातों का उल्लेख किया है उन सबका यहाँ कहना संभव नहीं पर एक दो बातों का ओर संकेत कर देना ठीक है ताकि पाठक समझ सकें कि मनोविज्ञान का प्रभाव इस रचना पर कहाँ तक पड़ा है।

वाल-मन-सबधी कुछ उपपत्तिया

बालक का मस्तिष्क सब कुछ या कुछ नहीं (All or Nothing) के सिद्धान्त के आधार पर काम करता है। वह अपने विचारों की सर्व-समर्थता मे भी विश्वास करता है। कोई चीज जब तक उसकी इच्छाओं को पूरी कर रही है तब तक वह बहुत ठीक है, देवता है; जहाँ इच्छा पूर्ति मे जरा भी बाधा हुई नहीं कि वह एकदम खराब हो गई, एकदम राक्षस। इस तरह बालक अपने गुरुजनों के प्रति दो विपरीत धारणाओं को लेकर आगे बढ़ता है। बाद मे ये दोनों धारणाये आपस मे मिलने लगती है और ये गुरुजन अच्छा या बुरा न रह-कर अच्छा-बुरा बनने लगते हैं, जिसे अंग्रेजी मे good-strict कह सकते है। जहाँ तक बालक का super ego गुरुजनों के अच्छे, रक्षक, पोषक, सहायक अंश को अपने अन्दर अन्तर्निष्ट करता है वहाँ तक वह अनुभव करता है कि मेरे अन्दर माँ भी बैठी है, जो मेरी देख-रेख करती है और सब आप-त्तियों से मेरी रक्षा करती है। इस भावना में वह अपने को सुरक्षित अनुभव करता है।

लेकिन जब कभी वह अपनी माँ पर, गुरुजन पर, रुष्ट होकर उन्हें नष्ट कर देता है, तो उसे ऐसा लगने लगता है कि उसके अन्दर रहनेवाली रक्षक माँ भी नष्ट हो गई। अतः, इस भावना से प्रेरित होकर वह अपने अपराध का परिमार्जन करना तथा क्षति की पूर्ति करना चाहता है। ऐसे बालक देखे गये है कि पहले तो उसने किसी को गाली दी, बाद मे अपने को थप्पड मारकर जिस मुँह से गाली निकली है उसको दडित किया। इस तरह के प्रतीकात्मक सम्मार्जन तथा क्षतिपूर्ति की बात हमारी सामाजिक प्रथाओं में देखी जा सकती है, जिनमे एक ही चर्चा मैंने अपनी पुस्तक 'बचपन के दो दिन' मे की हैं। गोवर्धन पूजा के दिन पहले तो मेरी माँ कुछ बुदबुदाती थीं। बाद मे अपनी जीभ को काटों से छेदती थीं। कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि पहले तो अपने परिवार के सब सदस्यो को श्राप देती हूँ। मेरा पति मर जाय, बेटा मर जाय इत्यादि। बाद मे जिस जीभ से श्राप निकला उसको काँटों से छेदती हूँ। आप Klein की बतलाई प्रक्रिया से इसे मिला-कर देखिये, दोनों मे कितनी समता मिलती है। साथ ही इन बातों के आलोक में ऊपर कही गई कहानी को पढ़िये। क्या आपको ऐसा आभासित नहीं होना कि इस कहान। का प्रेरणा सूत्र क्या है ?

हिन्दी में इस तरह के उपन्यास के अभाव के कारण

हिन्दी मे इस तरह की कथाओं का अभाव है। इसका कारण यह है

कि हिन्दी के लेखकों का मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों से तथा उनके आधार पर लिखी हुई कहानियों से परिचय कम है। अभी तक आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान रखने वाले व्यक्ति हिन्दी में कम हैं और जिनका ज्ञान है उनकी रुचि सृजनात्मक साहित्य की ओर कम है। जब ज्ञान और प्रतिभा का मणि कांचन संयोग घटित होता है तब उच्चकोटि के साहित्य का सृजन होता है। यह महत्वपूर्ण नहीं कि कोई कथाकार किसी सिद्धान्त या मतवाद के प्रतिपादन के लिए उपन्यास की रचना करता है, परन्तु महत्वपूर्ण यह है कि उसकी सृजनात्मक प्रतिभा ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये कौन सा मार्ग चुना है। प्राकृतिक चिकित्सा वाले रोग की एकता में विश्वास करते हैं, बाहरी चिह्नों को महत्व नहीं देते। कहते हैं कि वास्तविक रोग तो यह है कि आहार विहार के असंयम के कारण शरीर के अन्दर कुछ विकार एकत्र हो गए हैं, जिन्हें प्रकृति दूर करना चाहती है, वही रोग के रूप में प्रकट होता है। यह बात दूसरी है कि प्रकृति किस मार्ग से या किस रूप में विकार को बहिष्कृत करना चाहती है। यह तो उसकी सुविधा की बात है कि वह उसे खाँसी के द्वारा दूर करे, बुखार के द्वारा, अथवा फोड़े के द्वारा। पर इससे रोगों की मौलिक एकता के बारे में कुछ भी भेद नहीं पड़ता।

इस तरह सृजन की मौलिक प्रेरणा तो एक ही है। यह कहाँ से आती है, कैसे आती है, कब आती है, यह कहना बड़ा कठिन है। कम से कम यह विषय [illegible] में तो नहीं आता। मनोवैज्ञानिकों ने तो इस अवस्था का वर्णन कर दिया है। कहा है कि जब मनुष्य के मस्तिष्क पर से Ego का नियन्त्रण शिथिल हो जाता है तभी इसका स्फुरण होता है। पर इस सूक्ष्म [illegible] से हमारा तात्पर्य नहीं है। हम इतना ही जानते हैं कि लेखक के अन्दर कुछ उमड़ घुमड़ रहा है, वह उसे बाहर लाने के लिए बेकरार हो रहा है। यह [illegible] के माध्यम से निकले या कथा के माध्यम से। आगे चलकर इसमें विभिन्न भेद उत्पन्न हो सकते हैं। कल्पना कीजिए कि प्रकृति विकार को [illegible] निकालना चाहती है। पर यह निर्णय [illegible] हो सकता है, [illegible] में। इस तरह सृजनात्मक प्रेरणा [illegible] अभिव्यक्ति के [illegible] चुने। पर यह कब किस [illegible] की ओर झुक जायगी, [illegible], [illegible], [illegible] की ओर, यह कहना कठिन है। पर ऊपर कहा [illegible] जा चुका है कि यह युग मनोविज्ञान का है, [illegible] मनोविज्ञान के [illegible] से हो [illegible] है।

यशपाल के 'झूठा-सच' नामक उपन्यास में मनोविज्ञान का अभाव

ऐसे कथाकार कम हैं जो मनोविज्ञान के ज्ञात प्रलोभन पर फिसलते नहीं। हिन्दी कथाकार श्री यशपाल जी की प्रतिभा के हम कायल है। इनकी प्रतिभा से हिन्दी कथा साहित्य मे निश्चित ही समृद्धि आई है। इनका नूतनतम उपन्यास 'झूठा-सच' दो भागों मे प्रकाशित हुआ है। कलेवर की दृष्टि से तो शायद हिन्दी का बृहद्तम उपन्यास है। देश के विभाजन के फलस्वरूप देश मे जो संकट उत्पन्न हो गया, धर्म के नाम पर असहिष्णुता तथा मारकाट की लहर आ गई, उसी की पृष्ठ भूमि पर हमारे सामाजिक जीवन का एक चित्रण और सफल तथा जीता जागता चित्रण इसमें उपस्थित किया गया है। १६४७ के बाद शरणार्थियों के आवागमन के कारण देश की जो विषम स्थिति उत्पन्न हो गई थी उसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने लिये कहीं और जाने की जरूरत नहीं। इस उपन्यास को पढ़कर बहुत सी बातों का ज्ञान मुझे हुआ, जिनके बारे मे मेरे विचार धुँधले से थे। पर यशपाल मनोवैज्ञानिक कथाकार न तो पहले थे और न आज। इस विशालकाय ग्रन्थ मे जहाँ मनोविज्ञान के चमत्कार दिखलाने के अनेक अवसर थे, कहीं भी उन्होंने लाभ नहीं उठाया है। दूसरा कोई होता, मतलब कि ऐसा व्यक्ति जिसमे मनोविज्ञान के लिये Weakness होता, चस्का होता तो वह मनोवैज्ञानिक शब्दावलियों की पलटन खड़ी कर देता, जमघट लगा देता और न जाने कौन-कौन सी बाते दिखला देता।

मनोविज्ञान के ग्रन्थों को पढ़ें तो उनका तीन चौथाई अंश स्त्री तथा पुरुष के यौनिक सम्बन्धों की बातों से घिरा है। यशपालजी की अन्य पुस्तकों की तरह इसमें स्त्री पुरुष की यौन सम्बन्धी बातों का अभाव नहीं है। वास्तव मे वे यौन सम्बन्धी बातों के आतिशय्य के लिये बदनाम है, पर उनके उपन्यासों में कहीं भी इस प्रश्न को मनोवैज्ञानिक स्तर पर नहीं छड़ा गया है और न घटनाएँ इस ढंग से उपस्थित की गई है कि पाठक मे पात्रों के मस्तिष्क की ऊपरी सतह के नीचे झाँकने की प्रेरणा मिले और वह उसकी अचेतन प्रवृत्तियों की झाँकी ले सके।

तारा का विवाह सोमराज साहनी से उसकी अनिच्छा के बावजूद भी हो जाता है। तारा नहीं चाहती थी कि सोमराज जैसे दुष्ट-प्रकृति तथा उच्छृङ्खल व्यक्ति से उसका व्याह हो। तारा के मनोभाव से सोमराज भी परिचित था। फिर भी विवाह होकर ही रहा। इसका जो अनिवार्य परिणाम

था, वह भी होकर रहा। सुहागरात के रोज से संघर्ष प्रारम्भ हुआ। उसी रात को मुसलमानों के आक्रमण से घटनाओं ने ऐसा मोड़ लिया कि सारी बातें ही उलट गई। अच्छा, अब इन दोनों बातों पर मनोविज्ञान के *आलोक में विचार कीजिये। तारा सोमराज, से विवाह के पूर्व घृणा करती* थी, सुहागरात को ही दोनों में संघर्ष आरम्भ हो गया। पूर्व विवाह काल में भावी वर से घृणा करना कोई असाधारण बात नहीं। बहुत सी नायिकाओं ने ऐसा किया है। परन्तु इस घृणा या प्रेम के कारण बहुत स्थूल थे। नायक सद्गुण सम्पन्न रहा तो प्रेम, दुर्गुणी व्यसनी रहा तो घृणा। सोमराज शराबी *व्यसनी था, परीक्षा देते समय नकल करते पकड़ा गया था। इन्हीं बातों के* कारण तारा के हृदय में उसके विरुद्ध दुर्भावना घर कर गई थी। पर घृणा या प्रेम दूसरी तरह का भी होता है, जिसके लिये आपातत कोई स्पष्ट कारण नहीं होता। जहाँ प्रेम होना चाहिये वहाँ घृणा होती है और जहाँ घृणा होनी चाहिये वहा प्रेम। कारण तो इसके लिये होता ही है, पर वह व्यक्ति की गहराई में होता है, उसका ज्ञान घृणा व प्रेम करने वाले व्यक्ति को भी नहीं होता। जो कुछ भी वह करता है उसके लिये वह लाचार है, बेबस है, कोई ग्रन्थि उसे अन्दर से बेताब किये रहता है। हाँ, यदि उस केस को किसी मनोविश्लेषक के पास ले जायें तो वह एडिपस कम्पलेक्स, एलेक्ट्रा कम्पलेक्स इत्यादि की बातें कहकर कुछ समाधान कर सकता है। पर तारा के चरित्र में ऐसी कोई बात नहीं मिलता। वह सोमराज का उसके दुर्गुणों के लिये ही प्यार क्या नहीं करती? सुहागरात के रोज सोमराज का व्यवहार तारा के प्रति इतना विकट और भयंकर क्यों हो जाता है? माना कि उसके हृदय में तारा की नापसन्दगी की बात सुनकर आक्रोश भरा था। पर वह आक्रोश इस तरह नग्न रूप में अचानक क्यों फूट पड़ता है? क्या हर तरह से मधुर हृदय तथा कोमल व्यवहार की औपचारिकता के मध्य में इस आक्रोश को लपेटा नहीं जा सकता है। क्या Mercy से किसी को Kill नहीं किया जा सकता? इस तरह का Mercy killing का व्यवहार सोमराज की ओर से क्यों नहीं होता? हर तरह की औपचारिकता, शालीनता, सहृदयता तथा कोमलता का निर्वाह करते हुए भी ऐन मौके पर नारी ठंडी (Frigid) हो जाता है अथवा पुरुष उदासीन (Cold) हो जाता है, तो इससे बढ़कर पुरुष *या नारी का अपमान क्या हो सकता है। इस तरह का कोई भी सक्त* झूठा सच में नहीं है।

तारा और प्राणनाथ में विवाह हो जाता है। दोनों अधेड़ उम्र के

ाक्ति हैं। इसमे कौन सी मनोवैज्ञानिक विशेपता है? कहना नहीं होगा
ृ गिरती उम्र मे विवाह करने वाले दम्पत्ति बहुत ही अच्छा मनोवैज्ञानिक
ास हो सकते है। इन लोगों के मानसिक व्यापार मे माता-पिता के ससर्ग
तथा बाल्यकालीन परिस्थितियो के कारण अन्दर मे बैठी हुई ग्रन्थियों
ो करामात को दिखलाने का सुनहला अवसर था। पर यहाँ पर इस अवसर
कुछ लाभ नहीं उठाया गया मालूम पडता है। थोड़ी हिचकिचाहट के
ाद बिना आडम्बर या धूमधाम के विवाह हो जाता है। तारा जरा सी
हिचकती थी तो इसी कारण कि उसे Syphlis की बीमारी थी। Syphlis
ो लेकर मनोवैज्ञानिकों ने अनेक ढग से विचार किया है। Syphlis ही
हीं, किसी भी रोग के मनोवैज्ञानिक पहलू तथा मनोवैज्ञानिक कारणों पर
वेस्तार-पूर्वक मनोविज्ञान के ग्रथों मे विचार किया गया है और कहा गया
है कि बहुत से रोग ऐसे भी होते है कि व्यक्ति उसे चाहता है। किसी
अपराध भावना (Guilt Feeling) से ग्रस्त हो वह मन ही मन महसूस करता
है कि उसने भयानक अपराध किया है, उसे दंड मिलना चाहिये, दंड मिले
तो उनकी आत्मा का बोझ कुछ कम हो। पर किसी को उसके अपराध की
बात मालूम नहीं, कौन उन्हे दडित करे। अतः चलो, स्वय दंड दे। वह
दंड रोग के रूप मे परिणत हो जाता है। कुछ शारीरिक कष्ट तो मिलता
है, पर उसकी रूह को राहत जो मिलती है। कालिदास जब प्रतापी रघुवंशी
राजाओं के गुणों का वर्णन करने बैठे तो अनेक गुणों का उल्लेख करते
समय यह कहना भी नहीं भूले कि 'यथापराधदडाना यथाकालप्रबोधिनाम्'
अर्थात् जो अपराधियों को अपराध के अनुसार ही दंड देते थे और जो
अवसर देखकर ही काम करते थे।

वास्तव मे यह विशेपता केवल रघुवशियों की ही नहीं। मनोवैज्ञानिक
दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति 'यथाकाल-प्रबोधि' होता है। इसी को मनोवैज्ञानिक
शब्दावली मानसिक अर्थशास्त्र (Mental economy) कहा गया है। व्यक्ति
मे मानसिक विकृति के लक्षण देखकर आप उस पर तरस खाते हैं, कहते है कि
हाय! कितने कष्ट मे है। पर वास्तव मे यह उसके जीवन के लिए अनिवार्य
है। उसके अन्दर इतना संघर्ष है कि उसके लिये जीवन धारण कठिन है।
अतः इन बाहरी Symptoms के मूल्य पर ही जीवन की रक्षा हो सकती है।
अतः चलो कुछ ले देकर समझौता करो। यह सबसे अच्छा समझौता है,
Economic way है।

F. L. Lucas ने अपनी पुस्तक Literature & Psychology मे एक

भारतीय डाक्टर का उदाहरण दिया है, जो वियेना में अध्ययन कर रहे थे। वियेना के स्वतन्त्र वातावरण में वे कुछ ऐसे कार्य कर बैठते थे, जिनको उनकी नैतिक बुद्धि सहन नहीं कर सकता था। अत, उनके शरीर में चर्म रोग हो जाता ह। तिस पर तुर्रा यह कि जरा सभल जाने, जरा सयमित हो जाने पर राग दूर हो जाता था। वास्तव में यह डाक्टर अपनी अनैतिकता के लिये अपने को दडित करता था। लेखक के शब्द यों हैं—'Then there as a grotesque case of an Indian doctor studying in Vienna who used the freedom of viennese life to indulge in adventures which the code of his own country condemned After these escapades he used to develop an irritation of the skin, which vanished again when he abandoned them

मनोविज्ञान के ग्रन्थों से इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जिस पाठक का मनोविज्ञान से परिचय होगा इस बीमारी की बात सुनते ही उसका माथा ठनकेगा। वह सशक होकर पूछेगा कि तारा को क्यों बीमारी हो गइ ? यह कोइ जरूरी नहीं है कि किसी सिफलिस ग्रस्त व्यक्ति स यानिक सम्पर्क होत ही बीमारी हो जाय। बहुत से व्यक्तियों का ऐसा सम्पर्क होता हा रहता है, पर उन्द यह छूत का बीमारी नहीं लगती। जिन लोगों को इस तरह का छूत की बीमारी लग जाती है उनमें कोइ न कोइ ऐसी बात रहती है जा छूत के मार्ग का प्रशस्त कर देती है। दूसरे शब्दों में कोई उसम Predisposing Cause रहता है, जो बीमारी के लिये द्वार खोले बैठा रहता है। यदि तारा में भी ऐसे ही किसी Predisposing Cause का गध ढूँढूँ ता क्या बुरा है ? पर मैं जानता हूँ कि लेखक की ओर से इस तरह का कुछ भी प्रोत्साहन नहीं मिलता।

डा० प्राणनाथ को जिस रूप में उपस्थित किया गया है उसका पढ़कर कम से कम मेरे जैसे व्यक्ति के हृदय में प्रश्न उठना स्वाभाविक है। डा० प्राणनाथ बुजुग व्यक्ति हैं, स्कालर हैं, अध्ययन अध्यापन व्यवसाय में व्यस्त हैं और विवाह का बात का ओर ध्यान नहीं देते तो यह स्वाभाविक हा है। पर ज्योंही उन्हें ज्ञात होता है कि तारा को सिफलिस का बीमारी है वे विवाह क लिये व्यग्र हो जाते हैं। अब तक वे इस समस्या के प्रति उदासीन थे। कोई चर्चा छेड़ता भा था तो उस पर ध्यान नहीं देते थ। पर इस सिफलिस का घटना ने ता मानों उनमें क्रांति ही उपस्थित कर दी। जहाँ इतने निष्क्रिय थे, वहाँ उतने हा सक्रिय हा गये। अब उन्हें व्याकुलता है कि जहाँ

तक शीघ्र विवाह हो उतना ही अच्छा। ऐसा क्यों हुआ? अरे, सिफालिस का क्या अर्थ? यही न कि इस रोग से ग्रस्त नारी अक्षतयोनि नहीं है, दूसरों के यौनिक सम्पर्क मे आ चुकी है, वह रूढ अर्थ मे सती नहीं रह गई। फ्रायड ने इस तरह प्रेम की व्याख्या की है और उन लोगों के मनोविज्ञान पर यथेष्ट प्रकाश डाला है जिनके हृदय मे कुमारी कन्या के प्रति प्रेम के भाव उदित हो ही नहीं सकते। उनको प्रेमोन्मत्त करने के लिये प्रेमी और प्रेमिका के बीच एक तृतीय व्यक्ति का आना आवश्यक है। क्या यही मनोविज्ञान डा० नाथ मे भी तो काम नहीं कर रहा है। जहाँ उन्हे पता चला कि तारा दूसरे व्यक्ति की उपभोग्या रह चुकी है, बस उसके लिये उनके हृदय मे प्रेम की हिलोरे उठने लगी।

मुझसे कहा जाता है कि डा० नाथ से इस तरह की आशा करना व्यथ है। जिस रूप मे उपन्यास का उत्थान हुआ है, हृदय अथवा मस्तिष्क का वह स्तर जहाँ से उपन्यास को प्रेरणा मिली है उसको देखते हुए इस तरह विचार करना भ्रममूलक है। यह एक वर्णनात्मक उपन्यास है स्वतः प्रसूत नियमों (Laws of its own orgination) के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास जिस रूप मे हमारे सामने है वही उसका सही रूप है। बात सही है। यही तो मेरी भी मान्यता है कि यह उपन्यास मनोवैज्ञानिक नहीं है, मनोविज्ञान जो कुछ आया है वही सतही स्तर का है, चेतन तक ही सीमित है। हाँ, यह एक सुन्दर सामाजिक या राजनैतिक उपन्यास है, इसमे क्या सन्देह। और अपनी जगह पर अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण भी है। यह उपन्यास मनोवैज्ञानिक नहीं है ऐसा कहना इसकी निन्दा थोडे ही है। इतना कहूँगा कि—
The novel has been begarred by too much descriptive pudding. It paints a man only from without and not from within.''

हमने एक मनोविज्ञान की पुस्तक मे सिफलिस रोग से ग्रस्त एक नारी की सच्ची कथा पढ़ी है।

एक सच्ची घटना का उल्लेख

Theodore Rek ने एक केस हिस्ट्री की चर्चा अपनी पुस्तक Secret self मे की है।[१४] उसके पास Zoe नामक सुन्दर चतुर युवती नारी चिकित्सा के लिए लाई गई। उसकी मनोविकृत्ति के अनेक बाहरी लक्षण थे, पर उनमे एक यह विचित्र सी बात थी कि वह सदा इस बात से आतंकित रहती थी कि कहीं दूसरों को कोई संक्रामक रोग न लग जाय।

विशेष बात यह थी कि उसे अपने को छूत की बीमारी से सुरक्षित रखने की उतनी परवाह नहीं थी, जितना अपने परिवार के अन्य सदस्यों की सुरक्षा की थी। उसे सफाई का बड़ा ही ध्यान रहता था। अपने भाई तथा बहिनों को जरा जरा सी बात पर साबुन से धोती था। कपड़े बदलवाती थी और उसके व्यवहार ऐसे हो गये थे कि परिवार के सारे सदस्य तंग आ गये थे।

संक्रामक रोग से सुरक्षा के लिए उसने न जाने कितनी जटिल तथा पेचदार पद्धतियाँ अपना ली थीं और उनके पालन की विधि अनुष्ठान इतने श्रम साध्य तथा समय-साध्य थे कि प्रत्येक व्यक्ति परेशान हो गया था। उदाहरणार्थ, रकाबियों तथा शीशे के बर्तनों को तौलिये से कभी नहीं पोंछती थी और न किसी को ऐसा करने ही देती थी, क्योंकि उसे भय था कि तौलिये के कीटाणु बर्तनों से लग जायँगे। इसलिये वह बर्तनों को गरम पानी में खूब उबालती थी और उन्हें धूप में स्वयं सूखने के लिए रख देती थी। जब वह अपने पति को पानी पीने के लिये देती थी तो ग्लास को बार बार धोती थी, ताकि पानी पीने से उन्हें (छूत) न लग जाय।

Zoe का जन्म ग्राम में हुआ था और ६ वर्ष की अवस्था में वह अमेरिका आ गई थी। उसके शरीर में कुछ बचपन से ही विकृति थी, जिसकी चिकित्सा हो रही थी। अपनी शारीरिक विकृति के लिए उसे दूसरों के व्यंग्य मजाक का भी शिकार होना पड़ता था। उसके पिता ने उसे बताया कि किसी रुग्ण व्यक्ति के ग्लास से पानी पी लेने के कारण, बचपन में वह इस संक्रामक रोग से आक्रान्त हो गई। इस बात में वह बहुत दिनों तक विश्वास करती रही। जब उसने युवावस्था में पदार्पण किया, और उसमें किसी बात को ठीक तरह से समझने बूझने की शक्ति आई तब डाक्टर के कहने पर उसे पता चला कि अरे यह लक्षण तो जन्मजात syphlis के हैं। बाद में उसके पिता ने भी स्वीकार किया कि जवानी के दिनों में वह एक रुग्ण नारी के सम्पर्क में आया था और उसे यह छूत की बीमारी लग गई थी। अब Zoe ने सिफलिस सम्बन्धी सारे साहित्य का अध्ययन किया। रोग की उत्पत्ति, विकास तथा निदान का ज्ञान प्राप्त किया। उसे बहुत सी बातें समझ में आने लगीं, जो अब तक नहीं आती थीं। अब उसे समझ में आया कि उसकी माँ के गर्भ का पतन बार-बार क्यों हो जाता था।

मनोविश्लेषण पद्धति से उपचार के क्रम में यह बात स्पष्ट होकर आई कि Zoe के अचेतन में यह धारणा बद्धमूल हो गई थी कि उसका शरीर

रोग के कीटाणुओं का सक्रिय वास स्थल है। और उसके सम्पर्क मे आने वाले अवश्यमेव रोग के शिकार होकर रहेगे। अपने पति के पानी के ग्लास की सफाई वाली बात का सम्बन्ध बचपन में कही गई ग्लास के पानी से छूत लग जाने वाली कथा से जोडा जा सकता है। उसके जीवन मे जो भय की भावना थी वही स्थानान्तरित होकर तथा साधारणीकृत हो इस कीटाणुफोबिया के रूप मे परिणत हो गई थी। इसके मूल मे कौन-कौन अचेतन प्रेरणा काम कर रही थी, इस बात का पता लगा लेना किसी मनोविश्लेषण के लिए कठिन नहीं है। यदि मनोविश्लेपक से आप यह पूछें कि कीटाणुओं के आक्रमण से अपने बन्धुओं को बचाने के लिए यह जो लम्बी-चौड़ी सुरक्षा-पंक्ति का निर्माण किया जाता था, सफाई का खिलवाड सा किया जाता था उसका क्या अर्थ है? उसमें कौन सी अचेतन प्रेरणा काम कर रही थी? तो उसके लिये उत्तर देना कठिन न होगा। वह कहेगा कि उसके अचेतन मे यह भावना काम कर रही है कि उसके सब बन्धु-बान्धव भी उसी की तरह सिफलिस के रोग के शिकार हो जाये। इसी भावना के विरुद्ध जो reaction formation हुआ वही इस सफाई के आतिशय्य के रूप मे प्रकट हो रहा है। मै यह नहीं कहता कि झूठा सच में की तारा मे Zoe का रंग क्यों नहीं आया। निवेदन इतना ही है कि यदि लेखक मे अचेतन मनोविज्ञान का संस्कार होता तो उपन्यास ने कुछ दूसरा ही ढंग पकडा होता।

अमेरिकन उपन्यास का उदाहरण

दूसरी ओर Conard Aiken नामक एक अमेरिकन उपन्यासकार की रचनाओं को सामने रखे। उसके प्रायः सभी उपन्यासों मे एक न एक मनोविश्लेपक अवश्य रहता है। वह अवसर कुअवसर पात्रों का विश्लेपण करता है। मनोविश्लेपण की शब्दावलियों का प्रयोग करता है। अनेक उपायों द्वारा पात्र के resistance को हटा कर भीतरी तह तक पहुँचने की चेष्टा करता है। उसके एक उपन्यास Great Circle मे एक स्थान पर ठीक मनोविश्लेपण प्रयोगशाला का वातावरण उपस्थित किया गया है। मुक्त साहचर्य का आश्रय तो लिया ही गया है, मनोविश्लेपक प्रश्न करता है और पात्र उन प्रश्नों का उत्तर देता चला जाता है। अन्त में मनोविश्लेपक जिस निष्कर्ष पर पहुँचता है वह यह है—"In every one of your love affairs, you have tried to make your sweet heart your mother. That's

कहती हैं। लेखक उसी तरह की नायिका है जो मनोविश्लेपण की अपनाता अवश्य है। चाहे इनकार करे या इकरार करे।

यहाँ पर मनोविज्ञान की चर्चा हो रही है। यदि मेरा मनोविज्ञान भी जागृत हो जाये और वह मनोविज्ञान के प्रसिद्ध साहचर्य सिद्धान्त के प्रभाव में आ जाये तो आप इसे अस्वाभाविक नहीं कहेंगे। इसी साहचर्य सिद्धान्त के अनुसार कहीं की पढ़ी हुई बात याद आई। लेखक कहता है कि एक बार फ्रायड ने मुझसे अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर विचार विमर्श करने के बाद अपनी मेज की दराज से एक अमेरिकन पत्रिका निकाली और मुझे पढने के लिये दी। जब तक मैं पढ़ता रहा, वह ध्यानपूर्वक मुझे देखता रहा, और पढ़ने के बाद उस पर मैंने जो टीका-टिप्पणी की उसे भी ध्यान-मग्न होकर सुना। उस पत्रिका मे प्रेसिडेंट वुडरो विलसन के जीवन चरित्र पर अनेक अवाञ्छनीय प्रहार किये गये थे।

विलसन के भापणों तथा उसकी प्रस्तरों का मनोविश्लेपणात्मक अध्ययन किया गया था। Style is the man himself शैली ही मनुष्य की आत्मा है। यह उक्ति आलोचना के क्षेत्र में पर्याप्त प्रचलित है। अतः उसकी शैली और रचना-पद्धति के विश्लेपण द्वारा यह बतलाने की चेष्टा की गई थी कि विलसन परमस्वार्थी, अहम्मन्य, दुष्टात्मा और न जाने क्या-क्या था। जिस लज्जाजनक तथा सस्तेपन के साथ मनोविश्लेपण के सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया था, उस पर मैंने बडे ही आक्रोश के भाव प्रदर्शित किये। फ्रायड ने कहा नहीं, असली बात को तो तुम छोड ही देते हो, अमेरिकन पत्रिकाओं का सतहीपन, हल्का फुलकापन तो खैर मानी हुई बात है। पर इस पर तुम क्या कहते हो कि यहाँ पर तर्क की सेवा मे मनोविश्लेपण को नियोजित तो किया ही गया है।' [१५]

मैं कल्पना करता हूँ कि मैं जिस सस्ते ढंग से मैं मनोविश्लेपण से अपनी बात का समर्थन कराने के लिए काम ले रहा हूँ, उसे जहाँ चाहे वहाँ पर पेर देता हूँ, उस पर आप उंगली उठा सकते हैं। पर फ्रायड के शब्दों को उधार लेकर कहूँ कि जो मनोविश्लेपण यहाँ पर बहुत आडे काम आया है तो उसके विरोध मे आपको कहने के लिए क्या है?

इसी पुस्तक मे अन्यत्र मैंने एक स्थान पर लिखा है कि हिन्दी के कथाकार विष्णुप्रभाकर की कहानी नागफाँस में मनोविश्लेपण विज्ञान का स्पष्ट प्रभाव है। उसका सार दे देना आवश्यक है। एक माँ है, उसका

पुत्र है, जिसके स्वास्थ्य के लिये वह बहुत ही चिंतित है, पर जब दवा देने का समय आता है तो वह दवा गिरा देती है और दवा के नाम पर शुद्ध पानी पिलाती है। उसका व्यवहार ऐसा है जैसे Compulsive neurotic का आचरण होता है। वह जो कुछ करता है वह उसके बावजूद होता है। वह स्वयं कुछ नहीं करती, वह एक ऐसी आंतरिक शक्ति से प्रेरित है, जिसका ज्ञान स्वयं उसको भी नहीं है। वास्तव में माँ माने या न माने पर वह नहीं चाहती कि उसका बालक पूर्ण रूप से स्वस्थ हो और स्वस्थ होकर उसके अधिकार से बाहर हो जाय। उसके तीन-तीन स्वस्थ बेटे आज जीवित हैं जो उससे दूर अलग रहते हैं। कोई कलकत्ता, तो कोई युद्ध के मोर्चे पर।

बात जरा बेतुकी है और अविश्वसनीय सी लगती है। भला ऐसी भी कोई माँ हो सकती है जो अपने पुत्र को स्वस्थ न देखना चाहे। माताएँ तो अपनी संतान के लिये मंगलस्वरूप हैं। कहा हो जाता है कि कुपुत्र हो सकता है तो कुमाता नहीं हो सकती। पर वास्तविकता तो यह है कि सब माताओं में, कई लोगों में प्रेम करनेवाले व्यक्तियों के हृदय में, कहीं न कहीं इस तरह के प्रेमाधिकार Possessive love की भावना छुपी पड़ी रहती है। उनका प्रेम, प्रेम से बढ़कर अधिकार है। विष्णुप्रभाकर ने ही सब प्रथम इस तरह के प्रेमाधिकार की चर्चा कथासाहित्य में की हो सो बात नहीं। विदेशी उपन्यासों में तो इस तरह के अनेक उदाहरण मिल जायेंगे। हिन्दी में भी प्राप्त हो सकेंगे। Oliver Wendall Holmes का उपन्यास है Guardian angel। इसे आलोचकों ने मनोविश्लेषक उपन्यास Psychiatric novel कहा है। उसमें एक पात्र है Myratle Hagard उसके बारे में लिखते हुए लेखक लिखता है। "The family may and often does prefer to have a wife, husband or child sick but subservient to them than one who is well but independent and mature and competent to decide for himself For that reason the family or freinds of the patient may openly or secretly attempt to interrupt the analysis giving reasons for their actions such as expenses involved, too little or sufficient progress questioning the psychic origin of illness and the like

अर्थात् यह बात संभव है और बहुधा पाई भी जाती है कि परिवार के लोग कोई ऐसी पत्नी, ऐसे पति तथा ऐसी संतान को अधिक पसंद करें जो

जरा कमजोर और अस्वस्थ तो हो पर उनके मनोनुकूल हो, वशवर्ती हो। वे ऐसे व्यक्ति को पसंद न करेंगे जो स्वस्थ हो, पर स्वतंत्र, बुद्धिमान तथा अपना कार्य भार संभाल लेने में सक्षम हो। अतः जब रोगी का मनोविश्लेषणात्मक ढंग से विश्लेषण हो रहा हो और यह दीखे कि रोगी की चिकित्सा में सफलता की आशा है तो रोगी के परिवार वाले या मित्र चिकित्सा की प्रगति मे खुले ढंग से या गुप्त रूप से हस्तक्षेप भी कर सकते हैं। इसके लिये देखने में उचित लगने वाले तर्क भी उपस्थित कर सकते हैं यथा चिकित्सा बहुत व्यय-साध्य है, सुधार की प्रगति अत्यन्त धीमी अथवा अपर्याप्त है, रोग की उत्पत्ति मानसिक कारणों से हुई है, उसमे वे शंका कर सकते हैं तथा इसी तरह के अनेक तर्क दे सकते है।

जर्मन उपन्यासकार की एक कहानी का उदाहरण

व्यक्ति के जिस मनोविज्ञान की बात कह रहा हूँ वह विचित्र भले ही लगे पर उसका समर्थन मुझे Thomas Mann की भी एक कहानी में मिला। उसकी कहानी का एक पात्र Tobias Mindernickel बड़ा ही बेढंगा, बदसूरत तथा ऊटपटाग सा पात्र है। ठीक वैसा ही जिसे देखकर स्वस्थ बालकों में चिढाने या तंग करने की प्रवृत्ति जगती है। वह एक छोटा सा, सुन्दर, प्यारा सा लगनेवाला पिल्ला खरीदता है। उसका नाम रखता है Esau इन दोनों मे इतनी घनिष्ट मैत्री स्थापित हो जाती है कि वे अभिन्न हो जाते हैं, एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। एक दिन वह पिल्ला भोजन के लिये जा लपका तो Tobias के हाथ के चाकू से आहत हो गया। इस अवस्था मे Tobias उस पिल्ले को बड़े ही प्यार, कोमलता तथा आद्रता के साथ सेवा करता है, उपचार करता है, घाव पर मलहम पट्टी कर उसे बड़ा संतोष होता है। एक दिन वह पिल्ला पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाता है। अब उसे असहाय होकर अपने स्वामी पर सर्वतोभावेन् निर्भर रहने की आवश्यकता उसे नहीं रहती। उसे अपने स्वामी के रुग्ण प्यार (Morbid tenderness) की परवाह नहीं। वह स्वतन्त्र रूप से खेलकूद कर स्वामी से अलग रह सकता है। यह बात Tobias को बहुत बुरी लगती है और वह पिल्ले की देह मे चाकू भोंक देता है और उसकी मृत देह को लेकर अजविलाप करने लगता है।

कथा साहित्य के मनोवैज्ञानिक अभिप्राय (Motifs) :—

विष्णुप्रभाकर के नागफाँस को, Oliver Wendall Homes के Guardian angel के पात्र को अथवा Thomas mann के Tobias के

व्यापार को ध्यान से देखा जाय तो सबों में एक ही मनोवैज्ञानिक सूत्र काम करता हुआ दिखलाई पड़ेगा। दवा को फेंक देनेवाली माँ, मनोविश्लेषण चिकित्सालय से किसी केस को हटा लेने वाला मित्र, अथवा कुत्ते को फिर से चाबुक भोंक देनेवाला व्यक्ति इन सबों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कोई भी अन्तर नहीं। इलाचन्द जोशी के एक उपन्यास में कुछ इसी तरह की मिलती-जुलती बातें मिलती हैं। आजकल Motifs अर्थात् अभिप्रायों के आधार पर साहित्य के अध्ययन की प्रथा चल पड़ी है। मेरे मन में यह कल्पना जाग्रत होती है कि कोई शोधकर्ता कथासाहित्य में मनोवैज्ञानिक Motifs का अध्ययन क्यों नहीं करता।

हमारे अध्ययन के लिए कुछ मनोवैज्ञानिक Motifs ये हो सकते हैं।

(१) कुमारियों के लिये प्रेम न होकर विवाहित तथा चरित्रभ्रष्ट नारियों के लिये प्रेम होना जिसे Love of harlot या Necessity of a third Injured Party कहा जाता है। कथासाहित्य में प्रायः ऐसे पात्र आते हैं जो सर्वरूपेण अनुगता, समर्पिता पत्नी को प्यार न कर एक पुश्चली एवम् कुलटा के प्रेम पाश में आबद्ध रहते हैं। ठोकरें खाते रहते हैं, पर फिर भी अपनी प्रेयसी के लिये मरते रहते हैं। भर्तृहरि के चेतन मन ने, उनके सामाजिक Super ego ने धिग्ता च मदन च इमाचनाच भले ही कहा हो पर उनका अचेतन तो "या चिन्तयामि सतत मयि सा विरक्ता" को ही प्यार करता होगा। भर्तृहरि के द्वारा उच्चारित श्लोक पर एक क्षण के लिये मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि डालने दीजिये। ठीक उसी तरह जिस तरह एक बार किसी ने बुडरो विलसन की रचनाओं तथा उनकी शैली के आधार पर उनके व्यक्तित्व को पहचानने की चेष्टा की थी और जिसकी चर्चा अभी ऊपर आ चुकी है। आप पूरे श्लोक को ध्यान से सुनिये—

> या चिन्तयामि सतत मयि सा विरक्ता,
> साप्यन्यमिच्छति जन सजनोऽन्योऽन्य सक्त।
> अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
> धिग्ता च तंच मदन च इमा च माच।

क्या आप एक बात नहीं पाते? जिस समय कवि धिक्कृति का उद्घोष करता है, उस समय उसकी वाणी अधिक मुखर हो उठती है, उसमें एक आतिशय्य आ जाता है, जो कलावस्तु, मानव कलाकार न होकर मानव प्रकृत वस्तु की अधिक है। इसमें कलात्मक अनुभूति न हो कर प्रकृत अनुभूति है। इसमें कवि, कला के सिंहासन से उतरकर साधारण भूमि पर उतर आया

है। पर प्रथम तीन पंक्तियों में उसकी कलात्मकता अधिक प्रबल है, वह शब्दों का मीठे-मीठे उच्चारण करता है, कैंची की मार करते हुए चलता। रस ले लेकर बातें करता है। पर अंतिम पंक्ति में रस को उछाल रहा है।

प्रत्येक साहित्य के अध्येता को एक विचित्र बात यदाकदा देखने को मिलती है। लेखक किसी उद्देश्य विशेष को लेकर ग्रंथ की रचना करने में प्रवृत्त होता है। यदि इस पूर्व सोद्देश्यता की बात मानने मे कोई आपत्ति हो और कहा जाय कि नहीं साहित्य स्रष्टा का उद्देश्य सृजन के सिवा अन्यथा कुछ भी नहीं तो इतनी बात मानने में क्या आपत्ति हो सकती है कि पुस्तक को पढने के बाद पाठक को पता चल जाता है कि लेखक के द्वारा किस उद्देश्य की सिद्धि हो रही है। वह किसकी प्रशसा और किसकी निन्दा करना चाहता है। शेक्सपीयर के Merchant of Venice के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वे यहूदियों को अर्थात् शाइलाक का चित्रण गाढ़ी से गाढी स्याही से करना चाहते थे। प्रेमचन्द 'गोदान' मे होरी को अपने उपन्यास के नायकत्व का गौरव देना चाहते थे। पर किसी रहस्यमयी शक्ति ने उनकी लेखनी के रुख को मोड दिया और शाइलाक का चरित्र अधिक चमक उठा। Shylock is more sinned against than sinning, शेक्सपीयर के विद्यार्थियों के लिये बहुत ही परिचित उक्ति है। 'गोदान' मे मालती भी होरी के साथ लेखक की सहानुभूति मे हिस्सा बँटाती सी दीख पड़ती है। कौन सी आतरिक प्रेरणा के कारण लेखक की सचेतन इच्छा के विरुद्ध भी यह अनहोनी सी बात संभव हो सकी? इसका रहस्य मनोवैज्ञानिक बता सकेगा और कहेगा कि यहाँ वही मनोविज्ञान काम कर रहा है, जो मनुष्य की निरीह सी लगने वाली छोटी-मोटी भूलों मे, जीभ की फिसलन मे काम करता है। और मनुष्य की आतरिक गहराई का पता देता है। उसी तरह भर्तृहरि की प्रथम पक्तियों की मृदुता, कलात्मकता और सौमनस्य कवि के हृदय मतलब अचेतन में छिपकर चलने वाली धारा का पता देता है।

(२) अपराध भावना : कथा साहित्य तथा जीवन मे भी ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जिन्हे सफलता कभी नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि नियति ने उनके भाग्य के साथ खिलवाड़ करने के लिये पैदा किया, सफलता मिलते-मिलते ही रह जाती है। अधरों पर आते-आते ही प्याला छलक जाता है, जिह्वा पर आते-आते ही हाला ढुलक जाती है। इतना ही नहीं जब सारी बातें तय हो जाती हैं, ऐसा लगता है कि अब सफलता पैर चूमने वाली ही है कि मनुष्य के द्वारा कुछ ऐसी भूल हो जाती है कि सब चौपट हो जाता

है। मानो उस तरह की भूल करने की उनमें कोई लाचारी हो। कोई आन्तरिक शक्ति है उनको इससे लिये प्रेरित कर रही हो। फ्लावर की Madam Bovary ऐसी ही नारी है, टामस हार्डी की सब नारियाँ ऐसी ही हैं। टेस जहाँ भी जाती है, जिस किसी से प्रेम करती है सब में ट्रेजेडी होता है। जैनेन्द्र के त्याग पत्र की मृणाल, कल्याणी इत्यादि नारियाँ ऐसी है, जिनको सुख और ऐश्वर्य से घिरे रहने पर चैन की सास नहीं। उनके जीवन में कुछ ऐसा है जिसके सम्पर्क में आते ही सोना भी मिट्टी बन जाता है।

मनोविज्ञान कहेगा कि मनुष्य के अन्दर अपराध भावना काम करती रहती है। वह अपने अपराधों के भार से मन ही मन बहुत दबा रहता है और दडित होना चाहता है ताकि वह अपने पर से अपराध का बोझ उतार कर सुख की सास ले सके। इसलिये वह ऐसा काम करता है, जिसके कारण उसे कष्ट उठाना पड़े, दडित होना पड़े कठिनाइयों का सामना करना पड़े। स्टेंडाल का उपन्यास इसका श्रेष्ठ उदाहरण हो सकता है। इस Motif को लेकर जासूसी उपन्यासों में अपूर्व मनोवैज्ञानिक चमत्कार दिखलाने का अवसर है। क्या कारण है कि अपराधी के द्वारा कुछ छोटी सी भूल हो जाती है, रूमाल गिर पड़ता है। सिगरेट की छोटी सी टुकड़ी गिर पड़ता है जिसके आधार पर हत्याकारी का पता पा लेना सहज हो जाता है। अवश्यमेव उसकी अपराध भावना उसे रहस्योद्घाटन अत दडित होने के लिये प्रेरित कर रही है। एक सच्ची घटना है। एक हत्याकारी के अपराध का पता किसी तरह नहीं चलता था। अत जेल में रखा गया। वहाँ कारावास के दिनों में उसने एक हत्याकारी की कहानी लिखी और उसी कहानी के आधार पर उसकी हत्या का पता लगाया जा सका। अत इस Motif को लेकर अनेक दिव्य उपन्यासों की रचना हो सकता है।

मैं व्यक्तिगत रूप से ऐसे व्यक्तियों को जानता हूँ जिनके जीवन में हर तरह की सुविधा है, वे औरों से अधिक भाग्यशाली भी हैं, नियति मानो स्वय अपने हाथों से उनके मार्ग की कठिनाइयों को बुहार कर साफ कर देती है, सरकारी सेवा कार्य में उन्हें सब प्रकार की सहायता मिलती रहती है, पर जहाँ वे पदासीन हुए कि अपने आफीसरों का *कोपभाजन होना मानो* उनका एक लक्ष्य हो जाता है, उनसे जाने या बेजाने ऐसी हरकतें होती रहती हैं, जो दूसरे को असतोष को जागरित करे। वे बड़ी नम्रता से बातें करेंगे, क्षमा-याचना भी करेंगे। पर इन सब विनयपत्रिका में एक ऐसा ढग होगा,

ऐसी बात होगी जो "नवन नीच की अति दुखदायी" बन जायेगी और श्रोता के हृदय की आक्रोश भावना को जाग्रत करेगी।

लेकिन व्यक्तिगत बात कहने का यह अवसर नहीं है। मैं तो मनोविज्ञान के ग्रन्थों में पढ़े सच्चे उदाहरणों को ही अपनी बात से समर्थन के लिए उपस्थित करूँगा[१६] Take any chance case A young man in financial straits tried hard to get a job; he constantly found himself before shut doors. When he was given a hearing he was never theless rejected after a short-time In such cases we are of course inclined to suppose that there were few-jobs open, that our young man was just a victim of unfavourable economic condtion. Analysis shows that it was often partly the case In every case when the youngman succeeded in getting an interview with the head of a firm, he made some faux pas, behaved awkwardly or arrogantly, suddenly knew nothing about something with which he was usually familiar. There could be no doubt that he unconciously spoiled his own chances. The analysis showed that he almost staged it, often and with peculiar subtlety, as if he had waited unconsciously for the very moment when he could count upon getting the job, to pull his boner. It really seemed as if he could foresee, calculate exactly the effect of some little awkwardness or exposure of himsif. It all happened so accurately as if with calculated skill or as in a play.

इसी ग्रंथ में उसी स्थान पर से एक दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है।[१७]

A Girl wanted very much to get married and wondered why all men turned away from her after a while. From the report of her conversation with some of them I was able to show her that she told them rude and sharply critical things which she thought she was amusing them with her frankness. Unnconsciously she destroyed her own chances, the behaiour of the men shows they were offended. Did she not want to offend them ? She was unconsciously hostile to them.

एक लड़की शादी के लिये बहुत उत्सुक थी, पर इस बात पर उसे बहुत

है, वही है जो बाह्य घटना चक्रों के माध्यम से ही अपने स्वरूप का प्रस्फुटित कर सकती थी। दूसरे किसी रूप में ढालने के प्रयत्न से उसका विकृत रूप ही सामने आता। नहीं तो गोदान, 'रंगभूमि', 'सेवासदन', 'कायाकल्प' जैसे बृहद्‌काय उपन्यासों का जिनके सामने 'चन्द्रकान्ता सतति' के उपन्यास छोटे (Pigmy) जान पड़ें दूसरा अर्थ ही क्या हो सकता है? कहा जा सकता है कि किशोरीलाल गोस्वामी ने ६५ उपन्यासों की सृष्टि की, गहमरी जी ने १५० की पर परिमाण दृष्टि से भी प्रेमचन्द जी की उपन्यास कला उन्हें अगस्त ऋषि की तरह सोख ले सकती है। हाँ, प्रेमचन्द जी का महत्व यही है कि वाह्याचार की इस धूम धाम में, रेल पेल में भी उन्होंने पात्रों का मनोवैज्ञानिकता का थोड़ा बहुत समावेश किया। उनके आन्तरिक जीवन और प्रवृत्तियों के प्रदर्शन करने की चेष्टा की और इस रूप से की उस नक्कारखाने में तूती की आवाज भी सुनी जा सकी, बाहर के तुमुल कोलाहल में भी हृदय की वशी की माधुरी भी प्राप्त हुई। यह कम प्रतिभा तथा प्राण वत्ता का काम नहीं।

कुछ उदाहरण

सेवा सदन से

अपने कथन की पुष्टि के लिये प्रेमचन्द के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों से उदाहरण ले लेना समीचीन होगा। यों तो प्रेमचन्द हिन्दी में इसके पहिले भी एक दो अन्य उपन्यासों की रचना कर चुके थे। पर एक सफल उपन्यासकार के रूप में वे 'सेवासदन' के साथ ही उपस्थित हुए। सेवासदन के प्रथम परिच्छेद में ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हम ऐसे औपन्यासिक के सम्पर्क में आ रहे हैं जिसका ध्यान वाह्य स्तूपाकार घटनाओं की सजावट के साथ हृदय के अन्तर्द्वन्द्व की ओर भी गया है। दारोगा श्री कृष्णचन्द्र बड़े ही उदार, सज्जन, रसिक और सबसे ऊपर ईमानदार व्यक्ति थे। रिश्वत को वे काला नाग समझते थे। पर अपनी लाडली बेटी सुमन के विवाह में खर्चे की समस्या आई तो उनका सिद्धान्त निष्ठा और आदर्शवादिता हिलती सी जान पड़ी। ऐसी ही मानसिक अवस्था में वे एक तहकीकात में जाकर रिश्वत के रूप में दिये जाने वाले रुपये के सामने की कथा प्रेमचन्द के शब्दों में सुनिये।[२]

"एक ओर रुपयों का ढेर था और चिन्ता व्याधि से मुक्त होने की आशा दूसरी ओर आत्मा का सर्वनाश और परिणाम का भय। न हाँ करते बनता था न नाहीं।"

"जन्म भर निर्लोभ रहने के बाद इस समय अपनी आत्मा का बलिदान करने मे दारोगा जी को बडा दुख होता था। वह सोचते थे यदि यही करना था तो आज से पच्चीस साल पहिले ही क्यों न किया। अब तक सोने की दीवार खडी कर दी होती, इलाके ले लिये होते। इतने दिनों तक त्याग का आनन्द उठाने के बाद बुढापे मे यह कलंक! पर मन कहता था इसमे तुम्हारा क्या अपराध? तुमसे जब तक निभ सका निभाया। भोग विलास के पीछे अधर्म नहीं किया, जब देश काल प्रथा और बन्धुओ का लोभ तुम्हे कुमार्ग की ओर ले जा रहा है तो तुम्हारा क्या दोष? तुम्हारी आत्मा अब भी पवित्र है। तुम ईश्वर के सामने अब भी निरपराध हो। इस प्रकार तर्क से दारोगा जी ने अपनी आत्मा को समझा दिया।

"लेकिन परिणाम का भय किसी तरह पीछा नहीं छोडता था। उन्होंने कभी रिश्वत नहीं ली थी। हिम्मत न खुली थी। जिसने कभी किसी पर हाथ न उठाया हो वह सहसा तलवार का वार नहीं कर सकता। यदि कहीं बात खुल गई तो जैसे जेलखाने के सिवाय कहीं और ठिकाना ही नहीं है। सारी नेकनामी धूल मे मिल जायेगी। आत्मा तर्क से परास्त हो सकती है पर परिणाम का भय तर्क से दूर नहीं होता। वह पर्दा चाहता है।"

इन पक्तियों पर किसी तरह की टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। स्पष्ट है कि उपन्यासकार मानव-मस्तिष्क की आन्तरिक प्रतिक्रियाओं को पकडने का प्रयत्न कर रहा है।

सेवासदन के पात्र के मनोविज्ञान की जटिलता का उदाहरण

ऊपर का दिया हुआ उदाहरण एक सीधे-सादे और साधारण मनोविज्ञान का है, जिसमे कहीं भी जटिलता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में यथा अवसर इस तरह का अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होना स्वाभाविक है। पर मानव मन की जटिलता की कोई सीमा नहीं, उसमे इतनी गुत्थियाँ होती है कि उनके रूप रंग की गणना हो नहीं सकती। कल हम जिस वस्तु या व्यापार से अपना कुछ भी सम्पर्क स्थापित करने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे, जिस बात को जिह्वा पर लाना भी हमारे लिये कठिन होता, वही आज मेरा सर्वस्व हो जाती है। पद्मसिंह सदन के लिये घोड़ा खरीदना चाहते थे पर प्रश्न ५०० रुपयों का है। उसी उधेड़-बुन में है कि अपनी पत्नी गंगाजली से बाते होने लगती है। वार्तालाप पर्याप्त मनोरंजक है, पर अन्त मे जब गंगाजली बड़ी कठिनाई से पेट काट कर जोडे हुए रुपये उन्हें दे देती है,

तो उनके मुख पर खेद और लज्जा का रंग प्रकट होने लगा और वे कहने हैं[१] "मैं जाता हूँ, घोड़े को लौटा देता हूँ। यह कह दूँगा सितारा पेशानी है या और कोई दोष लगा दूँगा। सदन को बुरा लगेगा इसलिये क्या करूँ।"

कहाँ तो वे रुपये की चिन्ता के मारे घुले जा रहे थे, कहाँ रुपये प्राप्त होने पर उदासीनता। इसके लिये अवश्य मनोवैज्ञानिक कारण होना चाहिये। प्रेमचन्द सतर्क हैं।[४]

"यदि रुपये देने के पहले सुभद्रा ने यह प्रस्ताव किया होता तो शर्माजी बिगड़ जाते, उसे सज्जनता के विरुद्ध समझते और सुभद्रा को आड़े हाथों लेते। पर इस समय सुभद्रा के आत्मोत्सर्ग ने उन्हें वशीभूत कर लिया था। समस्या यह थी कि इधर सज्जनता दिखायें या बाहर। उन्होंने निश्चय किया कि घर में ही इसकी अवश्यकता है, किन्तु हम बाहर वालों की दृष्टि में मान मर्यादा बना रखने के लिये घरवालों की कम परवाह करते हैं।" एक पत्थर से।दो पक्षियों का शिकार करना ही चातुर्य का लक्षण समझा जाता है। पर यहाँ पर तीन पक्षियों का शिकार किया गया है। मनोविज्ञान के तीन पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। पद्मसिंह रुपये के लिये चिंतित क्यों थे, रुपये मिले तो विरक्ति क्यों आ गई और यदि विरक्ति आ गई तो वे उस पर दृढ़ क्यों न रह सके।

मनुष्य का चित्त बहुत ही डाँवाडोल होता है। कभी हम आवेश में या भावुकता में कोई काम कर बैठते हैं। परिणाम की जरा भी परवाह नहीं करते। बाद में उस अवाञ्छनीय परिणाम के लिये अपने को उत्तरदायी समझकर अनुताप की अग्नि में जलते रहते हैं। एक समय आता है कि परिणाम का उत्तरदायित्व दूसरों के सिर मढ़कर सतोष की साँस लेते हैं। पुन एक लहर ऐसी आती है जो इस सुरक्षा के बालू की भीति को ढाह देती है और हम अनुताप की आंच में और भी परितप्त होने लगते हैं। सेवासदन में पद्मसिंह के चरित्र में हम मानव मनोवृत्ति की इस चचलता का दर्शन पाते हैं।

अपने पति गजाधर के द्वारा निरादृत होकर सुमन पद्मसिंह जी के यहाँ शरण लेती है, पर २४ घटे भी नहीं रहने पाई कि समाज में निन्दा के भय से तथा मित्रों के व्यंगों के कारण वे उसे अपने घर से बाहर निकल जाने की आज्ञा देते हैं। अपने अन्तिम अवलम्ब से हीन होकर सुमन दाल मंडी के कोठे पर जाकर वेश्या वृत्ति स्वीकार कर लेती है। जब पद्मसिंह को यह

बात मालूम पड़ती है तो इस घटना के लिए अपने को ही उत्तरदायी समझने के भाव का बोझ उनके लिये असह्य हो उठता है और किसी तरह इसको अपने ऊपर से टाल कर ही शाति मिलती है। इस समय उनके दिल में वारम्वार यही प्रश्न उठ रहा था कि इस दुर्घटना का उत्तरदाता कौन हो? उनकी विवेचना शक्ति पिछली बातों की आलोचना कर चुकी थी। "यदि मैंने उसे घर से न निकाल दिया होता तो इस भाँति उसका पतन न होता। मेरे यहाँ से निकल कर उसे कोई ठिकाना न रहा। क्रोध और नैराश्य की अवस्था मे वह भीषण अभिनय करने को वाध्य हुई। इसका सारा अपराध मेरे सर पर ही है।"

"लेकिन गजाधर सुमन से इतना क्यों बिगड़ा। वह कोई पर्दानशीन स्त्री न थी। मेले ठेले में आती जाती थी। केवल एक दिन जरा देर हो जाने से उसे कठोर दण्ड न देता। वह उसे डाँटता। सम्भव है दो चार धौल लगाता। सुमन रोने लगती। गजाधर का क्रोध ठंडा पड़ जाता। वह सुमन को मना लेता। बस झगड़ा तय हो जाता। पर ऐसा नहीं हुआ कि विट्ठलदास ने वहाँ पहिले से ही आग लगा दी थी। निस्सन्देह सारा अपराध उन्हीं का है। मैंने भी सुमन को निकाला तो उन्हीं के कारण। उन्हीं ने सारे शहर में बदनाम करके मुझे निर्दयी बनने पर विवश किया।[५] इस भाँति विट्ठलदास पर दोषारोपण करके शर्मा जी को थोड़ा धैर्य हुआ, इस धारणा ने पाश्चाताप की वह आग ठंडी की जो महीनों से उनके हृदय में धधक रही थी। उन्हे विट्ठलदास को अपमानित करने का एक मौका मिला था। घर पहुँचते ही विट्ठलदास को पत्र लिखने बैठ गये-कपड़े उतारने की भी सुधि न रही।

कुछ दिन पश्चात् वह अवसर आता है जब कि शर्मा जी के भतीजे सदन द्वारा प्रणयोपहार के रूप में समर्पित कगन को लौटाने के लिये सुमन आती है और शर्मा जी से मिलती है। उस समय सुमन की बातों को सुनकर शर्मा जी एक बार पुनः निरस्त्र हो जाते है और पश्चाताप की साकार मूर्ति उनके सामने आकर खड़ी हो जाती है। उस समय सुमन और शर्मा जी के वार्तालाप का कुछ अंश देख लेना आवश्यक है।[६]

पद्मसिंह : मुझे बार-बार यह वेदना होती है, अगर उस अवसर पर मैंने तुम्हे अपने घर से जाने के लिये न कहा होता तो यह नौबत न आती।

सुमन : तो इसके लिये लज्जित होने की आवश्यकता क्या है। अपने-अपने घर से निकाल कर बड़ी कृपा की, मेरा जीवन सुधार दिया।" शर्मा

जी इस ताने से तिलमिला उठे, बोले "अगर यह कृपा है तो गजाधर पाण्डे और विट्ठलदास की है। मैं इसका सारा श्रेय नहीं चाहता।"

सुमन शर्मा जी मेरा मुँह न खुलवाइये। मन की बात मन में ही रहने दीजिये, लेकिन आप जैसे सहृदय आदमी से मुझे ऐसा आशा न थी। आप चाहे समझते हों कि आदर और सम्मान की भूख बड़े आदमियों को ही है। किन्तु दीन दशा वाले प्राणियों का उससे भी अधिक होती है मेरे मन में नित्य यही चिन्ता रहती थी कि आदर कैसे मिल। इसका उत्तर मुझ कितनी ही बार मिला लेकिन आपक होली वाले जलसे क दिन जो उत्तर मिला उसने मेरा भ्रम दूर कर दिया। मुझ आदर और सन्मार्ग का रास्ता दिखा दिया। यदि मैं उस जल्से में न आता तो आज म अपने झोंपड़े म ही स तुष्ट होती। आपको मैं बहुत सच्चरित्र पुरुष समझती थी इसके लिये आपकी रसिकता का प्रभाव मुझ पर और भी पड़ा। भोली बाई आपक सामने गर्व से बैठी हुई थी, आप उसक सामने आदर और भक्ति की मूर्ति बने हुए थे।

शर्मा जी ने सर नहीं उठाया, स्तंभित हो गय। चिंतामग्न हो गये कि कोई सामने आकर खड़ा भी हो जाता तो उन्हें जरा भी खबर नहीं होती। वह बड भावुक मनुष्य थे, उन्हें अपने व्यवहार पर, आचार विचार पर, अपने कर्त्तव्य पालन पर अभिमान था, आज वह अभिमान चूर चूर हो गया था। जिस अपराध को उन्होंने गजाधर और विट्ठलदास के सर मढ़ कर अपने को सतुष्ट किया वही आज सौगुने बोझ के साथ सिर पर लद गया। मानव मन की अस्थिरता का, उसके रेशनलाइजेशन (Rationalisation) करने की प्रवृत्ति का, सद्सूचना (Suggestion) क द्वारा प्रभावित होने वाली मनोवृत्ति का यह अच्छा उदाहरण है। सेवासदन का प्रकाशन १६१६ में हुआ था। तब तक हिन्दी के लेखकों और पाठकों का प्रायड तथा उनका मनोवैज्ञानिक मान्यताओं का परिचय नहीं प्राप्त हो सका था, फिर भी उपन्यासकार की प्रतिभा मानव मन की उस गहराई को अपनी पकड़ में ला रही थी इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

सेवासदन से विषकुम्भ पयोमुख का उदाहरण

सेवासदन से एक और उदाहरण लीजिये जिसमें प्रेमचन्द मनुष्य की विषकुम्भ पयोमुख वाली मनोवृत्ति का परिचय दे रहे हैं। मनुष्य के बाह्य-

चरण तथा क्रियाये भले ही सुन्दर, सदय तथा उच्च भाव प्रेरित मालूम पडें पर सम्भव है कि उनके मूल मे वीभत्सता, निर्दयता तथा नीचता का प्रवाह बहता हो। उसके गहरे मूल मे मानवता को कलंकित करने वाली ईर्ष्या की गाँठ हो। पाठक जानते है कि सदन ने अपने पैरों पर खडे होने की शक्ति प्राप्त कर ली है। वह शान्ता को पत्नी के रूप मे ग्रहण करने के लिये कटिबद्ध है और अपना निर्णय वह चाची से बतलाता है। चाची उसका समर्थन जी खोलकर करती है। सुभद्रा ने उसकी प्रशसा की। बोली "बाप-माँ के डर से कोई अपनी व्याहता को थोडे ही छोड देता है। दुनिया हँसेगी तो हँसा करे। क्या उसके डर से अपनी पत्नी की जान ले लें। तुम्हारी अम्मा से डरती हूँ, नहीं तो उसको यहाँ ही रखती। सदन ने कहा, "मुझे अम्मा दादा की परवाह नहीं।"

सुभद्रा : "बहुत परवाह तो की इतने दिनों तक वेचारी को घुलाघुला कर मार डाला। कोई दूसरा लड़का होता तो पहले ही दिन फटकार देता। तुम हो कि इतना सहते हो।"[७]

सुभद्रा की बातों को सुनकर पाठक का हृदय श्रद्धावनत होने को तैयार होता ही है कि झरोखे पर बैठकर सब के करतब का मुजरा लेने वाले राम की तरह औपन्यासिक चट से कह उठता है "सुभद्रा, यदि यही बाते तुमने पवित्र भाव से कही होतीं तो हम तुम्हारा कितना आदर करते? पर तुम इस समय ईर्ष्या और द्वेष के वश मे हो। तुम सदन को उभार कर अपनी जेठानी को नीचा दिखाना चाहती हो। तुम एक भ्राता के पवित्र हृदय पर आघात करके उसका आनन्द उठा रही हो।"

रङ्गभूमि से हीनता की भावना ग्रन्थि का उदाहरण : प्रेमचन्द के मनोवैज्ञानिक टेकनीक में विकास

इसी तरह के उदाहरण अन्य उपन्यासों प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि तथा गोदान से प्रचुर मात्रा मे उपस्थित किये जा सकते हैं जहाँ सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान उपन्यासकार भगवान की तरह सर्व व्यापी है, सबकी बातों को जानता है और अपनी सृष्टि के बाह्य और आन्तरिक रहस्य का वर्णन करता जा रहा है। ज्यों-ज्यों प्रेमचन्द की उपन्यास कला का विकास होता गया है त्यों-त्यों इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति बढती गई है। यहाँ तक कि एक परिच्छेद मे तीन-तीन चार-चार मनोवैज्ञानिक जटिलताओं एवं पेच के रहस्योद्घाटन के अवसर भी प्रेमचन्द जी ने निकाल

"प्रेमचन्द के पहिले के साहित्य को हम विलास का साहित्य कह सकते हैं"
विलास का साहित्य न कह कर यान्त्रिक साहित्य, रूढ़ि का साहित्य कहें तो और भी अच्छा, कारण कि विषय के निर्वाचन में कथावस्तु के सगठन में, मनोभावों की अभिव्यक्ति के ढग में लेखक सर्वथा परतन्त्र था। उसको कुछ नियमों का पालन करना ही पड़ता था जिसका परिणाम यह होता था कि साहित्य केवल मनोरंजन तथा थोड़े विश्राम से बढ़कर किसी गम्भीर वस्तु का रूप न ले सकता था। लेखक की सारी प्रतिभा या प्रतिभा का एक बड़ा अंश नियमों की अनुरूपता की रक्षा करने में ही लग जाता था, न तो पात्रों को स्वतन्त्रता थी, न लेखकों को। अत मनोविज्ञान के नाम पर जो कुछ वस्तु प्राप्त होती थी वह मनोविज्ञान न होकर मनोविज्ञान का विद्रूप या आभास था। प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यासों की कथावस्तु भी ले देकर यही होती थी। किसी सद्‌शील नवयुवक का कुसंगति के कारण पतन तथा अनेकों विपत्तियों के पश्चात् किसी सही हितैषी द्वारा उसका आत्मोद्धार। चाहे कथावस्तु ऐतिहासिक ही क्यों न हो पर उसकी इस भूमि पर लैला मजनू की तर्ज की स्थूल वासनात्मक प्रेम की कथा, घटना वैचित्र्य पूर्ण पर मनोभाव तथा चरित्र चित्रण से रहित बुद्धि को चक्कर में डालने वाली सनसनीखेज कथा, किसी हत्या या डकैती का रहस्योद्घाटन जो देखने में बड़ा ही जटिल मालूम हो पर वास्तव में है नहीं। किसी दीन दुखी मनुष्य या विपत्ति के चगुल में पड़ी निरीह बालिका का उद्धार इत्यादि विषय ही कथा के लिये उपयुक्त समझे जाते थे। आज के मनोविज्ञान की दृष्टि से उनमें सबसे खटकने वाली बात था व्यक्तित्व का अभाव। हम तो न लेखक को ही देख सकते थे और न पात्रों को। हमारा ध्यान भूतनाथ, भैरों, या इन्द्रजीत के प्रति नहीं रहता था बल्कि उनके हैरत अगेज कारनामों की ओर था।

कहने का अर्थ यह है कि चारों ओर जड़ता का साम्राज्य था। लेखक जड़, पात्र और उनकी कार्यवाहियाँ भी जड़। पात्रों को लेखक के हाथ की कठपुतली न कह कर उन्हें जड़ता दोष ग्रसित कहें तो ठीक होगा। पर प्रश्न यह होता है कि लेखक जिसकी कल्पना की विभूति पर मुग्ध होकर लोगों ने हिन्दी पढ़नी सीखी थी उसे जड़ता दोष का भागी बनाना क्या भ्रामक नहीं? उन लेखकों को पढ़ कर विज्ञान द्वारा निर्मित यन्त्र मानव का चित्र उपस्थित हो जाता है। ये यन्त्र आपके प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं। बड़े-बड़े गणित के प्रश्न हल कर सकते हैं। वैसी-वैसी गुत्थियों को सुलझा सकते हैं जो

साधारण मानव के लिये कठिन है। पर क्या उनमे वह सजीवता पायी जाती है जो एक अबोध ज्ञानहीन बालक मे दर्शित होकर हमारे मन को तृप्त करती है ? पहिले के औपन्यासिक पात्र ऐसे ही यंत्रमानव है जिनकी कारीगरी, कार्यवाहियों को देख कर दांतों तले उँगली दबाने पडे पर फिर भी यही कारण है कि उनमें वैविध्यता नहीं मिलती, अनेक रूपता नहीं मिलती और नहीं मिलती हैं वे सजीव मनोवृत्तियाँ जो अपनी सजीवता के सम्पर्क से पाठकों के जीवन में ज्योति जगा दे। उनके विषय सीमित है, उनके रेफ्रेंस सीमित हैं। मानो उपन्यास का पैर एक छोटी सी रस्सी मे बाँध कर रख दिया गया हो और अपनी सीमा में वह उछल-कूद कर, अपनी कला बाजी दिखला कर लोगों को आश्चर्य चकित कर ले पर उनके हृदय को स्पर्श नहीं कर सके। प्रेमचन्द जी एक सदय कलाकार के रूप मे आये, उन्होंने एक झटके से रस्सी तोड तो नहीं दी, पर बधन अवश्य ढीला कर दिया, रस्सी को अधिक विस्तृत कर दिया और उपन्यास रूपी घोड़ा अधिक विस्तृत मैदान से हरित तृण पल्लवों को चुगने लगा। उसमे विविधता आई, वैचित्र्य आया और मानव तथा उसकी मनोवृत्तियों के मूल्याकन की महत्वाकाक्षा आई। किसानों, वेश्याओं, मजदूरों, विधवाओं, देश सुधारकों, जमीदारो, त्यागी तपस्वियों, प्रेमी प्रेमिकाओं, छोटे-छोटे बच्चों, स्त्रियों का आभूषण प्रेम-अदालतों की धाँधली, सत्याग्रह संग्राम ऊपर से सुन्दर वेशभूषा से सुज्जत होकर मानव की कुटिल और घातक मनोवृत्तियाँ, दाम्पत्य जीवन की समस्याओं की वास्तविक छान-बीन सामने आई। अर्थात् जीवन का शायद ही कोई पहलू हो जिन्हें प्रेमचन्द जी ने न छेड़ा हो। प्रेमचन्द ने मनुष्य को मनुष्य समझा तथा उन्हे वाणी दी और मुखरित किया।

कथोपकथन

उन्हे वाणी दी, उन्हे मुखरित किया इन शब्दों का प्रयोग एक विशेष मतलब से किया गया है। प्रेमचन्द के पूर्व के जितने उपन्यास है वे मूक हैं, उनके पात्र शायद ही कहीं वार्तालाप करते दिखलाये गये हो। कहीं भी दो चार महत्वपूर्ण कथोपकथन कठिनता से देखने को मिलेगे। उनकी तुलना हम मूक चित्रपट से कर सकते है जिसमे पात्रों के वाह्य क्रिया-कलाप तथा अभिनय से ही हम उनके व्यक्तित्व का पता लगा सकते हैं, उनके हृदय की मूल प्रवृत्तियों की झाँकी पा सकते है । यदि अभिनय मे किसी तरह के कौशल का अभाव हुआ तो दर्शक इस तरह उनमे उलझ जा सकता है कि

मानव का ओर देखना ही भूल जाय। यही हालत प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों की थी।

प्रेमचन्द का औपन्यासिकता के चार मुख्य स्तंभ हैं वर्णनात्मकता, घटनात्मकता, कथोपकथन तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। यदि इन्हीं चारों के टर्म्स में, इनकी ही ओर से प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों पर विचार किया जाय तो हम यह पायेंगे कि उनमें ९५ प्रतिशत वर्णनात्मकता और घटनात्मकता है। (इन दोनों को हम फिलहाल एक ही मान लेते हैं।) और ५ प्रतिशत में ही कथापकथन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आ जाते हैं। कथापकथन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तो नहीं के बराबर हैं। पर प्रेमचन्द के उपन्यासों मे इनका अनुपात होगा ५०, ३०, २० अर्थात् ५० प्रतिशत वर्णनात्मकता और घटनात्मकता, ३० प्रतिशत कथोपकथन तथा २० प्रतिशत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण। प्रेमचन्द के प्रातिभ ज्ञान ने देखा कि पात्रों की आन्तरिक जीवन धारा को, उनकी मूल मनोवैज्ञानिक प्रेरणा को उपन्यास के उपजीव्य बनाने के लिये, उसके भार को समुचित रूप से वहन करने के लिये कथोपकथन का आधार मिलना ही चाहिये। ५० वर्षों के प्रयोग के बाद हिन्दी की उपन्यास कला ने कथापकथन के महत्व को पहिचाना और उसे उपन्यास के क्षेत्र में स्थान मिलने लगा। पूर्ववर्ती कथाओं के पात्र जड़ थे, मस्तिष्कहीन थे, उनको अपने मनोविज्ञान का पता न था। अत उनके आधार पर रचित उपन्यास भी मूक थे, उनमें कथापकथन का अभाव था। पर प्रेमचन्द ने उनमें जीवन का मंत्र फूँका, उन्हें अपनी आन्तरिक शक्ति की स्मृति दिलाई, उनकी मनोवैज्ञानिक आत्मनिरीक्षण (Introspection) और अतीत पर्यवेक्षण (Retrospection) से सम्बन्धित किया।

अंग्रेजी के विख्यात उपन्यासकार स्काट के उपन्यास अपने सजीव कथोपकथन के लिये प्रसिद्ध हैं। उनके उपन्यास के दो पात्रों ने एक स्थान पर वार्तालाप कराते हुए कहा है "तुम्हारे पात्र मुख रूपी यन्त्र से अत्यधिक काम लेते हैं वे बहुत बकवास करते हैं, कहीं कहीं तो पूरे के पूरे पन्ने में महज वार्तालाप के सिवा कुछ नहीं"[२२] जिसके उत्तर में दूसरा कहता है "इसी से प्राचीन दार्शनिकों का कथन था "मुख से बोलो ताकि तुम्हें जान सकूँ।" बिना कथोपकथन के दूसरा साधन ही क्या है जिसके द्वारा रचयिता नाटकीय पात्रों को अपने पाठक के सामने उपस्थित कर सके। कथोपकथन के द्वारा ही तो पात्र अपने वास्तविक रूप को अभिव्यक्त कर सकते हैं।[२३] ये

शब्द प्रेमचन्द जी की ओर से भी कहे जा सकते है। उनके किसी पात्र के मुख से यह बात सुनी नहीं जाती। पर उपन्यास क्षेत्र मे उनके पात्रों ने वार्त्तालाप का जैसा व्यावहारिक उपयोग किया है, उससे उनकी अन्तर्ध्वनि स्पष्ट है। एक आलोचक के शब्दों मे "सच तो यह है कि कथोपकथन की चुस्ती और सरसता ही प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्राण है।" मैं अपनी ओर से इतना ही मिला देना चाहता हूँ कि यह चुस्ती और सरसता इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी उपन्यास कला बाह्य क्षेत्रों का मोह त्याग कर आन्तरिक प्रदेश की ओर प्रयाण कर रही है।

प्रेमचन्द के किसी उपन्यास मे अनायास ही दो प्रकार के कथोपकथन पाये जाते है। छोटे-छोटे, हल्के-फुल्के, तथा बडे-बडे, धीर गम्भीर। परन्तु दोनों अपने तौर पर अभीष्ट-साधक हैं। या तो वे कथावस्तु को अग्रसर करते हैं या वे वार्तालाप के द्वारा पात्रों के हृदय की आन्तरिक स्वस्थता या अस्वस्थता, कोमलता या दृढ़ता का परिचय देते हैं। 'रङ्गभूमि' के प्रारम्भिक पन्नों मे ही गनेश गाड़ीवान ने सूरदास से पूछा "क्यों भगत, व्याह करोगे?

सूरदास ने गर्दन हिलाकर कहा "कहीं है डौल?"

गनेश ने कहा है "क्यों नहीं। एक गाँव मे सुरिया है तुम्हारी ही जाति बिरादरी की है। कहो तो बातचीत पक्की करूँ। तुम्हारी बारात मे दो दिन मजे से बाटियाँ लगे।

सूरदास : कोई ऐसी जगह बताते जहाँ से धन मिले और इस भिखमङ्गी से छुटकारा मिले। अभी अपने ही पेट की चिन्ता है। तब एक अन्धी की और हो जायगी। ऐसी बेड़ी पैर मे नहीं डालता। बेड़ी ही हो, तो सोने की तो हो।

गणेश : लाख रुपये की मेहरिया न पा जाओगे। रात को तुम्हारे पाँव दबायेगी। सिर मे तेल डालेगी तो फिर एक बार जवान हो जाओगे। ये हड्डियाँ फिर न दिखाई देंगी।

सूरदास : तो रोटियों का सहारा भी जाता रहेगा। ये हड्डियाँ देख कर लोगों को दया तो आती है। मोटे आदमियों को भीख कौन देगा। उल्टे और ताने मिलते हैं।

गणेश : अजी नहीं वह तुम्हारी सेवा भी करेगी और तुम्हे भोजन भी देगी। बेचन शाह के यहाँ तेलहन झाडेगी तो चार आने रोज पायेगी।

सूरदास तब तो और दुर्गति होगी। घरवाली की कमाई खाकर किसी को मुँह दिखाने काबिल भी नहीं रहूँगा।

प्रेमचन्द के कथोपकथन की विशिष्टता

इन पंक्तियों में कुछ भले ही न हो, पर सूरदास के आन्तरिक स्वास्थ्य का पता चल जाता ही है। हम समझ जाते हैं कि यह व्यक्ति किस धातु का बना है। यह दुनिया के संग्राम को हँसी खुशी से लेने वाला दृढ़ चित्त व्यक्ति है।

'रङ्गभूमि' की दो जिल्दें उत्तम से उत्तम, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट, हृदय को उन्मत्त तथा पस्त कर देने वाले वैविध्य पूर्ण वार्तालापों का, जीवन के प्रत्येक पहलू का समझाने वाले कथापकथन का भण्डागार है। उसके प्रथम भाग का तृतीय परिच्छेद ४६ पन्नों में समाप्त हुआ है और उसमें करीब करीब १२५० पंक्तियाँ हैं। जिनमें १२०० पंक्तियाँ तो केवल संवादों को ही दी गई हैं। दूसरा ओर चन्द्रकान्ता संतति के सातवें हिस्से के प्रथम बयान को लीजिये। इसमें सात पन्ने और २२० पंक्तियाँ हैं जिनमें करीब ६० पंक्तियाँ वार्तालाप को दी गई हैं। यों साधारण दृष्टि से यही मालूम होता है कि संतति में भी, 'रङ्गभूमि' से न्यून हो सही पर, कथापकथन पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। पर वे वार्तालाप न होकर स्थूल क्रियायें ही हैं। उन्हें वार्तालाप कहना एक महज प्रथा का पालन होगा। मनोविज्ञान के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए बतलाया गया है कि आचरणवादी सम्प्रदाय के मनोवैज्ञानिक मानव विचार प्रक्रिया (Thinking) को भी मुखोच्चारण मानते हैं। बोलने में और विचारने में प्रकार का अन्तर नहीं केवल डिग्री का, रूप का अन्तर है। उच्चारण श्रवण ग्राह्य होते हैं, पर विचार नहीं होते। वे (Subvocal talking) उपवाक कथन अर्थात् मौन कथन हैं जो मन ही मन होते हैं बस और कोई अन्तर नहीं।[१७] उसी तरह संतति के कथोपकथन में हम पात्रों का स्थूल बाह्य किया कलापों को ही किंचित् प्रवर्तित रूप पाते हैं, उसमें वाह्यनिष्ठता (Objectivity) ही अधिक है आत्मनिष्ठता (Subjectivity) कम। हम बाला अवश्य सुनते हैं। उसे सुनकर आश्चर्य चकित भी होते हैं पर उसमें तात्कालिकता है, कथा को आगे भर कर देना ही उसका लक्ष्य है। बोलने वाले का आन्तरिक प्रवृत्तियों और मनोभावों की निवृति नहीं।

प्रेमचन्द के कथोपकथन

यदि मानव व्यक्तित्व को टुकड़-टुकड़ कर देखना समाधान नहीं फिर भी हम उसको और उसकी प्रक्रियाओं को ठीक से समझने के लिये उसको

दो श्रेणियों मे विभक्त कर ले सकते हैं। आत्मिक और दैहिक, मानसिक और भौतिक, आन्तरिक और बाह्य, सूक्ष्म और स्थूल। पात्रों के बाह्य क्रिया-कलाप, उनकी दौड़ धूप, मारकाट, संसार के रंगमंच पर अभिनय करने वाले सागर को बाँधने वाले, हिमगिरि को हिला देने वाले, लंका को भस्म कर कर देने वाले, कनक भूधराकार धारण करने वाले रूप की गणना द्वितीय श्रेणी मे होगी। पर प्रथम श्रेणी मे इस रूप का सर्वथा अभाव रहेगा, उसमें राम सागर तट पर तीन दिन तक ठहरे रहेगे। वह हृदय मथन का समय होगा। चिन्तन अनुचिन्तन का समय होगा। हमारी शारीरिक क्रियाओं के लिये तैयारी का यह समय होगा। उपन्यास मे इस तैयारी के, विश्राम के क्षण की अभिव्यक्ति कथोपकथन का लक्ष्य होता है। कथोपकथन का उद्देश्य वह है कि जिसे मनोवैज्ञानिकों ने Einstellung कहा है।

आख और वाट नामक मनोविदों ने दौड़ प्रतियोगिता मे भाग लेने वाले खिलाड़ियों से अनेक प्रश्न करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला था कि पिस्तौल दगने, प्रारम्भ करने का सकेत प्राप्त होने के पूर्व ही सारी तैयारी हो जाती है। सारे निश्चय और रण कौशल (Strategy) तय कर लिये जाते हैं। सकेत प्राप्ति के पश्चात् दौडना ही शेष रहता है, कोई मानसिक क्रिया नहीं रहती। अतः जब दौड प्रतियोगिता के प्रतिद्वन्द्वियों की आन्तरिक प्रक्रिया की आकलन करना है, उनके मनोविज्ञान का अध्ययन करना है तो इस तैयारी (Eirstellung) की अवधि का अध्ययन करना होगा। यदि ऐसा कोई यंत्र निर्मित हो सके जिसके सहारे हम प्रतिद्वन्द्वियों की तैयारी वाली अवधि के समय उनके आन्तरिक प्रदेश की झाकी ले सके तो हम उनके वास्तविक रूप का चित्र पा सके। वैज्ञानिक ऐसे यंत्र के आविष्कार मे अब तक असफल रहे है पर उपन्यासकार यहाँ इतना साधनहीन नहीं है। उसके पास कथोपकथन ऐसा साधन है जिसके द्वारा वह उस अवधि का चित्र पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सकता है। हमने केवल इतनी सी बात कहने के लिये मनोविज्ञान के क्षेत्र में चक्कर लगाने का प्रयत्न किया है, कि ज्यों-ज्यों उपन्यास कला मनोविज्ञान के क्षेत्र को अपने अधिकार में लाने का प्रयत्न करेगी, त्यो-त्यो उसे मन की सक्रियता के साथ न्याय करना पडेगा, कि मनुष्य के निर्माण मे और दूसरी वस्तुओं का हाथ भले ही न हो पर वह ६० प्रतिशत मन है, उसको ही हमे अध्ययन का विषय बनाना चाहिये। उसके पास जो कुछ भी साधन है उसका एक मात्र उद्देश्य उसी लक्ष्य की प्राप्ति होगा। यदि वे साधन अपनी अभीष्ट साधना मे सहायक नहीं होते तो कला की

दृष्टि से यह उनका दूषण ही कहा जायेगा। कथोपकथन को भी अभीष्ट साधक होना चाहिये पर प्राक् प्रेमचन्द युग के उपन्यास के कथोपकथन अभीष्ट साधक नहीं हैं। वे पात्रों के आन्तरिक विचार प्रवाह, उनकी भूम्यन्तर्गत मानसिक चैतन्यानुभूति का अभिव्यक्ति से अधिक उनके बाह्य शारीरिक स्थूल चेष्टा क्रिया कलापों के प्रतीक ही हैं। उनमें आप नहीं हैं, अधिक आप क्या करते हैं वही है। मेरे कथन का भाव एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा।

एक उदाहरण के द्वारा ऊपर की बात का स्पष्टीकरण

अनाद्दत कथोपकथन 'चन्द्रकान्ता सतति' से लिया गया है। नागर नामक ऐयार ने दूसरे ऐयार को छल से निसज्ञ कर दिया है। भूतनाथ की सज्ञा लौट आई। उस समय का वार्तालाप है—

नागर — क्यों बे कमबख्त, अपने किये की सजा पा चुका या कुछ कसर है? तूने देखा मेरे पास कैसी अद्भुत वस्तु है? अगर हाथी भी है तो इसके जहर को बर्दाश्त न कर सके और देखते देखते मर जाय। तेरी क्या हकीकत है?

भूतनाथ — बेशक ऐसा ही है, अस्तु, अब मुझे निश्चय हो गया कि मेरी किस्मत में जरा भी सुख भोगना नहीं है।

नागर — साथ में तुम्हें यह भी मालूम हो गया होगा कि उस जहर को मैं सहज में ही उतार सकता हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तू मर चुका था। मैंने तुझे इसलिये जिलाया कि अपने लिखे हुए कागजों का हाल दुनिया में फैला हुआ तू स्वय देख और सुन ले क्योंकि इससे बढ़ कर दुख तेरे लिये नहीं है और यह भी देख ले कि उस कमबख्त कमलिनी के साथ मैंने क्या किया जिसने तुझे धोखे में डाला था। इस समय मेरे वह कब्जे में है क्योंकि कैल वह मेरे घर अकर जारूर टिकेगी, अहा! अब मालूम हुआ कि रात वाले अद्भुत मामले की जड़ वही है और इस मुर्दे शेर का भी तून रास्ते में बैठाया होगा।

भूतनाथ — (आँखों में आँसू भर कर) अब की दफे मुझे माफ करो जो कुछ हुआ हुक्म दो मैं करने को तैयार हूँ।

नागर — मैं अभी कह चुका हूँ कि तुझे मारूँगी नहीं, फिर इतना क्यों डरता है।

भूतनाथ — नहीं, नहीं मैं वह जिन्दगी नहीं चाहता जैसी तुम देती

हो। हाँ, यदि इस बात का वायदा करो कि वे कागजात किसी दूसरे को न दोगे तो मैं वे सब काम करने को तैयार हूँ जिनसे पहिले इन्कार करता था।

नागर : मैं ऐसा कर सकती हूँ क्योंकि आखिर तुझे जिंदा छोड़ूँगी ही और यदि मेरे काम से जी चुरायेगा तो मैं तेरे कागजात भी बड़ी हिफाजत से रखूँगी! हाँ खूब याद आया। उस चिट्ठी को जरा पढ़ना चाहिये जो उस कमबख्त कमलिनी ने यह कह कर दिया था कि मुलाकात होने पर मनोरमा को दे देना।

सारी 'चन्द्रकांता सतति' या उस समय के उपन्यासों मे इसी तरह के कथोपकथन भरे पडे हैं। इन कथोपकथन को पढ़ कर मेरे सामने दो झगड़ालू व्यक्तियों की कल्पना हो आती है जो क्रोधावेश मे एक दूसरे का हाथ पकड कर आपस मे क्रोधोक्तियों प्रत्युक्तियों की बौछार कर रहे हों अथवा एक कुत्ता हो, शेर हो, बिल्ली हो जो अपने शिकार को अपने पंजे से फाडता हुआ भी गुर्राता हो। व्यक्तियों की क्रोधोक्तियाँ अथवा पशुओं की गुर्राहट का कोई पृथक अस्तित्व नहीं, वे तो उसकी क्रियाओं उसके कर्मकाण्ड के ही एक अभिन्न अंग हैं। इनमे कनटम्प्लेशन (Contemplation) अर्थात् अनुचिन्तन-शीलता का नितान्त अभाव है जो मानव को उसकी क्रिया से विच्छिन्न कर उसके आन्तरिक पहलू को दिखलाता है। ये उपन्यास अपने महत्व के लिये पाठकों की उस प्रवृत्ति पर निर्भर करते है तो बाहरी क्रिया-कलापों के साथ झट से तादात्म्य स्थापित कर लेती है, उस प्रवृत्ति पर नहीं जो मानव के कनटम्प्लेटिवनेस (Contemplativeness) अनुचिन्तन को ज्यादा महत्व देती है। और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मानव की आन्तरिक दशा का पता, उसके मनोविज्ञान का पता उसके बाह्य कर्तव्य से अधिक उसके अनुचिन्तन मे मिलता है। इसके लिये हमे कर्मरत मानव (Man-in Action) से अधिक अनुचिन्तनगत मानव (Man-in-Contemplation) की आवश्यकता है। मैं कहना चाह रहा हूँ कि प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों मे अनुचिन्तनगत मानव (Man-in-Contemplation) का तो सर्वथा अभाव है ही पर कर्मरत मानव (Man-in-Action) में भी क्रिया का अंश इतना है कि उसके नीचे दब कर मानव की सास निकल सी गई है। पर प्रेमचन्द के उपन्यास मे क्रिया की चट्टान मे दरारे पड़ गई है। उनसे होकर वायु आने लगी है। मानव की साँस की गति मे स्वाभाविकता आ गई है और वह अब अनुचिन्तन (Contemplation) की ओर भी ध्यान देने लगा है।

हालाकि आज के प्रबुद्ध पाठक के लिये उस अनुचिंतन (Contemplation) की मात्रा सतोषजनक नहीं है।

गोदान से उदाहरण

गोदान के प्रथम पृष्ठ पर के कथापकथन को देखिये। होरीराम ने दानों बैलों को सानी-पानी देकर अपनी स्त्री धनिया से कहा "गोबर को ऊख गोड़ने भेज देना। मैं न जाने कब लौटूँ। जरा मेरी लाठी दे दे।" धनिया के दोनों हाथ गोबर से भरे थे। उपले पाथ कर आ रही था बोली—"अरे कुछ रस पानी तो कर लो। ऐसी जल्दी क्या है।" होरी ने अपने झुर्रियों भरे माथे को सिकोड़ कर कहा "तुझे रस पानी की पड़ी है, मुझे चिन्ता है कि अबेर हो गई तो मालिक से भेंट न होगी।'

"इसी से कहती हूँ कुछ जलपान कर लो। आज न जाओगे तो कौन हरज होगा।"

"तू तो बात समझती नहीं उसमें टाँग क्यों अड़ाती है भाई मेरी, लाठा दे दे और अपना काम देख। यह मिलते-जुलते रहने का प्रसाद है कि अभी तक जान बचा हुई है। नहीं तो पता नहीं लगता किधर गये होते। गाँव में इतने आदमी तो हैं किस पर बदखली नहीं आई। किस पर कुड़की नहीं आई। जब दूसरों के पावों तले गर्दन दबी हुई है तो उन पावा को सहलाने में ही गुजर है।"

इन पक्तिया को पढ़ने से एक सचिन्त प्राणी का दर्शन होता है, उसकी मानसिक प्रक्रिया का झाँकी मिलती है। उसकी अनुभूतियों का आत्म निष्ठ रूप (Subjective) देखने को मिलता है, बटन क दबाते ही कम क्षेत्र में कूद कर अनेक प्रकार के शरीरिक कौशल (Acrobatics) के प्रदर्शन करने वाले मानव का नहीं, सकेत पाते ही दौड़ म प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति का नहीं, परन्तु दौड़ प्रारम्भ होने के पूर्व मानसिक तेयारी करने वाले मानव का।

मेरे कथन का यह तात्पर्य नहीं कि प्रेमचन्द के उपन्यास में ऐसे कथोपकथन का सर्वथा अभाव है जिनके द्वारा पात्रों क अनुचिन्तन का ही पता चले तथा सक्रियता (Action) वाले रूप का, जैसा खत्री जी इत्यादि के उपन्यास म होता है, प्रदर्शन होता ही नहीं है। नहीं, प्रेमचन्द के उपन्यासों म भी यत्र-तत्र ऐसे कथोपकथन वर्तमान हैं जिन्हें वाह्य क्रियाओं का ही अग कहा जा सकता है। 'कायाकल्प' से एक उदाहरण लीजिये। इस उदा-

हरण का उद्देश्य यही है कि ऊपर से हम जिन दो प्रकार के कथोपकथनों की चर्चा कर रहे है उनके सूक्ष्म भेद का और भी स्पष्टीकरण हो जाय।

चक्रधर जेल मे है। वहाँ के अन्य कैदियों ने दरोगा जी के अत्याचार से तंग आकर एक दिन उनकी गर्दन पकड़ी और इतने जोर से दबाई कि आँखें निकल पड़ीं। चक्रधर ने धन्नासिंह कैदी का हाथ पकड़ लिया और बोले—

"हट जाओ, क्या करते हो ···छोडो ईश्वर के लिए।

धन्नासिंह : जाओ भी, बड़े ईश्वर की पूँछ बने हो। जब रोज गालियाँ देता है, बात-बात पर हटर जमाता है तब ईश्वर कहाँ सोया रहता है जो इस घड़ी जाग उठा। हट जाओ सामने से नहीं तो सारा बाबूपनी निकाल दूँगा। पहले इससे पूछो, अब तो किसी को गालियाँ न देगा, न मारने को दौडेगा।

दरोगा : कसम कुरान की जो मेरे मुँह से गाली का एक हरफ भी निकले।

धन्नासिंह : कान पकड़ो।

दरोगा : कान पकड़ता हूँ।

धन्नासिंह : जाओ बच्चा, अच्छे का मुँह देख कर उठे थे नहीं तो आज जान नहीं बचती। यहाँ कौन रोने वाला बैठा हुआ है।

चक्रधर : दरोगाजी ऐसा न कीजियेगा कि वहाँ जाकर सिपाहियों को चढा लाइये और गरीबों को भुनवा डालिये।

दरोगा : लाहौर विला कूवत इतना कमीना नहीं हूँ····· ·

धन्नासिंह : मिया, गारद-शारद बुलाई तो तुम्हारे हक मे बुरा होगा, समझाये देते हैं। हमको क्या जीने की खुशी है ना मरने का गम, लेकिन तुम्हारे नाम को रोने वाला कोई नही रहेगा।

स्पष्ट है कि इस कथन में क्रियाशीलता (Action) अधिक है। अनुचिन्तन (Contemplation) कम। अतः यह मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण नहीं। प्रेमचन्द के उपन्यासों मे इस तरह के कथोपकथन का उत्तरोत्तर का अभाव होता गया है। गोदान मे आते-आते धनिया और गोबर की बातों मे उसकी थोडी झलक रह गई है, अन्यथा लोप ही समझिये।

नूतन टेकनीक

प्रेमचन्द की कथोपकथन की मनोवैज्ञानिक टेकनीक की बातें पर्याप्त रूप में हो चुकीं। इस कथोपकथन से मिलती-जुलती एक और टेकनीक है

जिसका मनोवैज्ञानिक रूपता पर विचार कर लेना चाहिये। हम ऊपर यह कह चुके हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यास घटनात्मक और वर्णनात्मक हैं। ये दोनों प्रवृत्तियाँ मनोवैज्ञानिक नहीं कही जा सकतीं। कारण कि इनके कारण उपन्यास में वर्णित पात्रों की आन्तरिक मनोवृत्तियों तथा उनकी अनुभूतियों की आत्मनिष्ठता (Subjective aspect of experience) के साथ पाठकों का साधा सम्पर्क नहीं होता, वह उनका प्रत्यक्ष दर्शन का संतोष लाभ नहीं करा सकता। उपन्यासकार की उपस्थिति सदा खटकने वाली बात होती है। पर जहाँ भी थोड़ी कम देर के लिये उपन्यासकार अपने को हटा सा लेता है या अनजाने में ही हट जाता है वहाँ एक विशेष मनोवैज्ञानिक चमत्कार आ जाता है। ऐसा मालूम होता है कि पाठक स्वयं पात्रों के हृदय के रहस्यमय प्रदेशों को अपनी आँखों से देख रहा है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसे स्थलों का आनन्द और भी बढ़ जाता है। क्योंकि उनके उपन्यासों में ऐसे अवसर कम आते हैं जहाँ पाठकों के मन को उपन्यासकार की नजर से छूट कर स्वयं कल्लोल करने का आनन्दानुभव हो। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसे अवसर कम आये हैं, जहाँ उन्होंने कथा प्रवाह के मध्य पात्रों के स्वकथन की रचना की है और कुछ ऐसे ढंग से की है कि पाठकों को यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती वह स्वयं ही समझ लेता है। बात यह है कि जब उपन्यासकार यह कहने लगता है कि अमुक ने ऐसा कहा और उन कथनों को इन्वरटेड कामा (Inverted Commas) के अन्दर रखता है तो उसकी उपस्थिति और उपन्यास की स्वाभाविक गति के साथ उसका हस्तक्षेप स्पष्ट हो कर आज के प्रबुद्ध पाठकों के मन में काँटे तरह खटकने लगता है। जहाँ इस तरह की योजना हो कि बिना कहे ही पाठक स्वयमेव समझ ले वह अधिक स्वाभाविक और मनोविज्ञान सम्मत पद्धति के पद का अधिकारी भी होगा। प्रेमचन्द जी के गोदान से उदाहरण लूँगा। इस उपन्यास में प्रेमचन्द में इस पद्धति के प्रयोग की प्रवृत्ति बढ़ती सी प्रतीत होती है यद्यपि 'कायाकल्प', 'गबन, 'रंगभूमि' में भी इसके प्रयोग का नितान्त अभाव हो ऐसी बात नहीं।

होरी अपने जमींदार से मिलने जा रहा है।

"*दोनों ओर खेतों में काम करने वाले किसान उसे देखकर राम राम* कहते और सम्मान भाव से चिलम पीने का निमंत्रण देते थे। पर होरी को अवकाश कहाँ था। उसके अन्दर बैठा हुई सम्मान-लालसा ऐसा आधार पाकर उसके सूखे मुख पर गर्व की झलक पैदा कर रही थी। मालिकों से

मिलते-जुलते रहने का ही तो यह प्रसाद है कि सब उसका आदर करते है। नहीं तो कौन पूछता। पाँच बीघे के किसान की बिसात क्या? यह कम आदर नहीं है कि तीन-तीन चार हलवाले महतो भी उसके सामने सिर झुकाते है······वह आगे बढ़ता है और एक चरागाह के पास पहुँचता है जहाँ थोडी तरावट थी। उसके जी मे आया यहाँ कुछ देर बैठा जाय। दिन भर तो लू लपट मे मरना है ही। कई किसान इस गढ़े का पट्टा लिखने को तैयार थे। अच्छी रकम देते थे पर ईश्वर भला करे राय साहब का कि उन्होंने साफ कह दिया कि यह जमीन जानवरों की चराई के लिये छोड़ दी गई है और किसी दाम पर न उठाई जावेगी। कोई स्वार्थी जमीदार होता तो कहता गाये जायँ भाड़ मे, हमे तो रुपये मिलते हैं तो क्यो छोड़े? पर राय साहब अभी पुरानी मान-मर्यादा निभाते आते है।"

आगे चल कर वह देखता है कि भोला अपनी गाये लिये इसी तरफ आ रहा है। होरी का मन उन गायो को देखकर ललचा आया। अगर भोला वह आगे आने वाली गाय दे दे तो क्या कहना। रुपये आगे पीछे देता रहेगा। वह जानता था कि घर मे रुपये नहीं है, अभी तक लगान नहीं चुकाया जा सका। बिसेसर साह का देना भी बाकी है, जिस पर आने रुपये का सूद चढ़ रहा है लेकिन दरिद्रता मे एक अदूरदर्शिता होती है। वह निर्ल-ज्जता, तकाजे, गाली मार से भी नहीं भयभीत होती। उसने उसे प्रोत्साहित किया। बरसों से जो साध मन को आन्दोलित कर रही थी उसने उसे विच-लित कर दिया। भोला के समीप जाकर बोला "भाई कहो, क्या रग-ढंग है सुना है मेले से नई गाय लाये हो?"

रेखांकित पंक्तियों को ध्यान से देखने पर पता चलेगा है कि ये होरी के के वचन है। पर यहाँ पर उपन्यासकार की ओर से यह बात नहीं कही गई है और न यह कहने की आवश्यकता है। हम प्रेमचन्द जी की पद्धति मे कहाँ तक मनोवैज्ञानिकता का समावेश हो सका है इस प्रश्न पर विचार कर रहे है और इस दृष्टि से पद्धति मे इस थोडे से विकास का बड़ा महत्व है। क्यो कि इसका अर्थ यह होता है कि प्रेमचन्द की कला मे से, पात्रों की ओर से पद-पद पर वकालत करते चलने वाले लेखक के बाहरी दृष्टिकोण मे से पात्रों की मनोवृत्ति की अनुकूलता धारण करने वाले आन्तरिक दृष्टिकोण का विकास हो रहा है। कुछ अंग्रेजी के शब्दों के आधार पर कहें कि हेस वी फाइंड हिम **टर्निंग फ्राम** दी आउट साइड पाइंट आफ एन आथर

एक्सप्लोरिंग दी मोटिवज् आफ दी करेक्टर टू इन साइड पाइंट आफ व्य
आफ करेक्टर थिंकिंग हिज थाटस् इन टर्म्स रिलेटेड टू हिज़ ओन मेन्टलिटी

पर इसका निर्वाह प्रेमचन्द से सदा नहीं हो सका

हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस इनसाइड पाइंट आफ व्य
और करेक्टर (Inside point of view of Character) का निर्वाह प्रेम
चन्द जी से सदा नहीं हो पाया। लेखक की सर्वज्ञता में इन्हें विश्वास था
और वे सदा इस सिद्धान्त से चिपटे रहे कि उपन्यासकार का कर्त्तव्य है एक
सगठित कथा की सृष्टि करना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके दिख
लाना। पर उनकी सहज औपन्यासिक प्रतिभा अपनी सत्ता का परिचय देक
उनकी लेखनी को अधिक मनोवैज्ञानिकता की ओर प्रेरित कर ही देता थी
उदाहरण के लिये ऊपर के तीसरे उद्धरण में आई हुई उन पंक्तियों को देखि
जो "वह जानता था" से आरम्भ होता है। यहाँ वह जानता था यह आ
आ जाने मात्र से ही उपन्यासकार के गहरी दृष्टिकोण की स्थापना हो जा
है और उसका हस्तक्षेप स्पष्ट हो जाता है। हमारे कहने का अर्थ यह है कि
इन पंक्तियों को भी इस तरह रखा जा सकता था जिसमें पात्र की मनोवृ
के साथ सीधा सम्पर्क हो सके जैसा कि पहले की पंक्तियों में हुआ है।

गोदान का एक मनोवैज्ञानिक उदाहरण

गोदान प्रेमचन्द का अन्तिम उपन्यास है और वह उनकी प्रौढ़ता प्रति
के प्रसाद का सहज अधिकारी हो सका है। तुलसी की रचनाओं में जो स्था
'विनय पत्रिका' का है वही स्थान प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'गोदान' का है
आज भी तुलसी के महत्त्व की आधारशिला 'रामचरित मानस' ही है
तुलसी का जितना व्यापक और सर्वांगीण रूप हम मानस में पाते हैं उत
विस्तार सामा का 'विनय पत्रिका' शायद स्पर्श भी नहीं कर सकती। फिर
आलोचना की दृष्टि में विनय पत्रिका की आत्माभिव्यंजना अद्वितीय है
उसी तरह 'रंगभूमि' को प्रेमचन्द के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास घोषित करने वा
आलोचकों की कमी नहीं है, पर 'गोदान' की अभिव्यंजना और मनोवै
निकता की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। अब तक के उपन्यासों में भा
और मनोवेगों का समावेश होता था, पर बहुत स्थूल और अविवेचनात्म
रूप में। उनका सूक्ष्म छान-बीन कर, उनके विविध पहलुओं के प्रदर्शन
के प्रति हमारे औपन्यासिक उदासीन थे। प्रेम की चर्चा होगी तो अधिक
अधिक वासना में उसको विभेद कर दिखला दिया जायेगा। पर भक्ति अ

विविध प्रकार के हो सकते है यह उनके विवेचन के परे की बात थी। पर 'गोदान' मे आकर यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ गई है। हालाकि प्रारम्भ से ही उसके बीज उपस्थित थे। मालती और मेहता के चरित्र को लेकर इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर है। यही कारण है कि बहुत से आलोचकों की दृष्टि मे 'गोदान' होरी के जीवन व्यापी आर्थिक संघर्ष की कथा न हो कर मालती और मेहता के मानसिक विवर्त्तन की कथा है, पारस्परिक विचारों के आदान-प्रदान जीवन के खुलते हुए रूपों के कारण एक दूसरे की मानसिक प्रक्रियाओं की कथा है।

मालती और मेहता दोनों मे पारस्परिक परिचय उस घनिष्टता को प्राप्त हो गया है जिसकी सीमा प्रेम के आस-पास होती है। वार्तालाप के प्रसंग मे चर्चा छिड जाती है कि विवाह के पश्चात् दम्पति मे से कोई बेवफाई करे तो क्या करना चाहिये। मालती इस पर उदारता पूर्वक सहिष्णुता से काम लेने के पक्ष मे है, पर मेहता नहीं।

"नहीं मालती, इस विषय मे मैं पूरा पशु हूँ... आध्यात्मिक प्रेम और त्यागमय प्रेम और निस्वार्थ प्रेम ... मेरे लिये निरर्थक शब्द है। मैंने पुस्तकों मे ऐसी प्रेम कथाये पढ़ी है जहाँ प्रेमी ने प्रेमिका के लिये जान दे दी है। मगर उस भावना को मैं श्रद्धा कह सकता हूँ प्रेम कभी नहीं। प्रेम सीधी-सादी गऊ नहीं, खूँख्वार शेर है, जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नहीं पड़ने देता।[२४]

एक स्थान पर मालती और मालती और मेहता के सम्बन्ध पर विचार करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं।

"मेहता प्रेम मे जिस सुख की कल्पना करते थे उसे श्रद्धा ने और भी गहरा और स्फूर्तिमय बना दिया। प्रेम मे कुछ मान भी होता है, कुछ महत्व भी। श्रद्धा तो अपने को मिटा डालती है और अपने मिट जाने को ही अपना इष्ट बना लेती है। प्रेम अधिकार चाहता है। जो कुछ देता है उसके बदले मे कुछ चाहता भी है। श्रद्धा का चरम आनन्द अपना समर्पण है जिसमे अहम्मन्यता का ध्वंश हो जाता है।[२५]

इन पक्तियों को देखने से ऐसा मालूम होता है कि स्व० रामचन्द्र शुक्ल के चिन्तामणि की कण्ठ-ध्वनि यहाँ बोल रही है जो भावों के सूक्ष्म भेदों और उपभेदों के विश्लेषण मे संलग्न है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इस तरह के मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म विश्लेषण उस युग की विशेषता थी। शायद यह शुक्ल जी का प्रभाव हो। हरिऔध जी के प्रियप्रवास की राधा भी अत

में इसी तरह के विश्लेषण म ही अपने वक्तव्य को समाप्त करती है। हा यह बात अवश्य है कि शुक्ल जी की तरह प्रेमचन्द के विश्लेषण में कोई शास्त्रीय या तार्किक पकड़ नहीं है। जो कुछ है वह जीवन के स्वाभाविक क्षेत्र में समाहित दिखाया गया । सहज रूप में, किसी तार्किक के मार्ग से नहीं।

आगे चल कर मालती और मेहता का जीवन जो रूप पकड़ता है उसम भी प्रेमचन्द की उपन्यासकला की प्रौढ़ता तथा मनोवैज्ञानिकता की सूक्ष्म पहिचान मिलती है। प्राय होता यह है कि किसी उपन्यास के पठन क्रम के अवसर पर पाठक को घटना चक्र के विकास का पूर्वाभास थोड़ा सा मिल जाता है, उदाहरणार्थ नर और नारी के पारस्परिक व्यवहार से पाठक अनुमान लगा लेता है कि यथा अवसर ये दानों प्रणय सूत्र म आरूढ़ हो जायेंगे, अथवा उपन्यास के वर्णित दो पुरुष पात्रों का सम्बन्ध मैत्री का रूप धारण करेगा या शत्रुता का। उपन्यासकार भी पाठक के अनुमान का समर्थन ही करता था और यह होता था यथार्थवादिता के नाम पर। यह नहीं होता था कि पाठक के अनुमान को चुनौती देकर घटनायें कोई दूसरा रूप धारण कर ले। पाठक अब तक इसी अनुमान में मग्न रहे कि घटना अमुक रूप स मोड़ लेगी तब तक विपरीतता आकर उसे झकझोर जाय। पर प्रेमचन्द जी की कला ने इस टैक्ट (Tact) को अपनाने का प्रयत्न किया है। रंगभूमि में हम सूरदास की विजय की कल्पना करते ही रह जाते हैं। घटनाओं से भी हमारी कल्पनाओं को समर्थन मिलता आया है पर बात होती है दूसरी। जमीन उसके हाथ से निकल ही जाती है। मालती और मेहता में घनिष्ठता बढ़ती जा रही है और मित्रों के बीच यह खबर गर्म है कि दानों की शादी शीघ्र ही होने जा रही है। केवल रस्म अदा करने की देर है। मेहता भी ऐसा ही सोचते हैं, पर अंत में मालती अपने हृदय पर पत्थर रख कर यही फतवा देती है कि स्त्री और पुरुष के रूप म न रह कर मित्र के रूप रहना ही श्रेयस्कर है।

इस कला पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलेगा कि इसके द्वारा मनुष्य की दो प्रवृत्तियों को सतोष मिलता है। कथाकार के सैडिज्म (Sadism) का और पाठकों के मैसोकिज्म (Masochism) का। ये दोनों पारिभाषिक शब्द आज के मनोविज्ञान के विद्यार्थी को अच्छी तरह ज्ञात हैं। इनकी व्याख्या भी इस निबन्ध के द्वितीय अध्याय म हो चुकी है। हिन्दी में एक को परपीड़क कहेंगे अर्थात् वह दूसरों को पीड़ा देकर आनन्द

की उपलब्धि करता है। दूसरे के स्वपीडक अर्थात् दूसरो से पीडित होने मे आनन्द लेने वाला कहा जा सकता है। उक्त घटनाओं को अप्रत्याशित रूप मे मोड़कर कथाकार पाठक को झकझोर देता है। उसे मानसिक आघात पहुँचाता है और पाठक इस पीडा को आनन्दमयी प्रवृत्ति से ग्रहण करता है। इसे Enjoy करता सा मालूम पड़ता है। कल्पना कीजिये कि किसी व्यक्ति के शरीर के किसी भाग मे एक घाव हो गया है, वह बार-बार उसे छूता है, दबाता है। इस प्रक्रिया मे उसका घाव दुखता है, पीडा उभर आती है। पर साथ ही साथ आनन्द की मात्रा भी उपभोग्य रूप मे लगी चलती है जो पुनः घाव को छेड़ने के लिये प्रेरित करती रहती है।

गोदान में स्व-आक्रमण-प्रेरणावेग

गोदान का अध्ययन करते समय पाठक को उपन्यास के पात्रों के व्यवहार मे कुछ ऐसे सूत्र मिलते है जिन्हे आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने नेमीजिज्म (Nemisism), अटो एग्रेसन (Auto-aggression) डैस्टारयूरिडा (Desterurido) इत्यादि भिन्न नामों से अभिहित किया है[२६] और हिन्दी मे हम स्वआक्रमण-प्रेरणावेग कहेगे। अनेक मनुष्यो मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है जिसके कितने मनोवैज्ञानिक कारण होते है। परन्तु इसके अर्थ को स्पष्टतया हृदयंगम करने तथा 'गोदान' के पात्रो मे इनकी झलक पाने के लिये इसकी व्याख्या आवश्यक है।

यह बात सर्वमान्य होगी कि बालक और उसके माता-पिता, अभिभावक अथवा इनके स्थानापन्न किसी भी व्यक्ति का सम्बन्ध बड़ा ही जटिल और परस्पर विरोधी होता है। पिता एक ओर तो सहायक, समर्थक, आनन्ददायक तथा जीवन की सारी इच्छाओं की पूर्ति करने वाले के रूप मे आदर, श्रद्धा और कृतज्ञता का अधिकारी होता है, पर दूसरी ओर बालक के हृदय मे उनके लिये घृणा, विरोध, वैर के भाव भी संचित रहते है क्योंकि वह अनेक अवसरों पर बालक की स्वाभाविक आनन्द प्राप्ति के मार्ग का निरोधक होता है, डाँटता है, फटकारता है और इच्छा की पूर्ति मे सहायक होता है या बाधक होता है, उसकी कोपमुद्रा बालक की स्वाभाविक उमंगों को शांत कर देती है। अतः बालक के हृदय मे पिता के विरुद्ध आक्रमणात्मक भावों का उदय होना भी स्वाभाविक है। परन्तु बालक अपनी असमर्थता के कारण पिता पर सीधा आक्रमण नहीं कर सकता। इस परिस्थिति का सामना करने के लिये तीन मार्ग हो जाते है निरोधन (Repression), स्थानान्तरण

(Displacement), स्व आक्रमण (Turning it against himself)। छोटे बालकों म प्रथम दो क्रियाओं से लाभ उठाने की इतनी सामर्थ्य नहीं होती। अत स्व आक्रमण वाला मार्ग ही उन्हें अधिक सुविधाजनक मालूम पड़ता है। इसमें होता है क्या कि बालक पिता की विरोधी आज्ञाओं के पालन में अनावश्यक अतितत्परता का परिचय देता है और परिणाम स्वरूप अपने को अत्यधिक कष्ट तथा पीड़ा में डालता है।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट होगी। एक माँ बच्ची को कुछ पेय पदार्थ पिलाने का प्रयत्न करती हैं पर बालिका को वह रुचिकर नहीं। अत बार बार अपनी माँ के हाथ को बड़ा उग्रता, त्वरा और रोष से झटक देती है और हर तरह से अपनी ताकत लगाकर उसका विरोध करती है। पर कुछ देर पश्चात् अपनी माँ की हठधर्मी से तग आकर बच्ची के व्यवहार म अकस्मात् परिवतन होता है। वह समूचे प्याले को उठा लेती है और अपनी कायमुद्रा म जरा भी परिवर्तन किये बिना अनावश्यक त्वरा क साथ गट गट पी जाता है। मानों यहा कहती हो "लो यहा न चाह रहा था, अपना जी जाँत कर मैं पी गइ, चाहे मुझ पर जो बाते। तुम्ह तो सतोष हुआ न।" यद्यपि यहाँ बच्ची का व्यवहार माँ के आज्ञा पालन के रूप में हा होता दिखलाया पड़ता है, पर यहाँ आज्ञा पालन मात्र नहीं है। इसमें एक आक्रमण है, विरोध है जो अपने को दण्डित कर दूसर से बदला लेना चाहता है।

दास्तावेस्की से उदाहरण

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अध्ययन करते समय हम प्रसिद्ध रूसी औपन्यासिक दास्तावस्की को विस्मृत नहीं कर सकते। उसके Raw youth क एक पात्र Arkad ने बड़े ही सजाव ढङ्ग से इस मानसिक स्थिति का वर्णन किया है "विचित्र बात है कि बहुत बाल्यावस्था से हा मुझमें एक विशेषता था। यदि कोइ मेरे साथ अभद्र व्यवहार करता, मेरा अत्यधिक बुराइ या अपमान करता तो उस अपमान को चुपचाप निष्क्रिय रूप से सह लेने का प्रवृत्ति जग उठता था। इतना हा नहीं आक्रमणकर्ता की इच्छा से भी अधिक अपमान सह लेने की इच्छा होता था मानो मैं यह कहता होऊ "अच्छा बात है। आप मुझ नाचा दिखाना चाहते हैं। लीजिये मैं अपने को उससे भी नीचा झुका लेता हूँ। देखिए और प्रसन्न होइए।'

यहाँ पात्र स्वयं अपने मानसिक रहस्य को समझा रहा है क्योंकि उसे दास्तावस्की जैसा प्रतिभा का आँखें प्राप्त हैं। पर प्राय यह प्रवृत्ति अचेतना वस्था में काम करता है और मनुष्य स्वय इससे परिचित नहीं रहता। यह

अचेतन मे डुबकी रह कर ऐसे मनुष्यों की एक विशाल सेना खड़ी करती हैं जिन्हे न्युरोटिक (Neurotic) कहते है। यह प्रवृत्ति कभी संगठित रूप मे एक संस्था का रूप भी धारण करती है। भूख हड़ताल सत्याग्रह, सिट डाउन स्ट्राइक करने वालों मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है। ये लोग स्वयं पीडा उठा कर पीड़क को रास्ते पर लाना चाहते है। कहीं-कहीं तो शिक्षण संस्थाओं में यह प्रयोग किया गया है कि छात्रों के अपराध के लिए शिक्षकों को दण्ड दिया जाता है। किसी शिक्षक के निरीक्षण मे रहने वाला छात्र कोई असद्-व्यवहार करता है तो शिक्षक को स्कूल में विलम्ब से घर जाने की छुट्टी मिलती है। यहाँ शिक्षक को उस एग्रेसन (aggression) को अपने ऊपर लेना पडता है जिसका आघात पहिले विद्यार्थी को सहना पड़ता था।

इस आक्रमण प्रेरणावेग (Turning aggression against himself) वाली मनोवृत्ति का प्रदर्शन हम होरी के चरित्र मे एकाधिक अवसर पर पाते हैं। गोदान के २०वें अध्याय को ध्यान से पढ़ने पर मनोवैज्ञानिकों के द्वारा बताई गई इस प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण मिलेगा। होरी की आर्थिक दशा दिन प्रति दिन गिरती जा रही है। वह किसान के मजदूर बन गया है और दातादीन के यहाँ मजदूरी कर अपना जीविकोपार्जन कर रहा है। दातादीन कहते है कि हाथ फुरती से चलाओ होरी। इस तरह से तुम दिन भर में भी न काट सकोगे।

होरी आहत अभिमान से कहता है "चला ही तो रहा हूँ महाराज। बैठा तो नहीं हूँ।"

इस पर दातादीन और जली-कटी बाते सुनाते हैं। तीन दिनों का भूखा होरी विष का घूँट पी कर जोर से हाथ चलाना शुरू करता है। हाथ से गंडासा छूट गया और वह जमीन पर औंधे मुँह गिर गया। इस समय का जो वर्णन प्रेमचन्द ने किया है वह द्रष्टव्य है। "होरी उन्मत्त की भाँति सिर से ऊपर गंडासा उठाकर ऊख के टुकड़ों का ढेर करता जा रहा था। उसके भीतर जैसे आग लगी हुई थी। उसमें अलौकिक शक्ति आ गई थी। उसमे जो पीढियों का संचित पानी था वह इस समय जैसे भाप बन कर उसे मन्त्र की सी शक्ति प्रदान कर रहा था। उसकी आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा, सिर मे फिरकी सी चलने लगी, फिर भी उसके हाथ यन्त्र की गति से बिना थके, बिना रुके उठ रहे थे। उसकी देह से पसीने की धार निकाल रही थी, मुँह से फिचकुर छूट रहा था और सिर मे धम-धम सा शब्द हो रहा था। पर उस पर जैसे कोई भूत सवार हो गया था।"

होरी के इस व्यवहार में और उस बच्ची के व्यवहार में जो कड़वी दवा का प्याला गट-गट पी जाती है दोनों में कितना साम्य है ? यह स्वाभाविक आज्ञा-पालकता नहीं, इसमें स्व आक्रमण प्रेरणा का आवेग है। यह आज्ञा-पालकता की विद्रूपमयी अति है, इसमें त्वरा है, यह ओवर ओबिडियेन्स (Over obedience) है—यहीं पर गोदान के अन्तिम पर्वों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, जहाँ पर होरी अपनी मालिक की लगती सी बात के उत्तर में काम करते रहते अपने प्राणों को भी गवाँ देता है। यह एक दम से आत्म हत्या, आत्म हनन सा दीख पड़ता है। आत्म हत्या स्व आक्रमण प्रेरणावेग का अन्यतम रूप है। यहाँ पर होरी ने अपने ऊपर किसी आन्तरिक प्रेरणा के वश अधिक से अधिक प्रचण्ड रूप में आक्रमण किया है जो एक तरह से आत्म हत्या का ही रूप ले लेता है। आत्म हत्या के मनोवैज्ञानिक पहलू पर फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषणविदों ने अनेक मनोरंजक बातें कही हैं।[२७]

होरी यहाँ पर एक पीड़ित असहाय मानवता, शिशु कह लीजिये, का प्रतीक है जिसका हृदय जमींदारों तथा उन्हीं के समकक्ष अन्य लोगों के प्रति घृणा और स्नेह दोनों के भार से भरा है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि होरी आधुनिक उग्र साम्यवादी (Communist) दल का सदस्य नहीं है, जो सामंतवाद या पूँजीवाद के प्रति विशुद्ध घृणा और विद्वेष के भावों से ही लड़ रहा हो। वह जानता है कि सिर उनके पैर के तले उसका है। उससे पीड़ा का भी अनुभव होता है पर दबाने वाले पैरों को तोड़ डालने में विश्वास नहीं करता। समझता है कि उनको सहलाना ही अच्छा है। अत, होरी की स्थिति उस बालक की है जो अपने अभिभावकों के प्रति दो परस्पर विरोधी भावनाओं घृणा और प्रेम दोनों से आन्दोलित होता रहता है। अत, वह आत्म हत्या कर अपने को पीड़ित करने वाले से बदला लेता है और उन्हें लज्जित करता है।

यहाँ होरी अथवा तत्स्थानीय किसी भी व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पहलू के सम्बन्ध में दो बातें मालूम पड़ती हैं कि (१) वह मानता है कि मेरे इस कष्ट सहन से जिसका अन्तिम रूप आत्म हत्या है मेरे पीड़क के हृदय में लज्जा होगी, उन्हें *तरह-तरह की कटु और अशोभनीय स्थिति का सामना करना* पड़ेगा। यत्न बड़ा तो क्या थोड़ी तो मेरी वाली मनोवृत्ति हो जाती है। (२) अपने पीड़कों पर स्वयं आक्रमण करने की अवस्था में उन अनेकों भय और पाप की भावनाओं का शिकार होना पड़ता। इस आत्मा के वृश्चिक डंक से

तो कम से कम, मुक्ति मिलती है। (३) यदि वह जीवित रहता तो उसे पीडा मे डाल कर कष्ट देकर उसके पीड़क को सतोष होता। अपने को मिटा कर अपने विरोधी को इस आत्म-सुख के भावों से वंचित करता है। एक अपराधी को प्राण-दण्ड की सजा हुई है, पर ठीक फाँसी पर झूलने के एक घण्टे पहिले वह आत्म-हत्या कर लेता है। बात एक ही होती है, उसे प्राण गँवाने पड़ते हैं ही पर दोनों के मनोवैज्ञानिक पहलू मे कितना अन्तर है। एक मे पीड़क की विजय है तो दूसरे मे पीड़ित की पराजय। मेरे कहने का अर्थ केवल यही है कि होरी के चरित्र का अध्ययन इन मनोवैज्ञानिक बातों पर अच्छा प्रकाश डालता है।

निष्कर्ष

ऊपर के विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि प्रेमचन्द ने उपन्यास कला मे कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित नहीं किया तथापि उन्होंने उपन्यास की परम्परा से ही इतना काम लिया कि हिन्दी कथा साहित्य एक अभूतपूर्व वस्तु हो उठी। सुन्दर वार्तालापों द्वारा मनुष्य की अनुचिन्तन शीलता का प्रदर्शन, उसके अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण तो इस ढग से किया गया है कि आधुनिक उपन्यास कला की Interior monologue की याद हो आती है।[२८]

पाद टिप्पणियाँ

१. हिन्दी उपन्यास लेखक शिव नारायण श्रीवास्तव
२. सेवा सदन १६वाँ संस्करण पृ० ७
३. वही पृ० ७२ ४ वही पृ० ७८
५. वही पृ० ८४ ६ वही पृ० ११३
७ वही पृ० ३०७ ८. वही पृ० ३०७
९. वही १०. रंगभूमि पृ १९१, १३वीं वार १९५३
११. रंगभूमि पृ० १९१-१९२ १२. रगभूमि १९३
१३. गवन द्वितीय संस्करण १९४७ पृ० ११
१४. गवन पृ० १५ १५. गवन पृ० ४३
१६. गवन पृ० ५१ १७. गवन पृ० ८३
१८. गवन पृ० ९१ १९. गवन पृ० ९३
२०. गवन पृ० १०८ २१. गवन पृ० २२१

२२, २३ दि ब्राइड ऑफ लेमर मूर (The Bride of Lammr Moor) नामक उपन्यास के प्रारम्भ में ही डिक टिन्टो (Dick Tinto) और लेखक स्काट की बातचीत से उद्धृत ।

२४ गोदान का ७वाँ संस्करण नवम्बर १९४४ पृ० ४२३

२५ वही पृ० ४५८

२६ मैन, मोरल्स एण्ड सोसाइटी (Man, mo, als and society) १९४८ लेखक जे० सी० फ्लुगेन (J C. Flugen) पृ० ७८

२७ Essays in Applied psychoanalysis Ernest Jones Vol, I Chapters I and II on Dying together

२८ देखिये इस निबंध का १३वाँ परिच्छेद ।

चतुर्थ अध्याय

प्रेमचन्द की कहानियाँ और मनोविज्ञान

प्रेमचन्द ने कथा के मनोभूम्यन्तर्गत प्रयाण प्रवृत्ति को पहचाना

प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों मे कला के दृष्टिकोण से अथवा मनोविज्ञान के समावेश के दृष्टिकोण से कोई विशेष अन्तर नहीं है। उपन्यास के क्षेत्र-विस्तार ने सीमा के व्यापकत्व के कारण जिन तथ्यों को अपनी अभिव्यक्ति के लिये अधिकाधिक अवसर दिया है वहाँ कहानियों की लघु आकृति और सीमा संकोच मे वे अर्द्धस्फुट होकर ही रह गये हैं। हिन्दी कथा साहित्य के वाह्य कार्याभिमुखत्व और घटनाभिमुखत्व की स्थूलता को अर्न्तमुखी प्रवृत्ति की तरलता की ओर प्रवृत्त करना प्रेमचन्द जी की प्रतिभा का ही वरदान था। इनकी ही सहज बुद्धि ने कथा की स्वाभाविक यात्रा के मनोभूम्यन्तर्गत प्रयाण के पथ-संकेत को पहचाना। समझा कि कला को अपनी समृद्धि तथा वैविध्य पूर्ण आढ्यता से समन्वित होने के लिये नई दुनिया का आविष्कार करना होगा, नये कथा विधान और शिल्प का आश्रय लेना होगा, मनुष्य को उसकी वाह्य क्रिया-कलाप-संलग्नता के रूप मे न देखकर उसकी मूल प्रेरणाओं के रूप मे देखना होगा। मनुष्य को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभाव के ग्रहणशील रूप में देखना होगा और ध्यान रखना होगा कि मनुष्य का व्यवहार क्या है और कैसा है। पर इस मे भी अधिक प्राधान्य इस बात का होना चाहिये कि वह ऐसा व्यवहार क्यों कर रहा है। वास्तव मे इस क्योंकि और किसी वाहरी आचरण के मूल प्रेरक कारणों और मानसिक परिस्थितियों के ज्ञान की उत्सुकता के साथ ही कथा-साहित्य में मनोवैज्ञानिकता का उदय प्रारम्भ होता है।

यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द की कहानियों के प्रारम्भ से हो दृष्टिगोचर होती है परन्तु उनके अन्तिम काल की कहानियों मे मनोवैज्ञानिकता का आग्रह इतना बढ़ गया है कि घटनाओं का निर्माण, कथा की सजावट, आदर्श-वादिता का मोह तथा राजनैतिक या सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण इत्यादि की धूमधाम रहते भी चरित्र-चित्रण तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का स्वर मुखरित होने लगा है। प्रेमचन्द का कहानी-काल तीस वर्षों तक फैला हुआ है, १९०७ से लेकर १९३६ तक और इस अवधि में उनकी प्रतिभा के

वरदान स्वरूप करीब ४०० कहानियाँ हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुई और उनकी कला में उत्तरोत्तर विकास होता गया। आज हिन्दी का कथा-साहित्य बहुत ही समृद्ध कहा जाता है। उसमें लगभग ७ हजार कहानियाँ परिमाण की दृष्टि से वर्तमान हैं, पर यदि उसमें से प्रेमचन्द की कहानियों को हटा लिया जाय तो इस क्षेत्र का गौरव अधिक अंशों में नष्ट हो जायगा और वह सूना-सूना सा लगने लगेगा। यदि दो चार लेखकों को अपवाद स्वरूप मान लिया जाय तो आज भी हम पाते हैं कि हमारे कहानीकार प्रेमचन्द के पद चिन्हों का ही अनुसरण कर रहे हैं। प्रेमचन्द के समकालीन कहानीकारों में भी 'प्रसाद' के सिवा सभी कहानीकारों के भाव, विषय, वक्तव्य वस्तु, प्रतिपादन का ढरा, ढङ्ग तथा शैली प्रेमचन्द के आदर्श से ही अनुप्राणित है। विश्वम्भरनाथ शर्मा, "कौशिक", ज्वालादत्त शर्मा, सुदर्शन इत्यादि सब कहानीकार प्रेमचन्द के ही छोटे मोटे संस्करण हैं। अतः, प्रेमचन्द के कथा साहित्य के बारे में जो कुछ कहा जाय वह उनके अन्य समकालीन तथा अनेक परवर्ती कहानीकारों के बारे में भी गतार्थ समझना चाहिये।

प्रेमचन्द की कहानियों के तीन रूप तथा उनकी विशेषतायें

कहानी कला के विकास की दृष्टि से, इसी को हम दूसरे शब्दों में कहेंगे मानव मनोविज्ञान के अनुरूप, सामान्य तथा आधारभूतत्व की दृष्टि से प्रेमचन्द की कहानियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।[1]

१ प्रारंभिक कहानियाँ
२ विकसित कहानियाँ
३ मनोवैज्ञानिक अथवा प्रौढ़ कहानियाँ।

प्रारम्भिक श्रेणी की प्रतिनिधि कहानियाँ निम्नलिखित हैं—

बड़े घर की बेटी, पंचपरमेश्वर, नमक का दरोगा, परीक्षा, रानी सारंधा, ममता, अमावस्या की रात्रि इत्यादि। विकसित कहानियों का प्रतिनिधित्व करने वाली कहानियों में वज्रपात, मैकू, माता का हृदय, मुक्ति का मार्ग, शतरंज के खिलाड़ी, डिग्री के रुपये, दुर्गा का मन्दिर, आत्माराम इत्यादि कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है। मिस पद्मा, अलग्योझा, नशा, सुजान भगत, कफन, मनोवृत्ति, घासवाली इत्यादि कहानियों में प्रेमचन्द की कला के प्रौढ़ और उत्कृष्ट रूप का दर्शन हो सकता है। इतिवृत्तात्मकता, बड़े बड़े डील डौल वाली घटनाओं के सौष्ठवपूर्ण आयोजन की प्रवृत्ति, किसी आकस्मिकता की धुरी पर कथा प्रवाह को मोड़ देने की प्रवृत्ति, किसी सामाजिक पहलू पर प्रकाश डालने का आग्रह, किसी आदर्श की स्थापना,

घटनाओं के आघात से मनुष्य के आन्तरिक देवत्व की जागृति इत्यादि बातें प्रेमचन्द की प्रारम्भिक श्रेणी की कहानियों मे परिलक्षित होती है। जहाँ आज के मनोविज्ञान ने बाह्य घटनाओं की बाह्य स्थूलता और कट्टरता को चूर चूर कर रुई के गल्ले की तरह धुन दिया है, कथा के क्षेत्र मे घटनाओं की गरिमा को यह अपनी शक्तिशाली फूँक से उडा देने का उपक्रम कर रहा है, उनकी शारीरिक स्थूलता को भी मानसिकता का तरल रूप देकर आयोजित करने की चेष्टा करता है वहाँ प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कहानियों मे घटनाओं का साम्राज्य ज्यों का त्यों है। वह अपने स्थान पर ज्यों का त्यों अचल है। कहानियाँ इतनी बडी-बड़ी है और उनमे इतनी अनावश्यक बातों की अवतारणा की गई है कि वे उपन्यासों के ही लघु सस्करण जान पडती हैं। अपने उपन्यासों की तरह ही प्रेमचन्द ने राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन की साधारण घटनाओं को ही अपनी कहानियों मे भी स्थान दिया है, पर फिर भी कथा-शरीर के स्वरूप निर्माण ने लेखक की सारी शक्ति को अपनी ओर इस तरह केन्द्रित कर लिया है कि उसे मानव मस्तिष्क मे प्रवेश करने की शक्ति कम ही अवशिष्ट रह गई है। फलतः पाठक भी कथा सौष्ठव की कारीगरी मे उलझ कर पात्रों की मानसिक गहराई के दर्शनों से वंचित ही रह जाता है।

प्रथम श्रेणी की कहानियों मे घटना बाहुल्य के कारण मानसिक गहराई का अभाव

इस कथन का स्पष्टीकरण "बडे घर की बेटी" नामक कहानी से हो सकता है। यहाँ पर कहानी की प्रधान पात्र आनन्दी है। जैसा कि कहानी के शीर्षक से पता चलता है। पर वातावरण तथा परिस्थितियो के वर्णन मे प्रेमचन्द जी इतने सलग्न है कि उस परिवार के सब व्यक्तियों की कथा कहे या उनके वर्णन किये बिना उन्हें चैन नहीं। श्रीकंठसिंह, लालसिंह, बेनीमाधवसिंह और आनन्दी सब पात्रों के चरित्र का वर्णन इस कहानी के कलेवर अभिवृद्धि में सहायक हुए हैं। परिणाम यह हुआ है कि पात्रों के मानसिक जगत के भावमय दृश्यों का विकास कठिन हो गया है और कहानी उस स्वछंदता से अपने सौन्दर्य को प्रगट नहीं कर सकी है, जिसके लक्षण उसके गर्भ मे उपस्थित थे। अपने पूर्ववर्ती कथाकारों की मानस निरपेक्षित और स्थूल क्रिया कलापात्मक और आचरणात्मक जगत की परमुखापेक्षिता वाली प्रवृत्ति को प्रेमचन्दजी की प्रतिभा ने मोड़ अवश्य दिया है, उसके प्रवाह पर सदा के लिये प्रतिबन्ध लगा दिया है पर फिर भी कथा के रस के

आकर्षण से अपने को वे मुक्त नहीं कर सके है। पात्रों से अधिक पात्रों के वाह्य आचरणों की ओर ही उनका ध्यान अधिक गया है।

डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल ने पंच परमेश्वर नामक कहानी का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि इस कहानी म दस मोड़ हैं। इसी तरह 'नव निधि' नामक सग्रह म एसी ऐसी भी कहानियाँ हैं जि हे तीस बीस मोड़ लेने पडे हैं। इन्हें मोड़ न कह कर गाठ ही कहना अधिक उपयुक्त होगा कारण कि जिस तरह किसी सूत्र की एकतानता तथा उसके स्वरूप की विशुद्धता को गाँठों की उपस्थिति विकृत कर देती है, उसकी शक्ति को भी नष्ट कर देती है, उसी तरह से मोड़ भी कहानी का एक सवेदनता को तो नष्ट करती ही है साथ ही साथ पात्रों के आन्तरिक स्वरूप के प्रस्फुटित होने में भी बाधा उपस्थित करती है। बड़े घर की बेटी शार्षक कहानी का विषय मनोवैज्ञानिक चित्रण क लिये बहुत हा उपयुक्त था। वक्तव्य वस्तु ऐसी थी जिसके द्वारा मनुष्य के मनोनगत की विचित्रताओं को बहुत ही अच्छे ढग से और सफलता पूर्वक दिखलाया जा सकता था। पर लम्बे लम्बे कथानक ने, कथा से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों तथा वातावरण को विस्तारपूर्वक कहने की प्रवृत्ति ने मनोविज्ञान के रूप का उभरने नहीं दिया है। अग्रेजा कथा साहित्य क आन्तरिक प्रयाण द्रष्टव्य इस पुस्तक का अ य परिच्छेद का अ ययन करत हमने कहा है कि उपन्यास की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति क विकास के साथ ही उसकी वर्णनात्मक प्रवृत्ति में, कथक्कड़ा स्वभाव म, क़िस्सागोई म परिवर्तन आता गया ह और वह कथा का सजावट क प्रति उदासीन हाकर वह चेतना के चित्रण में हा तल्लीन होने लगा है।

दूसर प्रकार की विकसित कहानियों में कथा तत्व का आकुचन

प्रेमचन्दजा का विकिसित कहानियों में कथानकों के इतिवृत्त का सकोच, आकुचन, आकारलाघव का प्रवृत्ति स्पष्ट हा गई है। प्रम पचीसी की कहनियाँ इस कथन क प्रमाण ह। उनमें घटना बाहुल्य का अभाव होने लगा है। मूल सवेदना का निवृत्ति की ओर ही लेखक का ध्यान अधिक है। उसको इस बात की चिन्ता है कि एक बात भी ऐसी न हो जिस पर अप्रासगिकता का लाँछन लाया जा सके। तीस मोड़ यहाँ सिमट कर चार, पाँच तक ही रह गए हैं। डा० लाल ने बूढ़ा काकी नामक कहानी में केवल पाँच हा मोड़ बताये हैं।[२] १ बूढ़ा काका का परिचय, २ मुखराम का तिलक समारोह में प्रातिभोज, ३ काका क भडार-गृह में घुसना, ४ मूगा काका का जूठे

पत्तल चाटते हुए रूपा का देख लेना, ५ रूपा का बूढ़ी काकी को विधिवत् भोजन कराना। आज कल की मनोवैज्ञानिकता को आचरण की इतनी भी वाह्य रूपता, स्थूलता, प्रसरणता, विस्तार असह्य है। वह तो वाह्य संसार क्षेत्र के आचरण मे प्रगट होने वाले प्रत्येक हलचल को स्थगित कर ही आन्तरिक जगत की लहरों का चित्रण ही अपना कर्त्तव्य समझने लगी है। ऐसी अवस्था मे आज के पाठक को वर्णनात्मकता की स्थूलता, इतिवृत्त की ऐसी विपुलाकार योजना और सो भी छोटी कहानी की सीमा मे, प्रक्षुब्ध कर देती है।

मनोविज्ञान का रुख वाह्य घटनाओ के प्रतिः घटनाओं को भी मानसिक बना देने की प्रवृत्ति

आज का कथाकार घटनाओं की स्वयरूपता के महत्व को स्वीकार नहीं करता। वह इस बात में आस्था नहीं रखता कि मनुष्य के हृदयोदधि या मानस सागर मे गगन-विचुम्बित लहरों की सृष्टि की सामर्थ्य उतनी ही विपुलाकृति घटनाओं मे ही है। वह इस सिद्धान्त मे विश्वास नहीं करता कि मानसिक रूपाकृति वाह्यजगत की प्रतिकृति है, अर्थात् बड़ी घटनायें ही हमारे मानस को अधिक सशक्त रूप मे प्रभावित कर सकेंगी और छोटी घटनाओं की साधारणता केवल सतह की लहरों को जरा सा आन्दोलित कर रह जायेगी। नहीं, उसकी धारणा यह हो गई है कि मनुष्य की आन्तरिक दुनिया बाहर के नियमों से संचालित हो यह आवश्यक नहीं। ऐसा भी हो सकता है कि एक साधारण सी तुच्छ घटना उदाहरणार्थ, किसी टेबुल पर बैठ कर मसिपात्र को अपनी ओर खींच लेना, यात्रा के अवसर पर एक हिरण को देख लेना, किसी के हाथ मे घडी को देख लेना, किसी पक्षी की बोली को सुन लेना हमारे हृदय मे भावों और विचारों के अपार समुद्र की लहरे उत्पन्न कर दे सकती है। दूसरी ओर जीवन-मरण सम्बन्धी घटनाएं, दुनिया के नक्शे को बदल देने वाले भूकम्प आये और हमे उपर से ही छूते हुए निकल जाँय।

अतः कथाकार की कला के लिये घटनाओं का घटना के रूप में (Events qua Events) कोई भी महत्व नहीं। मनोविज्ञान की दृष्टि से उनकी उतनी ही उपयोगिता है कि वे पात्रों के अन्तप्रदेश की वैविध्य-पूर्ण प्रदर्शिनी के मध्य मे हमे लाकर स्वय वहाँ से ओझल हो जायँ, ठीक उसी तरह जैसे ध्वनि काव्य के शब्द और अर्थ दोनों किसी ध्वन्यर्थ के

तलवार लेकर झपटा था। प्रभा किसी प्रकार उसके साथ चलने को उद्यत होती थी। लज्जा का भय, धर्म की बेड़ी, कर्त्तव्य की दीवार रास्ता रोके खड़ी थी, परन्तु उसे तलवार के सामने देखकर उसने उस पर अपना प्राण अर्पण कर दिया, प्रीति की प्रथा निबाह दी लेकिन अपने वचन के अनुसार इसी घर में।

हाँ, प्रेम के रहस्य निराले हैं। अभी इस एक क्षण राजकुमार प्रभा पर तलवार लेकर झपटा था उसके खून का प्यासा था। ईर्ष्या की अग्नि उसके हृदय में दहक रही थी वह रुधिर की धारा से शान्त हो गई। कुछ देर तक वह अचेत बैठ रोता रहा। फिर उठा और उसने तलवार उठा कर जल्दी से अपनी छाती में चुभा ली। फिर रक्त का फुहार निकली दोनों धाराएँ मिल गईं और उनमें कोई भेद न रहा।

प्रभा उसके साथ चलने पर राजी न थी किन्तु प्रेम के बन्धन को तोड़ न सकी। दोनों उस घर से ही नहीं संसार से एक साथ सिधारे।"[४]

मनोवैज्ञानिक कहानी की दृष्टि से मर्यादा की वेदी में त्रुटियां

इस कहानी को स्वयं लेखक ने आठ भागों में विभक्त किया है। आज का कथाकार बड़ी सुविधा से इस कथानक के एक एक भाग के आधार पर एक एक उपन्यास की सृष्टि कर सकता है। कथानक का विस्तार मनोविज्ञान के स्वरूपी विष्करण में बाधक अवश्य हुआ है। पर सब से ध्यान देने वाली बात यह है कि ये घटनायें लेखक के द्वारा भी अन्दर से न देखी जाकर बाहर से देखी गई हैं। इनकी समस्या को अन्दर से छेड़ा न जाकर बाहर से छेड़ा गया है। उसका दृष्टिकोण आब्जेक्टिव है, सब्जेक्टिव नहीं। अतः मनोवैज्ञानिक नहीं। प्रेमचन्द जी की कहानियों में कुछ अपवादों को छोड़ कर घटनायें इतनी मनमानी हैं, असंयत, अनियंत्रित और वे उस औद्धत्य के साथ घटती हैं कि मानो उनपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं। उनकी सार्थकता हो या न हो पर वे होकर ही रहेंगी। मर्यादा की वेदी नामक कहानी में राणा का चित्तौड़ पर आक्रमण करने तक तो ठीक है पर आगे की जितनी घटनायें हैं, प्रभा का राणा के साथ चलने के लिए तैयार हो जाना, राणा के प्रति उदासीनता, मन्दार राज का छल से मीरा के पास पहुँचना, मीरा का गुप्त द्वार को खोल कर राजकुमार को प्रभा के पास पहुँचाना और उस शयन-कक्ष को रक्त रंजित करा देना ये सब घटना खत्री जी, किशोरीलाल गोस्वामी तथा गहमरी जी की तिलस्मी या ऐरतअंगेज सामग्री के उपकरण

मे ही विराजमान सी दीखती है। अततोगत्वा ये दोनों सजातीय है, समान-धर्मा है और दोनों का उद्देश्य घटनाओं के उग्र, क्रूर और अनगढ़ रूप का विवरण उपस्थित करना है, उनकी मूल प्रेरणाओं की ओर देखना नहीं है। आज का मनोवैज्ञानिक कथाकार मर्यादा की वेदी कहानी के एक-एक मोड़ पर, अंश पर, घटना पर, एक-एक कहानी की रचना कर देगा। घटनाओं की भी योजना हो सकती है पर उनका अवतरण बाह्य जगत नहीं, पर पात्रों का मानसिक जगत होगा, उसमे मनोविज्ञान भले हीं न हो पर कड़ाह मे उबलते हुए जल का वात्याचक्र तथा चाय की प्याली मे उठी हुई आँधी उसके अभाव को पूरा कर देगी। क्या हुआ कहानी का अन्त एक साफ ढंग से नहीं हुआ तो ? वह एक झटके से भले ही टूट जाय पर उसकी झंकार हमारी आत्मा से मिल कर जीवन पर्यन्त गूँजती रहेगी।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहानी की एक विशेषता : चेखव का उदाहरण

आधुनिक युग की मनोवैज्ञानिक कहानियों की विशेपताओं मे से एक यह भी है कि उनका अन्त तडिद्वेग के साथ होता है। वे बिजली की तरह चमक कर बुझ जाती है अथवा उनका अन्त होता ही नहीं क्योंकि उनका प्रारभ नहीं होता। उनका निर्माण उस मनोवृत्ति के द्वारा होता है जो जीवन को आसीत् या अस्ति अथवा भविष्यति के रूप मे नहीं देखती परन्तु भवत् (Becoming) के रूप मे देखती है। उसके लिए सारी सत्ता हो रही रूप में ही अपने स्वरूप को चरितार्थ कर रही है, वह 'अतीतोद्भूतभविष्योन्मुख' है। फलतः ऐसे मनोवैज्ञानिकों की कहानियों मे आदि अन्त का प्रश्न ही नहीं उठता। चेखव आधुनिक कहानीकारों मे यथार्थवाद के लिए प्रसिद्ध है। कहानियों की मनोवैज्ञानिक परम्परा की स्थापना का भी श्रेय उनको दिया जाता है। चेखव की कहानियों को पढ़ने के पश्चात् पाठक की धारणा तात्कालिक सरलता सुव्यवस्थिता, प्राजलता की नहीं परन्तु विक्षिप्तता, उद्वेग तथा व्याकुलता की होती है। विर्जिनिया वुल्फ ने चेखव की कहानियों के सम्बन्ध में कहा है कि एक पुरुष किसी विवाहिता नारी से प्रेम करने लगता है। वे मिलते भी है पर अन्त मे हम पाते है कि वे अपनी परिस्थति की आलोचना कर रहे हैं कि उन्हे इस असह्य बन्धन से किस प्रकार मुक्ति मिले।

'उसने अपना सर पीटते हुए कहा, किस तरह किस तरह'। ऐसा मालूम होता है कि समस्या का कोई हल शीघ्र निकल आयेगा और तब एक नवीन और दिव्य जीवन का प्रारभ होगा। यही अन्त है। एक डाकिया एक

नुभूति कला की प्रगतिशीलता की पगध्वनि को पहचानती है और समझती है कि उसमें अपने स्वाभाविक विकास के लिये किस वस्तु की नैसर्गिक माँग है, वह किस मार्ग से होकर अपने स्वरूप का विकास करना चाह रही है। प्रेमचन्द जानते थे कि कहानियों की प्रेरणा उन्हें मनोविज्ञान के क्षेत्र की ओर प्रेरित कर रही है और जब प्रारंभिक युग को पारकर अपने विकास युग में पदार्पण किया तो उन्होंने स्वयं इस बात को स्वीकार भी किया है। एक स्थान पर कहानी कला का विचार करते उन्होंने कहा है "यों कहना चाहिये कि *वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है।* घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के लिये ही लाये जाते हैं, उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः मेरी सुजान भगत, मुक्ति मार्ग, पंच परमेश्वर, शतरंज के खिलाड़ी, महातीर्थ सभी कहानियों में एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।"[८] इससे स्पष्ट है कि प्रेमचन्द कहानियों के लिये मनोवैज्ञानिकता के महत्त्व को अच्छी तरह अनुभव कर रहे थे पर मनोवैज्ञानिक प्राण प्रतिष्ठा कहानियों में किस तरह और क्यों कर हो सकती है, इस बात का यथार्थ ज्ञान उन्हें नहीं था। आज का आलोचक आज की प्रौढ़ मनोवैज्ञानिकता के आलोक में पंच परमेश्वर सुजान भगत, मुक्ति मार्ग जैसी कहानियों को यदि वह मनोवैज्ञानिक कहानियों की श्रेणी में रखेगा तो उसे अपने माप दण्ड को थोड़ा शिथिल करना पड़ेगा।

प्रेमचन्द जी की 'मनोवृत्ति' नामक कहानी एक सच्ची मनोवैज्ञानिक कहानी है इसकी विशेषताएं

हम प्रेमचन्द जी की 'मनोवृत्ति' नामक कहानी को उन कहानियों की श्रेणी में रख सकते हैं जो प्रत्येक दृष्टि से आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहानियों से प्रतिस्पर्धा कर सकती है। इसमें किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर कहानी की रचना करने का आग्रह नहीं है जैसा कि इलाचन्द्र जी की कहानियों में होता है और न मस्तिष्क के भौगोलिक प्रदेशों के पृथक निवासियों के संघर्ष का ही कथा कही गई है। परन्तु एक साधारण सी घटना अनेक मनुष्यों के मस्तिष्क में किस तरह विचित्र विचित्र प्रतिक्रिया की लहरों को तरंगित कर सकती है, इसकी कथा कही गई है। प्रातःकाल गाँधी पार्क में विल्लौर के बेंच पर गहरी नींद में सोई एक नारी पायी जाती है। तरह-तरह के लोग आते हैं और इस दृश्य को देख कर तरह तरह के अनुमान करते

हैं। जिसकी जैसी भावना हुई उसने मूर्त्ति को उसी रूप में देखा। वसन्त और हाशिम खेल प्रतियोगिता मे सम्मिलित होने वाले नवयुवक हैं। एक वकील साहब और डाक्टर है। दो देवियाँ हैं। एक वृद्ध है। दूसरी नवयौवना। ये लोग पार्क मे प्रातःकाल के वायु सेवन के लिये आये हैं और बेंच पर सोई नवयुवती के दृश्य ने इनकी कल्पना के पर लगा दिये हैं जो उन्मुक्त हो उड़ने लगी है।

इस कहानी की विशेषताये निम्नलिखित है—(१) कहानी एक-एक पात्र के मनो-जगत से निकल कर धीरे-धीरे अपने स्वरूप का प्रदर्शन कर रही है। यहाँ पर अन्य कहानियों की तरह घटनाओं के सिद्ध रूप के अवतरण की चेष्टा नहीं की गई है। परन्तु उनकी सिद्धि के क्रियमाण रूप का ही यहाँ दर्शन होता है। हमारे सामने एक बना बनाया चित्र नहीं उपस्थित होता, परन्तु हमारी आँखे तूलिका के एक-एक निक्षेप को देखती जाती है और चित्र अपनी आकृति का निर्माण करता जाता है। (२) कथाकार की सहानुभूति वाह्य जगत से हट कर मानसिक जगत की प्रतिक्रियाओं के चित्रण की ओर केन्द्रित हो गई है। वह आचरण के क्षेत्र को छोड़ कर भाव जगत मे आ गया है। उसके लिये क्रियायें नहीं प्रतिक्रियाये ही महत्वपूर्ण हो गई है। यों तो प्रेमचन्द जी बौद्धिक रूप मे स्वीकार करते थे कि उनकी घटनाओं और क्रियाओं का स्थान कहानी मे गौण होता है पर व्यावहारिक रूप से अब भी उनके साहित्य मे घटनाओं और क्रियाओं का ही बोल वाला था। परन्तु यह कहानी दूसरी जाति की है (३) पूरी कहानी कथोपकथन के रूप मे ही कही गई है। जो कुछ अंश वार्तालाप से भिन्न है वह स्टेज डाइरेक्शन से अधिक और कुछ नहीं है। यह कथोपकथन दो मनुष्यों के बीच में होने वाले वार्तालाप की श्रेणी में न हो कर स्वकथन के रूप में ही आता है। इस तरह के कथोपकथन का विकास आगे चलकर अज्ञेय की कहानियों मे अधिक हो सका है।

वसन्त ने कहा, इसे और कहीं सोने की जगह ही न मिली।

हाशिम ने जवाब दिया "कोई वेश्या है" "लेकिन वेश्याएँ भी तो इस तरह वेशर्मी नहीं करतीं" "वेश्या अगर वेशर्म न हो तो वेश्या नहीं" "बहुत सी ऐसी बाते हैं, जिनमे कुल वधू और वेश्या दोनों एक तरह करती हैं। कोई वेश्या मामूली तौर पर सड़क पर सोना नहीं चाहती।" "रूप छवि दिखाने का नया आर्ट है।" आर्ट का सबसे सुन्दर रूप छिपाव है; दिखाव नहीं वेश्या इस रहस्य को खूब समझती है।" "उसका छिपाव केवल आक-

धंग बढ़ाने के लिये है हो सकता है। केवल वहाँ सो जाना यह प्रमाणित नहीं करता कि वह वेश्या है। उसकी माँग में सेंदुर है"[१] यह वर्तालाप दो मनुष्यों के बीच में है पर वास्तव में स्ववार्तालाप के समाप में पड़ता है जो एक ही मनुष्य के अन्दर तर्क वितर्क के रूप में चलता रहता है और जिसकी ही परिणति उस पद्धति में हुई, जिसे आधुनिक शब्दावली में (Interior Monologue) कहा जाता है, (४) कहा जाता है कि शीर्षक कहानी का बहुत ही महत्वपूर्ण अंश है और इसके द्वारा पाठक को कहानी की वास्तविक रहस्य की झाँकी मिलती है। यह कथा का पूर्व रूप है और यह पाठक में किसी विशिष्ट वस्तु का पाने की आशा उत्पन्न करता है और बतलाता है कि आगे चल कर उसे कौन सी वस्तु प्राप्त होने वाली है, जिसके स्वागतार्थ हृदय तत्पर हो जाए। "मनोवृत्ति" शीर्षक ही ऐसा है कि पाठक को यह किसी महत्वपूर्ण घटना का सामना करने के लिये या किसी आदर्श की उपलब्धि के लिये प्रस्तुत नहीं करता, परन्तु मानव मनोवृत्ति के चमत्कार का दृश्य दिखलाने का ही उपक्रम करता है।

शीर्षक की ध्वनि स्पष्ट है और यह कह रही है कि वह सुजान भगत, मर्यादा की वेदी तथा अन्य कहानियों से भिन्न वस्तु है। घटनाओं के उत्थान और पतन तथा आरोहावरोह पर लुब्ध पाठक यदि अपने पूर्वग्रहों और मनोभावों का साथ लेकर इस कहानी को पढ़ेगा तो इसमें स्वास्थ्य का आनन्द नहीं उठा सकेगा। उसे अपनी आदत बदलनी पड़ेगी। कहानियाँ स्थूल जगत के ऊँचे ऊँचे टीलों का परित्याग कर सूक्ष्म जगत के अन्तर्तम प्रदेश की झाँकी लेने लगी हैं, जो हमारे सारे बाह्य क्रियाकलापों का प्रेरणा स्रोत है। जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियों ने हिन्दी के पाठकों के मानसिक धरातल को ऊँचा किया अर्थात् एक ऐसा पाठक वर्ग उत्पन्न किया जो समय काटने के लिये मनोरंजन की चीज न समझ कर कहानियों को अधिक गम्भीर वस्तु समझे। उन्हें घटनाओं का कुशल और कलापूर्ण सजावट मात्र न समझकर उसे जीवन का मूल समस्याओं, व्यक्ति जीवन व्यापार सूत्र को सञ्चालित करने वाला मनोवृत्तियों को समझा सकने में सहायक समझे जिनका ध्यान घटनाओं की ओर न होकर मनुष्य की ओर ही। मनुष्य के भी कितने रूप होते हैं और वे समान रूप से महत्व पूर्ण नहीं होते। वह रूप जो सामान्यतः हमारी दृष्टि के बहिर्भूत होकर भी जीवन की निकटतम वस्तु है, व्यक्ति की गहराई में अधिक महत्वपूर्ण है उसको ही अपने कथा की लपेट में लाकर

प्रगटित करना आज हमारा उद्देश्य हो गया है। यह काम प्रेमचन्दजी स्वयं अपने जीवन काल मे ही करने लगे थे।

मनोवृत्ति आधुनिक अमेरिकन तथा अंग्रेज़ी मनोवैज्ञानिक कहानियों से टक्कर लेने वाली है

(५) मनोवृत्ति कहानी का मनोवैज्ञानिक महत्व हमारे सामने और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम देखते हैं कि इंगलैण्ड और अमेरिका के आधुनिक दो मनोवैज्ञानिक कथाकारों ने भी अपने उपन्यास के लिये भी इसी से मिलते-जुलते कथानक को उपजीव्य बनाया है। अमेरिकन कथाकार फाकनर ने एक उपन्यास लिखा है As I lay dying।[१०] एक दरिद्र अशिक्षित और दुर्भाग्य पीड़ित महिला की मृत्यु हुई। उस परिवार के पन्द्रह व्यक्ति उसके शव को कब्र मे दफनाने के लिये ले चलने के लिये तैयार बैठे है। उनको किसी कारण से इस अतिम संस्कार के सम्पादन मे अत्यधिक विलम्ब हो जाता है। उन पन्द्रह व्यक्तियों के हृदय मे उस मृत महिला के सम्बन्ध मे तरह-तरह के विचार उपस्थित होते है और उसके ही वर्णन मे उपन्यास की सृष्टि होती गई है। ये वर्णन एक तरह की स्वगतोक्तियाँ है, स्वकथोपकथन जिसमे पात्र दूसरों से न कह कर अपने से ही कुछ कुछ कह रहा है। वक्ता भी वही है, श्रोता भी वही। इन पन्द्रह व्यक्तियो में एक छोटा बालक है जिसके हृदय मे जन्म और मृत्यु के उपरान्त माता की क्या दशा होगी इसके सम्बन्ध मे बडी विचित्र धारणा है। एक दूसरा व्यक्ति है जिसके मस्तिष्क मे थोड़ी विकृति है और उसमे किसी अपरोक्ष बात को भी देख लेने की शक्ति है। इसी तरह इन लोगों के विचार और कल्पना प्रवाह की रेखा से पूरी कथा निर्मित होती चली गई है। प्रेमचन्दजी की मनोवृत्ति और इस उपन्यास मे विषय तथा विषय प्रतिपादन की पद्धति दोनों मे अद्भुत साम्य है। एक कहानी के रूप मे है और दूसरा उपन्यास के रूप मे। अतः इन दोनों मे आधार तथा प्रकार का जो अन्तर आ गया हो वह दूसरी बात है।

दूसरा उपन्यास है loving[११] जिसके रचयिता है अग्रेजी के उपन्यासकार हेनरी ग्रीन। यद्यपि हेनरी के उपन्यासों को इगलैंड मे बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है, पर इनकी कीर्ति अभी समुद्र को पार कर दिगदिगन्तर नहीं व्याप्त हुई है। एक सम्पन्न महिला के पास अनेक सेवक और सेविकायें है। एडिथ नामक सेविका से तीन सेवक प्रेम करते हैं। वह स्वयं राउ नामक सुरा-भंडारी को प्यार करती है। एक दिन ब्राह्म मुहूर्त मे ही जब वह मकान

का पदा ठीक करने के लिये जाती है तब वह प्रोषितपतिका अपना स्वामिनी को एक प्रेमी की गोद में प्रसुप्त देखती है और वह उस दृश्य को देख कर भयमूक होकर लौटती है। इस घटना को लेकर सेवकों में खूब टीका टिप्पणी होती है। वही घटना उनके वार्तालाप का केन्द्र हो जाती है और इसी रूप में कथा का निर्माण होता चला जाता है।

आज की इन कथाओं को प्रेमचन्दजी की मनोवृत्ति जैसी कहानियों को सामने-सामने रख कर पढ़ा जाय तो प्रेमचन्दजी की कथात्मक मनोवैज्ञानिकता का महत्त्व स्पष्ट होगा। यद्यपि उनकी कहानियाँ वर्णनात्मक हैं, उनमें घटनाओं का साम्राज्य दृढ़ है, *आदर्शवादिता का प्राबल्य है, संयोग (Surprise)* की धुरी पर कहानियों का लुढ़कना आज खटकता है, बाहरी सजावट भीतरी प्राणों को चरती सी दीख पड़ती है, क्रियायें और बाह्य आचरण भाव जगत को दबाये से खड़े हैं, पर इन पत्थरों के नीचे भी एक नया अंकुर पनपता सा अवश्य है और वह अंकुर है मनोविज्ञान का, आन्तरिक जीवन का है।

पाद टिप्पणियाँ

१ हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास प्र० स० १६५३ पृ० १०५
२ वही १२६
३ यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित
४ मर्यादा की वेदी, 'मानसरोवर भाग ६
५ 'मानसरोवर भाग ६ पृ० ७१४ द्वि० संस्करण १६४६
६ Common Reader by V Woolf P 175
७ Decadence by C E M Joad chapter 12, The literary Culture of our time
८ 'कुछ विचार प्रेमचन्द' चतुर्थ संस्करण १६४६ पृ० ३५
६ मनोवृत्ति 'मानसरोवर' भाग १ पंचम संस्करण १६४६ पृ ३११
१० J W Beach 20th Century Novel P 521
११ Novel Since 1939 London Pheonix House P 87
Essay on Novel by Herbert Read

पंचम अध्याय

जैनेन्द्र के उपन्यास और मनोविज्ञान

जैनेन्द्र और फ्रायड

दूसरे अध्याय मे विभिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय मे हम जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला का अध्ययन करेंगे। जैनेन्द्र की कथाओं मे हम फ्रायड का भी प्रभाव कम नहीं पाते। उनके सब पात्रों मे कुण्ठा है, दमन (Repression) है, असाधारणता है, कुछ मनोविकृति है, काम-भाव (Sex) दमनोत्पन्न अनेक विवशताएँ है।

'परख' उनका प्रथम उपन्यास था जिसमे वे प्रेमचन्द की कला के प्रभाव से अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाये थे। उसमे भी विहारी और कट्टो की दमित काम वासना के उदात्तीकृत रूप (Sublimation) की बात कही गई। उनका कोई उपन्यास नहीं जिसमे यह दमन-जनित मृदु या भयकर विस्फोट न दिखलाया गया हो। उनकी कहानियों मे 'एक रात' 'ग्रामोफोन का रेकार्ड', 'मास्टर साहब' 'पत्नी', पानवाला', विट्रीस इसके प्रमाण है। 'ध्रुवयात्रा' नामक कहानी मे तो फ्रायड के मुक्त आसंग (Free Association) वाली पद्धति का आधार ही लिया गया है। पर जैनेन्द्र पर फ्रायड का वैसा प्रभाव नहीं है जैसा अज्ञेय और इलाचन्द जोशी पर है। जैनेन्द्र के उपन्यासो को फ्रायडियन नहीं कह सकते है। यदि कहना ही है तो उन्हे गेस्टाल्टवादी उपन्यासकार कहेंगे, हालाँकि यह अभिधान केवल अर्थवाद के रूप मे है। उनके प्रत्येक उपन्यास मे चेतन अहं (Ego) और अचेतन (ID) का घात-प्रतिघात चलता ही रहता है। प्रत्येक के घर Ego में और बाहर ID की आकांक्षा है, पुकार है और 'घर' 'बाहर' के प्रति आत्म-समर्पण करने के लिये विवश है। सुसभ्य और संस्कृति मे पत्नी पत्नी सुनीता का हरिप्रसन्न के प्रति समर्पण, 'त्यागपत्र' की मृणाल का कोयलेवाले का साथ देना, कल्याणी का अपने पति से उन्मन-उन्मन रहना, किसी के प्रति समर्पित होने की वेदना लिये भी कुलीन गाँधी-वादी, देश के लिये अपनी निजता को भी खो देने वाले प्रिमियर के लिये अदम्य आकर्षण की अनुभूति के होते भी कल्याणी का समर्पण तक न पहुँ-चना, सुखदा की दृढ़ मर्यादा-बुद्धि का लाल के सामने हार मान जाना,

'विवर्त' में मोहनी का जितेन के सामने परास्त हो जाना, 'व्यतीत' में व्याहता अनिता का एक ही दिन पहिले' क्रूर पापी खबरदार जो मुझे छुआ है, कह कर दो तमाचे लगाने पर दूसरे दिन जयन्त से कहना, जयन्त रात की बात भूल जाओ, मैं सुध में न थी। अब सुध में हूँ, कहती हैं मैं यह सामने हूँ। मुझको तुम ले सकते हो। समूची को चाहे जिस विधि चाहे ले सकते हो।[१] ये सब प्रकारान्तर से प्रतीक के रूप में Ego और ID के संघर्ष तथा ID की विजय की ही कहानी है।

उदाहरण जहाँ गेस्टाल्ट की स्पष्ट झलक

जैनेन्द्र की कथाओं में ऐसे स्थलों को ही पहिले ढूँढें जहाँ सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान का प्रभाव असंदिग्ध सा है और जहाँ पर वे सिद्धान्त को ही कथा के रूप में ढाल लेने का प्रयत्न करते दीख पड़ते हैं। एक कहानी है 'तत्सत्'। दो शिकारी किसी दिन एक जंगल में विश्राम करते आपस में वार्तालाप कर रहे हैं। एक ने कहा "ओह कैसा भयानक जंगल है।" प्रश्न उपस्थित हो गया कि यह जंगल नामक कौन सा पदार्थ है बड़ है, पीपल है, सेमर है, सीसम है, बाघ है, चीता है और अन्य अन्य जीव जन्तु हैं, पर यह जो वन है सो क्या है? सबसे पूछा गया, बाघ से, चीता से, सिंह से, साँप से, बबूल से, सेमर से। सब ने यही कहा कि वे वन को नहीं जानते। कुछ दिनों बाद फिर वे शिकारी आये। जंगल में कोलाहल छा गया। बताओ तुमने कहा थो जंगल कहाँ है? उत्तर में उन्होंने कहा कि सब कुछ ही जंगल है। पर कौन मानने लगा? सब इस धोखेबाज और मिथ्यावादी शिकारी की जान लेने पर उतारू हो गये।

अन्त में एक शिकारी वट वृक्ष से सलाह लेकर उसकी सबसे ऊपर वाली फुनगी पर चढ़ गया और उसे बड़े प्रेम से पुचकारा देखते देखते पत्तों की यह जोड़ी उद्भाव हुई मानो उसमें चैतन्य भर आया हो। मानो वे चमक से चमक आये हों, जैसे उन्होंने सब को कूल में देख लिया हो कि कुल कहाँ और सब कहाँ। अब यह दादा जगे मानो अभ्यन्तर से कोई अनुभूति प्राप्त हुई हो। वातावरण के मौन को भंग करते बोले "वह है" सब साथी चकरा गये।

"दादा दादा"

दादा ने इतना ही कहा "वह है, वह है।"

"कहाँ, कहाँ है, कहाँ है।"

"सब कहीं है। सब कहीं है।"[२]

"और हम ?"

"हम नहीं है वह है ।"[२]

इस कहानी की अवतारणा ही इसलिये की गई है कि छोटी सी कथा के द्वारा खण्ड के पूर्व सम्पूर्ण के अस्तित्व का समर्थन किया जाय। यह जरूर है कि जैनेन्द्र मे भारतीय अद्वैतवादी दृष्टिकोण ने इसमे वेदान्त का पुट दे दिया है, पर इसमे सदेह नहीं कि आधुनिक गेस्टाल्टवाद मनोविज्ञान के शब्दों मे इस कहानी को समझा समझाया जा सकता है। यह कहानी कहती है कि बड़ पीछे है, वन पहिले है। बड़, बबूल, सीसम, बाघ, चीते इत्यादि पीछे है, बन ही है, अन्य चीजे नहीं हैं। तो भी वन को लेकर ही है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का भी तो यही कहना है कि सम्पूर्ण आकृति पहले है, अन्य रेखाये बाद मे। आप इस तरह के तीन .˙. बिन्दुओं को देखिये। क्या आप एक रहस्यमय ढंग से एक पूरे त्रिकोण को नही देख रहे है ? क्या आपकी कल्पना तड़प कर रिक्त स्थान को भर नहीं देती ? क्या एक त्रिकोण की सम्पूर्ण आकृति अपनी सम्पूर्णता के साथ आपके सामने पहिले ही उपस्थित नहीं हो जाती ?

जैनेन्द्र जी का दूसरा कहानी संग्रह है 'जयसधि'। इस संग्रह मे एक कहानी है, 'जयसधि' जिसके आधार पर इस संग्रह का नामकरण हुआ है। कहा है प्राधान्येन व्यपदेशः अर्थात् जिसकी प्रधानता है अथवा वक्ता समझता है कि वह प्रधान है उसी के आधार पर वह पूरी वस्तु का नामकरण करता है। ऐसे-ऐसे स्थलों मे लक्षणा के चमत्कार दिखलाई पड़ते है। मेरे गॉव के पास ही एक गाँव है जिसका नाम पीपरा है। यह पीपरा शब्द पीपल का विकृत रूप है। कहा जाता है कि इस गाँव मे एक बड़ा घना और विशालकाय पीपल का वृक्ष था जिसकी छाया की सीमा मे उस गाँव का पर्याप्त अंश घिर जाता था, मानो वह पीपल का वृक्ष ही गाँव का श्रेष्ठ अंश हो। अतः इसी प्रधानता के कारण, सबके ऊपर छा जाने वाले गुण के कारण उस गाँव का नाम पीपरा पड़ गया। ठीक इसी के आधार पर इस संग्रह के अभिधानत्व के कारण, हम निष्कर्ष निकालते है कि लेखक के हृदय मे 'जयसधि' कहानी के लिए इतनी उत्तमता के भाव है कि उसी के आधार पर सारे सग्रह को पुकारने से ही उसको हार्दिक सतोष होता है। यों तो यह एक राजनैतिक कहानी सी लगती है। इसमे यशोविजय के राष्ट्रीय सङ्घ बनाने की महत्वाकाङ्क्षा, राष्ट्र के छोटे-छोटे भिन्न-भिन्न टुकड़ों को एक महाराष्ट्र के रूप में परिणत करने के लिए किये गए उद्योगो का वर्णन है

पर फिर भी लेखक का दृष्टिकोण यहाँ स्पष्ट है। यहाँ पर वह सम्पूर्ण और खण्ड की ही बातें कहता है और यह बतलाने में प्रयत्नशील है कि पूर्णता के सामने खण्ड का कोई महत्व नहीं। पूर्णता ही सत्य है और खण्ड मिथ्या। पूर्णता की ओर ही हमारी प्रवृत्ति अनिवार्य रूप से उन्मुख होती है यहाँ तक कि पूर्णता की राह में बाधा सी लगने वाली शक्तियों की अवस्थिति भी इसलिए है कि वह हमें अन्दर से उभारती रहे और लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो जो हो कर ही रहती है।

इस 'जयसंधि' नामक कहानी के सहारे एक दूसरी कहानी की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, जिसका सम्बन्ध गैस्टाल्टवादी मनोविज्ञान से है। आपने देखा होगा कि किसी चित्र का निर्माण अनेक टेढ़ी-मेढ़ी आड़ी तिरछी रेखाओं के योग से होता है। यदि ये रेखायें अलग पड़ी हों और चित्र से कटी रहें, चित्र से उनका कोई सम्बन्ध न रहे तो वे विद्रूपता की मूर्ति सी खड़ी अपनी कदाकारिता के कारण दर्शक के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करने वाली प्रमाणित होंगी, पर चित्र में आकर सुन्दरता का आगार बन जाती हैं। मालूम होने लगता है कि चित्र में जो कुछ सुन्दरता है या चातुर्य निबन्धन है वह इन्हीं के चलते हैं। भले ही ये रेखायें अपने में जो कुछ हों, उनमें सौंदर्य का अत्यन्ताभाव ही क्यों न हो, पर चित्र की सम्पूर्णता की इकाई में वे पूर्ण रूप से सार्थक हैं। परिस्थिति के अनुरोध से या संयोजन के अनुरोध से उनमें अपार सौंदर्य का समावेश हो गया है। सामन्त *यशोविजय अपने प्रतिद्वन्द्वी की पत्नी यशस्तिलका के शयन कक्ष में प्रवेश* करता है। यह कार्य साधारण दृष्टि से कभी अनुमोदनीय नहीं कहा जा सकता। जिसकी पत्नी के गृह में इस तरह प्रवेश किया जाता है, उसमें क्रोध का तूफान उठा देने के लिए वह पर्याप्त है। पर वही घटना इस कहानी में इस ढङ्ग से रखी गई है कि जयवीर के महाराष्ट्र के निर्माण की स्वीकृति देने में सबसे महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। सन्धि की शर्तों पर राय लेने के लिये जयवीर अपनी पत्नी यशस्तिलका के पास जाना चाहता है। यह सुनते ही यशोविजय कहता है 'क्षमा करना, मैं वहीं से आ रहा हूँ। वह सन्धि के के लिए तैयार है।'

यशस्तिलका ने स्थिर वाणी से कहा 'तुमने उसका अविश्वास नहीं *किया? आधीरात मेरे कक्ष से आ रहा था। क्या यह सज्जनता के* लक्षण है!'

जयवीर ने कहा "तुम्हारा अविश्वास करूँगा उस दिन क्या मैं जीवित रह सकूँगा ?"

यह सुन कर यश अपने पति की ओर निहारती रह गई बोली "मेरे कारण तुम्हे यशोविजय का विश्वास करना पड़ा, क्यों ?

जयवीर ने कहा "हाँ। आधीरात तुम्हारे पास से आकर खुद कोई मुझ से झूठ नहीं कहा सकता। यश ने कहा 'अच्छा तो मुझे मेरे कक्ष तक पहुँचा दो।"[3]

कहानी की इन पक्तियों के उद्धरण से मेरा उद्देश्य है कि किसी स्त्री के कक्ष मे आधीरात को प्रवेश करना कोई शोभनीय बात नहीं। चित्र मे पड़ी यों ही असङ्गत रेखा सी है। पर यह अपने स्थान मे इतनी फिट है और कौशल से संयोजित की गई है कि कहानी के सौदर्य का मूल उत्स वहीं होकर रह गई है। कहानी के प्रधान पात्र यशोविजय के स्वप्नों की पूर्ति मे इससे सहायता तो मिलती है, पर कहानी को कलात्मक बनाने तथा पाठक के हृदय मे उसके चरित्र की दृढ़ता, विश्वास तथा श्रद्धा की महानता के गौरव की स्थापना करने मे भी इससे कम सहायता नहीं मिलती।

लेखक के दृष्टिकोण को समझने में सतर्कता की आवश्यकता

किसी लेखक का वास्तविक दृष्टिकोण क्या है जिसकी अभिव्यक्ति उसकी रचनाओं द्वारा हो रही है, यह बात जानने के लिए सतर्कता की आवश्यकता है। इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिये कि कलाकृति मे भोक्ता की सीधी अनुभूति अवतरित नहीं होती, परन्तु उसमें स्रष्टा की भावित अनुभूति का ही सन्निवेश रहता है। अतः, रचना मे किसी भाव या दृष्टिकोण की झलक पाकर बिना अन्य आनुषंगिक बातों पर विचार किए लेखक के दृष्टि-कोण का निर्णय कर लेना समीचीन नहीं होगा। हो सकता है कि रचना मे लेखक की इच्छा पूर्ति (Wishfulment) हो। यह भी असम्भव नहीं कि उसके वास्तविक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हो पर साथ ही यह भी सम्भव है कि उसकी रचना मे ठीक उन्हीं बातों का उल्लेख हो, जिसके प्रति उसके हृदय में कुछ दिल-चस्पी नहीं। उदाहरण के लिए, बहुत से लेखकों का नाम लिया जा सकता है जिनके हृदय मे वैभव के लिए, धन के लिए मोह है, वे अपने हृदय की तह में पूँजीपति बनने की महत्वाकाक्षा पोसे हुए हैं, पर उनकी रचना देखिये तो उसमे पूँजीवाद को भस्म कर देने वाली भट्ठी जल रही है। ऐसी सूरत मे प्रश्न यह होता है लेखक के वास्तविक दृष्टिकोण का पता कैसे चले ?

पर फिर भी लेखक का दृष्टिकोण यहाँ स्पष्ट है। यहाँ पर वह सम्पूर्ण और खण्ड की ही बातें कहता है और यह बतलाने में प्रयत्नशील है कि पूर्णता के सामने खण्ड का कोई महत्त्व नहीं। पूर्णता ही सत्य है और खण्ड मिथ्या। पूर्णता की ओर ही हमारी प्रवृत्ति अनिवार्य रूप से उन्मुख होती है यहाँ तक कि पूर्णता की राह में बाधा सी लगने वाली शक्तियों की अवस्थिति भी इसलिए है कि वह हमें अन्दर से उभारती रहे और लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो जा हो कर ही रहती है।

इस 'जयसवि' नामक कहानी के सहारे एक दूसरी कहानी की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, जिसका सम्बन्ध गैस्टाल्टवादी मनोविज्ञान से है। आपने देखा होगा कि किसी चित्र का निर्माण अनेक टेढ़ी-मेढ़ी आड़ी तिरछी रेखाओं के योग से होता है। यदि ये रेखायें अलग पड़ी हों और चित्र से कटी रहें, चित्र से उनका कोई सम्बन्ध न रहे तो वे विद्रूपता की मूर्ति सी खड़ी अपनी कदाकारिता के कारण दर्शक के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करने वाली प्रमाणित होंगी, पर चित्र में आकर सुन्दरता का आगार बन जाती है। मालूम होने लगता है कि चित्र में जो कुछ सुन्दरता है या चातुर्य निबन्धन है वह इन्हीं के चलते हैं। भले ही ये रेखायें अपने में जो कुछ हों, उनमें सौंदर्य का अत्यन्ताभाव ही क्यों न हो, पर चित्र की सम्पूर्णता को इकाई में वे पूर्ण रूप से सार्थक हैं। परिस्थिति के अनुरोध से या संयोजन के अनुरोध से उनमें अपार सादर्य का समावेश हो गया है। सामन्त यशोविजय अपने प्रतिद्वन्द्वी की पत्नी यशस्तिलका के शयन कक्ष में प्रवेश करता है। यह कार्य साधारण दृष्टि से कभी अनुमोदनीय नहीं कहा जा सकता। जिसकी पत्नी के गृह में इस तरह प्रवेश किया जाता है, उसमें क्रोध का तूफान उठा देने के लिए वह पर्याप्त है। पर वही घटना इस कहानी में इस ढङ्ग से रखी गई है कि जयवीर के महाराष्ट्र के निर्माण की स्वीकृति देने में सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। सन्धि की शर्तों पर राय लेने के लिये जयवीर अपनी पत्नी यशस्तिलका के पास जाना चाहता है। यह सुनते ही यशोविजय कहता है 'क्षमा करना, मैं वहीं से आ रहा हूँ। वह सन्धि के के लिए तैयार है।'

यशस्तिलका ने स्थिर वाणी से कहा 'तुमने उसका अविश्वास नहीं किया! आधीरात मेरे कक्ष से आ रहा था। क्या यह सज्जनता के लक्षण हैं!'

पर फिर भी लेखक का दृष्टिकोण यहाँ स्पष्ट है। यहाँ पर वह सम्पूर्ण और खण्ड की ही बातें कहता है और यह बतलाने में प्रयत्नशील है कि पूर्णता के सामने खण्ड का कोई महत्व नहीं। पूर्णता ही सत्य है और खण्ड मिथ्या। पूर्णता की ओर ही हमारी प्रवृत्ति अनिवार्य रूप से उन्मुख होती है यहाँ तक कि पूर्णता की राह में बाधा सी लगने वाली शक्तियों की अवस्थिति भी इसलिए है कि वह हम अन्दर से उभारती रहे और लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो जा हो कर ही रहती है।

इस 'जयसंधि' नामक कहानी के सहारे एक दूसरी कहानी की ओर भी ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, जिसका सम्बन्ध गैस्टाल्टवादी मनोविज्ञान से है। आपने देखा होगा कि किसी चित्र का निर्माण अनेक टेढ़ी मेढ़ी आड़ी तिरछी रेखाओं के योग से होता है। यदि ये रेखायें अलग पड़ी हों और चित्र से कटी रहें, चित्र से उनका कोई सम्बन्ध न रहे तो वे विद्रूपता की मूर्ति सी खड़ी अपनी कदाकारिता के कारण दर्शक के हृदय में क्षोभ उत्पन्न करने वाली प्रमाणित होगी, पर चित्र में आकर सुन्दरता का आगार बन जाती है। मालूम होने लगता है कि चित्र में जो कुछ सुन्दरता है या चातुर्य निबन्धन है वह इन्हीं के चलते है। भले ही ये रेखायें अपने में जो कुछ हों, उनमें सौंदर्य का अत्यन्ताभाव ही क्यों न हो, पर चित्र की सम्पूर्णता की इकाई में वे पूर्ण रूप से सार्थक हैं। परिस्थिति के अनुरोध से या संयोजन के अनुरोध से उनमें अपार सौंदर्य का समावेश हो गया है। सामन्त यशोविजय अपने प्रतिद्वन्द्वी की पत्नी यशस्तिलका के शयन-कक्ष में प्रवेश करता है। यह कार्य साधारण दृष्टि से कभी अनुमोदनीय नहीं कहा जा सकता। जिसकी पत्नी के गृह में इस तरह प्रवेश किया जाता है, उसमें क्रोध का तूफान उठा देने के लिए वह पर्याप्त है। पर वही घटना इस कहानी में इस ढङ्ग से रखी गई है कि जयवीर के महाराष्ट्र के निर्माण की स्वीकृति देने में सबसे महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। सन्धि की शर्तों पर राय लेने के लिये जयवीर अपनी पत्नी यशस्तिलका के पास जाना चाहता है। यह सुनते ही यशोविजय कहता है 'क्षमा करना, मैं वहीं से आ रहा हूँ। वह संधि के के लिए तैयार हैं।'

यशस्तिलका ने स्थिर वाणी से कहा 'तुमने उसका अविश्वास नहीं किया! आधीरात मेरे कक्ष से आ रहा था। क्या यह सज्जनता के लक्षण हैं!'

जयवीर ने कहा "तुम्हारा अविश्वास करूँगा उस दिन क्या मैं जीवित रह सकूँगा ?"

यह सुन कर यश अपने पति की ओर निहारती रह गई बोली "मेरे कारण तुम्हें यशोविजय का विश्वास करना पड़ा, क्यों ?

जयवीर ने कहा "हाँ। आधीरात तुम्हारे पास से आकर खुद कोई मुझ से झूठ नहीं कहा सकता। यश ने कहा 'अच्छा तो मुझे मेरे कक्ष तक पहुँचा दो।"[२]

कहानी की इन पंक्तियों के उद्धरण से मेरा उद्देश्य है कि किसी स्त्री के कक्ष मे आधीरात को प्रवेश करना कोई शोभनीय बात नहीं। चित्र मे पड़ी यों ही असङ्गत रेखा सी है। पर यह अपने स्थान मे इतनी फिट है और कौशल से सयोजित की गई है कि कहानी के सौंदर्य का मूल उत्स वहीं होकर रह गई है। कहानी के प्रधान पात्र यशोविजय के स्वप्नो की पूर्ति मे इससे सहायता तो मिलती है, पर कहानी को कलात्मक बनाने तथा पाठक के हृदय मे उसके चरित्र की दृढ़ता, विश्वास तथा श्रद्धा की महानता के गौरव की स्थापना करने मे भी इससे कम सहायता नहीं मिलती।

लेखक के दृष्टिकोण को समझने में सतर्कता की आवश्यकता

किसी लेखक का वास्तविक दृष्टिकोण क्या है जिसकी अभिव्यक्ति उसकी रचनाओं द्वारा हो रही है, यह बात जानने के लिए सतर्कता की आवश्यकता है। इस बात को सदा ध्यान मे रखना चाहिये कि कलाकृति मे भोक्ता की सीधी अनुभूति अवतरित नहीं होती, परन्तु उसमे स्रष्टा की भावित अनुभूति का ही सन्निवेश रहता है। अतः, रचना मे किसी भाव या दृष्टिकोण की झलक पाकर बिना अन्य आनुषगिक बातों पर विचार किए लेखक के दृष्टि-कोण का निर्णय कर लेना समीचीन नहीं होगा। हो सकता है कि रचना मे लेखक की इच्छा पूर्ति (Wishfulment) हो। यह भी असम्भव नहीं कि उसके वास्तविक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हो पर साथ ही यह भी सम्भव है कि उसकी रचना मे ठीक उन्हीं बातों का उल्लेख हो, जिसके प्रति उसके हृदय मे कुछ दिल-चस्पी नहीं। उदाहरण के लिए, बहुत से लेखकों का नाम लिया जा सकता है जिनके हृदय मे वैभव के लिए, धन के लिए मोह है, वे अपने हृदय की तह में पूँजीपति बनने की महत्वाकाक्षा पोसे हुए है, पर उनकी रचना देखिये तो उसमे पूँजीवाद को भस्म कर देने वाली भट्टी जल रही है। ऐसी सूरत मे प्रश्न यह होता है लेखक के वास्तविक दृष्टिकोण का पता कैसे चले ?

मीमांसा शास्त्र में तात्पर्य निर्णय के कुछ सिद्धांत बतलाये गये हैं—

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्,
अर्थवादोपपत्ती च लिंगम् तात्पर्यनिर्णये।

अर्थात् उपक्रम, उपसंहार, पुनरुक्ति, नवीनता, फल अर्थवाद तथा खंडन मंडन देखकर ग्रंथ का तात्पर्य निर्णय करना चाहिये। ये बातें ग्रंथ के तात्पर्य निर्णय में भले ही कुछ सहायता दे लें पर ग्रंथकार के सच्चे व्यक्तित्व को दिखलाने में समर्थ नहीं हो सकता। सम्भव है जिन बातों की अभिव्यक्ति की गई हो वे लेखक की बाहरी आस्था की उत्पत्ति हों, बाहरी परिस्थिति की उपज हो। मसलन किसी बाहरी आर्थिक या सामाजिक दबाव में पड़कर लिखी गई हों, हृदय की वृत्ति से उनका कोई सम्बन्ध न हो। लेखक किसी विचारधारा से सहमत न हो पर चूँकि वह किसी सरकारी पद पर नियुक्त है और सरकार चाहती है कि उस विचारधारा का जनता में प्रचार हो ऐसी अवस्था में लेखक को अपनी रुचि के विरुद्ध भी उनके समर्थन में अपनी प्रतिभा को प्रेरित करनी पड़ेगा। तब लेखक की हृदयान्तरवर्तिनी धार का पता कैसे चले?

रस्किन ने अपनी पुस्तक Modern Painters में चित्रकला पर विचार करते समय इस प्रश्न को छेड़ा है। उसने कहा है कि कभी कभी ऐसा भी होता है कि कलाकार को अपने विषय निर्वाचन की स्वतन्त्रता नहीं होती, उसको दूसरों के संकेत पर कला को उपजीव्य का चुनना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में कलाकार की दिलचस्पी को ध्यान से देखा जाना चाहिये। कल्पना कीजिये कि किसी मठाधीश ने किसी कलाकार को आज्ञा दी कि तुम उस दृश्य का चित्रण करो जिसमें मागडलिन ईसामसीह का चरणोदक ले रही है। देखते हैं कि मागडलिन का चित्र सुन्दरता से अंकित किया गया है पर उनकी मुखमुद्रा से कृतज्ञता की छवि अंकित नहीं होती। यह चित्र किसी भी सेविका का हो सकता है, जो अपने स्वामी के चरणों को पखारने के लिये जलपात्र लाकर रख देती हो। हम शीघ्र ही निर्णय कर लेंगे कि कलाकार के व्यक्तित्व में धर्मप्रवणता तथा आध्यात्मिकता का अभाव है। दूसरी ओर ऐसे भी चित्र मिल सकते हैं जिनमें किसी की बाध्यता के कारण विलास और वैभव का चित्रण हो रहा है। पर चित्रकार के अनजान में ही चित्र में दो एक कूचियाँ चल गई हों, जिनसे अध्यात्म के प्रकाश फूटते हों। हम तुरन्त ताड़ लेंगे कि कलाकार किसी बाध्यता के कारण सांसारिक वातावरण में घूमने के लिये

भले ही चला आया हो पर वास्तव मे उसका मन उडा-उड़ा ही रहता है। वह है असल में अध्यात्मलोक का निवासी।

उसी तरह जैनेन्द्र की कहानियों से वही धारणा मन मे बैठती है कि लेखक चाहे आर्थिक समस्या की बातें करता हो, चाहे सामाजिक, नैतिक अथवा मनोवैज्ञानिक पर सबके बीच कुछ पंक्तियाँ निकल आई है जिनसे गेस्टाल्ट-वादी व्यंग-ध्वनि स्पष्ट हो जाती है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक को किन्हीं कारणों से वहाँ जाने की बाध्यता आ पडी हो पर उसका मन आज भी शीतल, मन्द, समीर व जमुना के तीर के लिए लालायित है। एक कहानी है 'उपलब्धि'। जैनियो में एक सम्प्रदाय के साधु होते हैं जो शरीर को कृच्छ साधना मे रत रखना ही और साधना द्वारा ऐन्द्रिय अनुभूति को नष्ट करना ही श्रेयस्कर समझते हैं। उपलब्धि नामक कहानी मे एक ऐसे ही राजदास की चर्चा है "एक कुत्ता इनके शरीर को अपने पैने दातों से क्षत-विक्षत कर देता है, पर इनके चित्त मे तो भी इसके लिये प्यार ही भरा रहता है। उनकी मृत्यु हो जाती है। उन्हे अपनी मृत्यु से चरम तृप्ति मालूम पड़ती है। अपने दूर किसी भी वस्तु पाने की आवश्यकता उनमें शेष नहीं रह गई। मानो जो कुछ है वह इनके भीतर ही भरपूर है....एक प्रकार कृत-कामना उनके समस्त अंगों मे परिव्याप्त थी। उस दिन अन्त मुहूर्त में उन्होंने पा लिया कि वह साध्य क्या है जिसे पाना है और उसके साधन क्या हैं जिसके द्वारा पाना है। वे दो नहीं एक हैं। इस कहानी की अंतिम पंक्तियों को लेखक के दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे किसी को भ्रम नहीं हो सकता।

जैनेन्द्र जी के दूसरे दो कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। जिन कहानियों में गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान के प्रभाव को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया गया है, वे सब 'जयसंधि' नामक संग्रह से ली गई है। दूसरा सग्रह है पाजेब। इस संग्रह की कहानियों मे फ्रायड मनोविज्ञान का भी प्रभाव है पर चूँकि जैनेन्द्र का आस्तिक और विश्वासी तथा चिन्मय तत्व को ढूँढ़ने वाला हृदय फ्रायडियन अतिवादिताओं में आस्थापन नहीं है, अतः वह जहाज के पंछी की तरह घूम-घूमकर पुनः अपने स्थान पर आ जाता है। यह निश्चित है कि आधुनिक मनोविज्ञान के विस्तृत क्षेत्र मे गेस्टाल्ट की भूमि ही ऐसा है जहाँ भारतीय सस्कृति और विचारधारा यूरोपियन विचारधारा से मेल खा सकती है। जैनेन्द्र की प्रतिभा सहज भाव से अपनी कथाओं मे इस गेस्टालटवादी सिद्धान्त को अपना सकी है। इस संग्रह की एक कहानी लीजिये 'सोद्देश्य'। यह कहानी वीणा और निसार की प्रणयाकर्षण की कहानी है, पुरुष और

स्त्री का यौन आकर्षण कला और काव्य चर्चा के आवरण में किस प्रकार आता है इसका वर्णन है। पर कहानी का अंत जिस ढङ्ग से होता है वह पुकार पुकार कर कह देता है कि लेखक की भावभूमि क्या है? "उसने कविता के कागज को अपने होठों से ही लगाकर अपने ही आसू से पी लिया है। उसे लग रहा था कि कविता मे शब्द नहीं है, छद नहीं है, अर्थ नहीं है, उन सब के पार कुछ है जिससे छुटकारा नहीं मिल सकता है।" इन पंक्तियों द्वारा लेखक का या यों कहिये लेखकनिबद्ध पात्र का दृष्टिकोण स्पष्ट है कि वह सच्चाई का घटकावयवों के निर्जीव योगफल के रूप म नहीं देखता है, पर विश्वास करता है कि अशों के योगफल से भी परे कोई चीज होती है जिसे लेकर ही वह पूरी है। है तो वही और जो कुछ है वह उसी को लेकर है।

यदि हम मीमासकों के परिचायक चिह्नों को जैनेन्द्र के कथा साहित्य पर लागू करें तो पता चलेगा कि वे सारे चिह्न लेखक के गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण की ओर सकेत कर रहे हैं। उपक्रम में वे भले हा स्पष्ट न हो, उसमे अर्थवाद की मात्रा कम हो पर उपसहार म आकर उनका मतव्य एक दम स्पष्ट हो जाता है। पाठक के सामने कहानी के पीछे छिपी अतर्वाहिनी धारा प्रकट होकर ही रहती है। यहा पर जैनेन्द्र जैसे मनोविज्ञान से प्रभावित लेखकों की तुलना हम छायावादी कवियों तथा प्रगतिशील कवियों से कर सकते हैं। छायावादी कवियों में अनेक विशेषताएँ पाई जाती थीं पर सब में अनिवार्य रूप से एक बात अवश्य थी। चाहे वे किसी भी विषय पर कविता करते हों उनमें दो चार ऐसी पंक्तियों का समावेश हो ही जाता था जिनसे पाठकों का ध्यान अज्ञात, अगोचर या अनन्त की ओर आकर्षित हो जाय। पत जी लिख रहे हैं कविता 'छाया' पर अन्त में आते आते कह ही देंगे—

हाँ, सखि आओ बाँह खोल कर लग कर गले जुड़ालें प्राण

फिर तुम तम में मैं प्रियतम म हो जावें द्रुत अन्तर्ध्यान।

उसी तरह वर्ण्य विषय चाहे चाँदनी हो स्याही की बूँद हो, नौकाविहार हो या और कुछ हो, यह आध्यात्म का पुट वहाँ किसी न किसी तरह आ ही जायेगा। प्रगतिवादी तो इस ओर और भी अधिक सचेष्ट मालूम पड़ते हैं। कुकुरमुत्ता हो, भैंसागाड़ी हो चाहे कुछ भी क्यों न हो वहाँ पर पूँजीपति या सर्वहारा वर्ग के सघर्ष की बात आ ही धमकेगी। आप देखें जैनेन्द्र को कथा साहित्य को। कथासाहित्य ही क्यों किसी भी रचना को ओर देखें। आप पायेंगे कि उनका यह गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण सब पर छाया हुआ है।

'जयसधि' में २० कहानियाँ सगृहीत है और 'पाथेय' में १७। जयसंधि

की कहानियों को लेकर ऊपर की पक्तियो मे बतलाया गया है कि उनकी कहानियों से गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान का प्रमुख प्रभाव पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। यह पाजेब की कहानियों मे भी यत्र-तत्र पाया जाता है। इस संग्रह की कहानियों को दो श्रेणियों मे विभक्त किया जा सकता है। (१) फ्रायडियन मनोविज्ञान से प्रभावित, (२) बाल मनोविज्ञान से प्रभावित। रत्नप्रभा, वीट्रिस, उर्वशी, प्रतिभा, ध्रुवयात्रा, निस्तार, परिवर्तन मे फ्रायडियन अवरुद्ध काम वासना की झलक स्पष्ट है। 'पाजेब' के चोर में बालकों के मनोविज्ञान को स्पर्श करने का प्रयत्न किया गया है। जयसन्धि की कहानी आत्म शिक्षण मे बाल मनोविज्ञान का पुट है। शेष कहानियाँ ऐसी हैं जिनमे किसी विषय पर तात्विक दृष्टि से विचार किया गया है। उनके अभिव्यक्तीकरण के लिये ऐसे बधान बाँधे गये हैं, ऐसे मजमून लाये गये है, ऐसी घटनाओं का समावेश किया गया है, जो आज की इन्द्रियग्राह्य वास्तविकता को ही सब कुछ समझने वाली बुद्धि को थोडा आश्चर्य मे डाल दे। परन्तु इन कहानियों मे पौराणिक परम्परा का पालन करते भी, अतीन्द्रिय दैवी घटनाओं की योजना रहते भी लेखक की विचार-धारा अन्तः सलिला नदी की तरह स्पष्ट है। 'लाल सरोवर' नामक कहानी से एक वैरागी में प्रत्येक पद निक्षेप पर एक लाल उत्पन्न हो जाता है, 'तत्सत्' मे अनेक पशु-पक्षी, वृक्ष इत्यादि परामर्श करते दिखाये गये हैं। उर्द्ध-बाहु और भद्रबाहु मे नारद, इन्द्र, कामदेव और अप्सराओं के समावेश से पौराणिक वातावरण छा गया है। अनबन और साँप मे भी पौराणिकता कम नहीं है।

जैनेन्द्र के उपन्यास में गेस्टाल्ट; उनका दृष्टिकोण

अब तक जैनेन्द्र के दो नवीनतम कहानी संग्रह 'जयसन्धि' और 'पाजेब' की कहानियों मे गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के प्रभाव के अन्वेषण का प्रयत्न किया गया है। अब उनके उपन्यासों पर इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय। जैनेन्द्र जी ने अब तक ७ उपन्यासों की रचना की है, परख, सुनीता, त्याग पत्र, और कल्याणी इत्यादि। हाँ, अनाम स्वामी नामक उपान्यास उन्होंने प्रारम्भ किया था और उसके कुछ अंश प्रकाशित भी हुए थे, पर अभी तक अपूर्ण ही है। इधर जैनेन्द्र के और भी उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। यों तो जैनेन्द्र के प्रथम उपन्यास मे ही उनकी प्रवृत्ति स्पष्ट है। 'परख' को पढ़ते ही पाठक के मन में संस्कार जम जाता है कि प्रथम बार वह एक असाधारण और अभूतपूर्व लेखक के सम्पर्क में आया है, जो अपने पूर्ववर्ती

विचार लेखक के ही विचार हैं, लेखक के ही कण्ठस्वर को उधार लेकर पात्र की वाणी प्रस्फुटित हो रही है ? पात्रों का भी तो जीवन होता है ? वे लेखक के हाथ की कठपुतली मात्र तो नहीं हैं न ? तब उनकी वाणी को लेखक की प्रतिध्वनि मात्र कैसे समझ लिया जाय ? इस तरह की आलोचना प्रणाली के कारण तुलसी के पात्रों के उद्‌गारों को तुलसी की विचारधारा समझ कर क्या उनके साथ अन्याय नहीं हुआ है ?

ये सब बातें ठीक हो सकती हैं। पर जैनेन्द्र के कथा साहित्य में विशेषतः कल्याणी के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो आत्म कथात्मक उपन्यास है, जिसमें ले देकर दो ही पात्र हैं, एक तो लेखक और दूसरी कल्याणी, कल्याणी के पति भी हैं। पर उनका कोई पृथक दृष्टिकोण नहीं है। वे कल्याणी को ही लेकर हैं और कल्याणी को समझने का प्रयत्न करते हैं कि यदि वह कल्याणी जीवन के प्रति अपने आत्मपीड़क दृष्टिकोण को छोड़ दे तो अच्छा है। पर साथ ही साथ वह अपने हृदय की तह में महसूस भी करते हैं कि जो कुछ कल्याणी सोच रही है अथवा कर रही है वह स्वाभाविक भी है, उसमें कोई भी कृत्रिमता नहीं है। कोई भी नारी इस विशेष परिस्थिति में यही करती तथा उसी प्रकार विचार करती। वह कल्याणी को अवश्य समुचित मार्ग पर लाना चाहते हैं पर व्यावहारिक और सांसारिक सुख सौविध्य की दृष्टि से। मन ही मन कल्याणी की वेदनाशीलता और त्याग-शीलता के प्रति वे अवनत ही हैं।

कल्याणी ने १६वें परिच्छेद में लेखक अपने जीवन सम्बन्धी विचार प्रकट करता रहा है।

"भीतर बाहर ये दो शब्द हैं। पर वे दो शब्द नहीं हैं, प्रकृत में एक ही हैं। दो होकर भी एक, जैसे ओर और छोर। और जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ उनमें सचमुच विरोध ही पड़ा है, वहीं क्लेश है। इस तरह का क्लेश मानवीय सृष्टि है। वस्तुतः वह है नहीं। तभी तो जगत नाम द्वन्द्व का है। द्वन्द्व के माने है दो बीच का अनिर्वाह। यह दो के, अनेक के बीच एकता का अभाव ही हमारी समस्या है।"

"अर्थात् सत्य में इस जगत का कोई कुछ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नहीं है। अवकाश बीच में दीखता है वह रिक्त नकार नहीं है, योग वियोग के तरह-तरह के अलक्ष तंतु उसमें भरे पड़े हैं।"

"परिणामतः, व्यक्ति और परिस्थिति ये दो भिन्न सत्तायें नहीं हैं। एक

को दूसरे का परिभाषा में समझा जा सकता है, व्यक्ति परिस्थिति का फल है और परिस्थितियों का निर्माण भी व्यक्ति ही करता है।

"भीतर का बाहर के साथ नाता अवश्य है। जन्म से ही कुछ नहीं होता। कर्म से भी होता है। कर्म सम्भावना अन्तः प्रेरणा के साथ बाह्य साधन के संयोग से बनती है। अन्तर्भावना ही सब नहीं है। बाह्य उपयोगिता भी बहुत कुछ है। अनुपयोगी भावना कर्महीन और फलहीन होगी और वही इच्छा यहाँ कृतकार्य होगी जो उपयोग युक्त हो सकती है। परिस्थिति के साथ जिसका निर्वाह नहीं उसमे सम्भावना ही नहीं। भविष्य को वह उतारेगा जिसका वर्तमान पुष्ट हो गया हो। जो स्थिति से तत्सम नहीं उसमे नई परिस्थिति के निर्माण की भी शक्ति नहीं।

"इस भाँति कोई भी एकाकी नहीं और किसी का कोई अलग स्वत्व नहीं है। सब अनुभव से बनते है और सब काल गति मे अपनी जगह रखते है। सबकी सम्भावना उनकी विशिष्ट परिस्थितियों के मध्य ही है। कार्य अकारण नहीं होता और व्यक्ति के सामाजिक चरित्र के कारण तात्कालिक सामाजिक स्थिति मे खोजे जा सकते है।"[७]

यह उद्धरण लम्बा अवश्य है। लेखक ने यत्र-तत्र अपने दृष्टिकोण को ही इसी तरह स्पष्ट किया है, जिससे पता चलता है कि जीवन पर वह किस रूप मे विचार करता है। अधिक उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं। अब मैं कल्याणी के कंठ से कुछ शब्दों को उधार लेकर दिखलाने का प्रयत्न करूँगा कि किस तरह कल्यणी भी कथाकार की तरह गेस्टाल्ट की सम्पूर्णता और व्यापकता के प्रति ही आस्थावान है। वह मानों अपने व्यवहारों अथवा विचारों के द्वारा यह कहती मालूम हो रही है कि दुनिया पर तर्क की दृष्टि डालना और उसी के सहारे जीना विश्व को टुकडे-टुकडे करके देखना गलत है। खॉव-खाँव है। सत्योपलब्धि की राह मूँदना है।

भारतीय तपोवन की स्थापना करना कल्याणी का एक सपना है जिसे वह साकार देखना चाहती है। इसकी आर्थिक सहायता के लिये वह अपने इष्ट मित्रों के पास हाथ फैलाती है। प्रिमियर जिनकी एक समय वह घनिष्टता की अधिकारिणी रह चुकी है उनके यहाँ से निराशाजनक उत्तर पाकर खिन्न हो जाती है। वे लिखते हैं कि उनसे कुछ भी आशा नहीं की जा सकती। वे गाँधी सेवासंघ के सदस्य हैं। अपना कहने को उनके पास एक पैसा भी नहीं है। यह देखकर कल्याणी का मन, उसका हृदय मानव के उस ओछेपन पर खिन्न होता है जो गौरव और त्याग के आवरण मे प्रकट होता है।

वह कहती है कि "गाँधी जी का रास्ता यह कभी नहीं है। जो सूखा है, हृदय के रस से हरा भरा नहीं है वह गाँधी का नहीं है। गाँधी का तपस्या मुस्कराती है। निज की ओर ही वह दुर्द्धर्ष है, शेष सब ओर स्निग्ध है। प्रीति की मुस्कराहट जहाँ नहीं वैसी कर्म तपस्या गाँधी की नहीं। गाँधी सेवा सघ में क्या स्नेह को भुला दिया जायेगा। यह तो गाँधी को गाँधीवाद में भून देना होगा। इससे बड़ी अकृतज्ञता, गाँधी की हत्या और क्या हो सकता है कहेंगे कि मैं निराह रहूँगा क्योंकि मैं सघ का सदस्य हूँ। ओ! यह विडम्बना है म जानता हूँ। अपने इन्कार पर गाँधी भारत का स्वराज्य भी नहीं लेंगे। गाँधी की तपस्या लीला है। लीला तपस्या है। सचक रास्ते पर वह सबके साथ है। वह पति है। पिता है, सब है लेकिन उन मेरे गाँधी के मन का मर्म यहा है न कि मैं अपनी राह पर अकेला रह जाऊँ अकेली अकेला अकेली।"[८]

इन सब बातों को सुनकर लेखक अवश या असहाय सा कल्याणी के सामने बैठा रह जाता है। उसके मुख से एक शब्द भी नहीं निकलता। उसे ऐसा बोध होता है कि जीवन के ऐसे पवित्र क्षणों का साक्षी तो एक अन्तर्यामी हो हो सकता है। बाहरी सृष्टि अशुचि है, अनधिकृत है। जो दशा लेखक की होती है वही दशा इन पंक्तियों के पाठक की भी होता है। बातें कुछ इस ढङ्ग से, इस लहजे में कही गई है जो हृदय को छू लेता है और अपनी सरलता में विश्राम करने के लिए मनुष्य को बाध्य कर देता है। मनुष्य का तर्क बुद्धि इस पर ठिठका सी रहती है तब तक उसकी अनन्त चेतना उसको ग्रहण कर जीवन व्यापार की ओर अग्रसर हो जाती है।

ऊपर जो एक दो स्थलों के उद्धरण दिये गये हैं वे केवल विचार प्रतिपादनार्थ हो हैं। जिस दृष्टिकोण की चर्चा की गई है उसकी अभिव्यक्ति उन्हीं स्थलों तक सीमित नहीं। जहाँ भी लेखक की ओर से अथवा कल्याणी की ओर से कहने कहलाने का उपक्रम हुआ है, वहाँ यही दृष्टिकोण सर्वोपरि सिर उठाये हुए दीख पड़ता है।

दिल्ली राजधानी के सम्बन्ध में चर्चा करते समय कल्याणी कहती है—

"आप की राजधानी में नई दिल्ली क्या ऊपर और क्या भीतर पत्थर नहीं है? सूखापन उसका पत्थर का और गरूर का है। पानी और घास का ठाठ कहीं बिछा है मो तो उसके ऊपर तनकर समूचा पत्थर गुर्राता है।"[९]

ठीक उसी तरह कहा जा सकता है कि कथाकार चाहे जो कुछ कहता

दीख पडे, कहानी कहता हो, प्रिमियर के स्वागतार्थ दिल्ली की कोठी को सुसज्जित करता हो, डा० असरानी की बातें करता हो, खिलौने की चर्चा करते हो, भारतीय तपोवन की स्थापना करता हो, नये औषधालय का उद्-घाटन करता हो, सबके मूल मे जीवन को समग्र रूप मे, व्यापक रूप मे ग्रहण करने वाली मनोवृत्ति झलकती रहती है।

त्यागपत्र

जैनेन्द्र का दूसरा उपन्यास है त्यागपत्र। इसमे प्रधान पात्री के रूप मे मृणाल की कथा कही गई है। कथा कही गई है कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि जैनेन्द्र के उपन्यास कथा के मार्ग से विकसित नहीं होते। उनमें कथा का मोह नहीं होता। जीवन को वास्तविक और व्यापक रूप मे समझने के लिए कथा का सहारा लिया जाता है क्योंकि इस रूप से जीवन को समझने मे सुविधा हो जाती है। मृणाल एक स्वाभिमानिनी नारी है। उसमे जीवन के प्रति गहरी आस्था है। वह जीवन को जीने भर के लिये नहीं मानती। वह पूर्ण सच्चाई के साथ समाज और उसके आदर्शों के प्रति आत्म-समर्पण पूर्वक ही जीना चाह रही है। वह एक आदर्श पतिव्रता नारी की तरह पति से कुछ भी दुराव नहीं रखती। विवाह के पूर्व की छोटी छोटी त्रुटियों को भी पति से नहीं छिपा-येगी। पर यही सत्यता और ईमानदारी उसका काल हो जाती है। उसे अपने पति के घर को छोड़ कर बाहर आ जाना पड़ता है। एक बार जो घर छोड़ देती है तो कौन-कौन सी नारकीय गलियों मे भटकना और तिल-तिल करके, मरना नहीं पडता। पर यह इस जीवन के प्रति भी आस्थावान ही है। अपने भतीजे के लाख समझाने पर भी वह इस जीवन को छोड़कर तथाकथित उच्च जीवन को अपनाने के लिये नहीं आती।

जैनेन्द्र के उपन्यास सच्चे अर्थ मे मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते है। यों वे सब उपन्यास जिनमे मानव के आन्तरिक जीवन के चित्रण का प्रयत्न किया गया है मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। कौन ऐसा उपन्यास है जिसमे पात्रो के आन्तरिक जीवन पर थोड़ा प्रकाश न पड़ता हो? रानी केतकी की कहानी तथा खत्री जी के उपन्यासों में भी तो पात्रों के राग, विराग, ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, प्रेम इत्यादि का वर्णन रहता ही था। प्रेमचन्द ने भी तो पात्रों के आन्तरिक चेतना प्रवाह का चित्रण किया ही है, पर फिर भी वे वैज्ञानिक उपन्यासों की श्रेणी मे नही रखे जा सकते, कारण कि उनके पात्र दुनिया के बाहरी रङ्गमञ्च पर अधिक क्रियाशील है। मानो वे जीवन मे सार तत्व

(Essence) को पाने के लिए सारे विश्व का चक्कर काट आते हैं, आकाश पाताल एक कर देते हैं। जब उनका पाँव उखड़ने लगता है तो एक क्षण रुक कर भीतर भी झाँकते हैं। पर दम जरा बँधा नहीं कि फिर उसी घुड़-दौड़ में लग जाते हैं। पर जैनेन्द्र के पात्रों के ही चारों ओर जगत परि-भ्रमणशील है। वे बाहर जाते भी हैं पर बाहर न होकर अन्दर ही अधिक रहते हैं। थोड़ी क्रियाशीलता भी है। पर पात्र ज्यादा अपने विचार में ही (Contemplation) जी रहे हैं। उपन्यास को आकर्षक और दिव्य तथा प्रभावपूर्ण बनाने का श्रेय घटनाओं को नहीं हैं, परन्तु उन विचारों को है, उन उद्‌गारों को है, जिन्हें पात्रों ने जब तब प्रगट किये हैं। ऐसा मालूम होता है ये घटनाएँ निमित्त मात्र ही हैं और पाठकों को भावपूर्ण जीवनोल्लास से उर्मिल सागर तक पहुँचा देने में साधन हों और कुछ नहीं।

अंग्रेजी उपन्यास का विकास सूत्र

Stoddard ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Evolution of the English Novel (अंग्रेजी उपन्यास के विकास) में उपन्यास साहित्य की प्रगति के नियम सूत्र को पकड़ने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह बतलाने की कोशिश की है, इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि अंग्रेजी उपन्यासों का विकास एक निश्चित क्रम से हुआ और वह क्रम है स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रगति। अर्थात् अपने प्रारम्भिक काल में उपन्यास कला स्थूल बातों के वर्णन में, मनुष्य के बाहरी क्रियाकलापों की योजना में, पाठक को आश्चर्य चकित कर देने वाली घटनाओं के स्वरूप खड़ा करने में ही अपनी सार्थकता समझती थी, पर कालक्रम के विकास के साथ उसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। उसका कार्य क्षेत्र दुनिया का बाहरी रंगमंच नहीं परन्तु हृदय का आभ्यन्तरिक क्षेत्र हो जाता है। उपन्यासों का ध्येय क्रियाशील मानव (Man-in-action) से अधिक विचारशील (Man-in-Contemplation) हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पात्रों के शरीर से अधिक उनके मानस (Psyche) का अधिक प्रतिष्ठा होने लगता है, उनके बाह्य रूप से अधिक आवरिक रूप का उद्घाटन होने लगता है।[१] मतलब यही कि वे अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक (Psychological) होने लगते हैं। यही नियम हिन्दी के उपन्यासों में काम करता सा दिखलाई पड़ता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर में निश्चित प्रगति की सूचना देने वाले जो उपन्यास हैं उनके पात्रों से जो पाठक का सम्बन्ध स्थापित होता है वह भी भिन्न प्रकार का होता है। हम रत्ना जी के पात्रों से भी परिचित होते हैं, प्रेमचन्द जी के पात्रों के भी सम्पर्क में आते

हैं और जैनेन्द्र के पात्रों को भी समझते बूझते हैं। पर एक बात सत्य है कि यह जानने की क्रिया एक तरह की नहीं होती, उसमे भेद होते है।

हम खत्री जी के पात्रों को जानते तो है पर उसी तरह से जिस तरह से एक दूसरे देश के व्यक्ति को जानते है। प्रेमचन्द के पात्रों को देखकर यह भावना हम मे जागती है कि वे मित्र हैं; जैनेन्द्र के पात्रों को हम उसी तरह जानते हैं जैसे हम स्वयं को जानते है। हम अपने को इतनी घनिष्ठता से जानते है, अपनी अच्छाइयों बुराइयों और अपनी असंगतियो से इतने प्रगाढ़ रूप से परिचित रहते है, अपने चरित्र की परस्पर विरोधी वैविध्यपूर्ण पहलुओ को इतनी समीपता से जानते है कि अपने बारे मे कोई निश्चयात्मक सम्मति नहीं दे पाते। हम नहीं कह सकते कि हम अपने को किस विशेषण से बाँध कर रखे अच्छा या बुरा, गौरवमय या पतनोन्मुख। अपने मित्र के बारे मे या किसी दूरस्थ व्यक्ति के बारे में कुछ निश्चित सम्मति दे देना उतना कठिन नहीं है क्योंकि उसके जीवन का कुछ अंश मेरी नजरों से सदा ही ओझल रहता है। ये ही कुछ अन्धकारमय अश पात्र को एक खास आकार प्रदान कर देते है। पर अपने सम्बन्ध की जानकारी की सीमा होती ही नहीं। उसमे ठोस आकार कहाँ से आये। हम मृणाल को जानते है। वह कुछ उस रूप में हमारे सामने आती है जहाँ सब साफ है, निर्द्वन्द है, उसमे कहीं भी दुराव नहीं। वह करती भी तो कुछ नही। प्रेमचन्द जी के सूरदास है तो अन्धे, पर उनमे देव शक्ति है। वे किसी को पंजों मे दबा लेते है तो उसकी सारी देह कड़कड़ा जाती है, मानो धृतराष्ट्र लोहे के भीम को अपने बाहुओं में दबाकर चूर-चूर कर देना चाह रहा हो। मृणाल बिचारी है। वह तो कुछ भी नहीं करती दीख पड़ती। वह बिना शोर किये चुपके से कोयले वाले के पास बैठ जाती है अथवा बालकों को पढ़ाने का काम करती है पर वह मज्जा तक सच्ची है, जो बाहर है वह भीतर है, कलईवाला सदाचार नहीं है। खरा कंचन ही उसके यहाँ टिक सकता है।

कल्याणी उपन्यास तथा इधर की जैनेन्द्र लिखित कुछ कहानियों के आधार पर लेखक के गेस्टाल्टवादी, सम्पूर्णतावादी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'त्यागपत्र' से इस सम्बन्ध मे एक ही उदाहरण देना काफी होगा।

'त्यागपत्र' से एक उदाहरण—

प्रमोद की हार्दिक अभिलाषा है कि मृणाल जिस नारकीय वातावरण में आ पड़ी है उसे त्याग दे और एक सभ्य संभ्रम कुलीन महिला की तरह

प्रतिष्ठित समाज में चल कर रहे। पर वह क्यों मानने लगी। उसने तो सब जगह सब कुछ पा लिया है। कहती है—

"मुझे ऐसा लगता है कि इन लोगों में जिन्हें दुर्जन कहा जाता है, उनमें कई तह पार करने पर यह भी तह रहती है कि उसको छू सको तो दूध सी श्वेत सद्भावना का सोता ही फूट निकलता है। इसी से अब यह प्रतीति मेरे लिये इतनी कठिन नहीं रह गई है कि सबके अन्तर में परमात्मा है। वह सर्वान्तर्यामी है, सर्वव्यापी है। इसी से अभी यहाँ से टूट कर उखड़ना नहीं चाहती। क्यों चाहूँ? कहाँ सब कुछ नहीं?"[११]

ये पंक्तियाँ स्पष्ट रूप से मृणाल के दृष्टिकोण पर प्रकाश डालती हैं। स्पष्ट है कि जिस तरह से गेस्टाल्टवादी स्थिर रेखाओं के बीच में एक विशिष्ट परिस्थितियों के अन्दर गतिमान चित्रों को देख लेता है, उसी तरह मृणाल हर जगह सब कुछ देख लेती है कारण कि वह विशिष्ट मन स्थिति में है।

सुनीता के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कुछ निश्चयात्मक रूप से कहना उतना कठिन नहीं। कारण कि लेखक ने स्वयं इन उपन्यास के मंतव्य को 'आलोचक के प्रति' वाले लेख में स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इस उपन्यास में जितने पात्र हैं, सुनीता, हरिप्रसन्न इत्यादि वे इतने विचित्र हैं, इतने असाधारण हैं, उनमें इतनी जटिलतायें और उलझनें हैं कि साधारण उपन्यास के पाठकों की समझ में भारी पड़ने लगें। अतः जैनेन्द्र के लिये यह आवश्यक हो गया है कि वे अपनी स्थिति स्पष्ट करें और साथ ही रवि बाबू के 'घरे बाहिरे' नामक उपन्यास के अवांछनीय रूप से ऋणी होने का जो दोषारोपण उन पर किया गया इसका भी उत्तर उन्हें देना पड़ा। उन्होंने बतलाया 'सुनीता' और 'घरे-बाहिरे' में थोड़ी सी अनुकूलता होते हुए भी प्रतिकूलता कितनी है। इन दोनों में कथा और कहां किस मात्रा में अन्तर है इससे हमारा मतलब नहीं है। हो सकता है कि 'घरे-बाहिरे' का कुछ प्रभाव 'सुनीता' पर हो। हम तो यहाँ देखेंगे कि लेखक इस पुस्तक में अपने अभिव्यक्त दृष्टि बिन्दु के बारे में क्या कहता है। जैनेन्द्र कहते हैं—

सुनीता से उदाहरण

"क्या 'सुनीता' का घर टूटा है? नहीं, वह नहीं, टूटा है? क्या उस घर को बाहर के प्रति बंद किया है? नहीं, ऐसा नहीं। दोनों में से कौन किसके प्रति सहानुभूति से हीन है? शायद कोई भी नहीं।

दोनों शाश्वत रूप से क्या परस्परापेक्षाशील नहीं हैं?"

"मैंने सुनीता के समस्या के रूप में भी कुछ भिन्नता देखी है और रखी

है। बाहर को निरे आक्रमण के रूप में मैंने घर के भीतर प्रविष्ट नहीं किया। हरिप्रसन्न पुस्तक मे वही बाहर का प्रतीक है, किंचित प्रार्थी भी है। वह निरा अनिमन्त्रित वहाँ नहीं पहुँचा। प्रत्युत् वहाँ उसकी अपेक्षा है। उसके अभाव में घर एक प्रकार से प्रतीक्षा-मग्न है, वहाँ अपूर्णता है, वहाँ अवसाद है, मानो उस घर मे बाहर के प्रति पुकार है। इधर हरिप्रसन्न अपने आप मे अधूरेपन के बोझ से मुक्त नहीं है और जैसे वह एक प्रकार के उत्तर मे और एक नियति के निर्देश से ही एक रोज अनायास घर के बीच मे आ पहुँचा है। पहुँच कर वह वहाँ स्वत्वारोपी लगभग है ही नहीं। अपने से विवश होकर ही जो है सो है।"[१२]

कहने की आवश्यकता नही कि यह दृष्टिकोण वही है जो अवयव को अवयवी से, पूर्णता को खण्ड से, घर को बाहर से अलग नही देखता। ठीक उसी तरह जिस तरह गेस्टाल्ट एक मनोवैज्ञानिक वस्तु को आकार से भिन्न नहीं देखता, तीन या चार बिन्दुओं को देखते ही वह एक त्रिकोण या चतुष्कोण को देख लेता है मानो वह त्रिकोण या चतुष्कोण वहाँ बिन्दुओं के अस्तित्व मे आने के पूर्व ही किसी रहस्यमय रूप मे उपस्थित हों और रेखाओं को सार्थकता प्रदान करता हो। बिन्दुओं मे त्रिभुज अथवा चतुर्भुज के लिये अथवा त्रिभुज या चतुर्भुज मे बिन्दुओं के लिये कोई आतरिक माँग थी और वे दोनों परस्पर आबद्ध होकर पूर्ण हो सके।

'परख' जैनेन्द्र का सर्व प्रथम उपन्यास है जिसका प्रकाशन सभवतः १९३० मे हुआ था। यद्यपि इस उपन्यास मे प्रेमचन्द जी के उपन्यास की इति वृत्तात्मकता का स्पष्ट प्रभाव है पर इतना तो स्पष्ट है कि परख से उदाहरण पाठक को समझते देर नही लगती कि उपन्यास एक नूतन कोरी (Unexplored) मनोभूमि मे प्रवेश कर रहा है और वह है मनोजगत का मनोवैज्ञानिक और कौशलपूर्ण चित्रण। इसमे आधुनिक मनोविज्ञान जैसे फायडियन, समाज मनोविज्ञान का भी पात्रों के चित्रण मे पर्याप्त प्रभाव है। यहाँ हम गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के ही प्रभाव को ढूँढ रहे हैं। अतः उसका उल्लेख ही समीचीन होगा। कट्टो नाम्नी नायिका एक निरीह और सरल हृदय वाल विधवा सत्यधन नामक मास्टर पर अपने हृदय को सारी श्रद्धा और विश्वास और अनुराग को न्योछावर कर चुकी है, पर परिस्थितियाँ कुछ ऐसा मोड़ लेती हैं कि कट्टो के जीवन मे आ जाता है बिहारी और सत्यधन के जीवन मे पत्नी बन कर आ जाती है, बिहारी की बहिन गरिमा। प्रथम दिन वह गरिमा को खूब अच्छी तरह

भोजन करवाती है, खूब आदर सत्कार करती है जिस तरह नवागता वधू का किया जाता है और फिर अपने सुहाग का उतरन पोटली देकर उनके जीवन से निकलकर आ जाती है बिहारी के पास। अपनी व्यथा वेदना और अपनी उत्सर्ग भावना के लिये बिहारी से सदा के लिये एक वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल तन्तु में आबद्ध हो जाता है। उन दोनों की प्रतिज्ञा है, हम वैधव्य यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक दूसरे का साथ लेकर—

"आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे। एक प्राण दो तन होंगे। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा" यह कह कर दोनों अपनी अपनी राह चल देते हैं।[१२]

वह दृष्टिकोण जो रेखाओं के बीच में पड़े रिक्त स्थानों का अपनी मानस की विशिष्ट क्रिया के द्वारा भर कर सारे चित्र को साकार और सुसगठित रूप में देखता है, वही दृष्टिकोण अलग अलग राह पर जाते बिहारी और कट्टो को दूर, फिर भी बिलकुल पास, अलग फिर भी बिल्कुल एक करने में सफल होता है।

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनेन्द्र की कथाओं में, कथा वस्तु में, तथा कथा के प्रवाह में आये उनकी विचारोक्तियों तथा पात्रों के हृदयोद्गारों में उनका सम्पूर्णतावादी दृष्टकोण स्पष्ट है। उनकी विचारधारा सब कहीं से घूम कर फिर अपनी प्रकृत भूमि पर लौट आती है, मानो दिन भर का भूला भटका भी शाम को घर पर आ जाता हो, अपनी भोजन सामग्री की खोज में दूर जा कर पक्षी अपने साध्य नीड़ पर आ गया हो।

क्या जैनेन्द्र ने जानबूझकर गेस्टाल्टवाद को अपनाया है ?

यहाँ एक प्रश्न पर भी विचार कर लेना उत्तम होगा। प्रश्न यह हो सकता है कि क्या जैनेन्द्र ने चेष्टापूर्वक सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से अपने उपन्यासों का उपजीव्य बनाया है ? जिस तरह प्रेमचन्द जी के उपन्यासों को पढ़ने से मन में यह संस्कार जगे बिना नहीं रह सकता कि उन्होंने देश की राजनैतिक प्रगति और सामाजिक आन्दोलन का ही अपनी कल्पना के सहारे पुनः निर्माण कर उपन्यासों में कलात्मक रूप देने का उपक्रम किया है, ठीक उसी तरह इसी दृढ़ता से जैनेन्द्र के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान का कलात्मक प्रदर्शन जैनेन्द्र के उपन्यासों में निहित है ? अथवा इस प्रश्न को दूसरे रूप में रखें। रति-

काल मे तीन श्रेणियों के कवि पाये जाते हैं—(१) रीति कवि, जिन्होंने लक्षण लिखे हैं और साथ ही उनके उदाहरणों के लिये कविताओं की भी रचना की है। (२) दूसरी श्रेणी में वे कवि आते हैं जो रीति प्रभावित हैं अर्थात् जिन्होंने रस अलंकार या नायक नायिकाओं के लक्षण के रूप मे तो कविताएँ नहीं की हैं पर उनकी कविताओं को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि कविता करते समय उनके मतिस्ष्क मे ये लक्षण नाच अवश्य रहे थे। (३) तीसरी श्रेणी में रीतिमुक्त कवि आते हैं जिन पर रीति परम्परा का कुछ भी प्रभाव नहीं है। खैर, तीसरी श्रेणी मे आने वाले रीतिमुक्त कवियों से मेरा कुछ मतलब नहीं। मेरा कुछ सम्बन्ध द्वितीय श्रेणी मे आने वाले बिहारी और सेनापति जैसे कवियों से है। पूछा जा सकता है कि जिस दृढ़ता के साथ हम यह कह सकते हैं कि ये रीतिवादी थे, उन्हे काव्य शास्त्र का ज्ञान था जिसकी स्पष्ट झलक इनकी रचनाओं मे पायी जाती है क्या हम उसी अर्थ में जैनेन्द्र को गेस्टाल्टवादी औपन्यासिक कह सकते है?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि भले ही जैनेन्द्र के उपन्यासो में शास्त्रीय पद्धति से व्यवस्थित गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान के प्रदर्शन करने की मनोवृत्ति पाई नहीं जाती हो, गेस्टाल्टवादियों ने प्रयोगशालाओं में एतद् सम्बन्धी जितने प्रयोग किये हो वे स्थूल रूप मे जैनेन्द्र के उपन्यास मे नहीं पाये जाते हों, पर उनका आभास तो मिलता ही है। किसी पारिभाषिक शास्त्रीय वा सैद्धान्तिक मान्यताओं का कविता अथवा कथा जैसे साहित्यिक क्षेत्र मे प्रवेश विलम्ब से होता है, एकाएक नहीं हो जाता है। जब उनकी परम्परा पर्याप्त अवधि तक ऊपर प्रवाहित होती हुई मानव के व्यक्तित्व के उस रहस्यमय स्तर को छूती है, जहाँ से सृजन का आरम्भ होता है, तब उनके रंग से रगी कला का जन्म होता है। रीतिकाल मे बिहारी और सेनापति कवियों की कला मे रीति का गहरा पुट है तो इसलिये कि कालीदास या यों कहिये आदि काव्य वाल्मीकी रामायण से ही प्रारम्भ होकर प्राकृत और अपभ्रंश काव्य से होती हुई वीरगाथा काल तथा भक्तिकाल की रस धारा से परिवृद्धमान रीतिधारा पुष्ट होकर लोगों के सृजनात्मक स्तर को छू सकी थी। यही कारण था कि उनकी कविताओं में रीति का इतना गहरा पुट वर्तमान था। यह साधारण सी बात है कि नदी के आदि-श्रोत मे जहाँ से नदी प्रारम्भ होती है वहाँ कोई गंधक की खान हो तो उस नदी के जलमें भी गंधक के गुण इत्यादि वर्तमान रहेंगे ही। अभी तक भारतवर्ष में क्या यूरोप में भी मनोविज्ञान की कोई विशिष्ट परम्परा नहीं बन पाई है। इस रूप में

रूप चित्र के आलेखन और उट्टंकन म किसी प्रकार की त्रुटि नहीं, चित्र चारों ओर से भरा पूरा है। पर जैनेन्द्र के कथा चित्र ऐसे हैं जिनम भारी भरकमता नहीं, रेखायें पूरी नहीं, रेखाओं पर रग भी हल्के हाथों से दिया गया है। चित्र के अग प्रत्यग का सानुपातिक सौष्ठव भी यहाँ नहीं है, चित्र में जितने स्थानों पर रिक्तता है, वह रिक्तता, वह टूट, वह खण्डता, वह अपूर्णता, वह त्रुटि ही जैनेन्द्र की विशेषता है। गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान के सिद्धान्त की व्याख्या ऊपर की गई है और बतलाया गया है कि इन गेस्टाल्टवादियों के अनुसार मानव मस्तिष्क की जो प्रतिक्रिया होती है, वह उनके द्वारा उत्पन्न स्नायविक लहरों के प्रति नहीं होती, बल्कि उनके सगठित और व्यवस्थित रूप के प्रति ही होती है। टुकड़ नहीं दीख पड़ते हैं परन्तु उनके बीच म जो व्यवस्था है, पारस्परिकता है, वही सब से पहिले दीख पड़ती है। उसी व्यवस्था और परस्पर बद्धता क मध्य में पड़े दीखने के कारण वे खण्ड, अपूर्ण अश खडित नहीं, पर व्यवस्थित और सगठित रूप में दीखते हैं, उसी तरह जिस तरह से अपने से अलग अलग रहने वाले बिन्दु बिन्दुओं क रूप म नहीं एक सीधी रेखा के रूप में दीखते हैं या तीन इस रूप में रखे बिन्दु एक त्रिभुज के रूप म दिखाई देते हैं।

जैनेन्द्र भी अपने उपन्यासों तथा कहानियों म प्रकारान्तर से गेस्टाल्टवादियों क स्वर म स्वर मिला कर यह कहते जान पड़ते हैं कि मेरी कथा की कड़ियाँ भले ही टूटी हों, खण्डित हों पर इससे क्या? पाठक के मस्तिष्क का प्रक्रिया तो न उनकी पूर्णता के प्रति हो होगी—वह पूर्णता जो उन खण्डाशों में छिपी है। पाठक की मानसिक क्रिया तो इन रिक्तताओं को तड़प कर भर ही लेगी। जैनेन्द्र इस तरह एक गेस्टाल्टवादी (जिसको हमने सम्पूर्णतावादी कहा है) औपन्यासिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे इसक लिय सचष्ट भी हैं। 'परख' उनका सर्वप्रथम उपन्यास है। उसकी भूमिका में अपनी पद्धति पर उन्होंने स्वय प्रकाश डाला है जिससे बातें और भी स्पष्ट हो जाती हैं। वे कहते हैं "मैंने जगह जगह कहानी में तार की कड़ियाँ तोड़ दी हैं। वहाँ पाठकों को थोड़ा कूदना पड़ता है और मैं समझता हूँ पाठक के लिये थोड़ा अभ्यास बौद्धिक होता है, अच्छा ही लगता है। कहीं एक साधारण भाव का वर्णन से घुला दिया है, कहीं लम्बा सा रिक्त स्थान छोड़ दिया है, कहीं नाराकी से काम लिया गया है, कहीं कहीं लापरवाही से हल्की धीमी कलम से काम लिया गया है कहीं तीक्ष्ण और माँगती से।"[१]

इन सब पंक्तियों का यही अर्थ है कि खण्ड में भी पूर्णता किसी न किसी रूप में प्राप्त रहती है, वही वास्तविकता है, खण्ड की स्थिति उसी को लेकर है।

अतः जैनेन्द्र के उपन्यासों मे कथा शृंखला टूटी सी, कथा भाग मे बड़े-बडे रिक्त स्थान (gaps) हैं तो इसका एक मनोवैज्ञानिक आधार है कि पाठक का क्रियाशील मानस व्यापार इन खण्डों मे भी पूर्णता देख ही लेगा! सुनीता को ही लीजिये। इसकी कहानी सीधी सादी है। सुनीता के पति श्रीकान्त को यह अच्छा नहीं लगता कि उनका मित्र हरिप्रसन्न जीवन प्रवाह मे निरुद्देश तिनके की तरह लहरों के सकेत पर उठता गिरता चले। नहीं, वह जरा सयमित हो किसी सिलसिले से तो रहे। हरिप्रसन्न को ठीक राह पर लाने का भार सुनीता को सौपा जाता है। सुनीता के प्रति उसके हृदय मे आकर्षण का सूत्रपात होता है और वह आसक्ति की अवस्था तक पहुँच जाता है। एक दिन आधी रात को जगल मे हरिप्रसन्न सुनीता को ले जाता है अपने क्रान्तिकारी दल का सगठन दिखलाने तथा उसे नेत्री के पद पर अधिष्ठित करने के लिये। वह कामुकतावश मोहग्रस्त हो सुनीता को समूची पाने के लिये व्याकुल हो उठता है। सुनीता इसके जवाब मे हरिप्रसन्न के सामने नग्नावस्था में खडी हो जाती है! नारी की तेजस्विता के सामने मोह चूर-चूर हो जाता है। सुनीता घर लौट कर पूर्ववत् अपनी गृहस्थी में रम जाती है।

यह कहानी आदि से अन्त तक इस ढग से कई गई है कि पाठक को पद पद पर वस्तु के स्वरूप निर्माण के लिये अपने गाँठ से कुछ न कुछ लगाना पडता है। यदि वह लेखक पर ही निर्भर करे तो न तो वह कथा रस की ही उपलब्धि कर सकता है न पात्रों को पहचान सकता है। खैर, अजीब है ही हरि। पर एक भरा पूरा गृहस्थ श्रीकान्त यह कैसा है जो हरि को राह पर लाने के लिये अपनी पत्नी को ही साधन बनाना चाहता है और सुनीता कम अलौकिक और रहस्यमयी है क्या? यह चौका बासन करने वाली नारी हरि के हृदय के औद्धत्य को किस तरह तोड देती है? सारे उपन्यास मे इसी तरह का वातावरण परिव्याप्त है और यही बात प्रेमचन्द जी के कथा रस पर लुब्ध पाठकों को उलझन मे डालने वाली सी लगती है। जैनेन्द्र के उपन्यासों के प्रति कुछ आलोचनाओं की कटुता के मूल में यही मनोवृत्ति काम करती है। पर यदि कथाकार की सम्पूर्णतावादी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो यह कटुता बहुत कुछ दूर हो सकती है।

फ्रायड ने अपनी पुस्तक Introductory Lectures on Pscho-Analysis म एक हिस्ट्रियाग्रस्त नारी का उल्लेख किया है। वह नारी यों तो ठीक ही थी। पर उसका एक आदत था जिसका कारण कुछ समझ में नहीं आता था। वह अनेक बार एक कमरे से दूसरे कमरे म जाती। वहाँ के बिस्तरों को ध्यानपूर्वक देखती और तत्पश्चात् उस बिस्तर पर स्याही गिराने का अभिनय करती थी। लोग इससे परेशान थे। इसका कोई कारण उनका समझ नहीं आता था। फ्रायड ने बड़ी ही छान बीन के बाद अपनी मनो विश्लेषण पद्धति के द्वारा वास्तविक कारण का पता लगाया। इस नारी का पति नपुसक था। प्रथम मिलन की सुहागरात को ये दोनों अलग अलग दो कमरे म सोये थे। पति बार बार अपने कमरे से आता था पर अपनी पत्नी को स्पर्श करते हो इसका आवेग ठडा पड़ जाता था और वह अपना सा मुँह लेकर चला जाता। इधर पत्नी कामातुरता से व्याकुल थी। पति क इस नपुसक व्यवहार से उसके हृदय में भयानक क्षोभ उत्पन्न हो गया था। उसने इस भाव को दमित करने का प्रयत्न किया था। अत वह दमन इस हिस्ट्रिक व्यवहार के रूप म परिणत हो गया था। पति ने सुबह क समय पत्नी के बिस्तर पर लाल स्याही गिरा दी था और यह इसने अपनी नौकरानी से अपने नपुसकत्व का बात को छिपाने के लिये किया था। इसी का अभिनय नारी अपने काय द्वारा किया करती थी।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये इसका उल्लेख F L Lucas ने अपनी पुस्तक Literature and Psychology में किया है।[१] एक नारी को एक प्रकार से वहम सवार हो गया था कि दुनिया की सारी वस्तुओं म रोग क सक्रामक कीटाणु मौजूद हैं। अत वह किसी वस्तु के तब तक सम्पर्क में नहीं आती थी जब तक कि वह पूर्ण रूप म कुछ disinfect न कर लिया जाय। उसका पति बड़े हो सकट में था। वह नारी पाँच महीने तक एक आराम कुर्सी पर सोई, तीन सप्ताह तक नग्नरूप में अपने कमरे में पड़ी रही ताकि कोई वस्त्र छू तक नहीं जाय क्योंकि उसे भय था कि उनमें सक्रामक कीटाणुओं का भरमार है। आगे चल कर पता चला कि इसके सौतेले पिता ने उसे प्रलोभन देकर उसके साथ कामुकता का सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। अत उस नारी क अन्तःकरण म उस सौतेले पिता और माता के प्रति घोर घृणा पूर्ण भाव उत्पन्न हो गये थे। वह माता और पिता दोनों की मृत्यु का ही कामना किया करती था। पर माता पिता की मृत्यु की कामना जैसी अभद्र कल्पना क कारण उसक मन में भयानक आत्म भर्त्सना क भाव उत्पन्न

हो गये थे और उन्हीं भावों ने निरर्थक आचरण का रूप धारण कर लिया। कहने का अर्थ यह है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि मनुष्य के बाहरी कार्य कलाप अधिकतर साकेतिक होते हैं उनके पीछे अनेक कार्य कारण की शृंखलाओं का इतिहास छिपा रहता है।

अतः, जो मनोवैज्ञानिक कथाकार होगा उसमे घटनाओं के क्रमिक विकास तथा सानुपातिक सगठन के प्रति स्वाभाविक उदासीनता होगी। उपन्यास जब तक उपन्यास रहता है, तब तक उसमे कुछ घटनाओं का समावेश रहना तो अनिवार्य ही है, पर वे घटनाये साकेतिक होंगी और उनकी शृंखला की कड़ियाँ टूटी-फूटी रहने पर भी किसी रहस्यमय शक्ति के सहारे जुड़ती रहेगी। उनका प्रारम्भ आकस्मिक होगा, मध्य के मार्ग मे भी कोई सुव्यवस्था न होगी, विशेषतः जब लेखक का दृष्टिकोण गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञान का हो। कथोपकथन की अधिकता होगी पर ये कथोपकथन वार्तालाप शैली (Conversational Style) मे होंगे। मानो कोई भरे दिल से बाते कर रहा हो, उसकी बातों की जड दिल की गहराई मे हो, वे दिल की गहराई से उखाड़ कर रखे गये हों और उखाड़ते समय उनकी कोमल मिट्टी और जड़ की शिराये भी लगी चली आई हो। जो वर्णनात्मक उपन्यास होते है, मानो उसमे एक वृक्ष की ऊपरी शिराये शाखाये काट काट कर हमारे सामने रख दी गई होती है, उनमे मोटे-मोटे तने और शाखाये होती है, जो ऊँचाई का आभास भले ही देती हो पर गहराई की अतल व्यापी गम्भीरता की झलक उपस्थित नहीं करतीं।

अंग्रेजी की एक अति ही लब्ध-प्रतिष्ठ कथाकार है श्रीमती वरजिनिया उल्फ। इनके उपन्यासों मे मनोविज्ञान का बड़ा सुन्दर समावेश हुआ है। ऊपर की पंक्तियो मे जिन बातों की चर्चा की गई है उन सबका प्रतिबिम्ब उनके उपन्यासों मे पाया जाता है। उनके अतिम उपन्यास का नाम है 'अंकों के बीच मे' (Between the Acts) इस नामकरण से ही लेखिका की मनोवृत्ति का पता चलता है। लेखिका की धारणा मालूम पड़ती है कि (Active Drama) अर्थात् सक्रियता से, हमारे बाहरी हलचलपूर्ण कार्य-कलाप से तो जीवन की सतही झलक भर मिल सकती है—वास्तविक वस्तु तो वह है जो अंकों के बीच मे घटित होती है। उसी तरह जैनेन्द्र के उपन्यास पाठकों को कहते मालूम पडते है कि हमारी कथाओं की लड़ियाँ टूटी हैं तो क्या? इस पर मत जाओ इस टूट के बीच मे जो रहस्यात्मक वातावरण है वही मुख्य वस्तु है। मन एक रहस्यमय ढग से तड़प कर उस टूट को भर

देगा। वास्तविक महत्वपूर्ण ये कथा की लड़ियाँ नहीं जो टूटी सी दीख पड़ती हैं, परन्तु वे चाजें हैं जो इन टूटों के बीच में किसी रहस्यमय ढग से घटित होती हैं, जिन्हें पाठक अपनी गाँठ से पूँजी लगा कर पाता है। अत एक कृपालु कथाकार की ओर से कृपा के रूप में दान दिये हुए कथा रस से उत्पन्न आनन्द से इस स्वोपार्जित रस के आस्वादन में एक अपूर्व वैलक्षण्य रहता है। अत यह मानना पड़ेगा कि इस तरह के कथाकार म कथा के प्रति उदासीनता नहीं है। हाँ, इनकी कला सूक्ष्म हो गई है, पतली हो गई है, अनावश्यक झाड़ झंखाड़ों को झाड़ कर मानव का आन्तरिकता और मनोवैज्ञानिकता के सूक्ष्मता को अपना पाथेय बनाना उसने निश्चित किया है।

सर्व प्रथम कल्याणी को ही लाजिये। यह जैनेन्द्र का अन्यतम उपन्यास है, एक प्रौढ़तम उपन्यास है। दूसरी बात कि जो प्रवृत्तियाँ पूर्व के उपन्यासों म सूक्ष्मता से काम कर रही थीं, यहाँ आकर उत्कर्ष पर हैं। प्रथमत, प्रारम्भ को ही लाजिये प्रारम्भ यों है—

"जब कभी उधर निकलता हूँ, मन उदास हो जाता है, कोशिश तो करता हूँ उधर जाऊँ ही क्यों। लेकिन बेकार, सच बात तो यह है कि मैं अगर एक एक राह मूँदता चलूँ तो खुली रहने के लिये दिशा किधर और कौन राह रह जायगी? यों सब रुक जायेगा। पर रुकना नाम जिन्दगी का नहीं है। जिन्दगी नाम चलने का है।"[२०]

इसकी तुलना कीजिये प्रेमचन्द जी या उन्हीं की वर्णनात्मक प्रणाली को अपनाने वाले अन्य उपन्यासकारों के प्रारम्भ से श्री भगवती चरण वर्मा के टेढ़े मेढ़े रास्ते का प्रारम्भ इस तरह से है—

दिन और तारीख याद नहीं और उन्हें याद रखने की कोई आवश्यकता नहीं। बात सन् १९३० के मई मास के तीसरे सप्ताह की है। गरमी ने एक भयानक रूप धारण कर लिया था और थरमामीटर ने बतलाया था कि दिन का टेम्परेचर ११६ तक पहुँच गया है। लू के प्रचण्ड झोंके चल रहे थे और उन्नाव शहर की सड़कों पर सनाटा छाया हुआ था। लोगों को घर से बाहर निकलने का साहस नहीं होता था। सूर्य के प्रखर प्रकाश से आँखें झुलसी सी जाती थीं। उस समय दोपहर के दो बज रहे थे।"[२१]

ये उदाहरण केवल उपलक्ष मात्र हैं। जैनेन्द्र के किसी उपन्यास से और वर्णनात्मक शिल्प के उपन्यासकार (जिनकी संख्या आज भी कम नहीं है) की रचनाओं से इन उदाहरणों की संख्या में अभिवृद्धि की जा सकती है। इन पर विचार करने से एक बात स्पष्ट है कि प्रथम उदाहरण अपने साथ एक

सम्बद्ध विस्तृत इतिहास को भी लिए चलता है, उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किये चलता है, अपने अतीत प्रागैतिहासिक युग (Prehistoric age) की कथा को भी ध्वनित करता चलता है, जिससे पाठक की कल्पना सहज ही ताड़ लेती है। पाठक समझ जाता है कि ये जो पंक्तियाँ कह रही हैं, वे तो कथा का वाह्य रूप है जो दृष्टि पथ मे आ जाती है। इसका वृहद् अंश तो सतह के नीचे है। यद्यपि इस तरह के सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान से प्रभावित उपन्यासों मे शृङ्खला की टूट या अव्यवस्था है तो क्या वह तो पूरी ही मानस पर उतरती है। दूसरे उद्धरण से स्पष्ट है कि कथा की गति धीर और गम्भीर है, इसके आगे और पीछे कुछ नहीं है। अतीत तो कुछ है ही नहीं। हाँ, भविष्य कुछ अवश्य है पर जो होगा वह तो हो ही जायेगा। वह सामने आयेगा। अभी चिन्ता का कोई अवसर नहीं अर्थात् वह सतुष्ट है।

जैनेन्द्र के अन्तिम तीन उपन्यास

'सुखदा' 'विवर्त' और 'व्यतीत' ये तीन उपन्यास जैनेन्द्र की नवीनतम कृतियाँ है। इनके अन्य उपन्यासों के आधार पर जिस गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की झलक हमने प्राप्त की है वह और भी स्पष्ट रूप से इन उपन्यासों मे प्राप्त होती है। कथा की दृष्टि से वही छोटे-छोटे (Gaps) रिक्त स्थान, अल्पकायता, पात्रों की न्यूनता, कथा की सागोपागिता के प्रति उदासीनता, विचारों की दृष्टि भी वही जो खण्ड को न देखकर सम्पूर्ण को ही देखती है। भाषा की दृष्टि से-छोटे-छोटे वाक्य, पैने कथोपकथन जो प्रायः अधूरे हैं ·· इस तरह के संकेत से पूर्ण जिन्हें पाठक की सहज बुद्धि बोधगम्य बना लेती है। लाक्ष-णिक लचीलेपन से भरे तरल वाक्य जो साधारण सुलभ शब्दों को लेकर सम्पूर्ण ध्वन्यात्मकता से समन्वित हो गये हैं। पाठकों को अपने पात्रों के सम्बन्ध मे पूरी जानकारी न देने और अपनी कल्पना से ही बहुत कुछ जान लेने की प्रवृत्ति इन उपन्यासों मे बदली सी जान पड़ती है। 'विवर्त' के पूर्ण पारायण कर लेने के पश्चात् भी पाठक को पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं होता अथवा होता जाता है ? कि मोहनी और उसके पति नरेश मे क्या सम्बन्ध थे। वे परस्पर सतुष्ट जीवन व्यतीत करते थे अथवा अन्दर दो विभक्त धाराओं में बहता जीवन भी बाहर से संयुक्त रहने का अभिनय कर रहा था। चड्ढा का रुख इस दम्पत्ति के प्रति अथवा जितेन के प्रति क्या था ? वह इनका शत्रु था या मित्र ? सब पात्र जैसे शतरञ्ज के खिलाड़ी हों एक दूसरे को मात देने के लिए उत्सुक हो। सब बातें तो करते हैं पर एक Mental Reservation के

साथ। न कम न अधिक। न तो इतना कम ही कि परिस्थिति के अनुकूल न हो और न इतना अधिक कि परिस्थिति साफ हो जाए। कहीं कहीं तो ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि लेखक जानबूझ कर पाठकों को चक्कर या उलझन में रखना चाहता हो। 'सुखदा' में भी कथा को रहस्य में लिपटा ही रहने देने वाली प्रवृत्ति काम कर रही है। सुखदा तो रहस्यमयी है ही। उसके पति, हरिश और लाल कम रहस्यमय नहीं हैं। अंत में यहाँ कह कर हम समाप्त करते हैं कि जैनेन्द्र का कोई भी उपन्यास नहीं जो पाठक के गेस्टाल्टवादी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के अभाव में अपना स्वारस्य प्रदान करने में समर्थ हो। और यह प्रवृत्ति परख से व्यतीत तक बराबर बढ़ती गई है।

जैनेन्द्र ने उपन्यास कला को एक ऐसा संकेत प्रदान किया है जिसमें बड़ी ही सम्भावनाएँ अन्तर्निहित हैं, जिस संकेत सूत्र को पकड़ कर कलाकार का प्रतिभा उपन्यास के क्षेत्र में अनेक तेजोमयी मूर्तियों की स्थापना कर सकती है और आज का दारिद्रय दूर हो सकता है। यह भले ही हो कि इस ओर जैनेन्द्र का महत्व प्रारम्भिक कारवाई (Pioneering work) से ज्यादा न हो और ये प्रारम्भिक कारगार करने भर से अधिक समर्थ न हो सके। आल्डुअस हक्सले ने उपन्यास कला के सम्बन्ध में एक बड़ी ही सारगर्भित बात कही है जिसका मनन और चिंतन हिन्दी उपन्यासकार के लिए कभी अफलप्रद न होगा।

The thing to do—Contrary to the practice of Meredith and James is to give an advantage over me-to manage things so that the reader may think himself more intelligent even than the author, of higher morality and more discerning and as it were inspite of the author may discover many points in the characters and many truths in the story not percieved by the author himself (Quoted from The twentieth Century Novel 1932 Page 468)

उपन्यास के सम्बन्ध में इससे अधिक अर्थपूर्ण उक्ति आज तक नहीं कही गई है। इसका सार यह है कि उपन्यास लेखक को बस एक ही काम करना चाहिए कि विषय का सम्पादन इस कौशल से हो कि पाठक अपने को स्वयं अनुभव करे, यह समझे कि मैं लेखक से भी अधिक बुद्धिमान हूँ। मेरा नैतिक उत्कर्ष उससे बढ़ा है। मेरी बुद्धि अधिक सूक्ष्मदर्शी है और मैं लेखक के कहे बिना भी पात्रों में उन बातों का पता लगा सकता हूँ तथा कहानी

मे सत्य के इन पहलुओं का दर्शन पा सकता हूँ जो लेखक के लिए भी अगम्य थे।

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के मार्ग की ओर से ऊपर की पंक्तियो में जैनेन्द्र की उपन्यास कला का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी का यही एक कथाकार है, जिसमे पाठक की इस अहवृत्ति को गर्वोन्नत अनुभव करने का अवसर मिलता है। दूसरे उपन्यासकार है जिनसे हम बहुत कुछ प्राप्त करते हैं, पर उनको लेकर हम अपने को एक याचक की स्थिति में ही पाते हैं। पर जैनेन्द्र के साथ हमारी याचकता का बाध कम हो जाता है। हम समझते है कि हम ले ही नहीं रहे हैं, हम अपनी ओर से भी कुछ दे रहे हैं। हम मिट्टी के निरे लोंदे ही नही, जिस पर कोई जैसा चाहे वैसा संस्कार छोड दे। उस संस्कार के निर्माण मे हमारा सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। हमारा विश्वास है कि आगे आने वाले प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकार जैनेन्द्र की इस परम्परा को अग्रसर करेगे।

षष्ठ अध्याय

जैनेन्द्र की कहानियों मे मनोविज्ञान

जैनेन्द्र की कहानियों पर फ्रायडवाद का प्रभाव

पूर्व परिच्छेद म जैनेन्द्र की कुछ कहानियों के आधार पर हमने देखा है कि उनकी सीमा में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की प्रवाहित होती हुई स्पष्ट धारा हमारे ध्यान को आकर्षित करती है। उनके उपन्यासों में तो कथा शिल्प की दृष्टि से, भाषा में प्रयोग की दृष्टि से अथवा कहीं कहीं सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से भी हमने गेस्टाल्टवादी मनोवृत्ति का ग्रहण पाया है।[१] पर चूँकि हमारे यहाँ के शिक्षित समुदाय ने विशेषत फ्रायड के मनोविश्लेषण वाद के प्रति ही अधिक अभिरुचि दिखलाई और इसी ने हमारे विचारों को अधिक प्रभावित किया, अत जैनेन्द्र के कथा साहित्य ने इससे भी कहीं कहीं मूल प्रेरणा प्राप्त की है और हिन्दी के कोष को कलात्मक कहानियों से समृद्ध किया है। इन कहानियों में 'धुन याना', 'एक रात', 'ग्रामो फोन का रेकार्ड', 'मास्टर जी', 'नाडुनली', 'बिल्ली का बच्चा' इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

फ्रायड-वादियों का एक मुख्य सिद्धान्त है कि मनुष्य की वाह्य नैतिकता, कर्तव्य परायणता क प्रति अतिरिक्त दृढता, किसी आदर्श के प्रति एकान्तक समर्पित आचरण सभ्य निशिष्ट और मर्यादापूर्ण व्यवहार की स्थिति इत्यादि किसी अचेतन का ठीक विपरीत मान्यताओं पर अवलम्बित रहती है। आपका चेतन जिस अनुपात में किसी बात के प्रति उदासीनता, वैराग्य या घृणा के भाव प्रदर्शित करता हो उसी अनुपात में आपका अचेतन उसके प्रति आसक्ति और मोह के भाव पोषित करता रहता है। हम मानों अपनी कमजोरियों स अच्छा तरह वाकिफ रहते हैं, हम पूर्णरूपेण अवगत रहते हैं कि हममें वे दुर्बलतायें कहाँ तक घर किये बैठी हैं और हमारे जितने आचरण होते हैं, हम जितनी आदर्शवादिता की बातें करते हैं, 'परापदेशे पाण्डित्यम्' का परिचय देते हैं वे सब मानो किसी आन्तरिक ग्रन्थिया के निकृत रूप हैं। यह सब हमारे आन्तरिक वृश्चिक दंशन को भुलाने के लिये मार्फिया हैं अर्थात् उनके प्रति नि मग्न करदेने क प्रयत्न क अतिरिक्त कुछ नहीं

है। मनुष्य मन ही मन अपनी आन्तरिक भावनाओं की कदर्थता, कुरूपता, तथा दुःशीलता पर झुंझलाया रहता है। इनकी चोट को सह सकना उसकी सामर्थ्य के बाहर की बात होती है और वह अपने बाह्य आचरणों तथा छटपटाहट, तथा हलचलों के द्वारा अपने उगते हुए आत्म विद्रोह को शान्त करने की चेष्टा करता है।

'एक रात' नामक कहानी का मनोवैज्ञानिक पहलू

यही बात हम 'एक रात' नामक कहानी के जयराज मे पाते है। यद्यपि वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह कर देश सेवाव्रतके प्रति आत्मसमर्पित रहने के लिये दृढ प्रतिज्ञ है, इस मार्ग मे किसी प्रकार की बाधा के सम्पर्क से वह दूर रहना चाहता है, पर फिर भी उसके अन्दर कहीं न कहीं ग्रन्थि है, अतृप्ति है जो उसकी गति मे स्वाभाविकता नहीं आने देती। वह देश की सेवा करता तो है, उसकी उपस्थिति लोगो के हृदय मे उत्साह का मंत्र फूँक देती है, पर उससे सेवा ठीक उस तरह होती नहीं है जिस तरह पुष्प से सुगन्ध निसृत होती है, कोयल कण्ठ से राग निकलता है। जयराज को सेवा करने के लिये अपने मानस पर अत्यधिक जोर देना पडता है, किसी कार्य करने के लिये उसे साधारण से अधिक मानसिक शक्ति का व्यय करना पडता है। दूसरे शब्दो मे वह मनोविकार ग्रस्त (न्यूरोटिक परसनालिटी का) व्यक्ति है।

न्यूरोटिक कहलाने वाले व्यक्तियो के आचरण मे कोई विशेष असाधारणता परिलक्षित नहीं होती, वे अनन्य-सामान्य-वृत्ति नहीं होते, वे परिश्रम से भी जी नहीं चुराते। ध्येय प्राप्ति के लिये भी सदा सलग्न रहते है पर तिस पर भी कृतकार्यता उनसे विमुख ही रहती है। उनके व्यक्तित्व मे कोई वस्तु है—अड़चन है जो उनकी शक्ति के अधिकाश को सोख लेती है और लक्ष्य भूमि को अभिसिंचित करने के लिये थोडा ही रस उनमे अवशिष्ट रह जाता है। मेरा खयाल है कि जयराज राष्ट्र की सेवा भले ही कर लेता हो पर वह पूर्ण रूपेण राष्ट्र को प्राप्त नहीं है। नहीं तो भला हरीपुर जाने की समस्या कौन सी बडी थी कि वहाँ जाऊँ—कि न-जाऊँ को लेकर इतने अन्तर्द्वन्द्व की तथा शक्ति के अपव्यय की आवश्यकता हो। अन्त मे वह मानो अपनी इच्छा के बावजूद भी हरीपुर उपस्थित हो ही जाता है और वहाँ जाने पर जो व्यवहार करता है वह तो पाठकों को विदित ही है। उसे लौट आने की जल्दी है। वह लोगों के अनुरोध की अवहेलना कर स्टेशन चला

जाता है। फिर लौट आता। बाद में आया, द ता का परवाह न कर ध्यान
आता है। यहाँ पर जिस परिस्थिति में गाड़ा छोड़ दी है वह उनकी आत
रिक अस्वस्थता, विक्षिप्तता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।
इस कहानी की एक और मनोवैज्ञानिक विशेषता

इस कहानी का पात्र जयराज न्यूरोटिक तो है ही। पर साथ ही इस
कहानी में मनोविश्लेषणवादियों का एक और पद्धति का कलात्मक उपयोग
किया गया है। मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के व्यक्तित्व का गहरा झाँकी प्राप्त
करने के लिए कितनी ही पद्धतियों का आविष्कार किया है। उनमें एक यह
भी है कि परीक्षार्थी व्यक्ति के द्वारा अनायास लीखी गई टेढ़ी मेढ़ी लकीरें,
टेढ़े मेढ़े चित्र, असंगत वाक्यों में मनुष्य का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है।
उन्हें देखकर, उनकी व्याख्या में सफलता से काम लेकर हम व्यक्ति के
आन्तरिक स्वास्थ्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अन्त में टहलते-टहलते
वह (जयराज) मेज पर आ बैठा और होल्डर से ब्लाटिंग पैड पर लिखा।
लिखा क्या कि सोचा यह होल्डर से, निब से नहीं, ब्लाटिंग पैड पर कागज
पर नहीं, लिखा नहीं, लीखा इन बातों का मनोवैज्ञानिक महत्व विशेष रूप
से द्रष्टव्य है।[२]

Swaraj is our birth right is indisputable elsewhere as in politics But there is marriage too Marriage gives a man foothold Society a unit It gives a home Alright perfectly alright But ? And there is love in human breast Did god make marriage ? No man did the making of it, and I say love is not chaos It is never never

पात्रों के मानसिक जीवन की विचित्रताओं, उलझनों का चित्रण करना कथाकार का उद्देश्य होता है। ये पंक्तियाँ जयराज के अचेतन की गहराई में डुबकी हुई पर वहीं पर से उसके जीवन सूत्र को हिलाने वाला प्रवृत्तियों के रूप को स्पष्ट कर पाठकों के सामने रख देती हैं। वे इस बात की घोषणा करती हैं, संसार तो जयराज को इस बात पर विश्वास करता है कि उसने सेक्स भावनाओं पर सदा के लिए विजय प्राप्त कर लिया है। पर वे मर कर भी अमर रहती हैं। प्रेमचन्द के कथा साहित्य में बहुत खोज करने पर भी एक उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ पर पात्रों के चरित्र का रहस्य इस ढंग से उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है। निश्चित है कि यह कुंजी

कथाकारों ने मनोवैज्ञानिकों के घर जाकर प्राप्त की है। उसी तरह मुक्त आसंग (free association) पद्धति भी मनोवैज्ञानिकों की, विशेषतः फ्रायड-वादियों की खास चीज है। इसमे रोगियों को जो मन में आवे उसे कहने की छुट्टी दी जाती है, मानो उन पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न हो या उनकी लिखी डायरी या उनके स्वप्नों की मीमांसा कर उनके मन के गुप्त रहस्यों के समझने का प्रयत्न कर उसके अनुसार चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है।

ध्रुवयात्रा

'ध्रुव-यात्रा'[३] मे इसी डायरी के द्वारा तथा परिप्रश्न के द्वारा अपने विश्वविजयी पात्र के जीवन की गांठ को खोलने की व्यवस्था की गई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी का पात्र भी न्यूरोटिक है। उसे जीवन मे सिद्धियां भी प्राप्त होती है। वह इस विश्व को जीत कर ध्रुव को जीतने की यात्रा करता है पर उसकी मानसिक शक्ति का अधिक अपव्यय होता है और अन्त मे वह आत्म हत्या कर लेता है।

विट्रीस

'विट्रीस'[४] कहानी का मेजर भी मनसा ही अधिक रुग्ण है। वह एक तरह से जड़ हो गया है, उसके जीवन मे एक लहर भी नहीं उठती, यहाँ तक कि शरीर मे सूई चुभाने पर भी उसे पीड़ा नहीं होती। अन्त मे अस्पताल में एक परिचारिका के स्नेह की तरलता और आद्रता उसे रोगमुक्त करती तथा जीवन प्रदान करती है।

बाहुबली

'बाहुबली' मे यह बात दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। कि चाहे मनुष्य कितनी ही कार्योत्सर्ग झेले, दुद्धर्ष तपश्चरण करे, सुखों का विसर्जन करे, चाहे वह आमोद-प्रमोद और सुख विलास के साधनों के बीच रहकर ही क्यों न जीवन व्यतीत करे, पर सच्ची शांति तो तब तक प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक उसके हृदय की फाँस न निकले, शल्य न दूर हो। तपस्वी बाहुबली भी सुखी नहीं, चक्रवर्ती भरत भी शान्त नहीं क्योंकि दोनो अपने अभ्यन्तर की ग्रन्थि को नहीं देख पाये है, जिस दिन उन्हे अपनी गाँठ दिखलाई पड़ गई उसी क्षण वे स्वस्थ हो गये, आँखें खुल गईं। मौनसुख मुस्करा उठा। उसी मुस्कराहट मे उनकी अवशिष्ट ग्रन्थि खुलकर बिखर गई और मन मुकलित हो गया।[५] यदि इस कहानी मे प्रतिपादित बातों को फ्रायडिन मनोविज्ञान की ग्रन्थियों (Complexes) की प्रणाली से देखा जाय

तब यह पता चलेगा कि एक छोटी सी बात यदि हृदय में अवचेतन ग्रंथि के रूप में जम कर बैठ जाती है, तो किस तरह मनुष्य की सुन्दर सिद्धि में बाधा पहुँचाती है। इसी को मनोवैज्ञानिक भाषा में यों कहें कि यह संगठित व्यक्तित्व (integrated personality) के विकास को अवरुद्ध कर देती है।

बिल्ली का बच्चा

'बिल्ली का बच्चा' में मानस की उस अचेतन प्रक्रिया की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित किया गया है, जिसे स्थानान्तरीकरण (Transference) कहते हैं। हम अपनी भावनाओं के मूलाधार को परिवर्तित कर अपनी तृप्ति का मार्ग ढूँढ निकालते हैं। एक निराश प्रेमी अपनी प्रेमिका के चित्र को अथवा उसी का प्रतिनिधित्व किसी अन्य पदार्थ में मानकर उसी के प्रति अपने हृदय की भावनाओं को समर्पित कर शान्ति का साँस लेता है। मनोविज्ञान की पुस्तकों में ऐसे उदाहरणों की भरमार है जहाँ नारी अपना वात्सल्य को पालतू पशु-पक्षियों पर व्यय कर संतोष प्राप्त करता है। इस कहानी में भी यह बात कही गई है कि अपने नटखट भाई की मृत्यु से शरबती विक्षिप्त सी हो जाती है। भयानक ज्वर से आक्रान्त हो जाती है और रोग से तब तक मुक्त नहीं हो जाती, जब तक उसके प्यार का स्थान लेने के लिए कहीं से बिल्ली का बच्चा नहीं आ जाता है। उसके बाद तो आप जानते ही हैं कि एक दिन वह भी आया कि वह फल फूल कर खूब मोटी भी हो गई।"[१] यह चमत्कार मानस के (transference) प्रक्रिया के द्वारा ही संभव हो सका। हो शरबती की अज्ञात चेतना ने बिल्ली के बच्चे में भाई का प्रतिनिधित्व पाकर अपने प्रवाह का मार्ग प्रशस्त किया।

जैनेन्द्र और अज्ञेय

"घुँघरू", "पत्नी", "ग्रामोफोन का रेकार्ड" "पानवाला", "जाह्नवी" "व्याह" इत्यादि कहानियाँ जैनेन्द्र की कहानी कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं और इसलिए हैं कि इन कहानियों में जैनेन्द्र की प्रतिभा ने मनुष्य की उस मानसिक स्थिति का चित्रण किया है, जिसमें वह माठी मीठी आँच पर पकता सा रहता है। उसमें उबाल नहीं रहता, कोई उफान नहीं रहता वेदना इतनी घनीभूत नहीं रहती कि जिसकी चाह या छटपट चिकित्सकों की औषधियों की माँग करें। वह जीवन की किसी अज्ञात गहराई में इस तरह से दुबक जाती हैं कि उसके अस्तित्व तक का पता नहीं चलता, पर वहीं से वह किसी अनिर्दिष्ट अभाव की सृष्टि कर निरानन्द के वातावरण से मनुष्य को घेर

लेती है और प्राण रस को चाटती रहती है। मानो दर्द हद से गुजर गया हो पर अभी दवा नहीं बन पाया हो, कतरा अपने वजूद को भूल रहा हो, पर अपने को 'दरिया' में फना: नहीं कर सका हो। यह मानसिक स्थिति मनुष्य जीवन की सबसे भयंकर पर साथ ही सबसे दिव्य है। भयंकर इसलिए कि अन्दर ही अन्दर यह मनुष्य के जीवन मे घुन की तरह लगकर उसे निस्सत्व कर दे सकती है, पर उचित रूप मे उपयोग करने पर जीवन की सारी विभूतियों का श्रेय भी उसी को मिल सकता है। इसलिये दिव्य भी है।

इस मानसिक पीड़ा के अभिशाप से ग्रस्त मनुष्य विश्व मे शून्य की तरह विलीन हो सकते है अथवा शीर्ष स्थान के मूर्धन्य अधिकारी ही जीवन के सदेश वाहक हो जा सकते हैं। जीवन में जो कुछ भी "मति, कीरति, गति, भूति भलाई" जहाँ भी जिस तरह भी उपलब्ध हो सकी है, सो सब मानस की इसी पीडामयी स्थिति के परिणाम है, इसी के "सत्संग" प्रभाव से प्राप्त हो सकी है। इसके लिए दूसरा कोई भी साधन नहीं, "लोकहुँ वेद न आन उपाऊँ"। इसी अन्तर्पीडा को, अन्तर्मंथन को, किसी अज्ञात प्रेरणा से उमंग पडने वाली लहर को अपनी कहानी कला का सहारा दे जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा साहित्य को एक नये मार्ग पर ला खड़ा किया है। इसी मानसिक अवस्था के आलोडन प्रतिलोडन को हमने अन्यत्र (One way traffic) कहा है। अज्ञेय की कथाओं मे भी इसी अन्तर्पीडा को कला की पकड मे ला कर देखने का प्रयत्न किया गया है अवश्य, पर उनका दृष्टिकोण बौद्धिक है, उनमे आधुनिक मनोविज्ञान के शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रदर्शन का आग्रह अधिक है, कथाओ के माध्यम से उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कथाओं को रौंदता हुआ भी अपनी सत्ता की घोषणा करता है। पर जैनेन्द्र मे हार्दिकता है, उनकी पकड कलात्मक है, उनकी दृष्टि स्वच्छन्द है, मनोविज्ञान उनकी कथाओं पर हावी नही हो सका है। हालाँकि मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता जटिलता और रहस्मय उलझनों का दर्शन उतना शायद ही कहीं किसी अन्य कलाकार मे प्राप्त होता हो।

जैनेन्द्र की कला में आन्तरिक दृष्टि की स्थापना

जैनेन्द्र की भाषा के सम्बन्ध मे विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। यह सर्व विदित है कि उनकी जैसी विषयोपयोगी, खडी, कैंची की तरह मार करने वाली, अभिव्यंजक भाषा के प्रयोग करने वाले किसी भी साहित्य मे विरल हैं। ऊपर चर्चा हो चुकी है कि कथा के क्षेत्र में उन्होंने क्या नूतनता उपस्थित की है पर यदि कथा मे (inside view) आन्तरिक दृष्टि की

सप्तम परिच्छेद

अज्ञेय के शेखर एक जीवनी मे मनोविज्ञान

बाल मनोविज्ञान

फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेषण ने चाहे और कुछ न भी किया हो पर उसने हमारा ध्यान शिशु मानस के महत्व की ओर आकर्षित किया है और बडे ही सबल प्रमाणों के आधार पर बतलाने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य के प्रौढ़ जीवन की अनेक विकृतियों, असाधारणताओं तथा असगतियों का मूल उसके जीवन के प्रथम दो चार वर्षों के सघर्ष तथा मानसिक दमित भावनाओं में है। यह वह अवस्था है जिसमें मनुष्य के भविष्य जीवन की आधार शिला रखी जाती है। यदि इस समय उसकी विकास गति को स्वाभाविक और उचित प्रवाह मिलता रहा, उसकी सारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को चरितार्थ होने का अवसर प्राप्त होता रहा तो उनके पारस्परिक सहयोग से एक सुसगठित व्यक्तित्व-सम्पन्न मानव के निर्माण की आशा हो सकती है। इसकी विपरीतावस्था में अर्थात् उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को माता पिता के व्यवहार से अथवा अन्य घटनाओं के कारण, जिनका उल्लेख फ्रायडवादियों ने किया है। बालक के मानसिक सघर्ष में अभिवृद्धि होती रहती है, उसकी भावनायें दमित होकर अचेतन स्तर में चली जाती है तो वहाँ ग्रन्थियाँ बनने लगती है। वे ही ग्रन्थियाँ भविष्य के जीवन सूत्र सचालन को एक अलक्ष्य गति से नियन्त्रित करती हैं। मनोविश्लेषण ने बतलाया कि मनुष्य को कुछ होना होता है, वह जितनी ऊँचाई तक उठ सकता है या जितना गहराई तक गिर सकता है ये सारी बातें इसी समय निश्चित हो जाती हैं।

अत माता पिता शिक्षक तथा अभिभावक को बालक की शिक्षा बड़ी सावधानी और सतर्कता से परिचालित करना चाहिए। शैशव और शिशु मानव के महत्व का पहिले भी लोगों ने समझा था। वर्ड्सवर्थ का वह उक्ति Child is the father of man अर्थात् शिशु ही मनुष्य का पिता है किसे मालूम नहीं ? भारतीय धार्मिक ग्रथों में गर्भ स्थित शिशु की ग्रहणशील प्रवृत्तियों पर भी विचार किया गया है और कहा है कि माता पिता के व्यवहारों, उनके रहन-सहन इत्यादि की छाप गर्भ पिण्ड पर भी पड़ती है।

शिशु मानस के महत्व के ज्ञान उन्हे भी मालूम था, पर यह ज्ञान निर्विकल्पक था सविकल्पक नहीं। कहने का अर्थ यह है कि मनोविश्लेषणवादियों के आगमन के पूर्व शिशु मानस के सम्बन्ध मे हमारा जो ज्ञान था वह एक यों ही साधारण ज्ञान था। हम अवश्य यह समझते थे कि बाल्यकाल मानव-जीवन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है और उसके स्वाभाविक विकास के लिए उचित वातावरण की आवश्यकता है। पर क्यों है, कैसे है, कौन सा वातावरण उचित है और कौन सा अनुचित इन बातों का विस्तृत ज्ञान हमे नहीं था। उदाहरण के लिए हम आज तक शिशु को एक भोले-भाले जीव के रूप मे देखते आए है। बालक का मन दर्पण की तरह स्वच्छ और मक्खन की तरह कोमल स्निग्ध व शात होता है और वह आनन्द सागर मे हिलोरे लेता निर्द्वन्द्व जीवित रहता है। न अतीत का पश्चाताप न भविष्य की विभीषिका। बस वर्त्तमान मे रमते रहने वाला वह परम-हंस है। कवि लोग बाल्यकाल के सपने देखते आए है और यौवन के प्याले मे प्यारे भोलेपन को भर लेने की सदा कल्पना करते आए है। ईश्वर की कल्पना एक बालक के मन के रूप मे ही की गई है। अंग्रेजी के कवि वर्डस्वर्थ ने कहा है कि बचपन के आसपास मे स्वर्ग का निवास है (Heaven lies round about us in our infancy)। पर आज का मनोविश्लेषणवादी कहेगा कि नहीं ये सारी मान्यताये गलत है। तुम कहते हो बालक एक निर्द्वन्द्व प्राणी है। मै कहता हूँ उसके जैसा उलझन और सघर्ष पूर्ण मानस किसी का नहीं। तुम कहो कि बालक भोला-भाला निरीह जीव है पर मै कहूँ कि उसके जैसा स्वार्थी, ईर्ष्या और द्वेष से जर्जर दूसरा प्राणी कौन। तुम भले ही मान लो कि एक बालक के हृदय मे काम वासना नहीं रहती। पर मनोविषश्लेपणवादी कहेगा कि बडे भोले हैं आप। वासनाये बडे ही प्रबल रूप से बालक मे विद्यमान रहती है। इतना ही नहीं, जिस तरह प्रौढ लोगो मे काम विषयक अनेक तरह की विकृतियाँ पाई जाती है बालक में उसी तरह उनका निवास रहता है। वास्तव मे बालक एक Polymorphous perverse है। अपनी मान्यताओं की जाच इन लोगों ने बालकों के व्यवहार और क्रिया कलापों के सूक्ष्म और व्यवस्थित अध्ययन के सहारे की है और इन्होने इन्हे सत्य पाया है। कहना तो यही ठीक होगा कि इन लोगों ने बालकों के जीवन तथा उनके व्यावहारिक कृतियों ये अध्ययन के पश्चात् ही बाल मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों की स्थापना की है।

शिशु जीवन मे और प्रौढ व्यक्ति के जीवन मे एक अंतर होता है। प्रौढ

व्यक्ति में अपने मनोभावों को प्रगट करने की शक्ति होती है और वह बता सकता है कि किन किन कारणों से अथवा किन किन मनोभावों की प्रेरणा से वह क्रिया विशेष में प्रवृत्त हुआ है। वह आत्म निरीक्षण पद्धति के सहारे अपने मानस की आभ्यान्तरिक क्रिया-सरणि का पता दे सकता है, अपने मन की अंधकारमयी गलियों का रहस्योद्घाटन कर सकता है, पर शिशु मानस के व्यवस्थित अध्ययन के लिए ये सुविधाएँ प्राप्त नहीं। शिशु अपने कार्यों की व्याख्या नहीं कर सकता। प्रौढ़ व्यक्ति की अपेक्षा वह मूक प्राणी है, उसकी क्रिया ही विचार है, उसके विचारों को क्रिया से पृथक् नहीं किया जा सकता। उसकी क्रियायें सांकेतिक होती हैं। वे बालक के आभ्यन्तरिक जीवन की प्रतीक होती हैं। पर पर्याप्त सतर्कता के तटस्थ (objective) दृष्टि से यदि उनका अध्ययन हो तो कहीं सत्यता का पता चल सकता है। उसके लिए मनोविश्लेषण करने वालों ने कितनी ही पद्धतियों का आविष्कार किया है। सर्व प्रथम तो उन्होंने बतलाया कि बालक ही बालक के मन की अवस्था का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। यदि हम बालक के मन को जानना चाहते हैं और उसकी गति विधियों के रहस्यों से परिचित होना चाहते हैं तो हमें बालक बनना पड़ेगा अर्थात् प्रयत्न पूर्वक याद करना पड़ेगा कि हम बाल्यावस्था में कैसे थे और किस तरह से सोचते थे और किस तरह से व्यवहार करते थे। प्रायः होता क्या है कि हम प्रौढ़ बन कर ही बालक को समझना चाहते हैं और आज तक हम लोग यही करते आए हैं जिसके परिणाम स्वरूप हमने शैशव के सम्बन्ध में तरह-तरह की भ्रामक धारणायें बना ली हैं। मान लीजिए कि आप सोलहवीं शताब्दी के किसी राजा या किसी धार्मिक सामाजिक अथवा राजनैतिक नेता का इतिहास पढ़ रहे हैं। बीच में आने वाली चार शताब्दियों ने हमारी विचारधारा, रहन-सहन धारणाओं तथा दृष्टिकोण में आमूल परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया है। हम आज दूसरे ही ढंग से जीवन की समस्याओं पर विचार करने लगे हैं तो आज की दृष्टि से इन पर विचार करना क्या ठीक होगा? नहीं।

शिशु मानस को समझने की दूसरी पद्धति यह है कि उनसे मैत्री भाव की स्थापना की जाय, उनके सामने ऐसे वातावरण की सृष्टि की जाय कि वे अपने माता पिता अथवा अभिभावक को अपनी स्वतंत्र अभिव्यक्ति का मार्ग निरोधक न समझ कर उन्हें अपना विश्वसनीय साथी समझें और उनके सामने स्वाभाविक रूप में खुल सकें। उनसे हृदय की बातें कह सकें, उनके प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर दे सकें। कभी भी उनके प्रश्नों को तुच्छ समझ-

कर, ना-समझ बालक का अर्थहीन प्रलाप समझ कर यों ही न टाला जाय। शिशु मे काम-प्रवृत्ति प्रबल होती है। वह माँ बहिन के प्रति काम-दृष्टि से आकर्षित रहता है। बालक अपनी माता पर सम्पूर्ण रुपेण अधिकार स्थापन मे पिता को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझता है। बालिका अपनी माता को पिता के प्रेम का प्रतिद्वन्द्वी समझती है। शिशु मे Incest की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। भाई बहिन के जन्म मे मैथुनिक प्रणय व्यवहार स्वाभाविक है। दूध छुड़ाने के अवसर पर अथवा नये भाई और बहिन के जन्म पर बालकों के मन मे तरह-तरह की जिज्ञासायें और आशंकायें घर कर लेती है। पर परिस्थितियों के कारण इन्हे इनका दमन कर लेना पड़ता है। ये दमित प्रवृत्तियाँ उनके अचेतन मे बैठ कर तरह-तरह की ग्रन्थियों का सृजन करती हैं, जो उनके भविष्य को प्रभावित करती रहती है। नेपोलियन की, Leonard de vinci जैसे महान् व्यक्तियों की तथा दुनिया के अनेक दुर्दमनीय बद्धमूल अपराधियों की जीवनियों का अध्ययन कर लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनकी वर्त्तमान उन्नतावस्था या पतनावस्था के मूल मे उनके बाल्य-काल मे बन जाने वाली मनोग्रथियाँ ही हैं। अर्थात् जीवन के प्रथम दो चार वर्षों मे ही मनुष्य के जीवन के विकास क्रम की रूपरेखा निश्चित हो जाती है।

बालमन के अध्ययन की तीसरी पद्धति यह भी है कि उनके खेलों का अध्ययन किया जाय और यह देखा जाय कि खेलों मे उनकी कल्पना किस रूप मे प्रगट होती है। वे खेल मे स्वयं कौन सा पार्ट अदा करते है। कौन-कौन से पार्ट अदा करने वाले के प्रति उनका कैसा रुख रहता है। उनके स्वप्नों से भी उनके मन की अव्यक्त दशा पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है। कहने का अर्थ यह है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने बाल मन का सागोपाग अध्ययन दृढ़ वैज्ञानिक ढंग से करना प्रारंभ किया है और उसके सम्बन्ध मे अनेक तथ्यों का पता लगाया है। इसके लिए कहा जा सकता है कि आज तक हमारा बालमन से परिचय तो था पर वह निर्विकल्पक था, उसमे प्रकारता का ज्ञान नहीं था। मनोविश्लेषण के द्वारा बाल मन सम्बन्धी ज्ञान सविकल्पक रूप धारण करता जा रहा है।

एक बालक का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

Mrs. Melamia Klein एक बड़ी ही कट्टर फ्रायडवादी है। कट्टर इस अर्थ मे कि उन्होंने फ्रायड के काम मूलक (Libido) वाले सिद्धान्त को

अपनी पूर्ण व्यापकता और जटिलता के साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म साहस पूर्वक ले जाकर देखने तथा दिखाने का प्रयत्न किया है। फ्रायट का साथ लेकर ये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में साहस पूर्वक चली गई ह। उन्होंने कितने ही शिशुओं के मानस व्यापार का प्रयोग शालात्मक विधि से अध्ययन किया है। उनके निरीक्षित एक बालक के केस हिस्ट्री को संक्षेप में यहाँ दिया जा रहा है ताकि यह स्पष्ट हो सके कि शेखर की शिशुकालीन व्यवहारों तथा क्रियाओं में तथा इस बालक में कितनी समानता है[१]

फ्रिटिज का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

इस बालक का नाम Fntz था। वह साधारणत स्वस्थ था। चाहे तो जरा मदबुद्धि कह सकते हैं। उसका बाह्य मुखाकृति रग ढग, बात व्यवहार से दर्शकों की यही धारणा होती थी कि यह चतुर और सतर्क बालक है। उसने दूसरे वर्ष म बोलना प्रारम्भ किया और साढे तीन वर्ष के बाद तो कहीं व्यवस्थित रूप में बात करने लगा। चौथे वर्ष म पहुँच कर तो वह रगों के भेद को पहिचान सका और साढे चार वर्ष म बीते कल, आज, आगामी काल का भेद ज्ञान प्राप्त कर सका। उसकी स्मृति काफी तेज थी। उसे दूर की बातें याद रहती थीं। जो बात उसकी समझ म एक बार आ जाती थी, उस पर उसका अधिकार सा हो जाता था। साढे चार वर्ष के बाद उसका मानसिक विकास तीव्र गति से होने लगा। साथ ही विविध प्रश्न करने की अदम्य प्रवृत्ति का उदय सा होने लगा। उसमे अपनी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता में विश्वास जगा। वह समझ गया कि ससार म कोई ऐसी कला या कारीगरी नहीं, जिसे वह जानता नहीं और जिसे वह सफलता पूर्व सम्पादित नहीं कर सकता। अनेक विरोधी प्रमाणों के रहते भी उसके विश्वास का जड़ नहीं हिल सकती था कि वह भाजन पका सकता है, वह फ्रेंच भाषा पढ सकता है, लिख सकता है और बोल सकता है।

विरोधी प्रमाणों के अधिक और प्रत्यक्ष हो जाने पर वह अपनी स्थिति को यह कह कर सम्भालता कि केवल एक बार उसे कार्य विधि देखने का मिल जाय तो ठाक ठीक सब "मैं काम कर लूँगा"। फ्रिटिज जब पौने पाँच वर्ष का था, एक बार किसी वार्तालाप के सिलसिले मे उसके बड़े भाइ और बहिन ने कहा कि तुम्हारा जन्म भी उस समय नहीं हुआ था। यह ज्ञान कि ऐसा अवसर भी हो सकता है जब कि उसका अस्तित्व न हो

उसके लिए रुचिकर न था और यह कह कर "मैं था कैसे नहीं ? मैं अवश्य था" संतोष की सास लेता था। उस घटना के बाद तो मानो जन्म सम्बन्धी प्रश्नों का उसने ताता ही बाँध दिया। जन्म के पूर्व मैं कहाँ था, मनुष्य का जन्म कैसे होता है, माँ की क्या आवश्यकता है, पिताकी क्याआवश्यकता है। कुछ दिनों तक उसने अपनी माँ तथा Mrs. Melamia Klein से ऐसे प्रश्नों का पूछना स्थगित किया और अपनी धाय तथा बडे भाई से इस सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करता है कि ईश्वर सब मनुष्यों को उत्पन्न करता है। उसके चित्त को समाधान तो प्राप्त हुआ पर वह अचिरस्थाई रहा। वह पुनः अपनी माँ के पास आकर मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करने लगा। इस बार उसकी वाचालता की प्रवृत्ति मे अभिवृद्धि के लक्षण दिखाई पडने लगे और उसने तडप कर कहा "माँ, मेरी गुरु-माँ तो कहती थी बच्चों को सारस चोंच से उठा कर लाती है।"

माॅ : नहीं यह मन गढ़न्त झूठी कहानी है।

फ्रिटिज : मेरे साथी लड़के तो कह रहे थे कि ईस्टर के अवसर पर खरगोश स्वयं नहीं आ जाते। गुरु-माॅ उन्हे उद्यान मे छिपा कर रख देती है।

माॅ : हाॅ, बिल्कुल सही बात है।

फ्रिटिज : तो ईस्टर खरगोश बरगोश कुछ नहीं। सब झूठा है, यही न।

माॅ : हाॅ, और क्या

फ्रिटिज : तब तो Father Christmas भी नहीं है।

माॅ : हाॅ, वह भी नहीं है।

फ्रिटिज : तब वृक्षों को कौन लगा कर सजाता है ?

माॅ : माता-पिता।

फ्रिटिज : तब तो देवदूत भी नहीं होते, यह भी झूठा है।

माॅ : हाँ, देवदूत भी नहीं होते। यह भी झूठा है।[२]

आगे चलकर फ्रिटिज ने पूछना प्रारंभ किया कि कुत्तियों और बिल्लियों के बच्चे कैसे पैदा होते हैं। मैंने तो एक अन्डे को तोड़ कर देखा है तो मुर्गी के बच्चे का कहीं पता नहीं था। उसे बताया गया कि मनुष्य के बच्चे और मुर्गी के बच्चे मे अतर होता है, कि मनुष्य का बच्चा अपनी माँ के गर्भ मे रहकर वहाँ की उष्णता से पालित तथा परिवर्द्धित होकर बाद मे शक्ति संचित कर बाहर निकलता है।

इस बालक के निरीक्षण द्वारा जो अध्ययन उपस्थित किया गया है उसमें अनेक तरह के प्रश्नों का उल्लेख है और उन प्रश्नों के द्वारा बालक के मानसिक विकास का क्रम निर्धारित किया गया है। इन्हीं दिनों उसमें ईश्वर के सम्बन्ध में, मृत्यु के सम्बन्ध में, स्त्रीत्व के सम्बन्ध में और पुरुषत्व के सम्बन्ध में भेद के अनेक प्रश्नों की अवधि प्रारम्भ हुई। एक दिन लगातार वर्षा होती रही और फ्रिटिज को इस बात का दुःख रहा कि वह उद्यान में खेलने जाने से वंचित रहा। उसने अपनी माँ से पूछा 'माँ क्या ईश्वर जानता है कि वर्षा कब तक होती रहेगी।' उससे बतलाया गया था कि ईश्वर वर्षा नहीं देता, वर्षा होती है बादलों से और तद्विषयक उसकी समझ में आने वाली बातें समझाई गई तब उसने पूछा ईश्वर वर्षा नहीं देता क्या? कल नौकरानी तो कह रही थी कि ईश्वर वर्षा देता है।' माँ ने बात टालने के लिए यों ही चलता सा उत्तर दिया कि मैंने ईश्वर को देखा नहीं।

फ्रिटिज वह किसी को दिखलाई नहीं पड़ता पर वह सचमुच आकाश में रहता है।

माँ आकाश में सिवाय वायु और बादलों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं?

फ्रिटिज परंतु ईश्वर तो है ही?

अब माँ के लिए बचने का कोई अवसर न था। उसे निषेधात्मक रूप में कहना पड़ा कि नहीं ये सब झूठी बातें हैं। ईश्वर वगैरह कुछ नहीं होता। इस पर फ्रिटिज ने कहा "परन्तु माँ यदि एक प्रौढ़ मनुष्य कहे कि ईश्वर की बात सच्ची है और आकाश में रहता है तो वह बात सच्ची नहीं होगी क्या?" उत्तर में कहा गया कि बहुत से प्रौढ़ मनुष्यों को इन विषयों का सच्चा ज्ञान नहीं होता। और जो बातें वे कहें वे सच्ची हों ही यह कोई आवश्यक नहीं। यहाँ यह कहना आवश्यक होगा कि फ्रिटिज के लिए ईश्वर विषयक समस्या और भी जटिल इस लिए हो गई थी कि माँ को ईश्वर में विश्वास नहीं था। वह नास्तिक थी। पर उसका पिता सर्वभूतात्मवादी था और ईश्वर में विश्वास करता था। अतः दोनों ओर से दो परस्पर विरोधी बातों को सुनकर फ्रिटिज बड़ा उलझनमयी परिस्थितियों में पड़ जाता था। एक अवसर पर का वार्तालाप देखिए—

फ्रिटिज पिता, सच में ईश्वर है?

पिता हाँ,

फ्रिटिज पर माता तो कहती थी कि ईश्वर नहीं है।

इसी समय माँ ने कमरे में प्रवेश किया और तुरन्त फ्रिटिज ने प्रश्न

किया : माँ : पिताजी तो कहते हैं ईश्वर सच है। क्या सचमुच ईश्वर है ? इस अवसर पर पिताजी ने यह कह कर स्थिति सम्भालने का प्रयत्न किया कि देखो फ्रिटिज, बात यह है कि ईश्वर को किसी ने देखा नहीं है। कुछ लोगों का विश्वास है कि वह है और कुछ लोगों का विश्वास है कि वह नहीं है। मेरा तो यह ख्याल है तुम तो ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास करते हो पर तुम्हारी माँ नहीं करती।[२] इस पर फ्रिटिज ने कहा कि मैं भी ऐसा ही सोचता हूँ कि ईश्वर नहीं है। कुछ देर तक बालक के मन मे इस बात की उधेड़बुन चलती रही। फिर उसने माँ से प्रश्न किया कृपया यह बतलाइये कि यदि ईश्वर है तो क्या वह आकाश मे रहता है। माता ने वही अपना पुराना उत्तर दिया जिसे सुन कर वह शीघ्र कहने लगा "परन्तु बिजली हवा गाडियाँ ये तो सची है। मैं दो बार इन पर बैठा हूँ। एक बार अपने दादा के यहाँ जाने के समय दूसरी बार E के यहाँ से आती बार।

शेखर में बालमनोविज्ञान

ऊपर उल्लिखित फ्रिटिज के शिशुकालीन जीवन के व्यवहार तथा जिज्ञासा अध्ययन के अल्पांश मात्र है और सो भी कोई क्रमिक रूप मे उपस्थित नही किया गया है। वे स्वेच्छा से अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये यों ही जहाँ तहाँ से उठाकर रख दिये गये है। मेरा उद्देश्य यही देखना है कि मनोविश्लेषणवादियों ने शिशु मानस और अवचेतन प्रदेश के जिस विराट स्वरूप का उद्घाटन किया वह कहाँ तक हिन्दी साहित्य के कथाकारों की सृजन प्रतिभा को छू कर जागृत कर सका। अज्ञेय का शेखर हिन्दी का प्रथम उपन्यास है जिसमे शिशु मानस के सपनो को, फ्रायड के शब्दो मे (Pleasure Principle) आनंद-प्रधान जीवन की झाँकियों को, उसके कौतूहल और जिज्ञासाओं को तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृतियो पर समाज तथा पिता-माता के व्यवहार अथवा यों कहिए कि Reality Principle के संपर्क से उत्पन्न दमन को, मानसिक ग्रंथियों को तथा उसके जीवन व्यापी प्रभाव को कथा-क्षेत्र मे लाने का प्रयत्न किया गया है। शेखर के प्रथम भाग का अधिकांश शिशुमानस के विश्लेषण से पूर्ण है, उसकी क्रिया प्रक्रिया को, उसके मानसिक Process को पकड़ने की कोशिश की गई है। शेखर को फाँसी होने वाली है। प्रातः काल उसे फाँसी दे दी जावेगी। इस घटना से उसके अतीत के कोने में दुबकी रहने वाली स्मृतियाँ उभर कर, बचपन की सारी स्मृतियाँ उसके मानस पटल पर आ गई हैं और शेखर मानों अपने अतीत मे पूरे भावावेश के साथ जी रहा है "स्मृतियाँ तो हैं, पर मुझे याद आते

ई ये भाव जो मैंने अनुभव किये हैं, वह विशेषत मन स्थिति जिसे लेकर मैं किसी दृश्य में भागी हुग्रा या और ये चित्र मैं खींचता हूँ। ये उन्हीं भावों, उन्हीं मन स्थितियों को लेकर उन पर निर्मित छाया मात्र हैं।"[१]

मन के कोने में दबी स्मृतियाँ जिस तरह सम्मोहन की अवस्था में या चित्त विश्लेषक की सूचनाओं के द्वारा अथवा किसी विशेष अवसर पर मुक्त आसग (Free Association) पद्धति के सहारे चेतना में लाई जा सकती है उसी तरह मृत्यु की सम्मोहिनी शक्ति ने शेखर के अतीत जीवन को, विशेषत बाल्यकालीन स्मृतियों को उभार कर सामने रख दिया है। फ्रायड मनोविकारग्रस्त रोगियों के अध्ययन तथा अनेक प्रयोग एव परीक्षण निरीक्षण के बाद फ्रायड इस निर्णय पर पहुँचे कि हम सब विकारों का मूल जीवन के प्रारम्भिक एक दो वर्षों के भावात्मक जीवन तथा उसकी दमित प्रवृत्तियों में है। यदि किसी तरह प्रारम्भिक बाल स्मृतियों को जागरित किया जा सके और उस समय के भावों को जीवन में अपनाया जा सके अर्थात् फिर से बालक बना जा सके तो मनोविकार सदा के लिए दूर किए जा सकते हैं। पर यह असम्भव है कि पूर्ण रूपेण उस प्रारम्भिक शैशव काल की स्मृति पटल पर लाया जा सके। अधिक से अधिक यही सम्भव हो सकता है कि प्रथम एक दो वर्षों के वैचित्र्यपूर्ण और विविध भावसकुल जीवनानुभूतियों के टुकड़े टुकड़े ही बटोरे जा सकें। उन्हें अपनी सम्पूर्णता के साथ ला उपस्थित करना असम्भव बात के लिए प्रयत्न करना है। इस पर फ्रायड का

अपनी बहिन सरस्वती से पूछता है "मरते कैसे है ?" "मर जाते हैं और क्या...... साँस बंद हो जाती है। तब जान निकल जाती है।"

शेखर से उदाहरण

"जान आती कहाँ से है ?"
"ईश्वर से ?"
"जाती कहाँ है"
"ईश्वर के पास"
"ईश्वर ले लेता है।"
"हाँ"

शेखर ने सन्देह से कहा। थोडी देर बाद उसने फिर पूछा "इतनी सब जानें ईश्वर के पास गई होंगी।"

"हाँ"
"जर्मनी की भी ?"
"हाँ"
"सब शरीर भी ईश्वर बनाता है"
"हाँ।"
"सब कुछ ईश्वर कर सकता है ?"
"हाँ"
"तब लड़ाई भी ईश्वर ने कराई होगी"
"हाँ।"[५]

तब यह कह कर शेखर रुक गया इसके बाद उसने सुना कि पंजाब में दगा फसाद हो गया। स्टेशन जला दिया गया। गोली चली। फौजें आ रही है। पिता से पूछता है "पजाब मे भी लडाई होगी ?" पिता ने कहा "ऐसी बात नहीं कहते। अभी पहिले से तो छुट्टी मिल ले। पहिली कभी की खत्म हो गई पर इसका असर तो बाकी है। अभी चीजे इतनी महँगी है":और शेखर ने उद्दत स्वर मे कहा इससे क्या ? ईश्वर की मर्जी हुई तो और होगी ही। पिता ने घूर कर उसकी ओर देखा और कहा, भाग जाओ।

\+ \+ \+

वायसराय आते हैं, भूखे लोग उनसे अन्न की माग करते है महँगाई की शिकायत करते है पर वायसराय क्या कर सकता है ? इस पर शेखर पूछता है—

"ईश्वर कर सकता है ?"

'हाँ, ईश्वर सब कुछ कर सकता है।"

"महँगाई भी उसने ही की है?"

'हाँ अब भाग जाओ, अपनी पढ़ाई नहीं करनी।

शेखर के मुँह पर जो प्रश्न था वह भी उसके साथ ही भागा। क्यों?[६]

अपने परिवार के लोगों से शेखर देवी देवताओं की कहानियाँ पुराण गाथाएँ, ईश्वर की बड़ाई के छोटे मोटे दृष्टान्त सुनता है। इन्हें सुनते-सुनते सोचता है कि यदि ईश्वर है तो मुझ पर प्रगट क्यों नहीं होता। या मैं ही अयोग्य हूँ या कहीं ऐसा तो नहीं है कि ईश्वर है ही नहीं?

\+ \+ \+

अतिशय सुन्दर रजनी है। चन्द्रप्रदेश चन्द्रमा की रेशमी तारों पर से उतर कर सुन्दरता की देवी मानसजल पर इन्द्रजाल की चादर तान कर उसमें अपूर्व अनिर्वचनीयता की सृष्टि कर रही है। लहरों पर सुन्दरता बिछली पड़ती है। शेखर अपनी बहिन के साथ बजरे की छत पर बैठा इस सौन्दर्यसुधा का छक कर पान कर रहा है और शेखर सोचता है कि ईश्वर नहीं है क्योंकि मूर्ख और लड़ाई कराने वाला कौन सा ईश्वर हो सकता है, जो इतनी सुन्दरता बना सके और यदि वह ईश्वर ने नहीं बनाई तो बाकी ससार ही क्यों उसकी कृति है?[७]

\+ \+ \+

शेखर का सारा परिवार सजधज कर मंदिर में भवानी के दर्शन करने जा रहा है। शेखर चलता तो सतर्क आगे पर पिता की कठोर आज्ञा पाकर भी देव दर्शनार्थ नहीं ही गया। पूछने पर कहता है मैं ईश्वर को नहीं मानता। मैं प्रार्थना को नहीं मानता। ईश्वर झूठा है, ईश्वर नहीं है।[८]

\+ \+ \+

अपने भाइ चन्द्र के जन्म के समय शेखर अपनी माँ से पूछता है "माँ, यह कहाँ से आया? माँ कहती है, दाई ने लाकर दिया है। वह दाई से पूछता है कि वह इतना छोटा क्यों लाइ और कुछ बड़ा लाती। तब वह कहती है कि मैं नहीं लाइ वह तो डाक्टर आया था वह लाया। वही अपने बेग में रख कर लाया था। उसके बेग में उससे बड़ा आया ही नहीं। कुछ दिन बाद अब वह अण्डों से बच्चे निकलते देखता है। उसके मन में शंका होती है। आजमाने के लिए माँ के पास जाकर पूछा "माँ डाक्टर चिड़ियों के पास भी जाते हैं।" माँ ने कहा "नहीं तो? क्यों?" "तब चिड़ियों के बच्चे कहाँ से आते हैं?" और फिर बहिन पूछती है ईश्वर अण्डे कैसे देता है।

१

"बारिश के साथ बरसा देता होगा।" एक दिन वह घोंसला देखता है जो खाली था। दूसरे दिन उसमें अण्डे मौजूद थे और रात मे बारिश भी नहीं हुई थी। वह समझ गया कि सब झूठ बोलते हैं और इसके अन्दर भयानक प्रतिक्रिया होने लगी।

+ + +

अपनी बहिन के जन्म के अवसर पर तो मानों उसके मानस में एक भूकम्प ही आ गया। अपनी बहिन से उसने पूछा कि बच्चे कहाँ से आते हैं। पर साथ ही कहता है, दाई लाती है, डाक्टर लाता है, ईश्वर देता है यह सब मैं सुन चुका हूँ। यह मत बताना। यह सब झूठ है। मुझे पता है। बताओ अगर आते हैं तो इतने छिप-छिप कर क्यों आते है और हमे क्यों नहीं आते और माँ कहती थी कि हमे बच्चे नहीं चाहिए उनको क्यों आए? उन्होंने क्यों नहीं वापिस कर दिये? ईश्वर क्यों भेजा करता है? मै बहिन माँगा करता था, भाई क्यो आया? चिड़ियों के बच्चे अण्डे मे से निकलते हैं, मैंने आप देखे हैं। माँ अण्डे तोड़ कर निकालती है? अण्डे कहाँ से आते हैं? अब बहिन आई है, इतनी रात को क्यों आई? दिन मे क्यों नहीं आई और हमे वहाँ क्यों नहीं जाने देते? सब लोग झूठ बोलते हैं, बताओ तुम्हे पता है। इस बार उसकी बहिन कहती है कि माँ के शरीर से निकलत है। आश्चर्य से शेखर पूछता है "कहाँ से, कैसे।"

"मुझे नहीं पता" कह कर बहिन लेट जाती है और लाख बुलाने प भी नहीं बोलती।[१०]

ऊपर की पंक्तियों मे फ्रिटिज और शेखर के ईश्वर और जन्म सम्बन्ध जिज्ञासा-मूलक प्रश्नों का उल्लेख किया गया है। दोनों को आमने-साम रख कर पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा कि दोनों की मानसिक क्रिया-प्रक्रि शैशव व्यापार, वार्त्तालाप के ढंग मे कितना साम्य है। शेखर मे आज विद्रोह की भावना भरी है, किसी खास बात के प्रति नही एतादृशत्व के प्र उसका अहं भाव जो इतना प्रबल हो गया है, उसमे एक तरह से आत्मतल्लीनता की प्रवृत्ति पनप गई है उसका मूल कारण है उसकी प वारिक परिस्थितियाँ जिनके बीच उसके जीवन के प्रारम्भिक वर्ष व्यतीत थे। माँ ने उसके प्रति अविश्वास के भाव प्रदर्शित किये थे। पिता ने उसके छोटे-मोटे भोले-भाले अपराधों के लिए पिटाई की थी और स बड़ी बात यह है कि किसी ने उसके साथ पूर्ण रूप से इमानदारी का व्यव नहीं किया था। सबों ने उससे बाते गोपनीय रखी थी। सबों ने उसके

'हाँ, ईश्वर सब कुछ कर सकता है।"

"महँगाई भी उसने ही की है ?"

'हाँ अब भाग जाओ, अपनी पढ़ाई नहीं करनी।

शेखर के मुँह पर जो प्रश्न था वह भी उसके साथ ही भागा। क्यों ?[६]

अपने परिवार के लोगों से शेखर देवी देवताओं की कहानियाँ पुराण गाथाएँ, ईश्वर की बड़ाई के छोटे मोटे दृष्टान्त सुनता है। इन्हें सुनते-सुनते सोचता है कि यदि ईश्वर है तो मुझ पर प्रगट क्यों नहीं होता। या मैं ही अयोग्य हूँ या कहीं ऐसा तो नहीं है कि ईश्वर है ही नहीं ?

\+ \+ \+

अतिशय सुन्दर रजनी है। चन्द्रप्रदेश चन्द्रमा की रेशमी तारों पर से उतर कर सुन्दरता की देवी मानसतल पर इन्द्रजाल की चादर तान कर उसमें अपूर्व अनिवर्चनीयता की सृष्टि कर रही है। लहरों पर सुन्दरता बिछली पड़ती है। शेखर अपनी बहिन के साथ बाजरे की छत पर बैठा इस सौन्दर्यसुधा का छक कर पान कर रहा है और शेखर सोचता है कि ईश्वर नहीं है क्योंकि भूख और लड़ाइ कराने वाला कौन सा ईश्वर हो सकता है, जो इतनी सुन्दरता बना सके और यदि वह ईश्वर ने नहीं बनाइ तो बाकी संसार ही क्यों उसकी कृति है ?[७]

\+ \+ \+

शेखर का सारा परिवार सजधज कर मंदिर में भवानी के दर्शन करने जा रहा है। शेखर चलता तो सबके आगे पर पिता की कठोर आज्ञा पाकर भी देव दर्शनार्थ नहीं ही गया। पूछने पर कहता है मैं ईश्वर को नहीं मानता। मैं प्रार्थना को नहीं मानता। ईश्वर झूठा है, ईश्वर नहीं है।[८]

\+ \+ \+

अपने भाइ चन्द्र के जन्म के समय शेखर अपनी माँ से पूछता है "माँ, यह कहाँ से आया ? माँ कहती है, दाइ ने लाकर दिया है। वह दाई से पूछता है कि वह इतना छोटा क्यों लाइ और कुछ बड़ा लाता। तब वह कहती है कि मैं नहीं लाई वह तो डाक्टर आया था वह लाया। वही अपने बेग में रख कर लाया था। उसके बेग में उससे बड़ा आया ही नहीं। कुछ दिन बाद अब वह अण्डों से बच्चे निकलते देखता है। उसके मन में शंका होती है। आजमाने के लिए माँ के पास जाकर पूछा "माँ डाक्टर चिड़ियों के पास भी जाते हैं।" माँ ने कहा "नहीं तो ! क्यों ?" "तब चिड़ियों के बच्चे कहाँ से आते हैं ?" और फिर बहिन पूछता है ईश्वर अण्डे कैसे देता है।

"बारिश के साथ बरसा देता होगा।" एक दिन वह घोंसला देखता
खाली था। दूसरे दिन उसमें अण्डे मौजूद थे और रात मे बारिश भं
हुई थी। वह समझ गया कि सब झूठ बोलते हैं और इसके अन्दर भ
प्रतिक्रिया होने लगी।

\+ \+ \+

अपनी बहिन के जन्म के अवसर पर तो मानों उसके मानस
भूकम्प ही आ गया। अपनी बहिन से उसने पूछा कि बच्चे कहाँ से
हैं। पर साथ ही कहता है, दाई लाती है, डाक्टर लाता है, ईश्वर
यह सब मैं सुन चुका हूँ। यह मत बताना। यह सब झूठ है। मुझे पत
बताओ अगर आते हैं तो इतने छिप-छिप पर क्यों आते है और हमे क्य
आते और माँ कहती थी कि हमे बच्चे नहीं चाहिए उनको क्यो
उन्होंने क्यों नहीं वापिस कर दिये? ईश्वर क्यो भेजा करता है? मैं
माँगा करता था, भाई क्यों आया? चिड़ियों के बच्चे अण्डे मे से नि
हैं, मैंने आप देखे है। माँ अण्डे तोड़ कर निकालती है? अण्डे
आते हैं? अब बहिन आई है, इतनी रात को क्यों आई? दिन मे क
आई और हमे वहाँ क्यों नहीं जाने देते? सब लोग झूठ बोलते है,
तुम्हे पता है। इस बार उसकी बहिन कहती है कि माँ के शरीर से नि
है। आश्चर्य से शेखर पूछता है "कहाँ से, कैसे।"

"मुझे नहीं पता" कह कर बहिन लेट जाती है और लाख बुल
भी नहीं बोलती।[१०]

ऊपर की पक्तियों मे फ्रिटिज और शेखर के ईश्वर और जन्म
जिज्ञासा-मूलक प्रश्नों का उल्लेख किया गया है। दोनों को आमने
रख कर पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा कि दोनो की मानसिक क्रिया-
शैशव व्यापार, वार्त्तालाप के ढंग मे कितना साम्य है। शेखर मे अ
विद्रोह की भावना भरी है, किसी खास बात के प्रति नही एतादृशत्व
उसका अहं भाव जो इतना प्रबल हो गया है, उसमे एक तरह
आत्मतल्लीनता की प्रवृत्ति पनप गई है उसका मूल कारण है उसक
वारिक परिस्थितियाँ जिनके बीच उसके जीवन के प्रारम्भिक वर्ष व्य
थे। माँ ने उसके प्रति अविश्वास के भाव प्रदर्शित किये थे। पिता
उसके छोटे-मोटे भोले-भाले अपराधों के लिए पिटाई की थी औ
बड़ी बात यह है कि किसी ने उसके साथ पूर्ण रूप से इमानदारी का
नहीं किया था। सबों ने उससे बाते गोपनीय रखी थी। सबों ने उ

अरे बालक है—क्या समझेगा वाली मनोवृत्ति से काम लेकर उसकी बाल-सुलभ सहज बुद्धि का निरादर किया था।

मनोविश्लेषणवादी अनेकानेक शिशुओं के अध्ययन के पश्चात् इस निर्णय पर पहुँचे कि ३ वर्ष या उससे भी कम अवस्था वाले बालक का मानस इतना विकसित हो जाता है कि जो बातें समझाई जावें वे समझ लेते हैं और यह अवस्था मनोविश्लेषणिक जाँच के लिए सर्वोत्तम है क्योंकि बाद में तो लालन-पालन के दोषों के कारण बालक में प्रतिरोध प्रवेश कर जाते हैं जिनसे उन्हें मुक्त करना कठिन हो जाता है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि *शेखर का चित्त विश्लेषण जब प्रारम्भ होता है उस समय उसकी* वयस तीन वर्ष की है। शेखर के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की अवस्था का चुनाव मनोविश्लेषणवादियों के मतानुसार ही है।

फ्रायड ने पारिवारिक रोमान्स Family Romance का जो चित्र उपस्थित किया है, पिता के पुत्री के प्रति, भाई का बहिन के प्रति, माता का पुत्र के प्रति यौन भाव का आकर्षण होना, माता पिता के यौन प्रणय व्यापार को देख लेने की बालक में उत्सुकता होना और उसे देख लेने में सफल होना, इनकी मानसिक प्रतिक्रिया इत्यादि का सुन्दर और कलात्मक वर्णन शेखर से बढ़ कर और कहीं पाया जाता है। जब वह फाँसी के तख्ते पर झूलने जा रहा है उस समय भी सर्व प्रथम शशि की याद आती है और शेखर के अंत तक रहता है। पर सरस्वती, शारदा, शीला इत्यादि का प्रभाव भी उसके चरित्र निर्माण में कम नहीं है। भाइयों का चर्चा शायद ही कहीं हो। शेखर यदि चोरी करने लगता है, स्कूल में उद्दण्ड होने लगता है, अपने मास्टर के साथ अविनयी हो जाता है सब का मूल है उसके प्रति माता पिता या घर के व्यक्तियों द्वारा किए गए त्रुटिपूर्ण व्यवहार। उदाहरण के लिए जब जन्म मरण तथा ईश्वर सम्बन्धी बातों के उत्तर में उसके साथ असत्यता का व्यवहार होता है तो वह ऊपर से सीधा-सादा बनता अवश्य है पर अन्दर ही अन्दर चोरी करने लगता है। पिता की जेब से पैसे निकाल लेता है अथवा मिठाई चुरा कर खाने लगता है।

बहुत हो गया कहाँ तक उदाहरण दिए जायँ। मालूम तो ऐसा ही होता है कि बाल मनोविज्ञान और चित्त विश्लेषणवादी बाल मनोविज्ञान का फलात्मक और सृजनात्मक रूप देने के प्रयत्न ही में शेखर का निर्माण हुआ है। [illegible] है, कोठरी ही क्लिनिक है। यहाँ [illegible] ने शेखर के साथ एक आत्मीयता का वातावरण स्थापित

किया है कि उसके चित्त पर पडे सारे प्रतिरोध की पर्ते झड गई है और वह अपने ऊपर पड़े सारे आवरणों को चीर कर अपने बाल जीवन उद्यान में प्रवेश कर वहाँ के दृश्यो को साफ-साफ देखने लग गया है। यहाँ तक कि कहीं-कहीं तो स्पष्ट रूप से चित्त विश्लेषण के सिद्धान्तों की चर्चा होने लगी।

दमन का स्वास्थ्य पर प्रभाव

यों तो बहुत पहिले ही सबको मालूम था कि मानसिक विक्षोभ का प्रभाव हमारे स्वास्थ्य पर पडता है, पर उस मानसिक विक्षोभ की वास्तविक क्रिया-प्रक्रिया को ठीक से छानबीन करने का प्रथम व्यवस्थित प्रयत्न चित्त-विश्लेषणवाद ने किया है। शेखर की बहिन सरस्वती की शादी हो रही है। शेखर मे कहीं भयानक उथल-पुथल है। एक दिन उसके मुँह से निकल ही जाता है कि तुम यहीं क्यों नहीं किसी से शादी कर लेती? जिस रात को भाँवरे पड़ती है शेखर को १०३ डिग्री का बुखार है। आगे चलकर उसे निमोनिया हो जाता है। इसका एक मात्र कारण यही है कि वह अपने बहिन पर से अधिकार को छीना जाते देखकर उसका हृदय करुण क्रन्दन कर उठता है, उसे कहीं भी सहानुभूति सी कहीं मिलती। वह बीमार पड कर ही तो लोगों की सहानुभूति अपनी ओर खींचेगा।

शेखर (प्रथम भाग, खण्ड प्रथम, उषा और ईश्वर) के प्रथम तीन पन्ने जहाँ पर आकार मात्र हीन पिण्ड वाला नवजात शिशु किस तरह अमिट छाप ग्रहण करने लगता है इसकी चर्चा के प्रसङ्ग मे अहन्ता, भय और सेक्स की भावना को सहज बताया गया है, बाद की परिस्थितिजन्य व्यवहार से उत्पन्न नहीं। प्रवेश नामक खण्ड मे (पृष्ठ ३६ तृतीय संस्करण) में मन के दो खडों की चर्चा है, जा घोर युद्ध कर रहे हों और चेतना पर राजत्व पाने के लिए लड रहे है "ऐसा भी होता है कि कभी किसी बात का प्रभाव बढ़ जाता है और कभी किसी-किसी का और इसके फलस्वरूप मेरे कार्यों में प्रतिकूलता, एक असम्बद्धता आ जाती है जिसे मुझे बाह्य रूप में समझने वाले नहीं समझ सकते किन्तु मेरे व्यक्तित्व मे आकर एकीभूत हो जाती है, हल हो जाती है, कभी ऐसा भी होता है कि कभी किसी खंड की प्रधानता नहीं होती तब वे मन क्षेत्र के विभिन्न केन्द्रों पर अधिकार करते है और यदि हाथ-एक के नियन्त्रण मे होते है तो मुख दूसरे के या चेतना एक के तो शारीरिक परिचालन दूसरे के। तब मैं ऐसा ही दीखता हूँगा जैसी कोई मशीन जिसके पुर्जे उलझ गए हों किन्तु जिसकी गति बन्द न हुई हो।"[११] कहना नहीं होगा कि मालूम होता है कि किसी चित्त विश्ले-

क्या है इसे भी यहाँ समझ लेना आवश्यक है। प्रकृति में घटने वाली प्रत्येक घटना, कारण कार्य की शृंखला में बँधी है। प्रत्येक कार्य अपने कारणों का ही परिणाम है, इस सिद्धान्त में विश्वास करने वाले मतवाद को नियतिवाद डिटरीमिनिज्म (Determinism) कहते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि संसार की सारी घटनायें नियत होती हैं, उनका रूप पहिले से ही निश्चित रहता है, अपने पूर्ववर्ती कारणों में निहित रहता है। आपने एक विशिष्ट प्रकार का बीज जमीन में बो दिया। अपने सहायक कारणों अर्थात् भूमि गर्भ की ऊष्णता, जल की आर्द्रता, वायु और सूर्य रश्मि का स्पर्श पाकर वह बट के वृक्ष के रूप में ही विकसित होगा, अन्यथा नहीं कारण कि ऐसा होना नियत डिटरमिंड (Determined) था। कोई घटना आकस्मिक नहीं होती। सायोगिक नहीं होती, (by chance) नहीं होता। स्वतन्त्र इच्छा (free will) नामक कोई वस्तु नहीं। जो कुछ हो रहा है वह होने के लिए बाध्य है। नियत है। फ्रायड उस नियतिवाद (Determinism) का पूरा समर्थक था। उसने कभी विश्वास नहीं किया किया कि कोई घटना योंही हो जाती है अथवा मानव की स्वतन्त्र इच्छा (free will) ने उसके वर्तमान रूप विधान में योग दिया है।

मानव जीवन पर दृष्टिपात किया जाय और उसके महत्वपूर्ण निश्चयों पर विचार पूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि उसने जितने महत्व पूर्ण तथा क्रान्तिकारी पद उठायें हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि उसने शांत चित्त से बैठ कर उसके पूर्वापर सब परिणामों पर बुद्धि पूर्वक विचार किया है। नहीं ऐसी बात नहीं। यदि वह किसी ओर चल पड़ा है, आग और पानी की भयंकरता को ललकारने लगा है, सागर को बाँधने और हिमगिरि को हिलाने के लिए व्याकुल हो गया है तो मानो कोई आन्तरिक वेग, कोई आभ्यान्तरिक प्रबल हेतु उसको उसके लिए प्रेरित कर रहा था, अन्दर से ठेल रहा था। वह उसके लिए विवश था। अपने पर मानो उसका नियन्त्रण नहीं था। कोई आन्तरिक प्रबल उद्वेग उसे किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बेताब कर रहा था प्रत्येक कार्य किसी न किसी उद्देश्य से प्रेरित होता है। सब का लक्ष्य एक होता है। यदि उस उद्देश्य या लक्ष्य का ज्ञान हमारे चेतन मस्तिष्क को नहीं हो तो वह अचेतन में स्थिर हो कर ही हमें अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है। हमारे बोलचाल की भूलें जिन्हें हम (slips of tongues) कहकर छुटकारा पा लेते हैं अथवा कोई अप्रत्याशित घटना जिन्हें (Accident) कह कर टाल देते हैं, वे क्या सचमुच जीभ का फिसलन या

दैवसयोग मात्र ही है ? नहीं, उनकी उत्पत्ति किसी विशेष उद्देश्य से हुई है, अभीष्ट साधकता ही इनका वास्तविक रूप है । ये अपने अभीष्ट की सिद्धि मे सफल भले न हो सके पर चेतन मानस की वर्त्तमान प्रक्रिया मे हस्ताक्षेप करके, उसमे विघ्न बाधा उपस्थित कर घटना क्रम मे अप्रत्याशित मोड़ की सृष्टि तो कर ही देते हैं अर्थात् ऐसी घटनाये उपस्थित हो जाती है जिनकी कल्पना भी नहीं की जाती थी ।

मसलन आप किसी सभा मे गए और वहाँ उपस्थित किसी प्रस्ताव के समर्थन मे आपको बोलना पड़ा पर आप बोल गए उसके विपक्ष मे । अथवा आप किसी से मिलने गए और उससे हाथ मिलाकर अभिवादन प्रत्याभिवादन करते। आपकी कलम की नोक उसकी देह मे गड़ गई । यह अनहोनी घटनाये सीधी सादी निरीह तथा संयोगिक भले ही दीख पड़ें, पर इनके पीछे आपके अचेतन मे एक प्रयत्न साधित षडयंत्र है, जिसके प्रभाव मे आकर आपको प्रस्ताव का विरोध करना पड़ा अथवा अपने मित्र का अनिष्ट करना पड़ा । आप इसके लिए विवश थे । आपके लिए कोई दूसरा चारा नहीं था क्योंकि आपकी सारी क्रियाये नियत (Determined) थीं । यदि आपका चित्त-विश्लेषण (Psycho Analysis) किया जाए तो उन कारणों का ठीक-ठीक पता भी लगाया जा सकता है, जिनके परिणाम स्वरूप आपकी इस वर्त्तमान अद्भुत क्रिया की सृष्टि हुई । कारण तो यों अनेकों हो सकते है पर पर बहुधा इन कारणों का मूल अपके शैशव के प्रथम कुछ वर्षों मे निर्मित मानसिक ग्रन्थियों मे पाया जायगा । उदाहरणार्थ (Oedipus-Complex) मे ।[१५]

फ्रायड के नियतिवाद के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण मे उसके बाल्यकालीन मानसिक ग्रन्थियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है जो कुछ घटना विशेषों के कारण उसके मानस मे बैठ जाती है । इन सब घटनाओं का वर्णन करना तो सम्भव नहीं पर इतना ही यहाँ कहा जा सकता है कि बालक की काम मूलक प्रवृत्तियों के साथ अनावश्यक और अनुचित हस्तक्षेप के कारण उसके मानस मे इन ग्रंथियो का निर्माण हो जाया करता है । उदाहरणार्थ बालक के अपने माता-पिता के यौन व्यापारिक सम्बन्ध का सस्कार बाल्यमन पर बहुमुखी पड़ता है।और ये ही सस्कार उसके अंतर्मन अथवा अचेतन की गहराई मे बैठकर उसके व्यक्तित्व को एक विशिष्ट ढङ्ग से प्रेरित करते रहते हैं । वह विश्व विजयी बने, महान कलाकार बने, कवि

उसे विद्रोही बने कुछ भी बने उसके निर्माण व विकास का रूप रंग इनके द्वारा पहिले ही निश्चित हो गई रहती है।

कोठरी की बात में मनोवैज्ञानिक नियतिवाद

कोठरी की बात नामक लम्बी कहानी में कोठरी अपनी दिव्य और पारदर्शक दृष्टि के द्वारा उन सब घटनाओं को देख लेती है जिनके हाथों में पड़कर विद्रोह सुशील के जीवन का स्वाभाविक अंश हो गया है। वह विद्रोही है तो इसका कारण यह नहीं कि उससे देश का लाभ होता है परन्तु यह उसकी प्रवृत्ति की आंतरिक माँग है। यही उसकी जीवनी शक्ति की निष्पत्ति है अर्थात् फ्रायड के शब्दों में वह विद्रोह उसके मनोविज्ञान में पूर्व निश्चित है। विद्रोह की प्रेरणा आती है, कोठरी के शब्दों में, घरों से, माता पिता से और उनकी परिस्थिति से उनके समाज की उनमें मिलने वाली या बहुधा न मिलने वाली स्त्रियों से विशेषत उनकी बहिनों से

मैं अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखती हूँ उसके जीवन के कुछ एक दिन, कुछ एक क्षण एक वह क्षण जिसमें उसकी विस्फारित आँखें रात में दिये के प्रकाश से उसके माता पिता के बीच के एक छोटे से अत्यन्त प्राचीन, अत्यन्त साधारण, किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण और गोपनीय दृश्य को देखती है—अच्छी आँखें क्योंकि मन के पट पर जो कुछ लिखती है मन उसे पढ़ नहीं पाता वह लिखावट उसी भाँति मन के एक कोने में पड़ी रहती है जैसे किसी पुरातत्ववेत्ता के दफ्तर में कोई ताम्रपट जिसकी लिपि से वह अभ्यस्त नहीं है और जिसे किसी दिन वह एक कोष की और अन्य लिपियों की सहायता से पढ़ लेता है फिर वह एक क्षण जब वह और उसकी वह बहिन पास पास लेटे हुए किसी विचार से निमग्न हैं शायद अपने उस सभी तत्व के पवित्र रहस्यमय सुख में और जब उसके पिता यकायक आकर उसे उठा देते हैं, फटकारते हैं कि वह अपनी बहिन के पास क्यों लेटा है आगे चलकर कोठरी कहती है पर ये तीन क्षण ही प्रखर प्रकाशक हैं। किसी व्यक्ति का इतना जीवन देख कर उसके जीवन का इतिहास मैं लिख सकती हूँ। उसके जीवन की घटनाओं का नहीं, समूचे जीवन का, उसकी प्रगति का मानसिक प्रेरणाओं का, उसके उद्देश्य का ।[१६]

शेखर सुशील का ही विकसित रूप है जिसका मनोविश्लेषण कोठरी ने किया है और मैं यह कहना चाहूँगा कि कोठरी निर्जीव प्राणी क्या उसकी क्षमता जो इतनी लम्बी-चौड़ी बातें कर सके। यह तो फ्रायड की आत्मा है

जो कोठरी मे बैठी बोल रही है। एक लोक प्रचलित कहानी स्मृत हो आई जिसे अपने गाँव के बाल्य-कालीन मित्र के मुख से अभी हाल में ही सुनने का अवसर मिला है। एक मेमना कोठे की छत पर बैठा था कि नीचे से एक भेड़िया आता दृष्टिगोचर हुआ। मेमना बडी ही निश्शंकता से और अपमान सूचक शब्दों में कहने लगा "अरे भेड़िया! अरे भेड़िया! कहाँ जा रहा है रे? भेड़िया बेचारा जवाब दे तो क्या। उसने कहा "देखो यह तुम नहीं बोल रहे हो। बोल रहा है कोठा। जरा कोठे की छत पर से उतर कर आओ तो बतलाऊँ कि कहाँ जा रहा हूँ।" उसी तरह कहा जा सकता है कि जिस प्रदेश की ओर देखने का साहस देवकी-नन्दन खत्री के यार नहीं कर सके, किशोरीलाल गोस्वामी की रंगीन-मिजाजी तथा विलास-मूलक वासनायें जिनका स्पर्श नहीं कर सकी, गहमरी जी के जासूस अपनी सारी चातुरी के बावजूद भी जिसका रहस्योद्घाटन नहीं कर सके; प्रेमचन्द जी ने उपन्यास मे आधुनिक युग की समस्या को सामना करने का अपूर्व बल का सचार तो किया सही पर जिस रहस्य-कूप के तट पर झाँक कर ही लौट आए, अतल गहराई मे उतरने का साहस नहीं किया उसी रहस्य का उद्-घाटन अज्ञेय की कोठरी कितने साहस के साथ निःसंकोच कर रही है। यदि फ्रायड के चित्त-विश्लेषण मनोविज्ञान ने इसके लिए वातावरण तैयार नहीं कर दिया होता तो यह बात कभी सम्भव थी?

पाद टिप्पणियाँ

१. Contribution to Psycho-analysis 1921-45 by Melamia Klein, the Hogarth Press Ltd 1948
२. वही, Chapter, Development of child, P. 16
३. वही, पृ १८ ४. शेखर एक जीवनी, द्वितीय संस्करण १६४६
५ वही, पृ० ६० ६. वही, पृ० ६४ ७. वही, पृ० ६७
८. वही, पृ० ६८ ६ वही, पृ० ६६ तथा १०७
१०. वही, पृ० ११. वही, पृ० ११ १२. वही, पृ० ८७
१३. कोठरी की बात, द्वितीय संस्करण १६४६, पृ० १३६
१४. वही, पृ० १३७
१५ द्रष्टव्य Contemporary Schools of Psychology by R. Woodworth P. Eighth Edition, 1949, P. 172
१६. कोठरी की बात, द्वितीय संस्करण १६४६ पृ० १३६-४०

अष्टम अध्याय

अज्ञेय के उपन्यास में मनोवैज्ञानिक टेकनीक

नदी के द्वीप मनोवैज्ञानिक विवेचन

अज्ञेय का नवीनतम उपन्यास "नदी के द्वीप" मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा को अग्रसर करता है। इसका मनोवैज्ञानिकता इसमें निहित नहीं कि इस उपन्यास में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। (सच पूछा जाय तो "शेखर एक जीवनी" में फ्रायड या एलडर के मनोविज्ञान की स्थापनाओं का समावेश अधिक है।) और न इसमें ही है कि लेखक ने सचेष्ट होकर इलाचन्द जी की तरह मनोविश्लेषण शास्त्र को सामने रख कर अपने पात्रों के मानसिक सगठन का प्रदर्शन किया है। इसमें कथा रस की भी अवहेलना नहीं है जैसा कि शेखर के प्रथम भाग के पढने से लोगों को आशका हो गई थी। लोग यह समझने लगे थे कि अज्ञेय की प्रवृत्ति बहुत कुछ जेम्स ज्वायस, विर्जिनिया वुल्फ की अनियमता, छिन्नभिन्नता, बाढ़ की तरह सब कुछ ढाहकर बह चलने वाली पद्धति का अनुकरण कर रही है।[1] पर 'शेखर' के द्वितीय भाग से लेकर 'नदी के द्वीप' की औपन्यासिक कला में निश्चय कथा की सरसता अधिक बढ़ी है और यह विकास एक शुभ दिशा की ओर है।

"नदी के द्वीप" की विशेषतायें अन्य गुणों के साथ साथ दो हैं (१) कथा की सरलता (२) शैली की मनोवैज्ञानिकता। विषय प्रवेश में इस बात की ओर सकेत किया गया है कि यद्यपि विषय और उसके प्रतिपादन की शैली को दो विभाज्य टुकड़ों में तोड़ कर देखना ठीक नहीं, वे अयुत—सिद्धावयव[2] है। वे पारस्परिक रूप से एक दूसरे को सगठित करने और किये जाने के रूप में चिरालिंगन में आबद्ध हैं पर हम अध्ययन की सुविधा के लिए उन्हें अलग अलग कर सकते हैं। कुछ विषय ऐसे होते हैं जो मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं और कुछ शैलियाँ होती हैं जो मनोवैज्ञानिक प्रतिष्ठा की अधिकारिणी हो सकती हैं। मनोवैज्ञानिक विषय भी साधारण अमनोवैज्ञानिक शैली में उपस्थित किये जा सकते हैं और उसी तरह यह भी असम्भव नहीं कि अमनोवैज्ञानिक विषय को मनोवैज्ञानिक शैली

मिले। अतः, वह मनोवैज्ञानिक विषयोपयुक्त साज सज्जा मे उपस्थित किया गया हो। हिन्दी के उपन्यासों मे हम इलाचन्द जी जोशी का नाम ऐसे उपन्यासकारों की श्रेणी मे ले सकते हैं जिनके उपन्यासों के आधार भूत उपजीव्य मनोवैज्ञानिक होते हुए भी विषय प्रतिपादन की शैली मनोवैज्ञानोपयुक्त नहीं है। हाँ, पर्दे की रानी को हम अपवाद मे रख सकते हैं कारण कि इसमे आत्म कथात्मक शैली का पालन किया गया है जो अधिक मनोवैज्ञानिक भार-सक्षम है। श्री भगवतीचरण वर्मा पर भी यही बात लागू होती है। अज्ञेय और जैनेन्द्र मे हम मनोवैज्ञानिक शैली का आग्रह अधिक पाते हैं। इनमे भी अज्ञेय विषय और शैली की मनोवैज्ञानिकता दोनों के उपयोग की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।

मनोवैज्ञानिक टेक्नीक

शेखर एक जीवनी की पद्धति की विशेषता यह है कि इसमे कथा जीवन के अत्यन्त ही उच्च महत्वपूर्ण वर्तमान घटना के मेरु शिखर पर आसीन होकर कही गई है। मनुष्य के जीवन में फाँसी के तख्ते से बढ़ कर महान और उच्च घटना हो ही क्या सकती है और वह भी वैसी फाँसी है जो देश भक्ति जैसे महान तथा पुण्य-मय कार्य के वरदान के रूप में प्राप्त हो ? किसी ऊँचे स्थान पर से देखने मे लाभ यह होता है कि चाक्षुप प्रतीति की सीमा अधिकाधिक विस्तृत हो जाती है तथा चित्र को सुसगठित रूप मे उपस्थित करने मे, उपयोगी दृश्यों के निर्वाचन की सुविधा अधिक रहती है अर्थात् उच्च स्थानासीन व्यक्ति अधिक से अधिक दूर की चीजे को देख सकता है। साथ ही अनेक छोटी-मोटी चीजे जो चित्र के संगठित रूप की उपस्थिति में बाधा स्वरूप रहती है स्वयमेव दूर हो जाती हैं। यही कारण है कि शेखर को अपने हृदय की गहराई मे बहुत दूर तक देखने के अवसर मिले हैं। विशेपतः शिशु-कालीन दृश्यो को जिनका मनुष्य के निर्माण मे बड़ा हाथ होता है। जिन उपन्यासों के पैर जमीन की सतह पर ही स्थित हैं उनमे दृष्टि की यह सूक्ष्मता, गम्भीरता या कह लीजिये विस्तृति प्राप्त करने मे कठिनाई ही रही है और रहा है उन असगत बातों का बाहुल्य जिनकी उपस्थिति सम्पूर्ण और संतुलित चित्र के प्रगटीकरण में अपनी विरोधी सत्ता का प्रदर्शन करती है।

जो लोग मूर्तता को कला की हीनता का कारण मानते हैं उनका यही तो कहना है कि काव्य कला के अतिरिक्त जितनी कलायें है उनकी स्थूल सामग्री अपनी भाव विरोधिनी सत्ता को प्रगट करती रहती है। परन्तु जिस उच्च-

स्थानापन्न पद्धति का 'शेखर' ने आश्रय लिया है उसमें स्वाभाविक रूपेण इन असंगत और विरोधिनी सत्ताओं का ह्रास हो गया है। अस्तु, भगवतीचरण वर्मा या यशपाल के उपन्यासों में बहुत सी घटनाओं का निर्देश किया जा सकता है जो उपन्यास के सम्पूर्ण चित्र के संगठन में योग तो क्या देंगी बाधा ही अधिक देता हैं। ये उपन्यास या इनके पात्र दुनिया की सतह पर चलते हैं। वास्तव में यह अन्तर कुछ अंशों में भाव शक्ति (Emotionl Force) का भी है। मानवीय वेदना और भावनाओं के चरमोत्कर्ष के महत्वपूर्ण क्षण का पूरी सजीवता के साथ उपस्थित करने की कला का इन लोगों में अभाव है जो प्रत्येक महान कलाकार की प्रवृत्ति में निहित होती है। इन लोगों के भाव ठंडे हैं अथवा इस गहराइ का पा नहीं सके, जिसके कारण कला ज्योति से चमक उठती है। ये मानवीय भावनाओं के तट पर ही शानदार रूप से आकर्षक और प्रभावोत्पादक ढंग से तैरने वाले तैराक हैं पर नदी की गहराइ में कभी नहीं उतरते। इनके पात्रों की वेदनायें उथली उथली सी लगती हैं। शरीर में खरोंच लगने की या पिन के चुभ जाने की हल्की टीस इनमें भले ही हो पर वे कभी जीवन के उन पत्थरों की दीवालों का सामना नहीं करते जिनसे टकराकर मनुष्य का हृदय चकनाचूर हो जाता है। इनके पात्रों के शरीर भले ही टूटते हों, सर भले ही फूटे जाते हों और उनसे चीत्कार भी निकलता हो पर गहराई से निकली वह आह नहीं जिसके सदमे से भावों की दुनियाँ हिलने लगे और उसमें भूचाल आ जाय। मेरे कहने का अर्थ यह है कि एक विशेष पद्धति के अवलम्बन के कारण से ही शेखर में कुछ ऐसी विशेषताएँ आ गइ हैं जो अन्यथा नहीं आ सकती थीं।

जब भारत परतन्त्र था और समय-समय पर ब्रिटिश सरकार की ओर से शासन विधान में परिवर्तन तथा परिशोधन के लिये कमीशन बैठते थे तो उस समय वादविवाद के सिलसिले में एक विचित्र तर्क सुनने को मिलता था। कहा जाता था कि शासन विधान चाहे कैसा भी हो यदि जनता सहयोग देगी और उसे कार्यान्वित (Work Out) करेगी तो वह सफल होगा। पर शासन विधान के निर्माताओं के सामने यह प्रश्न अधिक नहीं होना चाहिये कि जनता सहयोग देगी या नहीं। जनता यदि सहयोग देने को तैयार हो तो किसी प्रकार का विधान सफल हो सकता है। सच पूछिये तो उस समय विधान की आवश्यकता ही क्या है? जनता जैसा चाहेगी वैसा विधान बना लेगी। प्रश्न यह रहना चाहिये कि विधान अपने स्वयं रूप के बल पर (Constitution Qua Constitution) जनता के सहयोग को कहाँ तक ले

रहा है, उसका जनसहयोग-प्राप्ति में कहाँ तक योगदान रहा है। जनता के प्रतिकूल रहते भी इस विधान के द्वारा उसका सहयोग कहाँ तक मिल रहा है। तभी तो विधान की सार्थकता है।

इसी तरह ऊपर की पंक्तियों मे शेखर के उद्दीप्त क्षणों के महल पर उच्चासीनता और अन्य उपन्यासों की सतह पर रहने को चर्चा को सुनकर कहा जा सकता है कि •प्रतिभा के लिये कोई भी प्रतिबन्ध नहीं, वह किसी भी मिट्टी को छूकर सोना बना दे सकती है। ठीक है हमारा कथन इतना भर ही है कि इस प्रकार की टेकनीक के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की टेकनीक के प्रयोग से भी उपन्यास की मनोवैज्ञानिक गहराई बढ़ जाती है। हिन्दी मे इस टेकनीक का और भी प्रयोग होना चाहिये। हिन्दी मे इस टेकनीक का अर्थात् किसी विशिष्ट उद्दीप्त तथा व्यक्ति को अन्दर से उभार कर रख देने वाले क्षण के आवेग से प्रभावित आत्म निरीक्षण वाली पद्धति का और भी प्रयोग होना चाहिये। मैं बड़ी उत्सुकता से वह दिन देख रहा हूँ जब कि कोई उपन्यासकार सेंट हेलेना—द्वीप मे बन्दी नेपोलियन या चर्चिल के जेल मे पड़े हिटलर या मुसोलिनी को आत्म निरीक्षण के मार्ग से एक ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करें।

सीमित दृष्टिकोण तथा समकत्रय

किसी विशिष्ट तथा उद्दीप्त क्षण की ऊँचाई पर से विगत जीवन के सिंहावलोकन, जैसा कि शेखर में किया गया है, के साथ कथा को किसी एक पात्र या हो तो एकाधिक पात्रों के आत्म-निरीक्षण के रूप में उपस्थित करने की प्रवृत्ति आ ही जाती है और परिणाम यह होता है कि कथा की गति एक निश्चित दृष्टिकोण से मर्यादित होकर तीव्रतर और प्रखर हो उठती है। शेखर में जो कुछ भी है वह शेखर को लेकर है उसके विचारों की छाप उन पर स्पष्ट है। अतः •शेखर के मनोविज्ञान पर उनके द्वारा अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। असल में देखा जाय तो यह नाटक के समकत्रय (Unities) वाले सिद्धात का ही किंचित परिवर्तित रूप है।

यूरोप और अमेरिका मे इस तरह के उपन्यासों की एक परम्परा सी ही रही है। जब से वहाँ की उपन्यास कला मे थोड़ी प्रौढ़ता आई है, वह कथक्कड़ी प्रवृत्ति से आगे बढकर जीवन की गहराई में उतरने का उपक्रम करने लगी है तब से उपन्यासों में नाटकीय प्रवृत्ति का विकास होने लगा है अर्थात् उपन्यास नाटक के क्षेत्र मे पदार्पण करने लगा है। दूसरे शब्दों में

स्थानापन्न पद्धति का 'शेलर' ने आश्रय लिया है उसमें स्वाभाविक रूपेण इन अवगत और विरोधिनी सत्ताओं का ह्रास हो गया है। अश्क, भगवतीचरण वर्मा या यशपाल के उपन्यासों में बहुत सी घटनाओं का निर्देश किया जा सकता है जो उपन्यास के सम्पूर्ण चित्र के संगठन में योग तो क्या देंगी बाधा ही अधिक देता हैं। ये उपन्यास या इनके पात्र दुनिया की सतह पर चलते हैं। वास्तव में यह अन्तर कुछ अंशों में भाव शक्ति (Emotionl Force) का भी है। मानवीय वेदना और भावनाओं के चरमोत्कर्ष के महत्वपूर्ण क्षण को पूरी सजीवता के साथ उपस्थित करने की कला का इन लोगों में अभाव है जो प्रत्येक महान कलाकार की प्रवृत्ति में निहित होता है। इन लोगों के भाव ठंडे हैं अथवा इस गहराई को पा नहीं सके, जिसके कारण कला ज्योति से चमक उठती है। ये मानवीय भावनाओं के तट पर ही शानदार रूप से आकर्षक और प्रभावोत्पादक ढंग से तैरने वाले तैराक हैं पर नदी की गहराई में कभी नहीं उतरते। इनके पात्रों की वेदनायें उथली उथली सी लगती हैं। शरीर में खरोंच लगने की या पिन के चुभ जाने की हल्की टीस इनमें भले ही हो पर वे कभी जीवन के उन पत्थरों का सामना नहीं करते जिनसे टकराकर मनुष्य का हृदय चकनाचूर हो जाता है। इनके पात्रों के शरीर भले ही टूटते हों, सर भले ही फूट जाते हों और उनसे चीत्कार भी निकलता हो पर गहराई से निकली वह आह नहीं जिसके सदमे से सितारों की दुनियाँ हिलने लगे और उसमें भूचाल आ जाय। मेरे कहने का अर्थ यह है कि एक विशेष पद्धति के अवलम्बन के कारण से ही शायद में कुछ ऐसी शिथिलताएं आ गई हैं जो अन्यथा नहीं आ सकती थीं।

जब भारत परतन्त्र था और समय-समय पर ब्रिटिश सरकार की ओर से शासन विधान में परिवर्तन तथा परिशोधन के लिये कमीशन बैठते थे तो उस समय वादविवाद के सिलसिले में एक विचित्र तर्क सुनने को मिलता था। कहा जाता था कि शासन विधान चाहे कैसा भी हो यदि जनता सहयोग देगी और उसे कार्यान्वित (Work Out) करेगी तो वह सफल होगा। पर शासन विधान के निर्माताओं के सामने यह प्रश्न अधिक नहीं होना चाहिए कि जनता सहयोग देगी या नहीं। जनता यदि सहयोग देने को तैयार हो तो किस प्रकार का विधान सफल हो सकता है। सच पूछिए तो उस समय विधान की आवश्यकता ही क्या है? जनता जैसा चाहेगा वैसा विधान बना लेगी। प्रश्न यह रहना चाहिए कि विधान अपने स्वयं रूप के बल पर (Constitution Qua Constitution) जनता के सहयोग को कहाँ तक ले

रहा है, उसका जनसहयोग-प्राप्ति मे कहाँ तक योगदान रहा है। जनता के प्रतिकूल रहते भी इस विधान के द्वारा उसका सहयोग कहाँ तक मिल रहा है। तभी तो विधान की सार्थकता है।

इसी तरह ऊपर की पंक्तियों मे शेखर के उद्दीप्त क्षणो के महल पर उच्चासीनता और अन्य उपन्यासों की सतह पर रहने को चर्चा को सुनकर कहा जा सकता है कि •प्रतिभा के लिये कोई भी प्रतिबन्ध नहीं, वह किसी भी मिट्टी को छूकर सोना बना दे सकती है। ठीक है हमारा कथन इतना भर ही है कि इस प्रकार की टेकनीक के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की टेकनीक के प्रयोग से भी उपन्यास की मनोवैज्ञानिक गहराई बढ़ जाती है। हिन्दी मे इस टेकनीक का और भी प्रयोग होना चाहिये। हिन्दी मे इस टेकनीक का अर्थात् किसी विशिष्ट उद्दीप्त तथा व्यक्ति को अन्दर से उभार कर रख देने वाले क्षण के आवेग से प्रभावित आत्म निरीक्षण वाली पद्धति का और भी प्रयोग होना चाहिये। मैं बड़ी उत्सुकता से वह दिन देख रहा हूँ जब कि कोई उपन्यासकार सेंट हेलेना—द्वीप में बन्दी नेपोलियन या चर्चिल के जेल में पड़े हिटलर या मुसोलिनी को आत्म निरीक्षण के मार्ग से एक ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करे।

सीमित दृष्टिकोण तथा समकत्रय

किसी विशिष्ट तथा उद्दीप्त क्षण की ऊँचाई पर से विगत जीवन के सिंहावलोकन, जैसा कि शेखर में किया गया है, के साथ कथा को किसी एक पात्र या हो तो एकाधिक पात्रों के आत्म-निरीक्षण के रूप मे उपस्थित करने की प्रवृत्ति आ ही जाती है और परिणाम यह होता है कि कथा की गति एक निश्चित दृष्टिकोण से मर्यादित होकर तीव्रतर और प्रखर हो उठती है। शेखर मे जो कुछ भी है वह शेखर को लेकर है उसके विचारों की छाप उन पर स्पष्ट है। अतः •शेखर के मनोविज्ञान पर उनके द्वारा अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। असल मे देखा जाय तो यह नाटक के समकत्रय (Unities) वाले सिद्धांत का ही किंचित परिवर्तित रूप है।

यूरोप और अमेरिका मे इस तरह के उपन्यासों की एक परम्परा सी ही रही है। जब से वहाँ की उपन्यास कला मे थोड़ी प्रौढ़ता आई है, वह कथक्कड़ी प्रवृत्ति से आगे बढ़कर जीवन की गहराई में उतरने का उपक्रम करने लगी है तब से उपन्यासों मे नाटकीय प्रवृत्ति का विकास होने लगा है अर्थात् उपन्यास नाटक के क्षेत्र मे पदार्पण करने लगा है। दूसरे शब्दों में

उपन्यास कला अपनी बड़ी बहिन नाट्यकला के घर से अस्त्रों को लाकर अपने अनुकूल बना उनका उपयोग करने लगी है। नाटक की कला वर्तमान है, उपन्यास की अतीत। नाटक की घटनायें रंगमंच पर दर्शक की आँखों के सामने साक्षात् अभिनीत होती हैं। दर्शक उन्हें अपनी आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, उसमें प्रत्यक्षता होती है, एक तात्कालिकता होती है। उपन्यास की घटनायें अतीत की कहानियाँ हैं, वे बीत चुकी हैं, वे हमसे दूर हैं, उनमें साक्षात दर्शनीयता नहीं, उनके रूप का दर्शन अपरागत है (Second Hand) जो कल्पना के माध्यम से होकर निर्मल रूप में ही सामने आ सकता है।

नाटक देखते समय हम स्वयं वर्तमान में उपस्थित रहते हैं, उपन्यास में अतीत को वर्तमान बनाकर कल्पना लाती है। पर कल्पना कितनी भी प्रबल क्यों न हो वह इन्द्रिय ग्राह्य प्रतीतात्मक अनुभूतियों की तुलना नहीं कर सकती। यहाँ नाटक और उपन्यास कला की तुलना करना अभीष्ट नहीं। वास्तव में साधन-सम्पन्नता की दृष्टि से नाटक उपन्यासों के सामने दरिद्र हैं, इसमें वर्णन तथा व्याख्या का स्थान नहीं, वहाँ चरित्र चित्रण हो नहीं सकता, मनोवैज्ञानिकता प्रदर्शित की नहीं जा सकती, क्रिया कलापों के प्रदर्शन का क्षेत्र भी सीमित ही होता है। इस पर भी नाटकों में मनुष्यों के हृदय को अपील करने की जो क्षमता होती है वह उपन्यासों में कहाँ प्राप्त है? बुद्धि उपन्यास का साथ भले ही दे पर भावनायें नाटकों के पक्ष समर्थन में तत्पर रहती हैं और यह सब इसलिये कि नाटकों में वह चीज रहती है जिसे हम नाटकीय वर्तमानता (Dramatic Presence) कहते हैं। इसी एक अस्त्र की ललकार से उपन्यास की बढ़ती विजय वाहिनी में भगदड़ सी मच जाती है और नाटकों की मुट्ठी भर सेनायें हारती भी जीत जाती है। अत, विजय के द्वार से लौटकर आई उपन्यास कला इस नाटकीय वर्तमानता (Dramatic Presence) वाले अस्त्र को साधन बना कर्मक्षेत्र में आकर नाटकों से प्रतिस्पर्धा करती है और उपन्यासों में ऐसी घटनाओं का समावेश करती है जो इस नाटकीय वर्तमान की योजना करें या इसमें अधिक से अधिक सहायक हों। नाटक में तो नाटकीय वर्तमान की सत्ता बनाये रखने वाली वस्तु प्रत्यक्ष इन्द्रिय ग्राह्य अभिनय की प्रतीतात्मक अनुभूति है। पर उपन्यासों में इसका प्रतिनिधित्व करने वाली कौन सी वस्तु है जिसके कारण यहाँ नाटकीय वर्तमान के भाव जागरित हों।

इसके उत्तर में प्रसिद्ध आलोचक जे० डब्ल्यू० बीच का कहना है कि

स्थान पर जेल की कोठरा में इस अतीत दर्शन का कार्य साधित हुआ है। समय की एकता तो स्पष्ट ही है कारण कि लेखक के ही शब्दों में यह घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए (Vision) को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न है। परन्तु शेखर की नाटकीयता, यहाँ मनोवैज्ञानिकता कहिये, इसमें हैं कि सारा कहाना एक सीमित दृष्टिकोण अथात् शेखर के दृष्टिकोण से कही गइ है। रग मच के केन्द्र में शेखर चट्टान की तरह खड़ा है। जो कुछ हो रहा है वह शेखर को ही लेकर है, बीच में कहीं एक दो पात्र आ भी गये हं तो शेखर के व्यक्तित्व को स्पष्टता देने के लिये हा है। साधारणत कथा की तरह कहे जाने वाले उपन्यासों के पढ़ने के समय भी पाठक में अधिक देर तक सम्पर्क म रहने वाले पात्र के साथ अनन्यता के भाव स्थापित कर लेने का, उसके साथ अभेद स्थापन की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। ठीक उसी तरह जैसे बच्चे परियों की कहानी म वर्णित नायक राजकुमार से झट से अपनापन का नाता जोड़ लेते हैं। शेखर में पाठक जो कुछ देखता है शेखर की आँखों से। उसके दृष्टिकोण से पाठकों म सहानुभूति उत्पन्न होती है। उपन्यास का सारा घटनाएँ शेखर के भाव केन्द्र के चारों ओर घूमती रहती हं, आशा निराशामय उत्सुकता आतुरता के कारण उनसे वह सम्बद्ध है अर्थात् पाठक के लिये वह सारे उपन्यास का व्याख्याकार हो जाता है। सचमुच एक सीमित दृष्टिकोण के फोकस में लाकर उपन्यास का सगठित चित्र उपस्थित करना शेखर की एक टकनिकल विजय है।

'नदी के द्वीप' में टेकनीक का विकास

टेकनीक के विचार से 'नदी के द्वीप' में शेखर की सीमित दृष्टिकोण वाली पद्धति का अधिक विकसित रूप देखा जा सकता है। दोनों में कथा का उद्घाटन सीमित दृष्टिकोण से ही हुआ है। पर जहाँ शेखर में केवल एक पात्र के चेतना माग से कथा की गगा प्रवाहित हुई है वहाँ 'नदी के द्वीप' में चार पात्रों के के हृदय से होकर बहती धाराओं से सम्मिलित होती हुई अपने में अधिक वैविध्य और आढ्यता लाती हुइ चार धाराओं म प्रवाहित होती है। नदी के द्वीप में चार पात्र हं। भुवन, गौरा रेखा, चन्द्रमाधव। ११ परिच्छेदों में यह उपन्यास विभाजित है, हर एक पात्र के लिये कुछ अन्तर डाल कर दो परिच्छेद दिये गये ह जिनमे एक विशेष पात्र के दृष्टिकोण से कथा अग्रसर होती है। तान या चार परिच्छेदों के बाद दो अन्तराल ह जिनमें कथाको अग्रसर हाने के लिये चारों पात्रों क दृष्टिकोण का सहारा मिला है। इनमें कथा इन चारों के पत्र व्यवहार के रूप म कही गयी है। अन्त म उपसहार

शीर्षक एक अलग परिच्छेद तो नहीं है पर जिस रूप मे दूसरे पन्ने में थोड़ा रिक्त स्थान छोड़कर कथा कही गयी है उसमे लेखक का मन्तव्य स्पष्ट है। इसी से मिलती-जुलती टेकनीक का प्रयोग श्री इलाचन्द जोशी जी ने अपने उपन्यास 'पर्दे की रानी' मे किया है। यहाँ पर दो ही पात्रों के दृष्टिकोण से कहानी कही गयी है शीला और निरंजना। प्रथम भाग शीला की कहानी ४ परिच्छेद, दूसरा भाग निरंजना की कहानी १२ परिच्छेद। तीसरा भाग शीला की कहानी ६ परिच्छेद, चौथा भाग निरंजना की कहानी १० परिच्छेद, ध्यान देने की बात है कि ३२ परिच्छेदो मे २२ परिच्छेद निरंजना की कहानी अर्थात् निरंजना के दृष्टिकोण से कही कहानी से घिरे हुए है कारण कि निरंजना ही इस उपन्यास की प्रधान पात्री (Heroine) है।

वास्तव मे देखा जाय तो प्रेमचन्द के बाद के उपन्यास जिनमे मानवीय चेतना को अधिक गहराई से पकड़ने का प्रयत्न किया है। सबमे दृष्टिकोण को एक सीमा मे ही एक विशेष फोकस मे लाकर ही कथा कही गयी है चाहे वे दृष्टिकोण विविध (Multiple) भले ही हो पर है वह सीमित ही। शेखर, 'नदी के द्वीप' पर्दे की रानी, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, व्यतीत इत्यादि इसी सीमित दृष्टिकोण से लिखित उपन्यासों की श्रेणी मे आयेंगे। शेखर और नदी के द्वीप की टेकनीक को हम एक रूपक के सहारे समझ सकते है। हमारे स्नानगृह मे दो तरह के पानी के कल लगे रहते है। एक मे पानी की बड़ी मोटी धारा निस्सृत होती है और दूसरे मे एक फव्वारे के रूप मे छोटी-छोटी अनेक धाराओं का सम्मेलन रहता है। प्रथम की समता मे 'शेखर' है और दूसरे की समता मे 'नदी के द्वीप'। दोनों के नीचे हम बैठकर स्नान कर स्फूर्ति की अनुभूति प्राप्त करते हैं। पर फव्वारे की तेज धाराओं के हल्के दबावों के नीचे बैठकर जो शारीरिक और मानसिक आनन्दानुभूति होती है वह किस अनुभवी व्यक्ति को ज्ञात नहीं? हमारी एक एक शिरा प्रदीप्त हो उठती है और हम एक नया जीवन ही ले स्नानगृह से निकलते है। 'नदी के द्वीप' मे चार पात्रों की विचार-धाराये ही उपन्यास रूपी फव्वारे की चार धाराये है और बीच मे अन्तराल नाम की धारा एक तटस्थ व्यक्ति उपन्यासकार के दृष्टिकोण को उपस्थित करती है।

'नदी के द्वीप' के दृष्टिकोण का महत्व

'नदी के द्वीप' मे चार पात्रों के दृष्टिकोण की सीमा से कथा को उपस्थित करने की जो मनोवैज्ञानिक पद्धति अपनाई गई है उसके द्वारा उपन्यास

की पाचक रस की दरिया में तैर रही है। 'नदी के द्वीप' एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है और इसके लिये इस सीमित दृष्टिकोण वाली पद्धति बहुत उपयोगी है। उपन्यास की प्रथम पंक्ति से ही कहानी प्रारम्भ हो जाती है और चूँकि पाठक की पाचन शक्ति इसने जगा दी है अतः वह कथा के विकास को सुविधा पूर्वक ग्रहण करता जाता है मानों निस्संज्ञ कर देने वाली अनेसथेसिया की शीशी सुंघा कर पाठकों का वेदनाहीन आपरेशन किया गया हो। अज्ञेय ने पात्रों के दृष्टिकोण से कहानी पर प्रकाश डाल कर मानो उसे अन्दर से उद्भासित करने की कला से काम लिया है। मेरे अध्ययन कक्ष में एक दीपक रखा है। उसे दो प्रकार से जलाया जा सकता है। या तो कोई बाहर से दियासलाई जला कर या एक नाना दीपक ही लेकर उसकी लौ को जला जाय। अथवा ऐसी कुछ व्यवस्था हो जिसे हम देख तो न सकें पर बटन दबाते ही अन्दर से दीपक जल उठे। द्वितीय प्रकार की मनोवैज्ञानिक पद्धति 'नदी के द्वीप' की है जिसमें कथा अन्दर से प्रकाशित होती है। प्रथम श्रेणी में प्रेमचन्द सम्प्रदाय के लेखकों की अमनोवैज्ञानिक शैली है जिसमें कथा की ज्योति बाहर से जलायी जाती है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास और अनुमान

'नदी के द्वीप' तथा मनोवैज्ञानिकता का दम भरने वाले हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में पाठक के मस्तिष्क की उस क्रिया की आकांक्षा है जिसे अनुमान कहते हैं। अर्थात् कथा अपने स्वरूप की स्पष्टता के लिये, स्पष्टता के लिये पाठक के अनुमान की चक्करदार क्रिया पर अवलम्बित है। अन्य घटना प्रधान उपन्यासों की तरह, उदाहरणार्थ प्रेमचन्द के उपन्यास, कथा पाठकों के मस्तिष्क में लेखक की ओर से उँडेल नहीं दी गई है। ऐसा नहीं हुआ है जो कुछ क्रियाशीलता है, तत्सम्बन्ध है वह लेखक की ओर से ही है। पाठक एक निष्क्रिय छाप ग्रहण करने वाली गीली मिट्टी का लौंदा है जिसे अपनी ओर से कुछ भी नहीं करना पड़ता। पर इन उपन्यासों की कथा को ठीक तरह से समझ सकने के लिए पाठक को अपनी ओर से भी सक्रिय रहना पड़ता है। लेखक यह नहीं कहता कि कौन सी घटना घटी है, क्या हुआ है परन्तु पात्रों के वार्तालाप में, उनके अनर्गल प्रलापों में अथवा जाग्रत अवस्था में पात्रों की स्वच्छन्द कल्पना जाल में पाठक यह निष्कर्ष निकालता है, इस परिणाम तक पहुँचता है, अनुमान करता है कि यह घटना घटी है। 'नदी के द्वीप' में यह कभी नहीं कहा गया है कि रेखा

और भुवन का पारस्परिक प्रेमाकर्षण किस सीमा तक पहुँचा हुआ है, रेखा के स्वास्थ्य मे तात्कालिक चिंतनीयता क्यों आ गई कि उसे तुरन्त अस्पताल ले जाना अनिवार्य हो गया।[६] यह सब लेखक की ओर से वर्णित नहीं होता परन्तु पाठक के अनुमान के फलस्वरूप प्राप्त होता है।

जब हम अपने ऊपर विचार करने लगते है तो हम अपने से यह नहीं कहते कि अमुक घटनायें मुझ पर घटी हैं, परन्तु उनकी ओर केवल संकेत के सूत्र से तद्गत जटिल संस्कार झंकृत हो उठता है यह हमारे विचारों का मनोविज्ञान है। और मनोविज्ञान को लेकर चलने वाले उपन्यासों मे अनुमान की प्रक्रिया को सक्रिय करने वाले संकेत सूत्र काफी होते हैं। उनमे घटनाओं के विस्तृत वर्णन की आवश्यकता नहीं रहती। प्रेमचन्द के उपन्यासों मे घटनाओं की प्रतीति होती, प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और 'नदी के द्वीप' मे अनुमान। हमने सामने वृक्ष को देखा। यह वृक्ष की साक्षात चाक्षुष प्रतीति हुई पर पर्वत पर धुँआ देखकर वहाँ अग्नि का अनुमान (पर्वतों अग्निमान् धूमत्वात्) हुआ अर्थात् इसमे द्रष्टा का मानसिक अंश अधिक आया। यह तो कहना कठिन है कि प्रत्यक्ष जन्य ज्ञान अधिक आनन्दप्रद है या अनुमान जन्य। पर अनुमान जन्य ज्ञान मे एक विशिष्टता अवश्य होती है। चूँकि अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' मे हमें भी अपनी तरफ से क्रियाशील होना पडता है अतः अपने पसीने की कमाई के कारण हमारी आनन्दोपलब्धि कुछ विशिष्ट हो जाती है।

सिनेमा

विषय प्रवेश वाले प्रथम परिच्छेद मे इस बात की ओर संकेत किया गया है कि प्रतीतात्मक अनुभूतियों के मानसिक आत्मनिष्ठ तत्वों की विवृति मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की विशिष्टता है। पर इस मानसिक तत्व का पूर्ण परिचय उस समय नहीं प्राप्त होता जब कि मनुष्य प्रवृत्त करने वाली बाह्य वस्तु (Stimulus) के आघात से प्रतिक्रिया (Response) मे प्रवृत्त हो जाय। नहीं, इस तत्व का दर्शन प्रवर्तक वस्तु और उसके आघात से उत्पन्न प्रतिक्रिया के मध्य मे पड़ने वाले अवसर, जब कि मनुष्य का अन्तस आन्दोलित होता है, के समय हो सकता है। जीवन में इन दोनों के मध्य पड़ने वाली अवधि अत्यन्त अल्प तथा नगण्य मालूम पड़ती है और इसके वास्तविक रूप को देखना सहज नहीं। पर मनुष्य ने ऐसे अणुवीक्षण यंत्र आविष्कृत कर लिए हैं जिनके सहारे वह कीटाणुओं को हजारों गुणा बढ़ा कर देख

और आज एक स्त्री के सहज भाव से ठेल कर गाड़ी पर सवार करा दिये जाने पर उसकी कुहनी में स्पर्शित स्थल पर चुनचुनाहट होने लगा है और वह यह रोमानी कल्पना कर रहा है कि रेखा ने वास्तव में उसे ठेला नहीं बल्कि खींचा था भुवन बाबू, यों हक्के बक्के अपने हाथ की ओर ताकते और कुहनी को पहिचानते न खड़े रहिये—आखिर आपको हुआ क्या है"

इसके बाद फिर ४० वें पृष्ठ पर

"और ठीक इसके बाद उसने सहसा जाना था कि वह भीतर कहीं विचलित है, और उसकी कुहनी चुनचुना रही है, और उसका हाथ उसका अपना अवयव नहीं है और पराया विषयय है और आस-पास कुछ एक गरीब धन्धा है जिसका हल, कम से कम उस समय, उसे भूल गया है और गारत धन्धे का हल न जानने में उतनी छटपटाहट नहीं होती जितनी जानते हुए भी उस क्षण न पा सकने में

भुवन ने एक लम्बी सांस ली, फिर अपनी चढ़ी हुई आस्तीनें नीचे उतार लीं चाहे हलकी सी ठंड से बचने के लिये, चाहे कुहनी पर की छाप को छिपाने या मिटाने के लिये।"[८]

इसी तरह उस प्रसंग का वर्णन जहाँ रेखा भुवन को जानने का एक्सटासी (ectasy) देती है और स्वयं अपने को तृप्त (fulfilled) पाती है, तथा उसके हेमरेज का प्रसंग साहित्यिक क्लोजप (Close up) के उदाहरण में आ सकते हैं।[१] द्वितीय अन्तराल वाले परिच्छेद में पत्रों विविध संकलन (Permutation and Combination) के द्वारा पाठकों को उस मानसिक स्थिति तथा परिस्थिति का परिचय दिया गया है जिसमें भुवन का हृदय धीरे धीरे रेखा से हट कर गौरा की ओर अग्रसर हो रहे है, हुआ है नहीं, पर हो रहा है। यह परिच्छेद उस अवस्था का वर्णन करता है जिसे अँग्रेजी में (Process of becoming) कहेंगे और (Present continuous) के द्वारा, संस्कृत में शतृ और शानच् प्रत्ययों के द्वारा प्रगट करते हैं और ऊपर कहा ही गया है कि मनोवैज्ञानिक पद्धति का अधिक सम्बन्ध निष्ठा प्रत्यय से नहीं, (Process of being) से नहीं परन्तु (Process of becoming) से है, शतृ और शानच् से है। इस शतृ और शानच् के प्रदर्शन के लिये सिनेमा की क्लोजअप पद्धति प्रभावोत्पादक होती है जिसका साहित्यिक प्रतिरूप द्वितीय अन्तराल नामक इस परिच्छेद में पाया जाता है। इस पद्धति को देवकीनन्दन की वर्णनात्मकता, जिसमें पात्रों के क्रिया कलापों का एक पर एक अम्बार लगा रहता है, के आमने सामने

रख कर देखें तो इसका महत्त्व स्पष्ट होगा और पता चलेगा कि हिन्दी उपन्यास कितनी दूर आगे बढ़ गया है। मानव मनोवृत्ति प्रधान उपन्यास इस क्लोजअप और स्लोअप पद्धति के शिकंजे से मनोविज्ञान की अंतिम बूँद तक निचोड़ कर उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता ढूँढ़ने वाले पाठकों को अमृत की घूँट पिला कर कितनी गम्भीर तृप्ति और कितना आह्लाद प्रदान कर सकता है।

उपन्यास मे मनोवैज्ञानिक टेकनीक लाने के लिये अज्ञेय के उपन्यास मे चल-चित्र की कट बैक (Cut back) पद्धति का भी प्रयोग किया गया है। (Cut back) क्या है इसको समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये। सलीम नूरजहाँ के प्रणय के प्रारम्भिक दिनों मे उसके साथ उल्लास और महोत्सव का जीवन व्यतीत करता है। पर आगे चल कर जब नशा के उतर जाने पर सलीम में थोड़ी सी विरक्ति आ जाती है तो नूरजहाँ के मानस पटल पर वे पुराने चहल-पहल के दिन और उनकी रंगरेलियाँ बारी-बारी से आने लगती है और वे ही पुराने फिल्म दिखाये जाते है। इससे अलग शूटिंग (Shooting) के परिश्रम तथा व्यय से बचत होती है और दर्शकों का मनोरंजन भी हो जाता है। इस तरह के प्रयोग 'नदी के द्वीप' में अनेकों है। 'पहाड़ी' और 'अश्क' के उपन्यासो को भी इस पद्धति का सहारा कम नहीं मिला है। भुवन के हृदय मे जिज्ञासा है कि रेखा अपने प्रति हेमेंद्र से अलग क्यों पड गई है ? क्या कोई एडजस्टमेंट नहीं हो सकता था ? इस प्रश्न ने मानो रेखा के हृदय के दुखते घाव पर अंगुली रख कर उसको अन्दर से हिला दिया है। इस विवश, करुण और कातर मानसिक परिस्थिति मे वह उत्तर तो क्या देती पर उसकी खोई हुई दृष्टि उसी स्थिति को देख रही थी। उसी ग्लानि को मन ही मन दोहरा रही थी। बस पहले का एक दृश्य उसके मानस पटल पर छा जाता है जो डेढ़ पन्ने तक चलता रहता है।

"देर रात को हेमेन्द्र कहीं बाहर से आया था। रेखा का शरीर अलसा गया था, आँखे थकी थीं, पर वह पलङ्ग के पास ही छोटी लैम्प जलाये पढ़ रही थी। लैम्प पर हरे काँच की छतरी थी उससे छन कर आये हुये प्रकाश में रेखा का साँवला चेहरा अतिरिक्त पीला देख रहा था, बाकी कमरे मे बहुत धुँधला प्रकाश था।

हेमेन्द्र के लौटने पर उससे किसी प्रकार का दुलार या स्नेह सम्बोधन पाने की आशा उसने न जाने कब से छोड़ दी थी। वैसा कुछ उनके बीच

में नहीं था। उनके निजी जीवन मे नहीं था, यों समाज में जो रूप था पब्लिक चेहरा।

वह दूसरा था। इसलिए वह उसके लिए तैयार नहीं थी जो हुआ। हेमेन्द्र ने[१०] पीछे से आकर बड़े उतावलेपन से और बड़ी कड़ी पकड़ से उसके दोनों कन्धे पकड़े। उसे उठाते और उसके कधे के ऊपर से अपना मुँह उसके मुँह की ओर बढ़ाते हुये कहा—"मेरी जान, मेरी जान।"

किताब रेखा के हाथ से छूट गई। सारा कमरा एक बार थोड़ा डोल गया। सहसा घूम कर कुछ विमूढ़ किन्तु सायास कोमल रखे गये स्वर में उसने कहा हेमेन्द्र"[११]।

हेमेन्द्र का जैसे बिच्छू ने डङ्क मार दिया हो, वह सहसा रेखा के कधे छोड़ कर पीछे हट गया। फिर उसने कमरे की मुख्य बत्ती जला दी। थोड़ी देर अजनबी दृष्टि से देखता रहा। रेखा को परिचिद् किंचित विद्रूप भरी मुस्कराहट उसके चेहरे पर आ गई। बोला, हैलो, रेखा सारी आई एम सो लेट" और पलङ्ग के पास की खूँटी की ओर बढ़ गया।

ऐसा तो रोज होता था। पर आज रेखा यह स्वीकार न कर सकी थी। अभी क्षण भर पहिले की घटना मानो असख्य तपे हुये सुओं से उसे छेद रही थी। उसे समझना होगा, समझना होगा।

रेखा ने हाथ का काफी का प्याला रख दिया कि हाथों का काँपना न दीखे। फिर जोर से हिलाया कि यह विचार यह दृश्य उसकी आँखों के आगे से हट जाय पर नहीं

उसने भी जाकर हेमन्द्र क कध पकड़ लिये थे और पूछा था, हेमेन्द्र तुम्हें बताना होगा इसका अर्थ क्या है।

और न बताऊँ तो? वह विद्रूप की रेखा और स्पष्ट हो आई थी। फिर सहसा उसने रूखे पड़ कर रेखा को धक्का देकर पलङ्ग पर बैठाते हुये कहा था" लेकिन नहीं बता ही दूँ—रोज-रोज की झिक झिक से पिंड छूटे—पाप कटे। तो सुनो मैं तुमसे प्रेम नहीं करता, न करता था। न करूँगा।"

यह वो बताने की शायद जरूरत नहीं है। पर तब मुझसे विवाह क्यों किया था।

यह भी जानना चाहती हो अच्छा यह भी जानोगी। अब सब जानोगी तुम"।

यह सुनने के प्रश्न का उत्तर नहीं है या है! पर रेखा का मानसिक स्थिति का, उसके मानस का स्वतः प्रक्रिया जैसी अमूर्त इन्द्रिय वाय वस्तु

का मूर्तीकरण तो है ही जो मनोवैज्ञानिक उपन्यास की विशेषता है। इस पद्धति से लाभ यह होता है उपन्यास मे अंतर्दृष्टि (Inside view) की स्थापना हो जाती है। इस इनसाइड व्यू से हमारा क्या तात्पर्य है ?

आखिरकार मनोविज्ञान ने किस चीज को आविष्कृत कर हमारे औपन्यासिकों की आँखों के सामने उपस्थित किया है मानव के मनः-कूप की अतल गहराई। यही न ? हमारे औपन्यासिक जो कूप के इर्द गिर्द का ही वर्णन करके इतिकर्त्तव्यता मान लेते थे वे अब भीतर के दृश्यो की झाँकी लेने लगे है। कुछ औपन्यासिक कूप के तट पर ही बैठ कर निरीक्षण करते है कि उस गहराई से कौन सी शक्तियाँ निकल कर हमारी जीवन-परम्परा को किस तरह झकझोर देती है। और कुछ कूप की गहराई मे कूदकर हमारी दृष्टि से तिरोहित हो जाते है। ये ही अज्ञेय है और अपनी इस पद्धति के सहारे पाठकों को लिये दिये कूप की अतल गहराई मे कूद पड़ते है और वहाँ की आन्तरिकता (इन्साइड व्यू) का परिचय देने लगते हैं। पाठक पात्र की मानसिक प्रक्रिया के साक्षात् सम्पर्क मे आ जाता है।

अन्य टेकनीक

नदी के द्वीप की टेकनीक की मनोवैज्ञानिकता अन्य अनेक रूपों मे भी प्रदर्शित होती है। कथा प्रवाह मे वाक्यों को इस प्रकार रखना कि विना इन्वर्टेड कामा दिये या विना वतलाये कि अमुक ने ऐसा कहा पाठक को ज्ञात हो जाय कि ये वाक्य किसके द्वारा कहे गये है। इस पद्धति का श्रीगणेश प्रेमचंद जी ने ही कर दिया था। इस पद्धति के सैकड़ों प्रयोग शेखर और 'नदी के द्वीप' मे भरे पडे है।

'भुवन बाबू यों हक्के वक्के अपने हाथ की ओर ताकते हुये और अपनी कुहनी को पहिचानते न खडे रहिये। आखिर आपको हुआ क्या है !'[११]

स्पष्ट है कि अतिम पंक्ति रेखा ने भुवन से कही है परन्तु एक नई वात जो यहाँ पाई जाती है वह यह है कि किसी विशिष्ट भावोन्माद के अवसर पर अतीत के कुछ शब्दों और वाक्यांशों की ओर संकेत कर देना जिसके कारण भूत और वर्तमान दोनों मिलकर एक भव्यतर, सुन्दरतर और वृहत्तर वर्तमान की रचना कर सारी परिस्थिति को ज्योतिर्मय कर दे और उपन्यास का प्रत्येक छायावेष्टित हर स्थल उद्भासित हो उठे। उदाहरण के लिये २६६ पेज की कुछ पंक्तियाँ पढ़िये।

आर यू रीयल। तुम हो सचमुच हो, भुवन''''मैं तुम्हारी हूँ, भुवन मुझे लो''''रेखा, आओ'''' ''लेट अस गेट अप अर्ली टु द विनयार्ड्स: देयर विल

आई सिव दी माई लब्म 'महराज एक कि साजे एले मम हृदयपुर माझे !'
भुवन मेरी मोहलत कब तक का है ? शुभाशंसा चूमती है भाल तेरा
पगली, पगली, तुम तो चाँदनी में ही जम गई थी और तुम तुम पिघल गये थे लव मेड मी जिप्सी आउट आफ मी लजाती हो मुझसे ? अब तुमसे नहीं तो और किससे लजाऊँगी वेट विदाउट होप, फार होप बुड बी होप आफ द राग थिंग देने की किछा ताखा आमाय देवे कि एकटि धारे एक अद्भुत भाव उसके मन म भर गया, जिसमें वात्सल्य भी था, करुणा भी थी, एक आतुर उत्कंठा भी और एक बहुत हल्की-सी जुगुप्सा भी। न मैं कुछ माँगूगी नहीं ! तुम्हारे जीवन की बाधा नहीं बनूँगी, उलझन भी न बनूँगी। सुन्दर से डरो मत लेकिन भुवन, मुझे अगर तुमने प्यार किया है, तो प्यार करते रहना—मेरी यह कुंठित बुझी हुई आत्मा स्नेह की गरमाई चाहती है कि फिर अपना आकार पा सके, सुन्दर, मुक्त, ऊर्ध्वाकांक्षी।[१२]

'नदी के द्वीप' में ऐसे एक नहीं दर्जन छोटे बड़े स्थल मिलेंगे।

टेकनीक की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' हिन्दी उपन्यासों की श्रेणी में अद्वितीय है, उसकी विशिष्टता की समता कोई अन्य उपन्यास नहीं कर सकता इसमें मानो जीवन रूपी मृग को पकड़ने के लिये अनेकों प्रकार के जटिल जाल बिछाये गये हैं। उपन्यासकार ने सब तरह के कौशल से काम लिया है, और अनुभवों से लाभ उठाया है। साथ ही अपने मौलिक साधनों का भी प्रयोग किया है।

यहाँ जैनेन्द्र को सामने रख कर अज्ञेय की कला को स्पष्टतर रूप से देखा जा सकता है। दोनों का उद्देश्य मानव है, जीवन है, मनोविज्ञान है। दोनों इन्हें पकड़ में लाना चाहते हैं। पर जैनेन्द्र साँस रोक कर चुपचाप छिपे बैठे रह कर उचित अवसर की ताक में रहते हैं, शिकार दृष्टिपथ में आया नहीं कि उस पर कूद पड़ते हैं। पर अज्ञेय बाक़ायदे घेरा डाल कर उसे पकड़ते हैं। अंग्रेजी के माध्यम से कह सकते हैं कि The method of Jainendra is to lie in ambush for life, the method of Agneya is to lay a regular siege to it चूँकि अज्ञेय चारों ओर से बाक़ायदे नाकेबन्दी करते हैं, घेरा डालते हैं। अत उन्हें हर प्रकार के कौशल से काम निकालना पड़ता है, साम, दाम, दण्ड और विभेद तथा छलबल और कल से। जेम्स ज्वायस की उपन्यास-कला की विशेष विवेचना करते हुए Harry Levin ने कहा है कि जेम्स के उपन्यास के रूप विधान में युग के सारतत्व का रहस्य

घोल उठा है। चलचित्र की Montage, चित्रकला का impressionism, संगीत का Leit motif, मनोविश्लेषण की स्वतन्त्र चेतना साहचर्य पद्धति तथा दर्शन से Vitalism। हम सबों से कुछ अंश लेकर तथा अपनी ओर से कुछ और जोड़ कर एक मिश्रण घोल तैयार कीजिये और यही युलिसिस की कला होगी।* यही बात अज्ञेय के बारे मे लागू होती है।

पाद टिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य, इस निबंध का १३वाँ परिच्छेद

२. अयुत सिद्धावयव-ऐसी वस्तु, को कहते हैं जिसके अवयव पृथक रह कर सजीव नहीं रह सकते जैसे शरीर से पृथक हो कर हाथ जीवित नहीं रह सकता।

३. समरथ बड़ो सुजान सुसाहब, सुकृत सेन हारत जितई है।
सुजन सुभाव सराहत सादर, अनायास सांसति बितई है, विनय पत्रिका १३६

४. The twentieth Century Novel, J. W. Beach P. 184.

५. यह सांझ उषा का आँगन, आलिंगन विरह मिलन का
चिर हासाश्रु मय आनन रे इस मानव जीवन का गुंजन

६. नदी के द्वीप, प्रथमावृत्ति १९५१ ७. वही, पृ० ४ ८. वही पृ० ४०

९. वही, 'रेखा' नामक परिच्छेद पृ० २५३, ३२२ १० वही, पृ० १४५-४६

११. वहीं, पृ० ४ १२. वहीं, पृ० २६९।

---

*Thus the very form of Joyce's book is illusive and eclective summa of its age, the montage of cinema, impressionism of painting, leit motif in music, the free association of psycho analysis and vitalism in philosophy, Take of these elements all that is fusible, and perhaps more, and you have the style of Ullysis

नवम् अध्याय

अज्ञेय की कहानियो मे मनोविज्ञान

प्राक्कथन]

अज्ञेय की कहानियाँ भी आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में अपना विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। सख्या की दृष्टि से नहीं परन्तु विषय निर्वाचन तथा उनके प्रतिपादन और टेकनीक की दृष्टि से। सब मिलाकर उनकी कहानियों की सख्या ७० से ज्यादा नहीं होगी। पर किसी साहित्य-स्रष्टा का महत्व सख्या के मापदड से निर्धारित किया जाय यह तो कभी भी स्वीकार नहीं किया गया है। पौरात्य या पाश्चात साहित्य में ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं जहाँ एक ही कहानी या कविता ने प्रणेता को अमर कर दिया है। अज्ञेय की कहानियों को तीन श्रेणियों म विभक्त किया जा सकता है १ क्रान्तिकारी जीवन से सबधित २ प्रेम सबधी ३ मनोवैज्ञानिक जिनमें पात्रों की चित्तवृत्ति अथवा उनकी आन्तरिक अनुभूति की विस्तृत विवृत्ति की चेष्टा की गई। प्रथम दो श्रेणियों की कहानियाँ अज्ञेय के प्रथम कहानी सग्रह "विपथगा" में पायी जाती हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि लेखक पर दो बातों का प्रभाव है, रूस की जारशाही के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति करने वाले जीवन का तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को नष्ट-भ्रष्ट कर देने की प्रतिज्ञा करने वाले गुप्त षड्यन्त्रकारियों का। साम्यवाद के साथ भी लेखक में सहानुभूति है। इन्हीं के आधार पर मनुष्य की मनोवैज्ञानिक पचीदगियों के वर्णन करने का उपक्रम इनकी कहानियों में किया गया है। यद्यपि "विपथगा" की कहानियों के पाठक पर यह सस्कार जमे बिना नहीं रहता कि वह प्रेमचन्द, कौशिक तथा प्रसाद के ढग पर लिखी गई कहानियों के सम्पर्क में न आकर उसे कुछ और ही तरह की कहानियाँ पढ़ने को मिल रही हैं पर फिर भी ये कहानियाँ प्राचीन रग से सर्वथा मुक्त नहीं। उनमें अभी भी वर्णनात्मकता तथा कथात्मकता के प्रति मोह है। लेखक कथा कहना चाहता है और कथा कह कर पाठकों की कौतूहल वृत्ति को सतुष्ट करना चाहता है। "विपथगा" की जितनी कहानियाँ हैं उनके कथा-भाग को सक्षेप में कह देना कठिन नहीं है, केवल इसलिए कि उनमे कहानी पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। पात्र अन्तर्जगत में ही रमने तथा तल्लीन होने

बजाय बहिर्जगत, कार्य-संकुल कोलाहल पूर्ण जगत मे भी आते-जाते दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु अपने दूसरे कहानी संग्रह "कोठरी की बात" मे आते-आते अज्ञेय अनुचिन्तन के क्षेत्र मे निश्चित रूप मे प्रवेश कर गये है और 'परम्परा' तथा 'जयदोल' मे आकर तो मानो वहीं आसन जमा कर बैठ गये हैं। मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से 'परम्परा' और 'जयदोल' कहानियाँ हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु है।

हिंदी कहानी : अज्ञेय और जैनेन्द्र के पूर्व। घटनाओं की अनगढ़ स्थूलता।

इस कथन के पूरे मर्म को समझने के लिए प्रेमचन्द जी तक और जैनेन्द्र तथा अज्ञेय के हिन्दी कथाक्षेत्र मे आगमन के पूर्व तक कहानियों की क्या अवस्था थी यह समझ लेना आवश्यक है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक मे प्रकाशित 'दुलाई वाली' को, 'इन्दु' मे प्रकाशित प्रसाद जी की कहानियों तथा बाद मे प्रेमचन्द, सुदर्शन कौशिक इत्यादि की कहानियो को पढ़ने से दो बाते स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथमतः यह कि इन कहानियों का उजीव्य, मूलाधार, विपय तथा वक्तव्य बहुत अंश मे वैसा ही है जैसा खत्री जी, गोस्वामी जी या गहमरी जी की कथाओं का हुआ करता था। इनमे विमर्शहीन क्रिया-कलापों तथा आश्चर्यमयी एवं कौतूहल-प्रद घटनाओ की योजना के प्रति मोह था। इनमें क्रिया-कलापों की जो योजना रहती थी वह क्रिया-कलापों की योजना मात्र के लिए ही होती थी जिस तरह कला के क्षेत्र मे आज भी कुछ लोग कला कला के लिए ही मानते हैं। इनमें पात्रों के बाह्य क्रिया-कलापों के अकाण्ड ताण्डवो को असंस्कृत कच्ची सामग्री के रूप मे आयोजित कर रख देने की प्रवृत्ति थी। उनमे जो कुछ भी होता था, जो कुछ भी घटनाएँ घटती थीं वे बड़े ही बेढंगे, उद्धत, उग्र तथा आक्रमणात्मक रूप मे होती थी मानो वे हुई तो हो ही गई, उन्हे होना है, वे हुई हैं, उन्हे किसी तरह का प्रतिबंध स्वीकार नहीं।

वे अपनी हठवादी उद्दामता मे सारी दुनिया को रौंदती हुई यहाँ तक कि उस मानव को भी रौंदती हुई जिसके माध्यम से उनका परिस्फुटन हो रहा है—आगे बढ़ेगी। क्रियाओं का यह रूप उपन्यासों मे अत्यन्त ही उग्र है, गाढ़ा है तथा स्थूल है और उनकी अपील व्यक्ति के दार्ढ्य के उस स्तर के प्रति होती है जहाँ चेतना जडता की सीमा को पार कर जाने पर भी उसके प्रभाव क्षेत्र से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकी है। चूँकि पाठक के व्यक्तित्व का वह स्तर जो बाहर ही है अतः सुप्राप्य, सुगम्य 'सुपर्हुच्य' है वहाँ जाकर

इन उपन्यासों के क्रिया कलापों की सुदृढ़ता टकराती है, अत पाठकों का इनसे अपूर्व मनोरञ्जन होता है। दो स्थूलताओं की टकराहट से उत्पन्न भीषण रव सारे वातावरण को आच्छादित कर देता है और पाठक इस तरह से उससे प्रभावित होता है कि इस प्रवेग म उसका तादात्मीकरण सा ही हो जाता है। उसका आन्तरिकता इस तरह खिच जाती है कि वह व्यक्ति न रह कर उस वातावरण का ही एक अश हो जाता है। यह प्रवृत्ति उप न्यासों में अपनी चरम सीमा पर है पर कहानियों में इसकी उग्रता उतनी नहीं दीख पड़ती। एक ता कहानियाँ बीसवीं शताब्दी के पूर्व अर्थात् प्रसाद और प्रेमचन्द के पूर्व लिखी ही कम गई थीं। कारण अनेक हो सकते हैं उनको ढूँढना एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय हो सकता है। पर एक कारण तो यह स्पष्ट ही मालूम पड़ता है कि उस समय तक कला में उतना कौशल नहीं आ सका था कि वह क्रिया कलापों के बाह्य स्थूलाकार दार्ढ्य को कहानियों की लघु सीमा में बाँध कर रख सके। मानो उनकी लम्बी चौड़ी बृहदाकार स्थूलता को सभालने के लिये उपन्यासों की विस्तृत सीमा की अपेक्षा हो।

जो हो, इतना अवश्य है कि कहानियों म क्रिया-कलापों की उग्र दृढ़ता उनकी स्थूलता की चोट बेतरह महसूस नहीं होती। महसूस नहीं होने का मतलब केवल इतना ही कि कहानियों के आकारलाघव के कारण हमारे मन को अधिक दूर तक परिभ्रमण करने और उन पर अधिक देर तक टिके रहने की आवश्यकता नहीं रहती। एक छोटे पत्थर के टुकड़े और एक चट्टान का रास समझिये। छोटा ठीकरा भी अपनी सीमा में कम कठिन, कम दृढ़ या कम स्थूल नहीं पर वह हमारी राह नहीं रोकता, हम उसे रौंदते हुए अपने मार्ग पर चले जाते हैं पर चट्टान तो मार्ग म बाधा बनकर खड़ा हो जाता है। उसकी मगरूरता, उसका हठ धर्मित्व हमें संघर्ष के लिए लल-कारता है। अत उसकी ओर ध्यान जाना अवश्यभावी हो जाता है। इस दृष्टि से कहानी एक पत्थल की छोटी कँकड़ी है जो आँखों म पड़े तभी बेचैन करता है पर प्राय पड़ती नहीं। पर उपन्यास हमारे नेत्रों में पड़ता ही भर नहीं। वह ता चट्टान का तरह अपनी स्थूल गौरव-गर्विता के साथ खड़ा हो जाता है और कहता है कि "रास्ता रोक कर कह लूँगा जो कहना होगा।" यही हिन्दी क प्रारम्भिक युग में कहानियों की विरलता का कारण है। गह-मरी जी क नाम से कुछ कहानियाँ तो पाई भी जाती हैं पर खत्री जी की लिखी शायद ही किसी कहानी का चर्चा किसी ने की हो।

चना-पद्धति मे आकस्मिकता का आधिक्य।

वर्ण्य-वस्तु से ध्यान हटा कर जब हम कहानियों की रचना-पद्धति पर विचार करते हैं तो उनमे आकस्मिकता का (Surprise) चमत्कार विशेष रूप मे पाया जाता है। कहानी प्रारम्भ हुई, अपनी स्वाभाविक गति से एक स्थान पर पहुँची। एक समस्या का सूत्रपात्र हुआ, एक रहस्य की सृष्टि हुई तब तक लेखक एक ऐसी बात का उल्लेख कर देगा कि कथा-प्रवाह एक दम उल्टी दिशा की ओर मुड़ कर समाप्त हो जायेगा। 'दुलाई वाली' कहानी में क्या है यही न कि एक सज्जन दुलाई मे ढकी एक नारी को देख कर एक साधारण नारी समझते है पर घूँघट उठा कर देखते है तो अरे! यह क्या? यह तो और कोई नहीं उनका ही छद्म वेशधारी हास्यकौतुकप्रिय मित्र है। कौशिक जी की 'ताई' या 'रक्षाबन्धन' मे, प्रेमचन्द जी की अधिकाश कहानियों मे भावों और संघर्ष की मात्रा अवश्य है पर वहाँ चमत्कार की महिमा भी अपने गौरव पर स्थित है। प्रसाद के पुरस्कार मे हम देखते ही रह जाते है और दाँतों तले उगली दबा कर देखते है कि अरे यह कैसी नारी है कि एक ओर राजकुमार के प्राणदंड की सजा दिलाने मे उसी का सबसे बड़ा हाथ है। पर वही नारी पुरस्कार के नाम पर यही प्रार्थना करती है कि इस नवयुवक के साथ उसे भी फाँसी मिले। कहानियों मे प्रसाद जी को प्रेमचन्द तथा अपने समकालीन अन्य लेखकों से भी अधिक मनोवैज्ञानिकता लाने का श्रेय मिला है। उनमे मनोवृत्तियों का 'सूक्ष्म निरीक्षण', मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और दार्शनिक तथ्य की अभिव्यक्ति बहुत ही सुन्दर और उच्च कोटि की बन पड़ी है। पर उनमे चमत्कारिकता के झकोर का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा मे वर्त्तमान है। गूदड़ साई, अकाश दीप, बनजारा, इत्यादि कहानियाँ मेरी इस बात को प्रमाणित करेगी। कौशिक जी की 'ताई' मे एक संतान हीन माता के मनोविज्ञान तथा उसकी विचार धारा का बहुत ही अच्छा वर्णन है। पर उस लड़के के छत पर से गिरने वाली घटना तो 'ताई' के मनाभावों के परिवर्तित कर देने मे वही काम करती है, जो पूर्व के कथाकारों के तिलस्म या जादू की पुडिया करती थी।

'रक्षाबन्धन' तो अपनी कहानी मे आकस्मिकता का सर्वोत्तम उदाहरण है। घनश्याम पाँच-सात वर्षों से अपनी माता और बहन की खोज में व्याकुल है पर उनका पता नहीं चलता। पर एक दिन अपने विवाह के सिलसिले में एक गरीबिनी की कन्या को देखने जाता है तो पाता है कि यह तो उसी की माता और बहन है जिन्हें वह ढूँढ कर थक चुका था। सुदर्शन **की प्रसिद्ध**

कहानी 'हार की जीत' तो मानो आकस्मिकता के चमत्कार की पुड़िया ही है। बाबा भारती का एक वाक्य कि मेरी प्रार्थना केवल यह है कि "इस घटना को किसी के सामने प्रगट न करना। लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे" डाकू के हृदय के पत्थर को मोम बना कर पिघला देता है और उसका काया कल्प ही हो जाता है। प्रेमचन्द की सब कहानियों में तो नहीं पर अनेक में इसी टेकनीक का प्रयोग पाया जाता है। 'बोला' 'सुजान भगत' इत्यादि कहानियाँ इस कथन के प्रमाण के रूप में उपस्थित की जा सकती हैं।

सच पूछा जाय तो, कहानी कला के विकास क्रम की तत्कालीन अवस्था में इस चमत्कार वादिता की प्रधानता स्वाभाविक थी यह हमारे प्रारम्भिक युग का प्रवृत्ति का संस्कृत रूप है जो लख लखा सुघा कर लोगों को चेतना शून्य कर देती थी अथवा ताली बजाते ही हमारी आँखों के सामने मैत्री खजाने का खोल सकती थी, राह में पड़े मुर्दों या किसी पुराने खंडहर में सजा कर रखी मूर्तियों से तलवार चलवा सकती था। उस युग के विश्वासी और आस्थावान हृदय के लिये किसी सभव या असभव बात में विश्वास कर लेना कठिन नहीं था। पर समय के विकास के साथ जब लोगों का विश्वास हिलने लगा तो कथाकारों की ओर से ऐसी घटनाओं की योजना होने लगी जो पाठकों को हैरत से दग कर देने की सीमा पास पहुँचा देने पर भी बौद्धिकता की सीमा का अतिक्रमण नहीं करने पावे, किसी न किसी तरह उनकी युक्ति युक्त और तर्क सम्मत सगति बैठाई जा सके। यही जासूसी कहानियों का युग है और गहमरी जी की मालगोदाम की चोरी जैसी कहानियाँ इसी समय लिखी गई थीं।

इसके बाद वह युग आता है जिसमें आकस्मिकता की झंकार को लेकर चलने वाली कहानियों का प्रणयन हुआ। इस आकस्मिकता का समावेश और कुछ नहीं बुद्धि को चकाचौंध कर देने वाली, चुनौती सी देने वाली कहानियों का ही थोड़ा परिमार्जित रूप था। इनमें मानवता अधिक आई, इन्होंने मनुष्य से अधिक सामीप्य का नाता स्थापित किया। एक विद्वान ने लिखा है कि "Our reasonable age wishes to be convinced as well as bewitched"[1] अर्थात् हमारे बौद्धिक युग की विशेषता है कि बुद्धिसंतोष की माग तो करती है, पर हमारे अन्दर इन्द्रजाल को पसंद करने वाली वृत्ति भी वर्त्तमान है। अत पाठकों के मनोविज्ञान की माग के फलस्वरूप आश्वस्त (Convinced) होने के साथ, बौद्धिक आश्वासन के साथ इन्द्रजालित होने की

छिपी भावना के परिणामस्वरूप आकस्मिकता को लेकर चलने वाली कहा
का निर्माण हुआ। कहानियों का वातावरण सामाजिक हो चला
जितनी कहानियाँ लिखी जाती थी उनमे सामाजिक समस्याओं का जीव
दैनिक सुख दुख का समावेश हो चला था—हमारे आधिभौतिक
आध्यात्मिक जीवन को प्रभावित करने वाले रागविरागपूर्ण अन्तर्द्वन्द्व ने
क्षेत्र मे साधिकार प्रवेश किया था। इस रूप मे कथा ने युग की बौद्धि
और यथार्थवादिता के साथ समझौता किया; मानव बुद्धि का उसे स
प्राप्त हो सका। परन्तु कथा ने आकस्मिकता का भी साथ नहीं छोडा क
वह जानती थी कि इस बौद्धिक झीने आवरण के नीचे मानव की
जालिकता का स्तर विराजमान है, जिसकी अवहेलना कम से कम उस
तक संभव नहीं थी। अतः स्थूल और उग्र चमत्कार के उबड़-खाबड़
चुभने वाले अंश का संशोधन कर इस आकस्मिकता के साफ सुथरे र
कला ने उसे उपस्थित करने का उपक्रम किया।

कौशिक जी के 'स्वाभिमानी नमक हलाल' नामक कहानी के उदा
से इस वक्तव्य को समझने में सहायता मिलेगी। सेठ छागामल के मरणो
भी वृद्ध मुनीम मटरूमल जी नवयुवक स्वामी चुन्नूमल की सेवा में कुछ
लगे रहे पर उसके असद्व्यवहार से आहत होकर उनके स्वाभिमान ने न
से अलग हो जाने के लिये प्रेरित किया। उनके अलग होते ही सारे का
मे अव्यवस्था फैल गई और अन्त में यह अवस्था भी आ गई कि दो लार
हुंडी का भुगतान सर पर, रुपया पास नहीं। तत्काल व्यवस्था हो जा
भी आशा नहीं। भय है कि फर्म दिवालिया न घोषित कर दिया जाय
चार दिन किसी तरह भुगतान की बात टल जाय तो कोई बात न
अन्त मे मटरूमल जी को अनुनय विनय कर बुलाया गया। वे आये। व
की सर्दी पड़ रही थी। दहकते हुए कोयले वाली अंगीठी मे हाथ सेक
ज्योंही वे उसे पढ़ते हैं कि हुंडी आग पर गिर भस्मसात् हो गई। बस,
संकट टल गया। अब हुंडी की नकल दो तीन दिन मे आती रहेगी
तक तो रुपयों का इन्तजाम हो ही जायेगा।

थोड़ा सा विचार करने पर यह मालूम हो जायेगा कि हुंडी का अ
गिर कर जल जाना, इसी तरह अनेक कहानियों मे किसी दो बिछुडे सं
का अचानक मिल जाना, किसी गुप्त पत्र का रहस्योद्घाटन हो जाना,
समस्या का विचित्र ढंग से हल हो जाना, किसी मृत समझे जाने वाले
का प्रगट हो जाना, ठीक समय किसी रहस्यात्मक ढंग से किसी संब

'मनोहर कहानियाँ' जैसी पल्प (Pulp), सस्ती पत्रिकाओं मे प्रकाशित होने वाली कथायें वही काम कर रही है जो गहमरी जी की रचनाएँ करती थीं।

इन कहानियों में तथा प्रेमचन्द, प्रसाद आदि जैसे कथाकारों की रचनाओं मे मुख्य अन्तर यही है कि ये जनता की चटपटी, चटखारें लेने वाली सस्ती जिह्वालोलुप प्रवृत्ति के तोष के लिये खपत की दृष्टि मे लिखी गई हैं। अत: इनमें मात्र यान्त्रिक जोड तोड़ रहती है, इनमे निर्जीव रूप मे घटना-क्रम को बढ़ा दिया जाता है जिसमे मनोवैज्ञानिकता आ ही नहीं सकती। लेखक आकाश और पाताल के कुलावे को एक कर देने में इतना व्यस्त रहता है। कि उसकी सारी शक्ति बाहरी तिकडम मे निःशेष हो जाती है और आन्तरिकता या मनोवैज्ञानिकता के अभाव में सस्ती यन्त्र संचालित काँट-छाँट ही प्रधान रूप धारण कर लेती है। परन्तु प्रेमचन्द, प्रसाद की रचनाओं का उद्देश्य कुछ और महत्वपूर्ण होता है। उनकी सचेष्ट प्रतिभा अपना विस्तार पाठकों पर सौंदर्यमूलक प्रभाव की छाप छोडने के लिए करती है। वे चैतन्य कलाकार हैं और उनकी रचनाओं का प्रत्येक अंश उनकी भावनाओं से ओत-प्रोत है, उनके एक-एक अक्षरों मे उनकी भावात्मक सत्ता विराजमान है। परिणाम यह होता है कि इन कहानियों मे सस्ती पत्रिकाओं (Pulp-Magazines) वाली कहानियों की तरह मनोवैज्ञानिक शून्यता मेही रूप धारण करने वाली स्थूलता से होकर थोडी सी मनोवैज्ञानिक तरलता झाँकने लगती है। इन मे पात्रों के आन्तरिक राग-विराग जो हमारे ही किसी दोष के कारण हम से दूरस्थ थे अधिक समीप आने लगते है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इन कहानियों का यही महत्व है।

कहानियों मे अन्तर्द्वन्द्व :--

आलोचकों के द्वारा प्रसाद, प्रेमचन्द, सुदर्शन, कौशिक की रचनाओं में तथा तत्कालीन कथा साहित्य मे अभिव्यक्त अन्तर्द्वन्द्व की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया गया है। यह कहा गया है कि दो विपरीत भावों और विचारों के एक साथ ही मानव हृदय पर अधिकार कर लेने के कारण जो संघर्ष, विकल्प, असमंजस, अन्तर्मथन का दृश्य उपस्थित होता है, एक व्याकुलता और बेचैनी से 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावता' उत्पन्न हो जाती है उसकी विवृत्ति इन लोगों के कथा-साहित्य की मुख्य विशेषता है। न्याय के आसन से अपने अपराधी पुत्र के लिये प्राणदंड विधान करते समय पिता के

हृदय में कौन से भावों का खींचातानी होती है इस मानसिक स्थिति का चित्रण इनके साहित्य का प्रधान कंठस्वर है। ध्यान से देखा जाय तो मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से यह आकस्मिकता से अपेक्षाकृत अधिक उच्चतर और महत्तर सूक्ष्मतर कोटि की वस्तु है। यों तो इस युग की कहानियों में आकस्मिक तत्व की सत्ता प्राप्त होती ही है। पर एक बात भी स्पष्ट है कि जिन कहानियों में इस मानसिक संघर्ष तथा हृदय के अन्तर्द्वन्द्व का समावेश अधिक हो सका है उनमें इस तत्व की स्थूलता कम होती गई है। यह तत्व अपने रौद्र और अपने वीभत्स रूप में ललकार कर हमारे सामने अपनी सत्ता की घोषणा करता उपस्थित नहीं होता।

अन्तर्द्वन्द्व के समावेश की दृष्टि से प्रसाद जी की कहानियाँ अपने युग में अद्वितीय है। कालक्रम के अनुसार भी हिन्दी कहानियों के निर्माताओं में उनका नाम बहुत पहले आता है पर कवित्व पूर्ण वर्णन शैली, अर्थ-गाम्भीर्य और चरित्र चित्रण की सजीवता में, सब से ऊपर मानसिक संघर्ष विवृत्ति में भी कोई उनकी तुलना नहीं कर सकता। आधुनिक कहानीकार अज्ञेय में भी सजीव चित्रांकन तथा मानव के अन्तस्थ मानसिक हलचलों का वर्णन है। पर प्रसाद तथा अज्ञेय के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के वर्णन में अन्तर है। मालूम होता है इन दोनों कहानीकारों में मानसिक संघर्ष सम्बन्धी मूल विचारों में भेद है। एक अन्तर्द्वन्द्व या संघर्ष को जिस अर्थ में लेता है दूसरा उससे भिन्न रूप में ग्रहण करता है। संघर्ष (Conflict) अपने मौलिक रूप में नाट्य कला का शब्द है और जब हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारी कल्पना के सामने समान शक्ति सम्पन्न परस्पर विरोधी भावसेना रहती है जो या तो युद्ध के लिये एक दूसरे को ललकार रहा है या केशाकेशि, दण्डादण्डि, हस्ताहस्ति युद्ध में प्रवृत्त है। इस में कर्म व्यतिहार की ध्वनि रहती है, इसमें क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के वृत्त की स्थापना का भाव रहता है। इसमें दो पक्षों का मैदान में डटे रहना आवश्यक है और दोनों का तुल्यबल समन्वित रहना, न कम न अधिक। यहाँ पर दो की स्थिति में ही ताली बजती है अन्यथा नहीं।

पर संघर्ष की कल्पना दूसरे रूप में भी की जा सकती है। हम संघर्ष को in terms of single line or direction अर्थात् एक ओर से चलती सीधी रेखा के रूप में भी देख सकते हैं। कहने का अर्थ यह है कि मानसिक संघर्ष का चित्रण ऐसे रूप में भी उपस्थित किया जा सकता है कि ऐसा मालूम हो कि जिस व्यक्ति में संघर्ष का चित्रण किया जा रहा है, वह इस लिये नहीं

है कि कोई विरोधी परिस्थिति, घटना उसको प्रेरणा दे रही है या उसका रही है जिसके अभाव में इसका अविर्भाव संभव न था। गीता में अर्जुन के मानसिक संघर्ष का वर्णन अवश्य है। पर आप ध्यानपूर्वक देखें तो उसका अन्तर्द्वन्द्व धृतराष्ट के इस प्रश्न का उत्तर है।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सव: ।
मामका: पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।।[३]

यहाँ युयुत्सुओं के दो समान प्रबल पक्ष हैं। मामका: (कौरवा:) और पाडवा: अर्थात् अर्जुन के हृदय मे जो वैकलव्य, दौर्बल्य, विकल्प उत्पन्न हुआ वह "सेनयोरुभयोमध्ये" रथ-स्थापन के कारण हुआ अन्यथा नहीं भी उत्पन्न हो सकता था। दूसरे शब्दो मे अर्जुन का संघर्ष स्वभावज, सहज नहीं था, उसके फितरत का जुज नहीं, परिस्थिति जन्य उपाधि था। सामने चुम्बक था और उसी के प्रभाव के कारण अर्जुन के हृदय की प्रवृति रूपी चूर्णों में हलचल, एक आन्दोलन और आकर्षण प्रत्याकर्षण, का दृश्य उपस्थित हो गया था। उसके अलग हो जाने पर या रहते हुये भी उसकी शक्ति को क्षीण कर देने पर हृदय में जरा भी स्पन्दन न होता और यही हुआ भी। जब कृष्ण के गीतोपदेशामृत ने युद्धजन्य विभीषिका को दूर कर दिया उसी समय उसका मानसिक संघर्ष भी शान्त हो गया। यह both ways traffic था। दोनों ओर से आने-जाने वाला यातायात व्यपार था। लोग दोनों ओर से आते जाते थे, कोई रोक न थी। अतः टकराहट हो जाती थी और संघर्ष का दृश्य उपस्थित हो जाता था। यह परिस्थितिजन्य है। पर जहाँ one way traffic हो अर्थात् यातायात व्यापार निश्चित हो, जाने का पथ अलग और आने का पथ अलग और इस अवस्था में भी सघर्ष हो जाता हो तो यह स्वाभाविक होगा, व्यक्ति की किसी आन्तरिक-लाचारी के परिणाम स्वरूप होगा। मेरे कहने का अर्थ यह है कि आधुनिक तम कहानियों में मानव के अन्तर्द्वन्द्व का, मनोवैज्ञानिक घूर्णन, प्रतिघूर्णन के इस एक तरफे पहलू को भी, one way traffic वाले रूप को भी प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति आ रही है और इस प्रवृत्ति की जड़ यदि हिन्दी कथा साहित्य में जम सकी तो उसका श्रेय अज्ञेय को होगा।

प्रसाद और अज्ञेय द्वारा चित्रित अंतर्द्वन्द्व में अंतर, एक परिस्थितिक उपाधि, दूसरा अंतर की उत्प्रेरणा

प्रसाद की कहानियों से उदाहरण

प्रसाद जी की दो कहानियों के विश्लेषण से और अज्ञेय जी की कुछ

कहानियों के अध्ययन से पूर्वालिखित दृष्टि बिन्दु की सूक्ष्मता को हृदयगम करने में सुविधा होगी। प्रसाद जी की एक प्रसिद्ध कहानी है, आकाशद्वीप। कहानी संक्षेप में यों है। चम्पा के पिता अपने स्वामी वणिक मणिभद्र की रक्षा समुद्री डाकू बुद्धगुप्त से करते हुए जल समाधि को प्राप्त होते हैं। बुद्धगुप्त बन्दी हो जाता है पर शीघ्र ही चम्पा को भी बन्दी बनकर बुद्धगुप्त के समीप रहना पड़ता है क्योंकि वह मणिभद्र के प्रणय प्रस्ताव को ठुकरा देती है एक घोर अँधेरी तथा गर्जनतर्जन पूर्ण रजनी में ये दोनों बन्दी पारस्परिक सहायता से मुक्त होते हैं और परिणाम स्वरूप मणिभद्र को ही बुद्धगुप्त का बन्दी होना पड़ता है। आँधी और तूफान से बहती हुई नाव एक द्वीप के किनारे जा लगती है। बुद्धगुप्त के जीवन में महान क्रान्ति होती है। वह साधारण जल दस्यु न रह कर चम्पा द्वीप का समृद्ध वाणिज्या-धिकारी हो जाता है और चम्पा तो चम्पा की रानी ही कहलाती है। दोनों का जीवन बड़ा प्रेम पूर्वक व्यतीत होता चला जा रहा है, कहीं किसी तरह का दुराव नहीं दीख पड़ता। चम्पा बुद्धगुप्त को प्राणपण से प्यार करती है पर उसके हृदय के किसी अज्ञात कोने में उसके लिये भयानक घृणा के भाव भी वर्तमान है। हृदय की इस ग्रंथि को निकाल देना चम्पा के लिये कठिन है कि आखिर कार बुद्धगुप्त हैं तो उसके पिता का घातक ही न। यहाँ तक कि वह यथावसर प्रतिशोध के लिये अपनी कचुकी में छिपाकर कृपाण भी रखती है। चम्पा का सारा जीवन दो विपरीत भावनाओं का अन्तर्द्वंद के बीच ही व्यतीत होता है। इन दोनों पक्षों में कोई निर्बल नहीं है, दोनों समान शक्ति सम्पन्न हैं।

चम्पा के हृदय में बुद्धगुप्त के सौजन्य, उदाराशयता तथा प्रणयातुर व्यवहार के प्रति आकर्षण मोह और करुणा के भाव जाग्रत हैं तो अपने पितृहंता के प्रति घृणा, प्रतिहिंसा और उसे भस्मसात् कर देने वाले आग्नेय भाव की उग्रता भी कम नहीं है। कभी एक प्रकार के भाव आकर उसके हृदय को आच्छादित कर देते हैं तो कभी दूसरे प्रकार के भावों की आँधी उन्हें छिन्न भिन्न कर देती है। एक बार चम्पा कहती है "मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ" अंधेर है जलदस्यु। मैं तुम्हें प्यार करती हूँ" संस्कृत के आलंकारिक कहते हैं कि दो यन् भावों को एक ही आश्रयस्थ भी आलम्बनजन्य रूप में चित्रित करने पर साहित्यकार को आश्रय विरोध अथवा आलम्बन विरोध दोष से लांछित होना पड़ेगा। पर प्रसाद को नैपुण्य इसी में है कि उन्होंने ऐसा मनोवैज्ञानिक

वातावरण उपस्थित कर दिया है कि यहाँ इस तरह की शंका की गुन्जाइश ही नहीं रहती और इन विपरीत भावों का उत्थान और पतन पूर्णरूपेण स्वाभाविक मालूम पड़ता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक तो ambivalent प्रवृत्तियों की दुहाई देकर या यह कहकर कि प्रेम और घृणा के भाव अपने मूल रूप मे एक ही हैं इस तरह की असंगति की सफाई दे देगा। पर प्रसाद के साहित्य को शायद इस दृष्टि से देखना ठीक न होगा। हालाकि कोई आलोचक यह बात कहे भी तो इसे अनर्गल प्रलाप कह कर हम टाल नहीं दे सकते।

इस कहानी के विश्लेषण से भावों के संघर्ष का वह रूप स्पष्ट हुआ होगा जिसे हमने ऊपर दोनों ओर से आगमन और प्रत्यागमन both ways traffic वाला रूप कहा है, जिसमे दो विपरीत भावो की मुठभेड़ से क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के आवर्तन उपस्थित होते रहते है। दोनों ओर से उमड़ती हुई तरंगों के आघात प्रतिघात के कारण मानव हृदय महाभारत का कुरुक्षेत्र बन जाता है और अस्त्रों की झंकार, शस्त्रो की टंकार और योद्धाओं की दर्प-पूर्ण ललकार से सारा वातावरण पूर्ण हो जाता है। पर संघर्ष का एक और सूक्ष्म रूप हो सकता है। मेघावर्त्त का गर्जन तर्जन न हो, विद्युत् संघात का कर्ण विदारक निर्घोष न हो, दो विरोधी दलों की रस्सा-कस्सी (Tug of war) का स्थूल दृश्य उपस्थित न करता हो पर मंद गति से, स्वतः प्रेरित, स्वयंचालित, किसी अज्ञात प्रेरणा के बल पर पृथ्वी की छाती को फाड कर शनैः शनैः उगने वाले बीजाकुर के रूप मे हो। वह इसलिये हो कि वही उसका धर्म है, वह इस रूप मे न रह कर है ही नहीं। हवा मे मुक्का मारने या अपनी ही छाया से लठैती करने वाली बात वाह्य जगत मे कुछ वेतुकी सी अवश्य लगे पर अज्ञेय की कहानियों के पात्रों मे जो संघर्ष है वह कुछ इस तरह अहेतुक रूप मे चित्रित हुआ है, कुछ इस एकागी, एकपक्षीय रूप मे विरोधी वातावरण के अभाव मे भी स्वयमेव अन्दर से निःसृत होते हुये दिखलाया गया है और उनकी प्रतिभा ने कुछ ऐसी कला की सृष्टि की है कि यही असंगति इतनी प्रभावोत्पादक हो गई है, वह अन्तर्द्वन्द बाहर का न होकर, दुनिया का न होकर, यहाँ तक मस्तिष्क की ऊपरी सतह पर टकराने वाले दो विरोधी भावों का न होकर, किसी कारण से उत्पन्न कार्य रूप न हो कर मानव आत्मा की अतल गहराई मे चलते रहने वाले संघर्ष का प्रतीक हो गया हो।

'परिलुप्त धैर्य' सागर के वक्षस्थल पर उत्ताल तरंगों के उत्थान और

पतन के रूप में होते रहते संघर्ष को देखने के लिये तो "आपातालनिमग्न-पीवरतनु मन्दराचल" की आवश्यकता है। यही संघर्ष है जो लोकचक्षुगोचर होने वाले बाह्य संघर्षों का आधार है। इसकी आँच होती है तो मधुर और मन्द, पर उस पर पकाया हुआ अन्न अधिक मधुर और सुस्वादु होता है जिसके रसास्वादन के लिये देवतागण भी भूमि पर उतर आते हैं। प्रेमचन्द, प्रसाद तथा उनके समकालीन कहानीकारों की रचनाओं में पात्रों के मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण का अभाव नहीं, वहाँ पर मानसरोवर में तैरने वाले अनेक मातंगनक्रों के भयानक रूप देखे जा सकते हैं पर आज के युग में मनोविज्ञान के प्रकाश ने हमारी दृष्टि को सूक्ष्मता प्रदान कर दिया है। हम किसी चीज के बाह्य रूपाकारावलोकन तक ही न ठहर कर उसके मूल तक जाने का उपक्रम करने लगे हैं। तब इन कहानियों की हड़बड़ी जल्दी बाजी, येनकेन प्रकारेण काम निकाल लेने वाली प्रवृत्ति, इनकी पल्लवग्राहिता, इनका सस्ता कामचलाऊपन का विसंवादी प्रभाव हमें रुचिकर नहीं लगता। ऐसा मालूम पड़ता है कि कथाकार को और परिणामतः कविनिबद्ध पात्र को भी किसी तरह संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की लपटों में आ जाना पड़ा है, उसकी चित्तवृत्ति वहाँ तल्लीन नहीं होती है और वह वहाँ से निकल भागने के लिए किसी Short cut की ताक में ही अपना पिंड छुड़ाना चाहता है। 'जान बची लाखों पाये' वाली मनोवृत्ति का ही प्राधान्य हो जाता है।

प्रसाद आदि की कहानियों में मनोवैज्ञानिक उभार की कृत्रिमता

कहानियों में अन्तर्द्वन्द्व की चर्चा करते समय मेरे सामने एक और कल्पना मूर्त हो रही है। दो [illegible] हैं। दोनों की पुटली में कुछ अन्न के दाने हैं जिन्हें [illegible] कर अपनी भूख मिटाई जा सकती है। उनमें एक बड़ा ही [illegible] और थोड़ा अधीर है। यह किसी तरह अन्न के दानों [illegible] कर [illegible] आँच पर उबाल कर झट से किसी तरह [illegible] तैयार कर लेना चाहता है। [illegible] ही [illegible] सुस्वादु न हो पर उसमें एक तरह बुभुक्षा की निवृत्ति तो हो ही जाती है। दूसरा [illegible] अपनी पोटली के चावल के कणों को [illegible] कर, उसके एक एक दाने को छान-बीन कर मंद-मंद आँच पर [illegible] है। इस तरह से [illegible] भोजन अमृतरसास्वादन होगा और उसमें [illegible]। कहा जाता है कि जितना ही [illegible] से [illegible]

पर तरुवर तो समय पर फूलेगा और फलेगा। पर आज के वैज्ञानिक युग में ऐसे Hot house Plant [५] की सृष्टि की जा सकती है, ऐसे-ऐसे कृत्रिम खादों का प्रयोग किया जा सकता है कि फूलने और फलने की अवधि पर बहुत कुछ नियत्रण रखा जा सके। चाहे दुनिया की नजरों मे वह बेमौसम का फल ही क्यों न जँचे। पर कृत्रिम (Conditioned) वातावरण मे न रखा जाकर, समय के पूर्व ही फलोद्गम के लिये बाध्य न कर यदि तरु को अपने प्राकृतिक रूप में ही फलने फूलने मे सहायता दी जाय तो वह कहीं अधिक संतोषप्रद और उत्तमफलप्रसू हो सकता है। प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं जिन्होंने मानव मनोविज्ञान के बिरवे को अपनी कथा की भूमि पर लगाने का प्रयत्न किया है अधिक कृत्रिम उत्ताप दे कर। उनका लगाया पौधा तुरंत फल फूल देने लगे इस शीघ्रता के कारण उन्हे आवश्यकता से अधिक उत्ताप देना पड़ा है, कृत्रिम उपायों द्वारा अन्दर से उभारने की चेष्टा करनी पडी है। जिसका परिणाम यह हुआ है कि वह मनोवैज्ञानिक रस सचार इनके फलों मे नहीं हो सका है जिसके लिये आज का प्रबुद्ध पाठक वर्ग लालायित है।

अज्ञेय की कहानियाँ : मनोवैज्ञानिकता की निष्कम्प लौ

आधुनिक कहानीकारों की प्रवृत्ति मनुष्य जीवन के वाह्य कलापों तथा बृहद्काय घटना रूपी विशाल वृक्ष की मोटी-मोटी शाखाओं पर मनोविज्ञान का छोटा अश्वत्थ वृक्षाकुर उगा देने की नहीं है जो अपने विस्तार की पूरी स्वतंत्रता न पाकर अपने दिव्य और नयनाभिराम गौरव को नहीं प्राप्त कर सकता। वनों मे प्रायः देखने मे आता है कि किसी आम्रतरु या बेर इत्यादि वृक्षों की डालों पर एक वटवृक्ष या अश्वत्थ वृक्ष का अंकुर निकल पडता है और कुछ बढ़ता भी है पर अपनी वृद्धिव्याघातित वामन रूप की कदाकारिता में अपने वास्तविक वैभव का व्यंग बनकर करुणा का पात्र बन कर रह जाता है। आज के कुछ ही वर्ष पहिले हिन्दी मे जो कुछ भी कहानियाँ थीं उन्हें बडे डील डौल वाली, स्थूलाकार घटनाओं के भार को ढोने वाली कथक्कडी प्रवृत्ति, किस्सागोई की परम्परा उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त हुई थी। प्रेमचन्द युग के प्रमुख कथाकारों ने इस स्थूलहस्तावलेप को थोड़ा कम कर देने का प्रयत्न किया अवश्य था पर उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली थी। उनकी कहानियाँ कहानी भर होती थीं। परन्तु अज्ञेय 'परम्परा' में संगृहीत अपनी 'अलिखित कहानी' नामक कहानी मे कहते हैं जो कहानी केवल

पतन के रूप में होते रहते संघर्ष को देखने के लिये तो "आपातालनिमग्न-पीवरतनु मन्दराचल" की आवश्यकता है। यही संघर्ष है जो लोकचक्षुगोचर होने वाले बाह्य संघर्षों का आधार है। इसकी आँच हाती है तो मधुर और मन्द, पर उस पर पकाया हुआ अन्न अधिक मधुर और सुस्वादु होता है जिसके रसस्वादन के लिये देवतागण भी भूमि पर उतर आते हैं। प्रेमचन्द, प्रसाद तथा उनके समकालीन कहानीकारों की रचनाओं में पात्रों के मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण का अभाव नहीं, वहाँ पर मानसरोवर में तैरने वाले अनेक मातंगनक्रों के भयानक रूप देखे जा सकते हैं पर आज के युग में मनोविज्ञान के प्रकाश ने हमारी दृष्टि को सूक्ष्मता प्रदान कर दिया है। हम किसी चीज के बाह्य रूपाकारावलोकन तक ही न ठहर कर उसके मूल तक जाने का उपक्रम करने लगे हैं। तब इन कहानियों की हड़बड़ी जल्दीबाजी, येनकेन प्रकारेण काम निकाल लेने वाली प्रवृत्ति, इनकी पल्लवग्राहिता, इनका सस्ता कामचलाऊपन का विसंवादी प्रभाव हमें रुचिकर नहीं लगता। ऐसा मालूम पड़ता है कि कथाकार का और परिणामतः कविनिबद्ध पात्र को भी किसी तरह संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की लपटों में आ जाना पड़ा हो, उसकी चित्तवृत्ति वहाँ तल्लीन नहीं होती हो और वह वहाँ से निकल भागने के लिए किसी Short cut की ताक में हो अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता हो। 'जान बची लाखों पाये' वाली मनोवृत्ति का ही प्राधान्य हो जाता है।

प्रसाद आदि की कहानियों में मनोवैज्ञानिक उत्ताप की कृत्रिमता

कहानियों में अन्तर्द्वन्द्व की चर्चा करते समय मेरे सामने एक और कल्पना मूर्त्त हो उठती है। दो व्यक्ति हैं। दोनों की पुटली में कुछ अन्न के दाने हैं जिन्हें पका कर अपनी भूख मिटाई जा सकती है। उनमें एक बड़ा ही जल्दबाज और थोड़ा अधीर है। वह किसी तरह अन्न के दानों को थोड़ा बहुत साफ कर खूब कड़ी आँच पर उबाल कर झट से किसी तरह पक्व अर्द्धपक्व, अतिपक्व भोजन तैयार कर लेना चाहता है। भोजन भले ही सुस्वादु और सुपाच्य न हो पर उसमें एक तरह बुभुक्षा की निवृत्ति तो हो ही जाती है। दूसरा और अन्य व्यक्ति अपनी पोटली के चावल के कणों को खूब साफ कर, उसके एक एक दाने का छान-बीन कर मन्द-मन्द आँच पर पकाता है। इस तरह से सुसिद्ध भोजन अमृतस्वादोपम होगा और उसमें स्थायी तृप्ति देने की शक्ति होगी। कहा जाता है कि कितना ही नार से सींचा

पर तरुवर तो समय पर फूलेगा और फलेगा। पर आज के वैज्ञानिक युग मे ऐसे Hot house Plant [५] की सृष्टि की जा सकती है, ऐसे-ऐसे कृत्रिम खादों का प्रयोग किया जा सकता है कि फूलने और फलने की अवधि पर बहुत कुछ नियन्त्रण रखा जा सके। चाहे दुनिया की नजरों मे वह बेमौसम का फल ही क्यों न जँचे। पर कृत्रिम (Conditioned) वातावरण मे न रखा जाकर, समय के पूर्व ही फलोद्गम के लिये वाध्य न कर यदि तरु को अपने प्राकृतिक रूप में ही फलने फूलने में सहायता दी जाय तो वह कहीं अधिक संतोषप्रद और उत्तमफलप्रसू हो सकता है। प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन प्रथम श्रेणी के कलाकार हैं जिन्होंने मानव मनोविज्ञान के विरवे को अपनी कथा की भूमि पर लगाने का प्रयत्न किया है अधिक कृत्रिम उत्ताप दे कर। उनका लगाया पौधा तुरंत फल फूल देने लगे इस शीघ्रता के कारण उन्हें आवश्यकता से अधिक उत्ताप देना पड़ा है, कृत्रिम उपायों द्वारा अन्दर से उभारने की चेष्टा करनी पडी है। जिसका परिणाम यह हुआ है कि वह मनोवैज्ञानिक रस सचार इनके फलों मे नहीं हो सका है जिसके लिये आज का प्रबुद्ध पाठक वर्ग लालायित है।

अज्ञेय की कहानियाँ : मनोवैज्ञानिकता की निष्कम्प लौ

आधुनिक कहानीकारों की प्रवृत्ति मनुष्य जीवन के बाह्य कलापों तथ बृहद्काय घटना रूपी विशाल वृक्ष की मोटी-मोटी शाखाओं पर मनोविज्ञान का छोटा अश्वत्थ वृक्षाकुर उगा देने की नहीं है जो अपने विस्तार की पूर्ण स्वतंत्रता न पाकर अपने दिव्य और नयनाभिराम गौरव को नहीं प्राप्त क सकता। वनों मे प्राय: देखने मे आता है कि किसी आम्रतरु या वेर इत्यादि वृक्षों की डालों पर एक वटवृक्ष या अश्वत्थ वृक्ष का अंकुर निकल पडता और कुछ बढ़ता भी है पर अपनी वृद्धिव्याघातित वामन रूप की कदाकारित में अपने वास्तविक वैभव का व्यंग बनकर करुणा का पात्र बन कर र जाता है। आज के कुछ ही वर्ष पहिले हिन्दी मे जो कुछ भी कहानियाँ उन्हें बड़े डील डौल वाली, स्थूलाकार घटनाओं के भार को ढोने वाल कथक्कडी प्रवृत्ति, किस्सागोई की परम्परा उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हु थी। प्रेमचन्द युग के प्रमुख कथाकारों ने इस स्थूलहस्तावलेप को थोड़ा क कर देने का प्रयत्न किया अवश्य था पर उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली थी उनकी कहानियाँ कहानी भर होती थीं। परन्तु अज्ञेय 'परम्परा' मे संग्रहि अपनी 'अलिखित कहानी' नामक कहानी में कहते हैं जो कहानी केव

पतन के रूप में होते रहते संघर्ष को देखने के लिये तो "आपातालनिमग्न-पीवरतनु मन्दराचल" की आवश्यकता है। यही संघर्ष है जो लोकचक्षुगोचर होने वाले बाह्य संघर्षों का आधार है। इसकी आँच होती है तो मधुर और मन्द, पर उस पर पकाया हुआ अन्न अधिक मधुर और सुस्वादु होता है जिसके रसास्वादन के लिये देवतागण भी भूमि पर उतर आते हैं। प्रेमचन्द, प्रसाद तथा उनके समकालीन कहानीकारों की रचनाओं में पात्रों के मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण का अभाव नहीं, वहाँ पर मानसरोवर में तैरने वाले अनेक मातगनक्रों के भयानक रूप देखे जा सकते हैं पर आज के युग में मनोविज्ञान के प्रकाश ने हमारी दृष्टि को सूक्ष्मता प्रदान कर दिया है। हम किसी चीज के बाह्य रूपाकारावलोकन तक ही न ठहर कर उसके मूल तक जाने का उपक्रम करने लगे हैं। तब इन कहानियों की हड़बड़ी, जल्दीबाजी, येनकेन प्रकारेण काम निकाल लेने वाली प्रवृत्ति, इनकी पल्लवग्राहिता, इनका सस्ता कामचलाऊपन का विसंवादी प्रभाव हमें रुचिकर नहीं लगता। ऐसा मालूम पड़ता है कि कथाकार का और परिणामतः कविनिरुद्ध पात्र को भी किसी तरह संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की लपटों में आ जाना पड़ा हो, उसकी चित्तवृत्ति वहाँ तल्लीन नहीं होती हो और वह वहाँ से निकल भागने के लिए किसी Short cut की ताक में हो अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता हो। 'जान बचा लाखों पाये' वाली मनोवृत्ति का ही प्राधान्य हो जाता है।

प्रसाद आदि की कहानियों में मनोवैज्ञानिक उत्ताप की कृत्रिमता

कहानियों में अन्तर्द्वन्द्व की चर्चा करते समय मेरे सामने एक और कल्पना मूर्त हो उठती है। दो व्यक्ति हैं। दोनों की पुटली में कुछ अन्न के दाने हैं जिन्हें पका कर अपनी भूख मिटाई जा सकती है। उनमें एक बड़ा ही जल्दबाज और थोड़ा अधीर है। वह किसी तरह अन्न के दानों को थोड़ा बहुत साफ कर खूब कड़ी आँच पर उबाल कर झट से किसी तरह पक्व अर्द्ध-पक्व, अति-पक्व भोजन तैयार कर लेना चाहता है। भोजन भले ही रुचिकर और सुस्वादु न हो पर उससे एक तरह बुभुक्षा की निवृत्ति तो हो ही जाती है। दूसरा और अन्य व्यक्ति अपनी पोटली के चावल के कणों को खूब साफ कर, उसके एक एक दाने को छान-बीन कर मंद-मंद आँच पर पकाता है। इस तरह से सुसिद्ध भोजन अमृतस्वादोपम होगा और उसमें अपार तृप्ति देने की शक्ति होगी। कहा जाता है कि कितना ही नीर से सींचा

पर तरुवर तो समय पर फूलेगा और फलेगा। पर आज के वैज्ञानिक युग मे ऐसे Hot house Plant [५] की सृष्टि की जा सकती है, ऐसे-ऐसे कृत्रिम खादों का प्रयोग किया जा सकता है कि फूलने और फलने की अवधि पर बहुत कुछ नियन्त्रण रखा जा सके। चाहे दुनिया की नजरों मे वह बेमौसम का फल ही क्यों न जँचे। पर कृत्रिम (Conditioned) वातावरण मे न रखा जाकर, समय के पूर्व ही फलोद्गम के लिये बाध्य न कर यदि तरु को अपने प्राकृतिक रूप में ही फलने फूलने मे सहायता दी जाय तो वह कही अधिक संतोषप्रद और उत्तमफलप्रसू हो सकता है। प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन प्रथम श्रेणी के कलाकार है जिन्होंने मानव मनोविज्ञान के बिरवे को अपनी कथा की भूमि पर लगाने का प्रयत्न किया है अधिक कृत्रिम उत्ताप दे कर। उनका लगाया पौधा तुरंत फल फूल देने लगे इस शीघ्रता के कारण उन्हें आवश्यकता से अधिक उत्ताप देना पड़ा है, कृत्रिम उपायों द्वारा अन्दर से उभारने की चेष्टा करनी पडी है। जिसका परिणाम यह हुआ है कि वह मनोवैज्ञानिक रस सचार इनके फलों मे नहीं हो सका है जिसके लिये आज का प्रबुद्ध पाठक वर्ग लालायित है।

अज्ञेय की कहानियाँ : मनोवैज्ञानिकता की निष्कम्प लौ

आधुनिक कहानीकारों की प्रवृत्ति मनुष्य जीवन के बाह्य कलापों तथा वृहद्काय घटना रूपी विशाल वृक्ष की मोटी-मोटी शाखाओं पर मनोविज्ञान का छोटा अश्वत्थ वृक्षाकुर उगा देने की नहीं है जो अपने विस्तार की पूरी स्वतंत्रता न पाकर अपने दिव्य और नयनाभिराम गौरव को नहीं प्राप्त कर सकता। वनों मे प्रायः देखने मे आता है कि किसी आम्रतरु या बेर इत्यादि वृक्षों की डालों पर एक वटवृक्ष या अश्वत्थ वृक्ष का अंकुर निकल पडता है और कुछ बढ़ता भी है पर अपनी वृद्धिव्याघातित वामन रूप की कदाकारिता मे अपने वास्तविक वैभव का व्यग बनकर करुणा का पात्र बन कर रह जाता है। आज के कुछ ही वर्ष पहिले हिन्दी मे जो कुछ भी कहानियाँ थीं उन्हे बडे डील डौल वाली, स्थूलाकार घटनाओं के भार को ढोने वाली कथक्कडी प्रवृत्ति, किस्सागोई की परम्परा उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त हुई थीं। प्रेमचन्द युग के प्रमुख कथाकारों ने इस स्थूलहस्तावलेप को थोड़ा कम कर देने का प्रयत्न किया अवश्य था पर उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली थी। उनकी कहानियाँ कहानी भर होती थीं। परन्तु अज्ञेय 'परम्परा' मे संगृहीत अपनी 'अलिखित कहानी' नामक कहानी में कहते हैं जो कहानी केवल

कहानी भर होती है, उसे ऐसे लिखना, कि वह सच जान पड़े, सुगम होता है। किन्तु जो कहानी जीवन के किसी गूढ़ रहस्यमय सत्य को दिखाने के लिये लिखी जाय, उसे ऐसा रूप देना कठिन नहीं असंभव ही है। जीवन के सत्य छिपे रहना ही पसंद करते हैं। प्रत्यक्ष नहीं करें, छिपा ही रहने दें, जो छायाओं और लक्षणों के आधार पर उसका आकार विशिष्ट कर दें, और बस

इसलिये मैं अपनी इस कहानी को ऐसे असमान्य रूप में रखकर सुना रहा हूँ। इस आशा में कि जो सत्य मैं कहना चाहता हूँ, वह शायद इस रूप में रखा जा सके, पाठक के आगे व्यक्ति नहीं तो उसकी अनुभूति पर आरूढ़ किया जा सकता है।"[४]

यह उद्धरण इस उद्देश्य से दिया गया है कि इसे हम अज्ञेय की प्रातिनिधिक कहानी कह सकते हैं और इसमें वे विशिष्टतायें पायी जाती हैं जो इनकी कहानी के मूलाधार हैं। प्रथमतः तो यह कि यह कहानी भर नहीं है। कहानी है भी तो वही जो बहुत पहले लिखी जा चुकी है अर्थात् स्त्री के प्रति आसक्ति तथा इस मोहासक्ति पर भर्त्सना पा कर स्त्री विमुख होकर अपनी चित्तवृत्ति को भगवद्भक्ति में केन्द्रित करना जैसा भक्त तुलसीदास ने किया था। चूंकि कहानी चिर परिचित है, अतः कहानी के कथा भाग की ओर पाठक की दिलचस्पी भी नहीं रहती। वह कहानी की ओर न देख कर कथानिबद्ध मनोविज्ञान को, पात्र के अन्तरस्थ की धीर गुरु गंभीर पर निश्चित गति से प्रवाहित होने वाला संघर्षोन्मुख दुर्दम धारा की ओर देखता है। इसमें पत्नी को लेकर पति के हृदय को मथती रहने वाली धारा का वर्णन है। पति और पत्नी के संघर्ष की कथा साहित्य के लिये नई वस्तु नहीं है पर जहाँ कहीं भी इस तरह के मनोमालिन्य का चर्चा हुई है वहाँ किसी समस्या को लेकर, एक (issue) को लेकर। पति कुछ चाहता है जो पत्नी के मतानुकूल नहीं है और पत्नी की बातें पति को वाञ्छनीय नहीं। बस दोनों में द्वन्द्व है और यदि उनके प्रांगण में स्थूल महाभारत का सस्करण नहीं हो सका है तो उनका मस्तिष्क तो अवश्य दो विरोधी भाव सेना के कुरुक्षेत्र का रूप बन ही गया है। कौशिक का 'ताई' में संतान की बात लेकर आपस में मनोमालिन्य है। प्रेमचन्द के 'धिक्कार' में नारी के हृदय में इस बात का लेकर मन्थन है कि वह अपने पति के प्रति पूर्ण रूपेण सतीत्व के भाव से समर्पित नहीं है। वह मानता कि वह तो उस संन्यासी को हृदय दे चुकी है, उसका मानसिक कौमार्य खंडित हो चुका है। कहीं इसका पता उसके पति

को न चल जाय। इसलिए उनका मास्तिष्क संघर्ष का क्षेत्र बना रहा है। इस व्याकुलता का, इस बेचैनी का बोधगम्य कारण भी है। पढ कर पाठक के मस्तिष्क का ऊपरी सतह मानो साखी भरता, कहता है कि हाँ, ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

पर यह लड़ाई कैसी जो आकरण ही हो। इस कहानी का प्रारंभ देखिये "मैं अपनी गृहलक्ष्मी से लड़कर, अपने पढ़ने के कमरे मे आकर बैठा हुआ था और कुढ़ रहा था।"[७] पाठक मन मे कहता है ठीक है, कोई समस्या होगी, कोई ऐसी बात होगी जिस पर मतभेद होगा। अतः लड़ाई हो तो हो मेरी बला से, ऐसी लड़ाइयाँ तो आये दिन होती रहती है। तब तक लेखक कहता है "लड़ाई मैंने नहीं की थी और निरपेक्ष दृष्टि से देखते कहना पड़ता है कि शायद उसने भी नहीं की थी। वह अपने आप ही हो गई या यों कह लीजिये कि जैसी परिस्थिति हमारी है, उसमे लडाई होना स्वाभाविक ही है, उसका न होना ही अचम्भे की बात है।" इन पंक्तियों के पढते ही पाठक के कान खडे हो जाते हैं और वह समझ जाता है कि "ये चितवन कछु और जिहि बस होत सुजान।' यह मानसिक उद्वेग, उत्पीड़न, द्वन्द्व, कुछ निराला है। वैसा है जिसकी अभिव्यक्ति आज तक नहीं हुई थी। यह अभिव्यक्ति की वस्तु है ही नहीं। यह तो मनुष्य जीवन की आन्तरिक अनुभूति के इतनी समीप है कि उसकी झंकार पाठक के हृदय मे सहानुभूतिमय प्रकम्पन (Sympathetic vibrations) की अनन्त लहर उत्पन्न कर देगी जिसकी ध्वनि अनन्तकाल तक गूंजती रहेगी, वह कभी भी समाप्त होने वाली नहीं है क्योंकि उसका आदि भी नहीं है। जिसका आदि नहीं उसका अन्त कैसा। वह मानव जीवन के साथ है जैसे ज्वाला के साथ उत्ताप, फूलों के साथ सुगन्ध। वह है, रहेगा, बस। जिस तरह कहानी का प्रारम्भ मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है उसी तरह उसके अंत मे भी कम मनोवैज्ञानिकता का परिचय नहीं दिया गया है। अन्त की ये पक्तियाँ देखिये। "तभी मैंने न जाने क्यों घूम कर देखा, पीछे मेरी पत्नी खडी है। और कुछ नहीं है। मुझे घूमते देखकर उसने नीरस स्वर मे कहा "चलो रोटी खाओ"

"मैने देखा उस स्वर मे क्रोध नहीं है तो प्रेम भी नहीं। वह बिलकुल नीरस है। गृहलक्ष्मी ने लड़ाई को भुला दिया है, किन्तु साथ ही सुलह करने का आनन्द भी खो चुकी है। और मैंने देखा मेरी कहानी भी नष्ट हो गई है।"[८]

मैंने एक छोटा सा निःश्वास छोड़कर कहा, चलो मै आया। इसी तरह

की मद मद आँच, एक प्रबल आवेग से धधक पड़ने वाली नहीं परन्तु धीरे-धीरे सदा बनी रहने तथा अहर्निश जलती रहने वाली चिनगारी अज्ञेय की अधिकांश कहानियों के उपजीव्य हैं। उनके पात्र विशुद्ध मानव हैं, भाव हैं, विचार हैं, सूक्ष्म हैं, शरीर नहीं, स्थूल नहीं, जहाँ कहीं स्थूलता भी है वहाँ मानसिकता के अवगुण्ठन से आच्छादित है।

'रोज' नामक कहानी

'रोज' नामक कहानी में भी इसी तरह के मनोविज्ञान का चित्रण है। मालती का एक मित्र उसके विवाह के चार वर्षों बाद जाकर देखता है और उसके दाम्पत्य जीवन के संघर्ष से उत्पन्न उस मानसिक लहर की झलक पाता है जो उमड़ घुमड़ कर, छटपटा कर सारी क्रियाशीलता से परे हो गई हो। मर तो गई हो पर मर कर अमर हो गई हो, अधिक शक्ति सम्पन्न और चोट करने वाली हो गई हो, मानो चढ़ी हुई प्रत्यंचा हो, भरी हुई बन्दूक हो, धाग भस्म होकर और भी तीव्र प्रभाव बन गया हो, अंगूर में रसी हुई दो चार बूँदें खिंच कर तलवार बन गई हो। मैंने देखा सचमुच उस परिवार में, उस कुटुम्ब में कोई गहरी भयकर छाया घर कर गई हो, उनके जीवन के पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गई है कि उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं मैंने उस छाया को देख भी लिया।[१] 'इन्दु की बेटी' यद्यपि एक व्यक्ति के अतृप्त वात्सल्य की कहानी है पर इस कहानी के प्रारम्भिक अंश में दाम्पत्य जीवन की मन स्थिति को इस अनिर्वचनीय स्तर पर ले जाकर चित्रित किया गया है।

प्रेमचन्द आदि के मानसिक संघर्ष में स्थूलता

प्रेमचन्द तथा अन्य कथाकारों में मानसिक लहर, बेचैनी, व्याकुलता या संघर्ष का वर्णन अवश्य हुआ है और प्रयाप्त सफलता के साथ हुआ है पर कुछ देर तक संघर्ष चलते रहने के पश्चात वह समाप्त भी हो जाता है और समाप्त भी होता है तो कुछ इस तरह उसका जरा सा भी चिन्ह नहीं रह जाता। वातावरण ऐसा अनुमान हो जाता है कि मानो वहाँ कुछ हुआ ही नहीं था। उन कहानियों में एक विशेष समस्या रहती है, वे एक निश्चित issue को लेकर चलती है, उन्हें दो विशुद्ध प्रेमियों को मिलाना रहता है, दुष्ट दुराचारी और मतिमन्द खलों की अप्रतिष्ठा, पराजित और विफल मनोरथ दिखलाने की उत्तरदायित्व रहता है, किसी रहस्य के उद्घाटन का

एक ध्येय उनके सामने रहता है। चाहे अभ्यन्तर जगत का हो चाहे वाह्य जगत हो। पर उनकी मूल कल्पना ही वाह्य उत्तेजक पदार्थ (stumulus) और प्रतिक्रिया (response) को लेकर चलती है, उनका मूलाधार ही इस भावना पर है कि मानसिक संघर्ष को किसी वाह्य स्थूल उत्तेजना (Stimulus) की प्रतिक्रिया के रूप मे दिखलाया जाय। इस निवन्ध में अन्यत्र यह दिखलाया जा चुका है कि बाह्य उत्तेजक पदार्थ (Stimulus) और प्रतिक्रिया (Response) के मध्य की जो अवस्था होती है उसकी अवधि को अपनी प्रतिभा के विपुलाकारक शीशे (Magnitying lense) से विपुलाकार बना कर जो कथाकार जितना ही विस्तृत वर्णन मे तल्लीन होगा वह उतनी ही मनोवैज्ञानिक कथाकार की प्रतिष्ठा का भागी होगा। अन्य कहानीकारों मे वाह्य उत्तेजक पदार्थ और प्रतिक्रिया ये दोनों अपनी पूरी स्थूलता, पूरे वैभव और गौरव के साथ अपनी सत्ता की घोषणा करते हुए वर्तमान है, इनकी धूम-धाम मे मध्यस्थिति का अस्तित्व नगण्य हो जाता है। जो कुछ मानसिक संघर्ष है भी उसमे लेखक ने इतना जोश भरने का प्रयत्न किया है कि उन्हे वाह्य क्रियाओं की स्थूलता का रूप प्राप्त हो गया है। वे मानसिक न रह कर शारीरिक हो गये है, विचार न रह कर क्रियाओ की स्थूलता के नगरोपकंठ (Margin) पर विराजमान हैं।

'धोखा' नामक कहानी का उदाहरण

इस कथन का फलितार्थ प्रेमचन्द की एक कहानी से स्पष्ट हो जायेगा। प्रेमचन्द की एक कहानी है धोखा। यह उस समय की कहानी है जब प्रेमचन्द की कला अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इस कहानी का निर्माण बघौली के राव देवीचन्द्र की एकलौती कन्या प्रभा की एक मनोवैज्ञानिक सवेदना की नींव पर हुआ है। वह एक युवा संयासी की मधुर संगीत ध्वनि "कर गये थोड़े दिन की प्रीत" सुन कर उसके प्रति आकर्षित हो जाती है। नौगढ़ के राजकुमार के साथ पाणिग्रहण हो जाने पर उनके साथ आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत करने पर भी लज्जित रहती और अपने को निर्मल और पवित्र प्रेम के योग्य नहीं पाती। एक दिन राजकुमार उसे अपनी चित्रशाला में ले जाता है और वहाँ अन्य चित्रों के साथ सन्यासी का भी चित्र उसे दिखलाई पड़ता है जिस पर वह अनुरक्त थी। इस प्रसंग पर प्रभा के हृदय की दशा का बहुत ही सजीव प्रदर्शन प्रेमचन्द ने किया है। राजकुमार ने पूछा इस व्यक्ति को तुमने कहीं देखा है। इस प्रश्न से प्रभा का हृदय काप

उठा। जिस तरह मृग शावक व्याघ्र के सामने व्याकुल हो इधर उधर देखता है उसी तरह प्रभा अपनी बड़ी बड़ी आँखों से दीवार की ओर ताकने लगी। सोचने लगी क्या उत्तर दूँ। इसको कहाँ देखा है, उन्होंने यह प्रश्न मुझसे क्यों किया? कहीं ताड़ तो नहीं गये? हे नारायण, मेरी पत तुम्हारे हाथ है। क्योंकर इन्कार करूँ। मुँह पीला हो गया। सिर झुका, क्षीण स्वर में बोली —

हाँ, ध्यान आता है कि कहीं देखा है।

हरिश्चन्द्र ने कहा कहाँ देखा है।

प्रभा के सिर में चक्कर आने लगा। बोली शायद एक बार यह गाता हुआ मेरी वाटिका के सामने जा रहा था। उमा ने बुलाकर इसका गाना सुना था।

हरिश्चन्द्र ने पूछा कैसा गाना था।

प्रभा के होश उड़े हुए थे। सोचती थी, राजा के इन सवालों में जरूर कोई बात है। देखूँ आज लाज रहती है या नहीं। बोली उसका गाना ऐसा बुरा न था।

हरिश्चन्द्र ने मुस्करा कर पूछा "क्या गाया था?" प्रभा ने सोचा इस प्रश्न का उत्तर दे दूँ तो बाकी क्या रहता है। उसे विश्वास हो गया आज कुशल नहीं है। वह छत की ओर निरखती हुई बोली सूरदास का कोई पद था। हरिश्चन्द्र ने कहा यह तो नहीं "कर गये थोड़े दिन की प्रीत।"

प्रभा की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। सिर घूमने लगा। वह खड़ी न रह सकी, बैठ गई और हताश होकर बोली हाँ, यही पद था। फिर उसने कलेजा मजबूत कर पूछा आपको कैसे मालूम हुआ।"

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त है कि हरिश्चन्द्र उस सन्यासी को अभी बुला लाया कहकर बाहर जाते हैं और दस मिनट पश्चात मस्ताने सुर के साथ योगी की रसीली तान सुनाई दी तो उसे देखकर उसकी आँखों का पर्दा हट गया और प्रेम विह्वल हो पति के चरणारविन्दों पर गिर पड़ी और गद्‌गद् कंठ से बोली प्यारे "प्रियतम।"

इस तरह की कहानियों की समाप्ति पर पर्दा इतने जोर से गिरता है कि सारी चकमक करने वाली दीपावलियाँ एक साथ ही बुझ जाती हैं और अंधकार का साम्राज्य छा जाता है। जहाँ वातावरण जनसंकुल नगर चतुष्पथ के यात्रियों के कोलाहल से पूर्ण था वहाँ श्मशान भूमि की नीरवता

छा जाती है। मेरी दादी जब मुझे कहानी सुनाने लगती थी तो कथा की समाप्ति पर कहती थी "कथा गईल बन मे, समझ अपना मन में" और यह सुनते ही हम सन्तोष की सास ले सोने चले जाते थे। इस तरह की कहानियाँ जिनका उल्लेख अभी किया गया है वे इसी दादी को कहानी के आधुनिक संस्करण है जिनमें घटनाओं का सयोग, उनकी आकस्मिकता की मगरूरता ही सर्वोपरि सरःताने खड़ी रहती है। पर अज्ञेय की अलिखित कहानी तथा रोज की टाइप की कहानियों की समाप्ति हो जाने पर भी एक चिनगारी जलती रहती है। पर्दा गिरता तो है पर एक दम निरीह और स्वाभाविक रूप से और मानसिक ज्योति की लौ भी कभी नहीं बुझती। उनकी कहानियाँ जिस मनोविज्ञान की ज्योति से जगमग रहती है वह समाप्त होने पर भी बुझती नहीं, झलमलाती रहती है, मजार के दीप की तरह। जहाँ अन्धकार की फौज अन्य कहानीकारों की कृतियों के किरण समूह को निगल जाती है वहाँ अज्ञेय के मनोविज्ञान की पतली किरण उससे लड़ती रहती है। जहाँ कहीं भी ऐसा अवसर आया है, मतलब ऐसे धडाके से होने वाले अन्त का जो समूल समाप्त कर दे उसको अज्ञेय की कला ने बडे ही कौशल से टाला है।

उनकी कहानी 'कविता और जीवन एक कहानी' १० में इस अमनोवैज्ञानिक प्रसंग के जाल से कैंची की तरह पार करते निकल जाना अज्ञेय की कला और सतर्कता की घोषणा है। शिव सुन्दर कविता की खोज में कलकत्ते को छोड़कर हरिद्वार में गुरुकुल के किनारे एकान्त में एक कमरे मे रहने लगा। एकान्त निशीथ वेला मे नुपुरों की ध्वनि सुनाई पड़ी मानों कोई स्त्री सभ्रान्त गति से चल रही हो। वह उसका अनुसरण करता है। इस प्रसंग को लेकर उसके मानस मे जो विक्षुब्धता आई है उसके वर्णन का तो उचित अवसर था ही और लेखक ने उससे पूरा लाभ उठाया भी है। पर असल बात जो ध्यान देने की बात है वह यह कि अन्ततोगत्वा पता चलता है कि वह एक छोटे से बीज भरे पत्ते की करामात थी जो हवा के झोंके में कांप कर बोलता था खनन्। वास्तव में कहानी यहीं समाप्त हो जाती है। शायद अन्य [illegible] करते भी यही। पर इसके बाद भी अज्ञेय शिव सुन्दर को गुरुकुल के एकान्त वातावरण से हटा कर हैर पैडी के जन-संकुल वातावरण मे प्रतिष्ठित कर उससे कविता या जीवन की माग का विश्लेषण कराता है। लेकिन शिव सुन्दर वहाँ जाकर भी समझ नहीं पाता कि वह क्या मागता है। वह इतना ही जानता है कि यह नहीं है जो कुछ उसने मागा था। वह

इतना ही जानता है कि वह लुट हो गया है, अपनी आँखों से गिर गया है जबकि उसे आशा थी बड़े हो जाने की, रुमानियत की। अज्ञेय के कहानी साहित्य में अधिकतर उसी मानसिक स्तर के भावों की उसी गहराई का आग्रह है जहाँ पर आकर वे शब्दातीत व अलौकिक रूप धारण कर लेते हैं, वे मात्र अनुभूति सवेद्य हो जाते हैं। उन्हें दो चार शब्दों के 'इदमित्थम्' की सीमा मे आबद्ध रहना कठिन हो जाता है।

'अकलंक'

मेरा ध्यान अज्ञेय की एक और कहानी 'अकलंक' की ओर जाता है। जिन उपादानों को लेकर और जिस ढंग से इस कहानी का निर्माण हुआ है वे सब प्रेमचन्द संस्थान के लेखकों के ही हैं। शत्रुओं का आक्रमण म विफल मनोरथ करने के लिये चीनी प्रजातन्त्र के लोग अपने घरों को नष्ट कर इस प्रदेश का परित्याग कर चले जाने का निश्चय करते हैं। पर मार्टिन नामक एक सैनिक अपने विशाल भवन को नष्ट करने के लिए अपनी प्रेमिका के अनुनय पर भी तैयार नहीं होता। उसका भवन इतना बड़ा है कि उसमें सारा गाँव आश्रय पा सकता है, इसलिए उसको नष्ट कर देना अत्यन्त आवश्यक है। वह पकड़ा जाता है। उसे प्राणदण्ड की सजा होती है। परन्तु शत्रु सेना उस प्रदेश पर अधिकार कर मार्टिन के भवन में आश्रय ले विजयोल्लास म मग्न है। तब तक एक भयानक धड़ाका होता है और वह विशाल भवन सारे निवासियों के साथ भूतल से उड़ जाता है। यह सब मार्टिन की व्यवस्था थी जिसके रहस्यको वह सफलता पूर्वक सम्पादित होने के लिए बताने से असमर्थ था। क्रिस्टावेल समापन प्राप्त कर मार्टिनका प्राण रक्षा करने के लिए दौड़ती है। पर सब व्यर्थ। मार्टिन की छाती गोलियों से छिद गई थी। यह कहानी अज्ञेय के प्रारम्भिक काल की कला का उदाहरण है और उनके प्रथम कहानी संग्रह 'विपथगा' म संग्रहीत है। तब तक उनकी कला म पूरी प्रौढ़ता नहीं आई थी। पर उसके बीज तो यहाँ भी वर्तमान थे और उसके विकास का दिशा निर्देश कर रहे थे। मार्टिन अपने अन्तिम पत्र में अपनी प्रेमिका को लिखता है "तुम्हें प्रमाण भी मिल जायेंगे कि मैं कायर नहीं हूँ" इसी से कहता हूँ कि अगर अब तुम किसी से प्रेम करो तो ऐसा व्यक्ति चुनना जिसका तुम अकारण विश्वास कर सको'[११] यही आकारणता, अहेतुता, आगे चलकर मन मद आँच पर पकने वाले अन्न के रूप म प्रगट हुई है जिसे हमने one way traffic कहा है।

अज्ञेय की कहानी में आधुनिक मनोविज्ञान की बातें

इस दृष्टि से अज्ञेय आज हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ मनोविज्ञानक कथाकार है। जैनेन्द्र ने भी अपनी कहानियो मे मनोविज्ञान को अपनाया है पर उनकी दार्शनिक प्रवृत्ति पर्याप्त दूर तक उन्हें अभिभूत किये हुए है। इलाचन्द मे अवश्य मनोवैज्ञानिक आग्रह बढ़ा-चढा है पर उनकी कथा शैली वही पुरानी है। पर अज्ञेय विशुद्ध मनोवैज्ञानिक कथाकार है। वर्ण्य वस्तु और उसके विन्यास में। 'अलिखित कहानी' की एक विशेपता और भी है कि यह कहानी एक स्वप्न के रूप मे कही गई है अर्थात् ऐसे संकेत स्पष्ट है जिनसे पता चलता है कि यह पात्र के देखे हुए स्वप्न की ही अवतारणा है। फ्रायड प्रमुख आधुनिक मनोवैज्ञानिको की मान्यता है कि स्वप्न और कला कृति दोनो अपने मूल रूप में इच्छा पूर्ति (wish fullfilment) है। दूसरी बात कि इस कहानी में आधुनिक मनोविज्ञान की दो प्रमुख धारणाओ की चर्चा की गई है। एक तो प्रोत्क्षेपण की और दूसरे उदात्तीकरण (Sublimation) की। प्रथम का अभिधान तो स्पष्ट शब्दों में किया गया है, प्रोजेक्शन शब्द का ही प्रयोग किया है। उदात्तीकरण (Sudlimation) जैसा शब्द नहीं आया है पर लेखक का संकेत किस ओर है इसमे कोई सन्देह नहीं रह जाता। "पता नहीं क्यों मैं चौंककर उठ बैठा। मैंने जाना, मैं वह सब पढ नहीं रहा था, वह स्वप्न मे ही मेरी कल्पना दौड़ रही थी, वह मेरे जागृत विचारो का एक प्रोत्क्षेपण (Projection) मात्र था।"[१२] उसने देखा स्त्री ही संसार की सबसे बड़ी शक्ति है, स्त्री का प्रेम ही संसार की सबसे बड़ी प्रेरणा.......... जब वह स्त्री से विमुख होता है, तब भी उसकी शक्ति नष्ट नहीं होती, परिवर्तित हो जाती है और कार्यों मे लग जाती है। यह हिन्दी कथा साहित्य के लिये नई चीज है, सतर्क होकर मनोविश्लेषण की शब्दावलियो का प्रयोग अज्ञेय की एक विशेपता है।

पहाड़ी जीवन नाम की कहानी

'पहाड़ी जीवन' नामक कहानी मे[१३] लेखक एक स्थान पर कहता है; उसका (गिरीश नामक पात्र) का चेतन मन उस स्त्री की बात पर विचार कर रहा था और स्वल्प चेतन (Sub conscious) मन निश्चय कर रहा था कि करुणा को पत्र लिखना है। निगनेलर की कुछ पंक्तियों मे आधुनिक मनोविज्ञान की ध्वनि कितनी स्पष्ट है? दुबला लम्बा शरीर बड़ी बड़ी आँखें, लम्बे किन्तु सिर से रुखाई से लटकते बाल, ग्रन्थों मे प्राब्लेम चाइल्ड की

सी सूरत बच्चा जब माँ का माँगता है और पाता है केवल एक स्त्री जो किसी दूसरे की पत्नी है, तब उसकी आत्मा दूसरे रास्ते में पड़ कर वह कमी पूरी करना या छिपाना चाहती है सगात द्वारा, शारीरिक परिश्रम द्वारा आत्म-पीड़न द्वारा और सब से बढ़ कर दिवा स्वप्नों द्वारा, उस अभाव अस्त्र रोमांस के द्वारा।[१४] मनोवैज्ञानिकों की शिशुकालीन इडिपस परिस्थिति तथा तज्जन्य ग्रंथि का मानव जीवन पर पड़े विविध प्रभाव की दृष्टि से इन पंक्तियों का अध्ययन विशेष मनोरंजक होगा।

पुरुष के भाग्य

"पुरुष के भाग्य" नामक कहानी भी मनोवैज्ञानिक विषय निर्वाचन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। एक स्त्री अपने पैर धूल में उगे हुए दो गीले लाल पदचिन्हों की छाप पर पड़ जाने से इतना व्याकुल हो जाती है कि उसका सारा पिंजर काँप जाता है, वह लड़खड़ाने लगती है फिर सम्हल कर आगे कहती है। यह ऐसा क्यों हुआ, इसी मनोवैज्ञानिक रहस्योद्घाटन के रूप में कहानी कही गई है। उसके क्रान्तिकारी पति को प्राणदंड की सजा दी जाती है। स्त्री भी बाद में गिरफ्तार हो सात वर्ष की सजा काटती है। इसी बीच उसे एक पुत्र पैदा होता है जो प्रारम्भिक वर्षों में तो उसके साथ रहने दिया जाता है पर बाद में उसे अलग कर दिया जाता है। वह कदाचित निकलते समय जेल की सीढ़ियों पर गिर कर प्राण त्याग भी कर देता है। ये सब बातें माँ के मन में ग्रन्थि का सृष्टि करती है जो जेल के बाहर आने पर उसके जीवन में अनेक विक्षिप्त व्यापार के रूप में प्रकट होती हैं। इस निबन्ध के द्वितीय परिच्छेद में मनोविश्लेषण का प्रथम केस हिस्ट्री दी गई है और अन्य क कुछ ऐसे ही विवशतापूर्ण अर्द्धविक्षिप्त व्यापारों का उल्लेख दिया गया है। इस कहानी के स्त्री पात्र के व्यापारों में और अन्य के व्यापारों में बहुत साम्य मिलता। "एनी बोलन का बतखें, चिड़िया घर" इसी श्रेणी की कहानियाँ हैं।

एनी बोलन की बतखें, चिड़िया घर

चिड़ियाघर में[१६] चिड़िया घर की आत्मा गार्ड के रूप में अन्य पशुओं की आत्मा को पढ़ती हुई जब चिड़िया घर के बाहर वाले अंश पर जाती है तो उसका स्वर एक मनोविश्लेषक का हो जाता है और जो वह उसकी कहानी कहती है वह एक कुंठित व्यक्ति की कहानी है। "बाहर हमारे राजा के चचेरे भाई की सन्तान है एक वेश्या से। यह कहानी बहुत कम

लोग जानते हैं, क्योंकि वह वेश्या बहुत देर तक कुँवर साहब की चहेती रही और वे उसके लड़के को कुमार की तरह पालते रहे। उसे भी अपनी माँ का पता नहीं लगा। एक बार राजकुमार के कालेज मे उसकी किसी दूसरे कुमार से लड़ाई हो गई और उसने उसे वेश्या पुत्र कह दिया। जब पूछने पर सचाई का पता चला तब वह दुख और ग्लानि से पागल हो गया। अब भी उसका पागलपन मिट नहीं है। लेकिन अब यह हालत हुई है कि उसका नाम लेकर या कुंवर साहब कह कर कोई बुलाता है तब उसे दौरा हो जाता है और वह हत्या करने को तैयार हो जाता...... अन्यथा वह ठीक रहता है।"

कुछ विशेष द्रष्टव्य बातें

अज्ञेय की कहानियों की और विशेषतायें भी मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से द्रष्टव्य हैं। इनकी कुछ कहानियाँ स्वप्नों के रूप में और कुछ पात्रों की उस मानसिक स्थिति के रूप में हैं जिसे स्वप्नों की वर्राहट कह सकते हैं। कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जिसमें वर्णित पात्र (चेतन या जड़) मे ऐसी दिव्य शक्ति है जिसके द्वारा वे लोगों के अत्यन्तिक गूढ और अन्तस्थ भावों को पढ़ सकते हैं ('कोठरीकी बात' और 'चिड़ियाघर')। "पुलिस की सीटी"[१७] नामक कहानी मे एक सत्य एक सीटी की आवाज सुनता है जिसे एक लड़के ने बजाई है। इस आवाज को सुनते ही उसे एक साल पहिले की घटना याद आ जाती है जब वह और चूड़ामणि दोनों किसी पार्क में सीटी के बजने पर पुलिस द्वारा घिर गये थे और सत्य तो बच कर निकल सका पर चूणामणि को वहीं खेत हो जाना पड़ा। आज वह समझता है कि मेरी बारी आ ही गई है। क्या हुआ एक साल बाद आई तो ? यहाँ तो पूरी कहानी का निर्माण ही स्मृति के रूप मे हो सका है पर अनेक कहानियों में भी मनोवैज्ञानिकों के साहचर्य नियम (iaws of Association) के सिद्धान्तों का उदाहरण पाया जाता है। "कविता और जीवन एक कहानी में[१८] निशीथ वेला में नुपुर की ध्वनि से मिलती-जुलती ध्वनि सुनकर पात्र के मस्तिष्क पर बिजली की तरह उन स्त्रियों की छवि अंकित हो जाती है जिन्हें उसने देखा था और वह सोचने लगता है कि उनमें से कौन हो सकती है जो इस अपसमय में उससे मिलने आई है। तमोलिन, या हलवाई की लड़की या वह माँगने वाली औरत !" एक घन्टे में.. .नामक कहानी भी इसी तरह की कहानी है जो साहचर्यनियम पर अवलम्बित है।

अज्ञेय के कथा साहित्य का स्तर सदा से ही मनोवैज्ञानिक रहा है। अत प्रारम्भ से ही उनमे कथा की सुव्यवस्थितता के प्रति, सजावट के प्रति उदासीनता रही है। 'विपथगा' उनकी प्रारम्भिक दिनों की कहानी सग्रह है और तब से 'जयदोल' तक का कहानियों का इतिहास कथा भाग के निरन्तर ह्रास का इतिहास है। फिर भी 'विपथगा' की कहानियों म भी आत्मनिष्ठता ही अधिक परिस्फुट है। ऊपर (close up) और (slow up) की चर्चा हुई है। "विपथगा" की कहानी "शेखर और तितलियों" की कहानी कलागत सब्जेक्टिव क्लोज अप का श्रेष्ठ उदाहरण है। शेखर की माँ की मृत्यु हो जाती है और श्मशान भूमि में चिता पर उसकी दाहक्रिया होती है। कहानी इतनी सी है पर यह शेखर की मानसिक स्थिति की विस्तृत विवृत्ति के लिये अवसर प्रदान करती है यही उसका महत्व है। 'वे दूसरे' 'एकाकी' इत्यादि कहानियाँ इस दृष्टि से दर्शनीय हैं।

स्वकथोपकथन

कहानियों मे मनोवैज्ञानिकता के कारण, मनुष्य की विशुद्ध चेतना की, बिना किसी प्रकार क मिश्रण से विकृत अनुभूतियों का अभिव्यक्ति के कारण अज्ञेय की कला में 'स्व-वार्त्तालाप' स्वकथोपकथन की प्रवृत्ति अधिक बलवती दिखलाई पड़ती है। कथाओं में पारस्परिक कथोपकथन के सहारे कथा सूत्र को विकसित करने तथा पात्रों की मानसिक अवस्था को चित्रित करने का काम सदा से लिया जाता रहा है। पर ये कथोपकथन दो भिन्न व्यक्तियों के बीच होते थे। अत किसी पात्र की मनोभूमि में प्रवेश करने क लिए किसी दूसरे का सहारा लेना पड़ता था। अत किसी अन्य माध्यम के थ्रू वहा क दृश्यों क देखने के कारण वे अपने वास्तविक और शुद्ध रूप म दृष्टिगोचर नहीं हो सकते थे। उन पर माध्यम क गुण दोषों का आवरण चढ़ा रहता था जिसके कारण, उनम स्वरूप ही रहा, पर कुछ विकृति आ जाती अवश्य थी। विज्ञान के विद्यार्थी प्रयोगशाला में एक साधारण प्रयोग करते हैं। जल-पूरित काच के गिलास में लकड़ी का वह अश जो पानी के भीतर है कुछ तिरछा सा दिखलाई पड़ेगा। इसी का वैज्ञानिक शब्दावली में (refraction) कहते हैं। प्रत्येक तरल माध्यम में वस्तुओं को थोड़ा (refract) कर, थोड़ा वक्र कर देने की स्वाभाविक क्षमता होती है। इसी वक्री करण-क्षमता के कारण वस्तुओं की रूपाभिव्यक्ति म थोड़ी वक्रता आ जाती है अर्थात् उनका रूप थोड़ा विकृत होकर सामने आता है। अलाउद्दीन जैसा भोला प्रेमी

पद्मिनी के दर्पणगत प्रतिबिम्ब पर भले ही सतोष कर ले पर आज के प्रबुद्ध मनोवैज्ञानिक पाठक की तसल्ली इस तरह गुड़ के मलीदे से नहीं हो सकती। आज का पाठक मनोभूमि के किसी गुह्यतम कन्दरे मे रहने वाली पद्मिनी को शुद्ध निरावरण और निरलंकृत रूप मे देखना चाहता है। प्रत्येक युग की अपनी प्रवृत्ति होती है जो मंदिर के शीर्ष स्थान पर भी खडे होकर अपना जयोच्चार करती रहती है, अपने अस्तित्व की घोषणा करती है। यह भी उसी प्रवृत्ति की सत्ता का प्रतीतात्मक ज्ञापन है।

इस प्रवृत्ति का समर्थन अज्ञेय की कहानियों मे इस तरह से हुआ कि उनके पात्र अपने आवेश मे आकर दूसरों से बाते न कर स्वयं अपने से ही कथोपकथन मे प्रवृत्त हो जाते हैं। ये कथोपकथन दो व्यक्तियों मे न होकर अपने आप से है। यहाँ वक्ता और श्रोता एक ही है। अथवा ज्यादा से ज्यादा यही कह सकते हैं कि व्यक्तित्व को दो खण्ड है। इस तरह के स्वकथोपकथन की प्रवृत्ति तो 'विपथगा' मे ही प्रारम्भ हो गई है पर 'कोठरी की बात' मे आकर इसका रग और भी गहरा हो गया है और परम्परा मे आते-आते यह अज्ञेय की कला का प्रधान साधन ही बन गई है। 'पैगोड़ा वृक्ष' नामक कहानी मे सुखदा के पास एक व्यक्ति निशीथ वेला मे उपस्थित हो आश्रय-प्रार्थी होता है। उसके रग-ढंग संदेहजनक हैं। कदाचित वह क्रान्तिकारी दल का कोई व्यक्ति हो। सुखदा की कुछ बातें सुनिये।

कहीं यह व्यक्ति चोर या हत्यारा तो नहीं है?
इसे जगा कर बाहर निकाल दिया जाय?
आश्रय दिया जाय?
रोटी पानी?
धमकाने पर यदि वार कर बैठे?
पर इतना भोला क्यों मालूम होता है?
बाढ़ मे यमुना तैर कर आया है?
कपडे अभी गीले ही हैं?
फिर भी सो ही रहा है?
पागल है:[१९]

परम्परा की कहानी नम्बर दस का कुछ अंश देखिये।

"क्यों रतन दम्भ करे कि उसकी ही बहन बचने की ज्यादा अधिकारिणी है। क्यों नहीं करे दम्भ? उसकी बहन है? दूसरों के भी जो भाई हैं वे उसके लिए दम्भ करें।

लेकिन जिनका कोई नहीं है

सरकार ! लेकिन सरकार ने किसी के रुपये का रक्षा का दम्भ तो किया ही है तब तो सरकार ठीक है और वह, वह भी ठीक है।

लेकिन मैं ठीक हूँ तो सरकार भी ठीक है। मैं नहीं हूँ तो सरकार भी नहीं। यानी मैं चोर नहीं हूँ, तो चोर हूँ और चोर हूँ तो नहीं हूँ। पागल हूँ मैं। जेल ने दिमाग खराब कर दिया है।

लेकिन पागल कहने से छुट्टी मिल जाती है। मैंने सबेरे वे रुपये क्यों नहीं लिये ? जिस ममता की बात सोच रहा हूँ, उसकी रक्षा क्या इस तरह नहीं होती। यशोदा शायद जीती है। शायद राह देख रही हो उसने गिने होंगे और आज शायद और उस बेवकूफ ने रुपये नहीं लिये और

इस तरह स्वकथोपकथन अज्ञेय की अनेक कहानियों में पाये जाते हैं और विशुद्ध चेतना के चित्रण में इसे बहुत सहायता मिला है। अन्य किसी कहानीकार में इस तरह के कथोपकथन का आग्रह नहीं दीख पड़ता।

'जयदोल' कहानी संग्रह में मनोवैज्ञानिक चमत्कार

'जयदोल' नामक संग्रह की कहानियों के अध्ययन से यह पता चल जाता है कि आत्मनिष्ठा, सबजेक्टिविटि अर्थात् चेतना के निशुद्ध प्रवाह का शब्दों में बाँध लेने का प्रवृत्ति घटनाओं की क्या दुर्गति कर दे सकता है, उन्हें क्या बना दे सकती है, घटनाओं की पदार्थता और घटना को वह मानसिक उबाल बिन्दु (Boiling Point) के तापमान में स्थापित कर उसे तरल और वाष्पीय अवस्था म परिणत कर देती है और इस अवस्था म उनमें कुछ ऐसा गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है कि वे घटनायें न रह का एक मानस की लहर बन जाती है। वैज्ञानिकों के लिए ध्वनि तरगों तथा चुम्बकीय तरगों को विद्युतरगों में परिवर्तित कर उन्हें अभीष्ट सिद्धि में नियोजित करना सहज है, वे आज एक अर्द्धशताब्दी से इस कला का चमत्कार दिखलाते आ रहे हैं। पर बाह्य, ठोस दृढ़ पदार्थों एव ससार के रगमच पर अपना पिण्डी भूत सत्ता के प्रदर्शननिरत घटनाओं को मानस का लहरों म परिवर्तित करने का काम अभी हाल म ही साहित्य के क्षेत्र म होने लगा है। आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में इस वर्ग के मनोवैज्ञानिक का नेतृत्व अज्ञेय के हाथ में है। उन्होंने सनकं होकर चेष्टापूर्वक कहीं कहीं मनोविश्लेषण का मान्यताओं को अपने साहित्य म स्थान दिया है। जहाँ ऐसा नहीं हो सका है वहाँ उन्होंने अति साधारण सी घटनाओं को ही अपना

प्रतिभा की आँच से गला कर हमारी मानसिक तरलता मे समान-धर्मी बना-कर उस से संयोजनीय बना दिया है।

'जयदोल' मे ११ कहानियाँ हैं। ११ न कह कर ६ ही कहना चाहिये। कारण कि 'कवि-प्रिया' तो एकाकी नाटक की तरह है और 'ग्रेगीन' रोज नामक कहानी के रूप मे 'विपथगा' मे भी पाई जाती है।[२०] दूसरे मे एक व्यक्ति के अपनी पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद के अवसर पर विदा माँगने की कथा है। 'जयदोल'[२१] मे एक सैनिक के स्वप्न की कथा है। हेली बोन की बतखें[२२] मे कथा इतनी ही है कि एक लोमड़ी बतख को खा जाती थी। अतः उसे गोली से मार दिया गया। पर मरणासन्न लोमड़ी पर उसके बच्चे और स्त्री की करुणायुक्त अवस्था से हेली बोन इतनी प्रभावित होती है कि वह अपने बतखों को मार डालती है।" मेजर चौधरी की वापसी[२३] मे इतनी सी कहानी है कि मेजर चौधरी को युद्ध कार्य के लिये अक्षम हो जाने के कारण घर पेंशन देकर भेजा जा रहा है। 'नंगा पर्वत की एक घटना' में भी एक छोटी सी घटना का ही उल्लेख है। इन कहानियों मे किसी बाहरी अति क्षुद्र घटनाओं की अकिंचनता जो पात्रों के मानस सागर का मंथन कर अभ्रंलिह लहरें पैदा कर देती है, चाय की प्याली मे जो तूफान उठता सा दीख पड़ता है उसमें से होकर आने वाली ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। वह मानों हमसे कहती है कि मानव मस्तिष्क को तरंगायमान करने के लिये किसी बाहरी घटना की आवश्यकता ही क्यों हो। शान्त सरोवर में लहरे उठाने के लिए बाहर की कंकड़ी की अपेक्षा ही क्यों की जाय। क्यों न उसका हृदय अपनी ही इच्छा से लहरा कर चंचल हो उठे।

द्वितीयतः, यदि किसी बाह्य घटना (जिसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली मे कहिये स्टुमलस (Stimulus)) आये ही तो स्टुमलस और उसके प्रतिक्रिया के सानुपातिक महत्व को ही क्यों स्वीकार किया जाय ? क्या आवश्यकता है कि मानव हृदय की प्रतिक्रियाओं की विशालता उग्रता, त्वरा, संकुलता बाह्य (Stimulus) के गौरव की अनुपातिकता का अनुसरण करे। क्यों नहीं बाहर से दीख पड़ने वाली नगण्य और क्षुद्र घटना मानव मस्तिष्क मे या उसके अन्तःकरण में एक ऐसी लहर की सृष्टि करे जिसकी ध्वनि और प्रतिध्वनि जीवन पर्यन्त गुंजारित होती रहे। 'पठार का धीरज'[२४] नामक कहानी मे लेखक कहता है "लेकिन यथार्थता के स्थूल वास्तव में फिर सूक्ष्म वास्तव जिसमें हमारे भाव का भी आरोप है। फिर क्या और भी कोटियाँ नहीं हैं जहाँ भाव ही प्रधान हो, जहाँ तथ्य नहीं पहचाना जाय। जहाँ वह

व्यक्ति जीवन के प्रसार में गहरी लीकें काट गया हो नहीं तो और पहचानने का कोई उपाय न हो। क्योंकि व्यक्ति जीवन के क्षण का स्पन्दन इतना तीव्र हो कि सब कुछ उसी की गूंज रही हो और कोई ध्वनि न सुनी जा सके।"[२५] इस तरह की मनोवैज्ञानिक छान बीन अज्ञेय की कहानियों की अपनी विशेषता है। अपने पात्रों को एक ही समय दो या तीन मानसिक स्तर पर जीवन तथा प्रतिक्रिया करने की ओर इतनी दृढ़ता के साथ किसी दूसरे कथाकार का ध्यान नहीं गया है शायद जैनेन्द्र का भी नहीं।

पाद टिप्पणियाँ

(1) Supernatural in Fiction by Peter Penzoldt Peter Nevill P 18 (२) वही पृ० १६ (३) श्री भद्भगवद् गीता का प्रथम श्लोक (४) आकाशदीप, जयशंकर प्रसाद, द्वितीय संस्करण सं० १६६६ पृ० १५ (५) कृत्रिम उपायों से जिनमें समय के पूर्व ही फल उगाया जाता है (६) परम्परा, द्वितीय संस्करण १६४६ पृ० २३ 'अलिखित कहानी' (७) वही (८) वही (६) विपथगा, प्रथम संस्करण संवत् १६६५ भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग पृ० १४१ (१०) परम्परा की १६वीं कहानी (११) विपथगा, प्रथम संस्करण सं० १६६५ पृ० १६६ (१२) परम्परा, पृ० २३, द्वितीय संस्करण अप्रैल १६४६ (१३) परम्परा की तीसरी कहानी पृ० ३२ (१४) परम्परा की १४वीं कहानी पृ० १३१ (१५) परम्परा की २१वीं कहानी (१६) परम्परा की २०वीं कहानी पृ० १७० (१७) परम्परा की १७वीं कहानी (१८) परम्परा की १६वीं कहानी (१६) विपथगा, प्रथम संस्करण पृ० ४६ (२०) जयदोल की ६ठीं कहानी (२१) जयदोल की ११वीं कहानी (२२) जयदोल की ५वीं कहानी (२३) जयदोल की १०वीं कहानी (२४) जयदोल की १ली कहानी (२५) जयदोल, प्रथम संस्करण, पृ० ११

दशम अध्याय

इलाचन्द जोशी के उपन्यास और मनोविज्ञान

प्राक्कथन

इस अध्यय मे हम इलाचन्द जोशी के उपान्यासों का अध्ययन इस दृष्टि से करेगे कि कहाँ तक उनमे नूतन मनोविज्ञान का प्रभाव पड़ा है जोशी जी आज के औपन्यासिकों मे अग्रगण्य है। उनका अध्ययन विस्तृत है, भारतीय और विदेशी साहित्य दोनों का। आधुनिक युग के मनोविज्ञान के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का इन्हे पूर्ण परिचय है और आपने मनोविज्ञान पर एक पुस्तक भी लिखी है। हाल ही मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वारा प्रकाशित 'विवेचना' नामक लेख सग्रह मे हिन्दी उपन्यासों पर उनके कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण लेख सग्रहीत हुए है जिनके अध्ययन से उनके दृष्टिकोण का पता चला सकता है। उन्होंने लिखा है कि—

"शराब खोरी और वेश्यागामिता के झुकाव का कारण खोजने के लिये वह उपन्यासकार केवल बाहरी सामाजिक कारणों के ही नहीं खोजेगा बल्कि उसके विकृत अह के प्रत्येक स्तर को चीर-चीर कर उसके भीतर से ही मूल कारण खोज निकालेगा। वह उनके यथार्थ भीतरी रूप को अनावृत रूप मे जनता के आगे रख कर उनका भण्डाफोड़ करके समाज को उनके खतरे से बचते रहने के लिये सचेत करेगा!"[१]

अपने उपन्यासों की भूमिका मे भी उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये है। इन सबसे स्पष्ट है कि उन्होंने आग्रहपूर्वक मनोविज्ञान को अपने उपन्यासों मे स्थान दिया है, जान-बूझ कर उसे अपनी रचनाओं का उपजीव्य बनाया है। वे उन उपन्यासकारो में नहीं हैं जिनकी रचनाओं मे स्वभावतः मनोवैज्ञानिकता का रंग आ जाता है। नहीं, उनमें रंग बड़ा ही गाढ़ा है और उन्होंने गाढ़ी से गाढ़ी मनोवैज्ञानिक स्याही मे अपनी पुस्तकें लिखी हैं। यद्यपि बाह्य दृष्टि से तो वे प्रेमचन्द्र जी की वर्णनात्मक शैली के अनुयायी मालूम पडते हैं पर दोनों में बहुत ही अंतर है।

मनोविज्ञान और "प्रेत और छाया"

पं० इलाचन्द जोशी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है "प्रेत और छाया।"

यह उपन्यास पर्याप्त बड़ा है और ४६ परिच्छेदों म समाप्त हुआ है। अथारम्भ के पूर्व एक लम्बी भूमिका है जिसमें लेखक ने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उस भूमिका का मूल स्वर यही है कि

सभी प्रकार के जीवन चक्रों की मूल परिचालिका शक्ति है विश्व मानव की अज्ञात चेतना अंतर्जीवन और अज्ञात चेतना से सम्बन्धित रचनाओं की उपेक्षा करने से काम न चलेगा इत्यादि इत्यादि।

उन्होंने बड़े सशक्त और सजीव शब्दों म साहित्यिकों से अपील की है कि वे "इस अज्ञात और अर्द्धज्ञात चेतना को अपनी क्रियात्मक प्रतिभा की किरणों के स्पर्श से चमत्कृत कर पाठकों के सामने रखें और उन्हें जीवन को मूल रूप से संचालित करने वाली वास्तविकता से परिचित करायें। क्योंकि शांति की स्थापना तब तक सम्भव नहीं जब तक मानव समाज अन्त जीवन को उतना ही बल्कि अधिक महत्व नहीं देता जितना कि बाह्य जीवन को। उन्हें दबा देने से काम नहीं चलेगा। इतिहास ने हमें स्पष्टतापूर्वक बता दिया है कि उन्हें अस्वीकार करना शतुर्मुर्ग वाली नीति से कुछ अधिक अच्छा न होगी जो आँख मूँद लेना ही खतरे को टाल देना समझती है। रह गई उनके आकस्मिक विस्फोट होने की बात। यह तो होकर ही रहेगा। पर क्या कोई भी व्यक्ति इस परिस्थिति को शांत चित्त से देख सकता है जिसमें एक पर एक आने वाले विस्फोट हमारे वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को जड़ से उन्मूलन कर देने की धमकी देते रहें। तब हमारे सामने अपनी समस्या के हल का एक ही उपाय रह जाता है और वह यह है कि हम उन प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण करें, उन्हें दबायें नहीं पर उन्हें अपने मनोऽनुकूल मार्ग की ओर प्रेरित करें।"[२]

इन्हीं बातों की आधार शिला पर 'प्रेत और छाया' की विशाल इमारत की नींव रखी गई है। इस उपन्यास का नायक पारसनाथ नामक नवयुवक है। इसका लेखक [illegible] फ्रायडियन मनोविज्ञान के कुछ तत्वों के निरूपण करने का प्रयत्न किया है। इसमें इडिपस ग्रंथि की भी बात आ गई है क्योंकि इसमें [illegible] के प्रति पुत्र के [illegible] की बात की प्रधानता है। माता [illegible] के सम्बन्ध के प्रश्न को भी चर्चा है। यह शायद [illegible] का ही प्रभाव था कि [illegible] साहित्य में इस कथाकारों का सम्प्रदाय हो गया है, जो अपनी [illegible] है, जिसमें जीवन के [illegible] को भी स्थूल और यांत्रिक अर्थों में [illegible] है और [illegible] पुरुष की प्रतिद्वन्द्विता का अत्या-[illegible] दिखलाया है।

स्वार्थी और दुष्टात्मा के रूप में देखते हैं। पुत्र पिता को निजी दानव के रूप म देखता है और उसी नाम से पुकारता है।

जब से एक बार पारसनाथ के पिता ने उसे यह बात बतलाई कि वह उसका असली पुत्र नहीं है। उसकी माता का गुप्त व्यभिचारिक सम्बन्ध किसी शिवशंकर वैद्य से था और इस अवैध सम्बन्ध और उससे उत्पन्न जटिलताओं से बचने के लिये, उसे कुलटा माँ के कारण ही में अपने गाँव की जमींदारी को छोड़ कर कालिम्पोंग आना पड़ा तब से उसके मन में एक बड़ी ग्रंथि बनकर रह गई है जिसने जन्म भर उसे बेकार बनाये रखा जब तक वह ग्रंथि खुली नहीं। उस घटना के बाद से पारसनाथ के भीतरी जीवन में एक भयंकर परिवर्तन आ गया, उसे ऐसा मालूम होने लगा कि जीवन के प्रभात म जो एक रहस्यपूर्ण प्रकाशमय निर्मल आकाश एक अशांत किन्तु मनोहर छवि लेकर उसकी आँखों के आगे उतरा था उस पर किसी ने अपने दानवी हाथ से केवल एक ही बार ब्रुश फेर कर एक ओर से दूसरे छोर तक गाढ़ा कालिमामय कोलतार पोत दिया है। उस कोलतार की पुताई अब मृत्यु पर्यन्त नहीं मिटने की। यह ध्रुव विश्वास उसके मन में जम गया। जिस मर्मघाती भयंकर घृणा और कुटिल प्रतिहिंसा की मुद्रा से वह भूकम्प और अग्नि विस्फोट पैदा करने वाली बात उसके पिता ने उससे कही थी वह आधीरात की एक विकराल भौतिक छाया के रूप में उसके मस्तिष्क के भीतर प्रवेश कर गई और तब से सैकड़ों तरीकों से झाड़ फूँक करने पर भी वह छाया उसके भीतर से न हटी, बल्कि अधिकतर दृढ़ता से अपना आसन जमाती चली गई अर्थात् यह बात उसके मन में जैसा कि ऊपर कहा गया है, एक भयंकर ग्रंथि के रूप म जम गई। सारी स्त्री जाति मात्र में वह अपना व्यभिचारिणी माता, जारज संतान उत्पन्न करने वाली माता की छाया देखने लगा। जिस जाति के एक सदस्य ने उसे एक घृणित और समाज में तिरस्कृत जारज संतान का रूप दे दिया उसे वह कभी भी क्षमा नहीं कर सकेगा। जहाँ तक हो सकेगा वह अपने हृदय की सुलगती ज्वाला से उसे जला कर भस्मीभूत और नेस्तनाबूद करेगा।

यही कारण है कि चाहे कांची से, चाहे मंजरी से, चाहे चन्दनी से प्रारम्भ में वह कितना ही सहृदयता तथा स्नेह और उदारता का व्यवहार करता हो पर जब असली समय आता है अर्थात् विवाह का समय आता है वह उन्हें धुता देकर, धोखा देकर, उनका सर्वस्व अपहरण कर उन्हें दर दर की भिखारिणी बना कर चलता बनता है। हाँ, हीरा के साथ वह अवश्य

दाम्पत्य के पवित्र सूत्र में विधिवत् आबद्ध होकर व्यवस्थित गृहस्थ का
व्यतीत करने लगता है। पर कब? जब अपने पिता के मुख से उ
बात मालूम होती है कि उसकी माँ सती साध्वी थी और उसने भूल से
गलतफहमी में पड़ कर उसके चरित्र पर दोषारोपण किया था। यह च
तभी सम्भव हो सका जब उसके हृदय का काँटा निकल गया। उस
नहीं अर्थात् जब तक उसके अन्तस्थल में पड़ी हुई ग्रथि न खुली।

फ्रायडियन मनोविज्ञान में इस तरह की मनोग्रन्थियों का मनु
जीवन मे बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। दूसरे अध्याय में इस बात की
हो चुकी है कि ये मनोग्रथियाँ किस आश्चर्यजनक, अप्रत्याशित और अ
रूप में फूट पड़ती हैं। कभी-कभी तो आपके प्रति स्नेह से भरे रहने
अपने हृदय के रस से आपके जीवन वृक्ष के मूल को सींचने वाले,
लिये प्राणों का उत्सर्ग कर देने वाले व्यक्तियों के प्रति ईर्ष्या, द्वे
घातक ग्रन्थियों की गाँठ पड़ जाती है। ऐसा भी होता है कि आपसे
करने वाले, अपके जीवन के घात मे बैठे रहने वाले, पद पद पर आपको
नाश के मार्ग मे ढकेलने वाले व्यक्तियों के प्रति आपके हृदय
कोमल भावनाये जग जाती हैं, आप उनके प्रति बडे ही कोमल भाव
किये रहते हैं तथा आपके हृदय में उनके लिये बड़ी कोमल गाँठ पड़
है। उनमे से तो कुछ गाँठें छुड़ाई जा सकती हैं और कुछ का छुडाया
असम्भव है। मानव मस्तिष्क की किन क्रियाओं द्वारा यह सम्भव
द्वितीय परिच्छेद मे बताया जा चुका है। यहाँ उनकी पुनरावृ
आवश्यकता नहीं है।

किडनेप्ड कहानी में मनोविज्ञान

प० इलाचन्द जोशी के कहानी सग्रह 'रोमान्टिक छाया' मे एक
है 'किडनेप्ड'। इस कहानी की नायिका सम्मोहिनी एक फिल्म मे
करने वाली नायिका है। वह एक नवयुवक को बंबई अपने साथ भ
लाती है। कुछ दिनों तक उसके साथ बडे ही घनिष्ट भाव से तथा प्रे
आनन्दोल्लासपूर्ण जीवन व्यतीत करती है पर जब नवयुवक की
विवाह के द्वारा स्थायी सम्बन्ध में आबद्ध हो जाने का प्रस्ताव आता
वह उसे ठुकरा देती है और उसके बाद वह उसके प्रति उदासीन हो
है। तत्पश्चात् दो तीन पुरुषों के साथ यही क्रम चलता है जो आत
कर लेते है। अन्त मे एक प्रणयी से उसका विवाह हो जाता है ज

उसके आभूषण धन इत्यादि का अपहरण, करके उसे रुग्णावस्था में छोड़ कर तिल तिल मरने के लिये छोड़ कर चम्पत हो जाता है। उसके प्रथम प्रणयी को जिसे वह भगा कर लाई थी, जब सम्मोहिनी की इस विपन्नावस्था का पता चलता है तब वह उसके पास जाकर बड़ी तत्परता के साथ उसके रोग का उपचार करता है जिसके फलस्वरूप वह स्वस्थ हो जाती है। एक दिन अवसर देख कर वह नवयुवक सम्मोहिनी से अचानक प्रश्न कर बैठता है "तुम्हारे पति का कोई सवाद मिला इस समय है कहाँ, बबई में या ? उसके उत्तर में जिस घृणा और आक्रोश भरे शब्दों का प्रयोग करती है उसमें फ्रायडियन मनोविज्ञान के अध्ययन की पर्याप्त सामग्री मिलेगी।

"पर भूल कर भी यह न समझना कि चूंकि तुमने अपनी सेवा टहल से मुझे मरने से बचाया इसलिये तुम्हारी कृतज्ञ रहूँगी। नहीं, तुमने कृतज्ञता के योग्य कोई भी काम नहीं किया है। मैं खूब जानती हूँ कि तुमने मुझे मरने से क्यों बचाना चाहा। तुम्हारे त्याग और सेवा की भावना के नीचे मुझे स्वय अपनी आँखों से लज्जित करने का उद्देश्य छिपा था अपने छोटे जीवन में पुरुषों की घोर दानवता और स्वार्थ से मिश्र घृणित वृत्तियों के सम्बन्ध में जो अनुभव मुझे है उन्होंने जीवन और जगत के सम्बन्ध में एक बिल्कुल ही नयी दृष्टि दे दी है। मैंने कोई भाई अपनी माँ की कोख से नहीं पाया। फल यह हुआ कि बचपन में अपने साथ की दूसरी लड़कियों को अपने भाइयों पर स्नेह बरसाते देखकर मेरी सहज आकांक्षा मचल-मचल कर रह जाती थी जब लखनऊ में तुम्हें मेरा परिचय हुआ तो मेरा मातृ-प्रेम पूरे वेग से उमड़ पड़ा जब और भी दो दुर्घटनायें मेरी इस अनोखी और भोली स्नेह भावना के कारण हुई तो अन्त में मेरी मुग्ध आँखें खुलीं। इसलिए जब अन्तिम व्यक्ति मेरे हृदय की उसी कोमल और करुण भावना का अधिकारी बनने के बाद एक दिन विवाह का प्रस्ताव कर बैठा तो मैंने केवल इस डर से प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया कि कहीं वह भी आत्मघाती कांड न कर बैठे निश्चित परिणाम पर पहुँच गई हूँ कि स्त्री के सम्बन्ध में पुरुष की स्वान वृत्ति ही अधिक उभरी रहती है। इसलिये नमस्ते। तुम अपने रास्ते जाओ और मैं अपने।"

इस विकलांग और कटे-छटे उदरण से सम्मोहिनी की बातों के आवेग और वेगमयता के साथ पूरा न्याय तो नहीं हो सकता पर फिर भी भाई और बहिन का फ्रायडियन प्रेम तथा अटपट गति से चलने वाला प्रगति का आभास मिल ही जायेगा।

आधुनिक और पूर्वकाल के उपन्यासों की प्रेम चर्चा में अन्तर

हिन्दी कथा साहित्य मे प्रेमचन्द जी अथवा उसके पूर्व भी पति और पत्नी मे मनोमालिन्य तथा संघर्ष की चर्चा ही नहीं थी सो बात नहीं। 'रंगभूमि' मे इन्दु तथा महेन्द्र कुमार के चरित्र की ओर देखने से पता चलेगा कि किस तरह दाम्पत्य जीवन में कलह और संघर्ष की विभीषिका अग्नि की लपटों की तरह फैल कर हरे-भरे उद्यान को झुलसा दे सकती है। 'रंगभूमि' मे प्रेमचन्द जी ने दोनों व्यक्तियों को पाँच या छः बार पाठकों के सामने उपस्थित किया है और दोनों तने हुए, भरे हुए दिल मे गुबार लिये हैं मानो दोनो पति और पत्नी न होकर शाश्वतिक विरोधी हों। उपन्यास मे हम सब से पहिले इन्दु को अपने पिता कुँवर भरत सिंह के यहाँ देखते है जहाँ सोफिया अग्नि-काड से पीड़ित होकर चार महीनों खाट पर पड़ी-पड़ी स्वास्थ्य लाभ कर रही है। तत्पश्चात् महेन्द्र कुमार जी के यहाँ से उनके लिये बुलावा आता है। वह मिस सोफिया को भी अपने साथ कुछ दिनों के लिये ले जाना चाहती है और इसके लिये उससे यह कह कर वचन भी ले लेती है। पर महेन्द्र कुमार जी के सामने इन्दु जब प्रस्ताव रखती है तो वे स्वीकार नहीं करते। महेन्द्र कुमार किसी तरह राजी न हुए। इन्दु रोई, अनुनय विनय की, पैरों पड़ी, वे सभी मंत्र फूँके जो कभी निष्फल नहीं होते। पर पति का पाषाण हृदय न पसीजा। उन्हे अपना नाम संसार की सब वस्तुओं से प्रिय था—

इधर इन्दु भी यह सोचती है ..."उन्हे तो यह मंजूर है कि वह दिन भर अकेली बैठी अपने नाम को रोया करे। दिल मे जलते होंगे कि सोफी के साथ इसके दिन भी आराम से गुजरेंगे। मुझे कैदियों की भाँति रखना चाहते हैं। उन्हे जिद करना आता है तो क्या मैं जिद नहीं कर सकती..."[१] दूसरा अवसर वह आता है जब सेवा समिति के सदस्य गढ़वाल जा रहे है। और इन्दु उन्हे विदा करने स्टेशन पर जा रही है। महेन्द्र कुमार जी इसे पसन्द नहीं करते क्योंकि वे हाकिम हुक्काम की नजरों मे गिर जायेगे। राजा साहब कहते हैं। "मालूम होता है हमारे और तुम्हारे ग्रहों मे मौलिक विरोध हैं जो पग-पग पर अपना फल दिखलाता रहता है। इधर इन्दु भी सोचती है आह, क्या वस्तुतः हमारे ग्रहों मे कोई मौलिक विभेद है जो पग-पग पर मेरी आकाक्षाओं को दलित करता रहता है। मैं कितना चाहती हूँ कि उनकी इच्छा के विरुद्ध एक भी कदम न चलूँ पर यह प्रकृति विरोध मुझे हमेशा नीचे दिखाता है।"[२]

न मैं मरूँ और कब वह मेरा कफन उतार कर उसे बेच कर जो कुछ भी पया मिले उससे लाभ उठाये।"[४]

म यह कहना चाहता हूँ कि आधुनिक मनोविज्ञान के प्रभाव में आकर आधुनिक कथाकारों ने पति पत्नी को निरंतर संघर्ष रत तथा शाश्वतिक विरोध संलग्न प्राणी के रूप में चित्रित किया है। यह बात प्रेमचन्द तथा उनके पूर्ववर्ती कथाकारों के लिये कल्पनातीत थी। फ्रायड की अनेक मान्यताओं से एक मान्यता है परस्पर विरोधी भाव प्रवणता (Ambivalence) का। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य मे दो तरह की परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियाँ पास पास प्रवाहित होती रहती हैं। यदि हम किसी से प्रेम करते हैं तो साथ ही घृणा के भाव भी लगे रहते हैं। यदि व्यक्ति धृणित है तो उतनी ही मात्रा में भय भी है। यदि वह हमें दूर फेंकता तो एक ओर खींचता भी रहता है, यदि उसमें आकर्षण है तो विकर्षण भी है। Love and hate are basically the same kind of response अर्थात् प्रेम और घृणा, आकर्षण और विकर्षण, खिंचाव और तनाव दोनों विपरीत से लगने वाले भावों में मूलगत एकता है। फ्रायडियन मनोविज्ञान का जो अध्ययन द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है उसे पढ़कर मन में यह धारणा बँधती है कि उसका प्रमुख उद्देश्य यह है कि हम मनुष्य के क्रियाकलापों के रहस्य को समझें, उसके परस्पर विरोधी असम्भव, असंगत तथा ऊटपटांग से लगने वाले व्यवहारों की युक्तियुक्त व्याख्या कर सकें।

देखने में आता है कि निरीह सीधा सादा शांत प्रकृति का व्यक्ति जिसके लिये एक तृण को तोड़ना भी कठिन है, जो पशु-पक्षियों के साथ भी बड़ी सहृदयता और कोमलता का व्यवहार करता है, जो अपने ऊपर किये गये बड़े से बड़े अत्याचार को सहन कर लेगा परन्तु दूसरों का हृदय उसकी वाणी से छिद न जाय इसका ख्याल रखेगा वह कभी बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के अथवा एक तुच्छ कारण से ही अपने को ऐसे आकाण्ड ताण्डव में रत कर देता है जिसका उसमें कभी भी आशा नहीं की जा सकती। सीता भी जब वन जाने का हठ करने लगीं तो कौशल्या मा ने कहा—

> सो सिय वन बसहिं केहि भाँति
> चित्र लिखित कपि देख डराती

वह सीता जो चित्र में लिखित कपि को भी देख कर डर जाती हो वह भला वन में अनेक विकराल और भयकर हिंस पशुओं और राक्षसों के बीच

कैसे रह सकेगी ? पर मनुष्य मे इस तरह के परस्पर और आपाततः स्वभाव-विरोधी अबोध-गम्य व्यापारों को देख कर चकित हो जाना पड़ता है। फ्रायड जुंग इत्यादि मनोवैज्ञानिकों ने हमे कुछ ऐसे सूत्र दिये हैं जिनके सहारे बोधातीत क्रियाओं तथा गतिविधियों का रहस्योद्घाटन हो सकता है। उन्होंने बतलाया है कि बाह्य दृष्टि से निरीह, सरल भावापन्न निर्दोष तथा अनपकारक सी दीख पड़ने वाली मानवीय क्रिया-चेष्टाओं मे अनन्त ग्रन्थियाँ भरी रहती हैं। बूँद मे बाडव का दाह छिपा रहता है, हिमाच्छादित पर्वतमाला के गर्भ मे विसूवियस की लावा दहकती रहती है। कहीं ऐसा भी होता है कि वाहरी तड़क-भडक, बाहरी विभीषका, बाहरी आतंकपूर्ण हिंसात्मकता की नींव खोखली हो, वह केवल सतही (Skin deep) हो। वह मनुष्य की निष्क्रियता तथा अक्षमता एवं निस्सहायता की प्रतिबिंब हो। दूसरे शब्दों में, मनोविज्ञान ने बताया है कि मनुष्य इतना सीधा-सादा प्राणी नहीं है जितना वह ऊपर से देखने मे लगता है। उसके प्रत्येक छोटे से छोटे तथा बडे से बडे क्रिया-कलापों के रहस्य को समझने के लिये सतर्कता की आवश्यकता है।

फ्रायड द्वारा एक नारी का विश्लेषण

एक उदाहरण लीजिये। एक नवयुवक सरकारी कर्मचारी फ्रायड के पास आया और अपनी सास की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की प्रार्थना की। वह महिला तिरपन वर्ष की थी, उसका स्वभाव भी कोई बुरा नहीं था, हँसमुख स्वभाव वाली, आनन्द और विनोद-प्रिय नारी थी। पर कुछ दिनों से अपने पति के चरित्र के सम्बन्ध में उसके हृदय मे शंका के कीटाणु प्रवेश कर गये थे और इसी कारण उसने अपने कटु व्यवहारों से अपने घर के व्यक्तियों का जीवन नारकीय बना रखा था। उसका पति सहृदय विवेकशील तथा समझदार व्यक्ति था। आज तक पति पत्नी में कभी कलह नहीं देखा गया। उनकी दो संतानें थीं जो अब वैवाहिक जीवन व्यतीत कर रही थीं। पर न जाने क्यों एक तुच्छ तथा तथ्यहीन आधार पर इस महिला का हृदय अपने पति के इतनी दीर्घ अवधि मे ठोंक-पीट कर, बजाकर परीक्षित सच्चरित्रता के प्रति हिंसात्मक रूप मे अविश्वस्त हो उठा कि वह विक्षिप्त सी होकर अनेक अशोभन व्यापार करने लगी, जो निश्चय ही उसके स्वभाव से मेल नहीं खाते थे। वह संभ्रान्त महिला अपनी नौकरानी से यों ही वार्तालाप किया करती थी कि एक दिन उनके घर पर एक सज्जन आये जिनके

बारे में यह बात प्रख्यात थी कि उन्होंने अपनी पत्नी को त्याग दिया है और किसी दूसरी नारी के साथ आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। बात चीत के क्रम में उसके मुख से यह वाक्य अनायास ही निकल पड़ा कि यदि मैं अपने पति के सम्बन्ध में ऐसी बात सुन पाऊँ तो मेरी दशा भयंकर हो उठे।

एक ही दिन बाद उस महिला को गुमनाम पत्र मिला जिसमें उसके पति पर चरित्र सम्बन्धी लाञ्छन लगाये गये थे। यद्यपि पत्र प्रेषक के नाम का उल्लेख उस पत्र में नहीं था पर कुछ तो लिखावट तथा अन्य कारणों से यह निश्चित हो गया कि इस असत्यपूर्ण पत्र को ईर्ष्यावश उस नौकरानी ने ही लिखा है। उस नौकरानी का उस महिला से जिससे रोगिणी के पति के साथ अवाञ्छनीय के लाञ्छन लगाने की चेष्टा की गई थी ईर्ष्या होना स्वाभाविक था। ये दोनों साथ ही रहती थीं, दोनों की सामाजिक स्थिति एक थी पर यह क्रमशः उन्नति करती गई और समाज में उसकी प्रतिष्ठा अधिक होने लगी। सबको उसका कपट स्पष्टतया ज्ञात हो गया और वह नौकरी से हटा दी गई। पर शंका का जो विष उस महिला के हृदय में प्रविष्ट हो गया था निकला नहीं और वह अनेक अप्रत्याशित कटु व्यवहारों के रूप में प्रकट होने लगा।

यह रोगिणी विक्षिप्तावस्था में फ्रायड के पास चिकित्सा के लिये आई। फ्रायड ने मुक्त आसंग (Free association) पद्धति के द्वारा उसके रोग के निदान की चेष्टा की। इस पद्धति द्वारा जाँच के सिलसिले में रोगिणी के मुख से अनायास कुछ ऐसे वाक्य निकल पड़े जिनके सूत्र को पकड़ कर उसने निश्चित् किया कि इस तरह की विक्षिप्तावस्था उस रोगिणी के लिये एक मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता (Necessity) थी। वास्तव में अपने पति के चरित्र में शङ्का के भाव का अवस्थिति के कारण उसके हृदय को सन्ताप मिलता था। फ्रायड ने रोगिणी के निदान में कहा कि वह महिला स्वयं एक नवयुवक के प्रति आकर्षित थी। वह नवयुवक और कोई नहीं बल्कि वही जमाता था जो उसे फ्रायड के पास चिकित्सार्थ ले आया था। इतनी बात से उस महिला के सारे निन्दित व्यवहार समझ में आ सकते हैं। अपने जमाता के लिये हृदय में प्रेम के भावों का पोषण करना सामाजिक दृष्टि से घोर अपराध है और निन्दनीय कर्म है। सास और जमाता का सम्बन्ध ही ऐसा है जिसमें वास्तविक काम भावना को वात्सल्य स्नेह के निर्दोष एवं अहानिकर रूप को धारण कर बाहर आने की पूर्ण सुविधा है। पर चेतन मस्तिष्क में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह इस तिक्त सत्य की ज्वाला को सहन कर सके। अतः

यह भावना निर्मम रूप से दबा दी गई और अर्द्ध चेतन मे जाकर वहाँ से सारे मानस और मानसिक व्यापार को प्रभावित करने लगी। इस भावना का दबाव उसके मानस पर इस तरह पड़ने लगा कि परिस्थिति असह्य हो गई। कहीं से कुछ सहायता तो मिलनी ही चाहिये। कोई तो ऐसा उपाय हो जिससे कुछ क्षण के लिये बोझ हल्का हो सके और जान मे जान आये।

हाँ, एक उपाय तो है। इस तथाकथित पाप कर्म में लिप्त वह अकेली नहीं है जो इस वृद्धावस्था मे भी एक नवयुवक के प्रति काम भाव से आकृष्ट होती है। उसका पति भी तो इतना प्रतिष्ठित होकर समाज मे आदर और सत्कार का भाजन होकर भी दूध का धोया नहीं है, वह भी तो एक इस वार्द्धक्य मे एक नवयुवती के प्रणय स्पर्श की चाह रखता ही है। तब वही क्यों अपनी आत्म-भर्त्सना के सौ-सौ डंकों की यन्त्रणा भोगती रहे। फ्रायड के शब्दों मे "अपने पति की असच्चरित्रता की कल्पना ने उसके जलते हुए घाव पर हिम शीतल लेप का काम किया।" जीवन मे इस तरह की मनोवृत्ति के उदाहरण पग-पग पर देखने को मिलते हैं। यदि कोई विद्यार्थी परीक्षा मे असफल हो जाता है तो दूसरे विद्यार्थियों की असफलता उसकी परिस्थिति को सह्य बना देती है। शायद बुद्ध ने भी अपने पुत्र के वियोग मे विह्वल माता को इसी शर्त पर पुत्र को पुनर्जीवित कर देने की प्रतिज्ञा की थी यदि वह इतना सा कर सके कि थोड़ी सी आग उस परिवार से माँग कर ला दे जिसमे आज तक कोई मृत्यु नहीं हुई है। जब शोक विह्वल माता ने देखा कि संसार में प्रत्येक प्राणी के हृदय मे कोई न कोई वियोगजन्य घाव है जो सदा दुखता रहता है तो उसके हृदय मे पुत्र वियोग की पीड़ा की वेदना इतनी तीव्र न रह गई। फ्रायड ने रोगिणी की विक्षिप्त दशा की जो व्याख्या की है उससे यह बात समझने मे सहायता मिलती है कि विक्षिप्तता के मूल मे प्रायः अन्तर्द्वन्द्व होता है। नैतिक प्रबल भावनाओं के दमन के परिणाम स्वरूप मनुष्य मे आत्म ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। जब मनुष्य अपनी आत्म-स्मृति को भुलाने की चेष्टा करता है तो वह विक्षिप्तता का कारण बन जाती है। आत्म ग्लानि का भाव प्रबल होने पर चेतना की रुकावट को अलग करके बाहर आ जाता है यही विक्षिप्तता की अवस्था है।

एक दूसरा उदाहरण फ्रायड की प्रसिद्ध पुस्तक Psycho-pathology of every day life से लिया जाय। इस मनोरंजक पुस्तक मे यह दिखाने की कोशिश की गई है कि मनुष्य के दैनिक जीवन में जो प्रायः निर्दोष सी, अकारण सी लगने वाली भूलें होती है अथवा निरर्थक चेष्टायें होती है

उनके पीछे कोई न कोई उद्देश्य होता है जो सांकेतिक रूप में मनुष्य के व्यक्तित्व की गहराई में पैठे हुए रहस्य की कथा कहता है। फ्रायड ने इस पुस्तक में अनेक घटनाओं की मनोवैश्लेषणिक व्याख्या दी है। कुछ घटनायें तो दूसरों के जीवन से ली गई हैं और कुछ अपने जीवन से। अपने जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हुए उसने यह लिखा है कि एक बार ऐसा हुआ कि उसके हाथ के एक झटके से उसका एक सुन्दर दावात टेबुल पर से गिरकर चूर चूर हो गई। फ्रायड बड़ा ही सावधान व्यक्ति था। कभी भी असावधानता के कारण उससे उस दिन तक कोई चीज नहीं टूटी हालांकि वह कक्ष अनेक विविध वस्तुओं से ठसाठस भरा रहता था कि किसी भी असावधानता के कारण फूट जाना सहज था। पर अभी तक कोई ऐसी घटना न हो पाई थी। प्रश्न यह होता है कि उस दिन ही उस बहुमूल्य मसि पात्र को फ्रायड ने गिराकर चकनाचूर क्यों कर दिया?

इसका कारण बतलाते हुए उसने कहा है कि इस दुर्घटना के कुछ घण्टे पूर्व ही उसकी बहिन अध्ययन गृह को देखने आई थी। फ्रायड ने उसे बड़े गौरव और आनन्द से अपने संग्रहालय के अति परिश्रम से एकत्र किये गये बहुमूल्य पदार्थों को दिखलाया था। उसकी बहिन ने इन सब पदार्थों को देखने पर अपने हर्ष के भाव प्रकट किये थे। केवल उसी मसि पात्र के बारे में कहा था कि यदि वह उस टेबुल पर न रखा जाकर दूसरी जगह रख दिया जाय तो अच्छा रहे क्योंकि अन्य पदार्थों के साथ वहाँ वह उतना शोभनीय नहीं जँचता। अपनी बहिन के साथ कुछ देर बाद टहल कर वापिस आया तभी यह दुर्घटना घटित हुई। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि मसि पात्र गिरकर नहीं टूटा बल्कि फ्रायड ने गिरा कर उसे चूर चूर कर दिया क्योंकि उसका तद्स्थानावस्थिति उसकी अभद्र कलात्मक रुचि का परिचायक था। जो वस्तु हमारी न्यूनता की घातक हो वह सह्य कैसे हो सकती है?

आधुनिक उपन्यास में व्याख्यात्मकता

ऊपर जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है उससे फ्रायड द्वारा निर्धारित मनोविज्ञान सम्बन्धी धारणाओं की गति विधि का पता चलता है। फ्रायड ने जितनी पुस्तकें लिखी हैं वे अधिकांश व्याख्यात्मक हैं अर्थात् उनमें रोगग्रस्त मानव तथा स्वस्थ मानव के बाहरी क्रियात्मक चेष्टाओं की आन्तरिक अचेतन मनोवृत्तियों के आधार पर व्याख्या की गई है। माना यह

व्याख्या ही मुख्यवस्तु है और इसके यथोचित् ज्ञान के अभाव मे मनुष्य के वास्तविक रूप को पहिचाना नहीं जा सकता है। इस व्याख्यात्मक प्रवृत्ति का प्रभाव आधुनिक कथा साहित्य पर स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है। प्रथमतः तो यह धारणा सी हो चली है कि जिसे हम मनुष्य की साधारण, सुस्थ और परिचित बोधगम्यावस्था कहते हैं, दैनिक जीवन व्यापार मे संलग्न जिस रूप मे उसे व्यवहार करते देखते हैं, अपने सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियों के प्रति उनके सुख मे आनन्दोल्लास को प्रकट करते हुये दुख मे समव्यथित्व के भावों से पूर्ण देखते है वह उसका वास्तविक रूप नहीं है। वह हँसता भी है तो उसके पीछे आँसुओं का इतिहास है, उसके रुदन मे हास्य का रहस्य है, उसके समव्यथित्व का भाव-प्रदर्शन ईर्ष्या और द्वेप का प्रच्छन्न रूप है अर्थात् सारी मानवता अपने मुख पर अवगुंठन डाले, मास्क ओढे हुए विचरण कर रही है। इस पर्दे को उठा कर उसके भीतर झाँक कर देखने से ही उसका वास्तविक रूप स्पष्ट हो सकता है।

विक्षिप्तावस्था की चेष्टाये, स्वप्नास्था मे देखी गई स्वप्न मूर्तियाँ, असतर्क अवस्था मे हमारी अग-संचालन-गति विधि अथवा हमारे मुख-निस्सृत शब्दोच्चार ऐसे स्थल है जिनसे झाँक कर हम बुद्धिपूर्वक मनुष्य के व्यक्तित्व का वास्तविक रहस्योद्घाटन कर सकते हैं। अर्थात् मनुष्य के वास्तविक व्यक्तित्व के उभरते हुए दबाव के कारण इस वस्त्रावरण मे यत्र तत्र जो दरार पड़ जाते है वे ही अपने नेतृत्व मे पेचदार और चक्करदार गलियों मे ले जा कर आपको वास्तविक और सच्चे दृश्यों का दर्शन करायेगे। हम फटे हुए वस्त्रों के रूपक मे बात को समझाने का प्रयत्न करेंगे। यहाँ पर संस्कृत अलंकार शास्त्रियों की प्रसिद्ध उक्ति की स्मृति हो आती है।

प्रौढि-प्रकर्षेण पुराण रीतिः व्यतिक्रम श्लाघ्यतमः पदानाम्
अत्युन्नति-स्फुटित-कंचुकानि वंद्यानि नारिकुच-मडलानि

आलंकारिकों के सामने प्रश्न यह था कि पुराने पडे, जनभावप्रवाह मे पड़कर घिसे हुए शब्दों को जो पुराने हो गये हैं, निरादृत से हो गये है उन्हे किस तरह से उपयोग मे लाया जाय। उत्तर मे कहा है कि मनुष्य की प्रतिभा सब कुछ कर सकती है। वह छू दे तो प्रस्तर और लौह खण्ड भी सोना बनकर चमक उठे। उसी तरह पुरानी रीति तथा पुराने शब्द प्रयोग कवि की प्रतिभा और कौशल से युक्त होकर और भी अभिनन्दनीय और भाववाहक हो उठते हैं। अन्दर की उमगती हुई उठान से कंचुकी मे तनाव डालकर कुचमण्डल और भी सुन्दर नहीं उठते क्या, और भी अधिक वास्तविक

सौंदर्य को प्रकट नहीं करते क्या ? अवश्य करते हैं। उसी तरह मनुष्य के ऊपर पड़े अनेक पर्तों की दरार रूपी विक्षिप्तता, मनोविकार हिस्टिरिया इत्यादि रोगों के द्वारा मनुष्य के वास्तविक स्वरूप का परिचय मिल सकता है।

अत, विक्षिप्त और विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्ति हमें मानव के सच्चे स्वरूप को समझाने म अधिक सहायक हो सकते हैं। कुछ इसी तरह की धारणा लोगों में, विशेषत मनोविज्ञान के पठन पाठन से सम्बधित शिक्षित वर्ग में, हो चली है जिसके सदस्य हिंदी के कथाकार हैं। परिणाम यह हुआ कि उपन्यास के क्षेत्र पर मनोविकारग्रस्त हिस्टीरिक और अहवादी पात्रों ने बड़ी प्रबलता से आक्रमण किया है और ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं जिनम काम दमन (Sex repression) जनित असाधारण कार्य कलाप, मानसिक ग्रंथियों के वैचित्र्य पूर्ण दश, शैशवावस्था की काम चेष्टायें, स्वलैङ्गिकता (Homo-sexuality) का निस्सकोच चर्चा, एव हीनता ग्रस्त मानव वर्ग की आत्मलीनता की कहानियों से कथा साहित्य पाट सा गया। यह अवश्य है कि उपन्यास साहित्य में मानस शास्त्र के इस विजय अभियान म अनेक सामाजिक और राजनैतिक हलचलों ने भी योग दिया है। पर फ्रायड, एडलर तथा युग जैस मनोविश्लेषकों के मानस सम्बन्धी सिद्धान्तों की प्ररणा ही सबसे बलवती थी। मार्क्स की साम्यवादी विचार धारा ने जिस प्रकार साहित्य के स्वर्ण सिंहासन पर आसीन प्राचीन युग के धीरोदात्त और सर्वगुण-सम्पन्न नायकों के राजमुकुट को छीनकर शोषित और पीड़ित-पद दलित मानव को प्रतिष्ठित किया, कल निनादी मुरली माधुरी को हटा कर हँसिया और हथौड़े के प्रचण्डाघातों का जयोच्चार किया, भूख की ज्वाला की लपटों को साहित्यिक क्षेत्र म उठाकर ही दम लिया ठीक उसी तरह मनोविश्लेषणवादी मनोविज्ञान ने पूरे उपन्यास क्षेत्र का अनेक मानसिक ग्रंथियों और विकृतियों से ग्रसित मानव-मूर्तियों का चिकित्सालय बना डाला। चेतन, अर्द्ध-चेतन और अचेतन पर्दों की छान बीन प्रारम्भ हुई निरीह अगसचालन म, मुखमुद्रा में, भाव भगियों में, रहन-सहन के रग ढग में पद-पद पर कोई अचेतन प्रभाव का दर्शन किया जाने लगा। जिन्हें हम साधारण और मुख्य मानव कह कर जानते और समझते हैं उनके भी उर्गात और उपेक्षित भावावेग के दौरों को हिस्टीरिक उन्माद (fits) के रूप में देखने की प्रवृति दृष्टिगोचर होने लगी। इसके साथ ही साथ दूसरा प्रभाव भी कथा साहित्य पर पड़ा।

जब कि सिद्धान्त के रूप मे यह बात स्वीकृत कर ली गई कि मनुष्य के बाह्य क्रियाकलाप स्वतः इतने महत्वपूर्ण नहीं है, वे तो केवल संकेत है जिनके आवरण में व्यक्ति के मानसिक स्तरों विशेषतः अचेतन का आलोडन और प्रतिलोडन, धूर्णन और प्रतिधूर्णन, वात्याचक्र और प्रतिवात्याचक्र की सारी कथा छिपी है तब किसी मानव जीवन के व्याख्याकार औपन्यासिक के लिये आवश्यक हो जाता है कि वह घटनाओं के वर्णन से अधिक उन घटनाओं की व्याख्या (explanations) में अधिक समय लगाये । दूसरे शब्दों में कथा मे घटना (events) से अधिक उनकी व्याख्या (explanations) महत्वपूर्ण हो गई। यों तो दृश्यकाव्य नाटक तथा उपन्यासों में एक साधारण अन्तर यह बतलाया जाता है कि पात्रों की कार्य-शृंखला तथा व्यापारों पर टिप्पणी करने की जितनी स्वतंत्रता औपन्यासिक को रहती है उतनी नाटककार को नहीं। नाटककार की कल्पना को रंगमंचीय प्रतिबन्धनों के कारण उड़ान लेने की स्वतंत्रता नहीं पर औपन्यासिक की कल्पना निर्बाध होकर उड़ सकती है। प्रेमचंद जी के पूर्व तक के उपन्यासों को देखने से इस बात का पता चलता है कि वहाँ पर घटनाओं का ही बोलबाला है। वे स्वतः अपनी कथा कह रही हैं, वे अपने मे पूर्ण है, उनकी विशालता उनकी गौरव-मडित ऊँचाई तथा उनकी उद्दीप्त तेजोमयी मूर्ति पाठक के ध्यान को कुछ इस तरह अपने ऊपरी केन्द्रीभूत कर लेती है कि उनके सिवाय अगल-बगल इधर-उधर अथवा उनके परे देखने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। मस्तक तान कर खड़ी घटनाओं के ऐन्द्रिजालिक चक्र के अभिमंत्रित और संपुटित परिधि के बाहर पाठक जा ही नहीं सकता। देवकीनन्दन खत्री के ऐय्यारों के साहसिक पूर्ण कार्य, उनके उपन्यासों की हैरत-अगेज सनसनी-खेज घटनाये जिनके बीच से पात्र कैंची की तरह मार करते इस प्रकार निकल जाते हैं कि पाठकों की आलोचना शक्ति के उठे हुए फन मंत्र मुग्ध सर्प की तरह शांत हो जाते हैं! जिन पात्रों को लेकर घटनाओं के स्वरूप का निर्माण हुआ है उनके मस्तिष्क का चिन्ताप्रवाह साफ है। उनमे किसी तरह का दमन नहीं, किसी तरह की ग्रन्थि नहीं, किसी तरह की कुंठा नहीं, किसी तरह की घुमडन नहीं, कोई ऐसी सड़ाद नहीं जो हमारे जीवन व्यापारस्रोत के मूल में विकृति का विष घोल दे जिसे देखकर हमे आश्चर्य चकित होने का अवसर प्राप्त हो।

ऐसी हालत मे किसी घटना या होनी की तूलतवील, चक्करदार और बहुयत्न-कल्पित व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं होती कारण वहाँ

व्याख्या जैसी कोई चीज ही नहीं। जो कुछ है साफ है, स्पष्ट है, एक राज मार्ग जिससे होकर कोई भी पगडंडी निकलती ही नहीं। यदि वह है भी तो जरा सिर माड़ देने से दास जायेगी। यही कारण है कि घटनाओं और चरित्र चित्रण पर औपन्यासिक का विशेष अधिकार रहते हुये भी उसने उसका प्रयोग बहुत कम किया है। जहाँ उसका प्रयोग हुआ भा है वहाँ ऐसा मालूम पड़ता है कि लेखक को इस प्रयोग म कोई उल्लास नहीं, कोई गौरवानुभूति नहीं, जरूरत-तो कोई खास नहीं थी पर हाँ-चलो अच्छा हा है इसका प्रयोग कर देख लो वाली मनोवृत्ति बनी सी दीखती है। कल्पना कीजिये कि पाठक का सिर कथाकार के हाथ म है और वह अपने इच्छानुसार अपने मनोनुकूल उद्देश्य सिद्धि के लिये जिस तरह चाहे उसे घुमा सकता है। मेरे कहने का तात्पर्य यह ह कि प्रेमचन्द के पूववर्ती औपन्यासिक प्रथमत पाठक क सिर को छूते भर ही हैं, (वह तो सदा उनक हाथ म ह) पर घुमाते भी हैं तो नाम मात्र को ही। कह लीजिये पाँच और दस डिग्री का कोण बनाते हुए। प्रेमचन्द के हाथों में पड़ कर पाठकों का सिर अधिक डिग्री का (८० डिग्री का) कोण बनाने लग गया है। पर आधुनिक औपन्यासिक पाठकों के सिर को इस तरह चक्कर खिलाने लगे हैं कि १८० डिग्री का कोण क्या ३६० डिग्री का कोण बनना प्रारम्भ हा गया है। तिस पर वे पाठकों क सिर को निर्ममता से क्षितिज (Horizontal) और लम्ब (Vertical) रूप में भी झकझोरने लग हैं। जो कुछ हो आधुनिक औपन्यासिकों की कला पर अन्य सामाजिक अथवा राजनैतिक प्रवृत्तियों का जो कुछ भा असर पड़ा हो पर इतना तो निर्विवाद है कि मनोविश्लेषण शास्त्रियों की मानव व्यक्तित्व की चीर फाड़, स्वप्नों की चक्करदार और वैचित्र्य पूर्ण विवृत्ति और व्याख्या, हमारे बाह्य कार्य-कलापों क पीछे छिप कर डार हिलाने वाली प्रवृत्ति की खोज ढूँढ ने उपन्यासों को व्याख्यात्मक बनाया है। आज जो घटनाओं को विशेष रूप में घटित होने की व्याख्या मूलकता का प्रभाव उपन्यासों में उमड़ता दीख पड़ता है वह स्पष्टतया मनोविश्लेषण मनोविज्ञान का प्रभाव है।

मैं अपने कथन की पुष्टि के लिये पं० इलाचन्द जोशी क उपन्यास 'निर्वासित' का एक अंश लूँगा। कथा यों है कि नीलिमा नाम की एक उच्च शिक्षा प्राप्त और सुरुचि सम्पन्न कुमारी, वय प्राप्त विवेकशील कन्या अपनी माता से एक छोटी सी बात पर कि चाय में एक चम्मच चीनी से अधिक डाल दी गई घर छोड़ कर भाग जाती है और अपने महीप नामक पूर्व परिचित व्यक्ति के साथ कानपुर जाने को तैयार कर लेती है। रेलवे

पुलिस कर्मचारियों को उनके अस्वाभाविक व्यवहार को देख कर शंका हो जाती है और वे उनसे पूछताछ करने लगते हैं। इसी सिलसिले में नीलिमा कहती है कि महीप जी मेरे हसबैंड हैं। फिर भी पुलिस वालों की शंका की निवृत्ति नहीं होती और वे उन दोनों को पकड़ कर नीलिमा की माँ के पास पहुँचा ही देते हैं। घर पर आकर नीलिमा के मनोव्यापार में आमूल परिवर्तन हो जाता है और वह महीप को भूलकर पुनः माँ के आज्ञानुसार ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह से विवाह करने के लिये तैयार हो जाती है। इस मानसिक क्रान्ति की व्याख्या देने के लिये तथा बीच-बीच मे होते रहते छोटे-मोटे अप्रत्याशित व्यापार की व्याख्या के लिये जोशी जी ने एक लम्बा चौड़ा Explanation दिया है, व्याख्या दी है जिसे पढ कर फ्रायड की पुस्तकों में दी गई केस हिस्ट्री (वृत्तेतिहास) के विश्लेषण की याद हो आती है। ऐसा मालूम होता है कि फ्रायड ने मनोविश्लेषण के कारणों की अन्तःप्रकाशिनी शक्ति का रहस्य बतला दिया है और औपन्यासिक इसी मनोविश्लेषण-किरणों के सहारे मानव मन के स्तर पर स्तर और गाँठ पर गाँठ खोल कर देखने का उपक्रम कर रहा है। निम्नलिखित उद्धरण से पता चलेगा कि इस घटना के मूल रूप में कारण श्रृखला की जटिलता की व्याख्या करते हुए लेखक कितने मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर प्रकाश डालता है—

"उसकी माँ ने उस रात उसे एकान्त मे ले जाकर न जाने क्या मंत्र पढ़ाया जिससे उसकी उसदिन की और रात की स्टेशन मे अपने अस्वाभाविक व्यवहार की समस्त ग्लानि को चीनी मिट्टी तश्तरी मे लगी हुई राख की तरह धोकर इस तरह साफ कर दिया कि उसका लेशमात्र दाग भी उसके हृदय मे रह नहीं पाया। वास्तव में माँ के स्नेह के सुमधुर पीडन को अठगुने रूप में वापस पाने के इरादे से ही जैसे उसके अन्तर्मन ने यह जाल रचा था जिससे तनिक सी बात का बहाना पकड़ कर उसे माँ की तरफ से विद्रोही बना डाला था। यही कारण था कि जब वह महीप के पास गई थी तब फिर उस रात माँ के पास लौटने की प्रवृत्ति उसके मन मे किसी प्रकार नहीं जग पाती थी। यही कारण था कि महीप के व्यक्तित्व का ऐसा जादू उस रात पार्क मे उसके ऊपर चल गया था कि वह अपने को उसके प्रति पूर्णतया समर्पित करने की सीमा तक पहुँचा चुकी थी, उसका अन्तर्मन उसके साथ एक विचित्र नृशंसतापूर्ण और साथ ही कौतुक प्रद खेल खेल रहा था जो उसके साथ के दूसरे व्यक्ति को पूर्णतया ले डूबने के लिये उतारू हो उठा था। अज्ञात में जिस निद्राविचरण की सी अवस्था मे वह महीप के साथ स्टेशन

तक गई थी उसमें उसे अपनी अन्तश्चेतना की उस कूट और क्रूर पीड़ा का कोई भान नहीं हो पाया था। स्टेशन पहुँचने तक उसकी मानसिकता इस स्थिति में थी कि उसे लगता था जैसे अनन्तकाल तक, असीम देश तक वह बराबर इसी प्रकार महीप के साथ चलती रहेगी। निर्द्वन्द्व और निर्मुक्त भाव से बिना किसी भी पारिवारिक सामाजिक अथवा मानसिक बन्धन का अनुभव रत्ती मात्र भी किये हुए समस्त विश्व में समग्र काल में जैसे महीप ही उसके जीवन का एक मात्र सहयात्री, एक एक मात्र नियता और एक मात्र आत्मीय है। यह विश्वास उस समय उसके मन की उस असाधारण अवस्था में ऐसी प्रबलता से जमा हुआ था कि लगता था जैसे वह जीवन में किसी भी काल में टल नहीं सकता।

"पर स्टेशन पर पहुँचते ही जब तांगे की गति रुकी तब सहसा नीलिमा के मन की अति सूक्ष्म प्राकृत दशा की गति भी स्थगित हो गई। उसका जो असाधारण व्यक्तित्व कुछ अजीब से मनोवैज्ञानिक कारणों से उस दिन उभर उठा था, वह बड़ी तीव्र गति से विलीन होने लगा जैसे कोई विमान आकाश में मीलों ऊपर स्ट्राटस्फेयर में उड़ान भरने के बाद सहसा नीचे उतर आने को बाध्य हुआ हो। और सहसा उस प्रदेश से बड़ी तेजी से गोता खाता चला आ रहा हो। उस गोता-खोरी की मध्यावस्था में उसके मन की आँखें जिन अजीब ढंग से बदलते हुए सप्रेक्षणों में वास्तविक तथा काल्पनिक दृश्यों को देख रही थीं उसकी अनुभूति नीलिमा को विचित्र और विभ्रामक लग रही थी। जब महीप टिकट खरीदने गया और नीलिमा स्तम्भित यात्रियों की भीड़ के बीच में एक स्थान पर खड़ी रही तब नीलिमा को अचानक ऐसा लगा कि उसका जो विमान कुछ ही क्षण पहिले स्ट्राटेसफेयर में उड़ान भर रहा था वह पृथ्वी पर टकरा कर चकनाचूर हो गया। उसकी माँ ने कौन टेलीपैथी की किस चुम्बक शक्ति से राकेट से भी तीव्र गति से चलने वाला कौन अस्त्र उसके उस मनोविमान पर फेंका था। क्योंकि उस दिन सन्ध्या से ही उसका जो दूसरा व्यक्तित्व उभरा हुआ था वह जब एक विस्फोट के साथ सहसा विलीन हो गया। तब तत्काल बिजली की तरह उसकी आँखों के सामने माँ का ही रूप निभासित हो उठा और एकमात्र माँ की चिन्ता ने सजीव रूप धारण करके उसके सारे मन को चारों ओर से तूफानी बादलों की तरह छा दिया। यही कारण था कि जब महीप टिकट खरीद कर उसके पास पहुँचा तब वह चीख मार उठी, उसका प्रतिदिन के जीवन का वही साधारण व्यक्तित्व कराह उठा जिसमें एक पल-पल के लिये

माँ के स्नेह-बन्धन से मुक्त होने का साहस कभी नहीं हुआ। कभी इच्छ
नहीं हुई। उसकी सारी आत्मा फुफकार मार उठी माँ, माँ, माँ। जिस
से पहली बार भयंकर विद्रोह करके वह चली आई थी उसके सहस्त्र कह अ
को चारों ओर फैला कर विह्वल और विकल अनुभव के साथ कर रहे
"आ जा बेटी, आ जा, तेरे लिये एक मात्र इन्हीं हाथों मे आश्रय है।
मात्र माँ की गोद एक ऐसा स्थान है जहाँ नाना विरोधी और विषम
से भरे इस जीवन में तू अपने चिर दिन के अभ्यास के अनुसार सहू
से बैठ सकती है और आराम से करवट ले सकती है। उसे छोड़ कर
देर तू व्यर्थ मे किन भ्रामक स्वप्नों महत्वाकाक्षा की किन मरीचिका र
लोक मे भटकती रही। आजा, बेटी आजा।"

नीलिमा उस एकान्त आग्रह पूर्व आह्वान की उपेक्षा नहीं कर स
जब महीप ने टिकट खरीदने के बाद उसे प्लेटफार्म के भीतर चल
लिये कहा तब उसके मन की ठीक वही दशा हो रही थी जैसे चंद
के बच्चे की नींद टूटने पर किसी अस्पष्ट छाया लोक का स्वप्न भंग
पर होती है और वह कुछ समय के लिये जागरण लोक की नई परि
से अपने मन का ठीक संयोजन न कर पाने के कारण अर्द्ध चेतनाव
माँ के स्पर्श की अज्ञात लालसा से बिलखने लगता है। यही कार
कि उस क्षण के लिये वास्तविकता के दृष्टिकोण से महीप की परिस्थि
और साथ ही इतने आदमियों की भीड़ मे स्वयं अपनी यथार्थ स्थि
समझने की समर्थता नहीं थी। उसने चिल्ला कर और रोकर महीप क
अस्वाभाविक और भावनापूर्ण परिस्थिति मे डाल दिया था वह जा
कर नहीं बल्कि अर्द्ध चेतना की प्रति-क्रियात्मक प्रकृतिवश। बाद
पुलिस कर्मचारी ने टोका तब नीलिमा के मन की प्रतिक्रिया ने दूसरी
पकड़ ली। महीप की तौहीनी का यथार्थ रूप उसके सामने आ गर
पूर्णतया सचेत हो उठी। उस सचेत अवस्था मे उसने तात्कालिक
से छुटकारा पाने के उद्देश्य से ही महीप को अपना husband बत
इसमें सन्देह नहीं। पर बाद में (Husband) शब्द का जादू उ
पर कुछ दूसरा ही प्रभाव डालने लगा। अपने मन की सचेतना
भी उसने यह संकल्प किया था कि वह अपनी माँ के आगे भी स
से यह स्वीकार कर लेगी कि महीप को उसने अपना (Husban
लिया है। और अपने इस संकल्प को वह कार्य रूप में परिणत करके
पर माँ से जब वह मिली और जब उन्होंने अपने मातृ हृदय की अ

विह्वलता से जब अपनी अन्तर्वेदना उसके आगे आँसुओं से पिघलते हुए शब्दों में व्यक्त की तब वह स्वयं फिर एक बार पिघल उठी। वास्तव में उसका अन्तर्मन पहिले से ही पिघलने के लिये तैयार बैठा था, केवल उसके लिये अधिक से अधिक विह्वलतापूर्ण वातावरण तैयार करने का कुचक्र रच रहा था। अपना यह मनोविश्लेषण नीलिमा ने दूसरे दिन रात में सोने के पूर्व पलंग पर लेटे लेटे स्वयं किसी हद तक कर लिया था। उसके बाद जब दूसरे दिन ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह कई दिनों के बाद उससे मिले थे तब उसने आश्चर्य के साथ इस बात पर जोर दिया था कि केवल कुछ ही दिनों की अनुपस्थिति में ठाकुर साहब में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है। ऐसा परिवर्तन जो पहली ही दृष्टि में अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रह सकता। उसकी मार्मिक रूप से अनुभूतिशील आँखों ने देखा कि ठाकुर साहब की आँखों की अभिव्यक्ति में एक अस्पष्ट व्यंग और क्रूरता का जो भाव हर समय उनके सहज मुस्कान के क्षणों में भी वर्तमान रहता था उसके स्थान पर एक करुण कोमल स्निग्ध भाव की छाया सहज रूप से भासमान हो रही है। इतने वर्ष से ठाकुर साहब के प्रति जिस अज्ञात विचार के विरुद्ध वह भीतर ही भीतर लड़ाई लड़ती जाती थी वह आज पहली बार प्रगति करने लगी और उस उसने सहज स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया। आज ठाकुर साहब को देखते ही उसे अपना वह व्यक्तित्व अत्यन्त उपेक्षणीय तुच्छ और हास्यास्पद लगा जो पार्क में महीप के प्रति पूर्णतया आत्म समर्पण के लिये प्राय तैयार हो उठा था। सच तो यह है कि उसके सचेत मन में अपने व्यक्तित्व के उस स्वरूप की स्मृति ही नहीं रही। अपने अन जान में ही उसने ठाकुर साहब के इस बार के व्यक्तित्व की तुलना महीप के व्यक्तित्व से की तो उसको महीप का अकालपक्व रूप से शिशु रूप का उत्पन्न रूप हास्यास्पद लगने लगा। पार्क में महीप ने हिमालय के जिस देवदारू वन की रूपमयी कल्पना के जादू से नीलिमा के भीतर एक निराले रहस्यलोक का द्वार उद्घाटित करके अपने व्यक्तित्व के गहन और व्यापक रूप का परिचय दिया था। ठाकुर साहब से भेंट होने पर उसकी स्मृति न उसके अन्तर्मन में जगी और न सचेत मन में। पार्क में जो अगाध रहस्य क्षण उसने उस रात महीप के साथ बिताये थे उनमें किसी अनन्त-व्यापी मोह महिमा युक्त जगत की प्रतिच्छवि भासमान हो उठी थी इसमें संदेह नहीं, पर वे क्षण अनन्त की उस सम्पूर्ण प्रतिच्छवि के साथ ही उसी रात पूर्ण रूप से न जाने कहाँ विलीन हो गये थे। और नीलिमा अपने सचेत व्यक्तित्व में अपनी

सुषुप्तावस्था या स्वप्नावस्था के उन क्षणों का कोई भी छायाभास तनिक-सा भी दाग नहीं पा रही थी। उसके भीतर वह धारणा जग ही नहीं पाती थी कि उसके उस रात के असाधारण अवस्था मे महीप के अन्तर्मन मे सम्भवतः ऐसा गहरा प्रभाव छोड़ दिया हो जिसका चिंतन सुखकर अथवा अप्रीतिकर जैसा भी हो उसकी मृत्यु तक मिटने न पाये।"[६]

ऊपर कहा जा चुका है कि जोशी जी के उपन्यास 'प्रेत और छाया' में इसी तरह मन मे बैठी ग्रन्थि मनुष्य के जीवन-सूत्र को किस विचित्र ढग से हिलाती रहती है और उसे किस तरह नाच नचाती रहती है, किन-किन घृणित और नारकीय कार्यो की ओर प्रेरित करती रहती है और अप्रत्याशित विडम्बनायें उपस्थित करती रहती है यही इस उपन्यास का मूल कंठ-स्वर है। चूंकि इस उपन्यास मे घटित होने वाली जितनी घटनाये है, उनका जन्म एक साधारण और मामूली सी लगने वाली बात से है, अतः इस उपन्यास का रूप व्याख्या-परक हो गया है। कथाकार पद-पद पर इस बात के लिये सचेष्ट दीखता है कि पाठक के लिये कोई भी बात अनहोनी सी न लगे। ऐसी कोई बात न हो जिसके प्रति पाठक के हृदय मे थोडी सी भी शका हो, वह उनकी ओर वह मशकूक नजरों मे देखे और शका का कीट उसके हृदय में पैठ कर सारे उपन्यास के स्वारस्य को ही चर जाय। उदाहरण के लिये इस उपन्यास के नायक पारसनाथ के पिता बैजनाथ बाबा का व्यवहार अपने पुत्र के प्रति बड़ा कठोर हो रहा था, वे उससे कभी भी सीधे मुँह बात नहीं करते थे और सदा छोकरा कहकर ही उसे पुकारते थे। पर आगे चल कर उन्हे अपनी भूल मालूम हुई और जब कलकत्ते मे पारसनाथ से रुग्णावस्था मे भेट होती है तो मानो वे अपने पुत्र के आगे अपने हृदय को खोल कर रख देते हैं और अपने कटु व्यवहारों की एक अति विस्तृत व्याख्या देते हुए अपनी सफाई देते है। इस सफाई और स्वीकारोक्ति मे ४२वाँ परिच्छेद का अर्द्धांश और ४३वाँ परिच्छेद को पूरा समाप्त किया जाता है। यह निश्चय ही कथाकार की उस मनोवृत्ति का परिणाम है जिसने यह सुझाया है कि जीवन मे घटित होने वाली घटनाये तो सांकेतिक होती है, अपने मे उनका कुछ भी महत्व नहीं। मनुष्य के मनोव्यापार (Mental process) जिनके वे दृष्टि-गोचर परिणाम हैं अत्यधिक महत्वपूर्ण है और वहीं पर मानवता का वास्तविक रहस्योद्घाटन हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लेखक की इस मनोवृत्ति के उत्पादन मे फ्रायड तथा अन्य आधुनिक मनोविदों का कितना जबरदस्त हाथ है। इस प्रसग में लम्बे चौडे प्रसंग का उद्धरण देना

लेख के कलेवर में अवाञ्छनीय वृद्धि करना है फिर भी कुछ पंक्तियाँ देखिये जिनमें मनोविज्ञान का कुछ स्वर प्रतिध्वनित हो रहा है—

"मैं भली भाँति जानता था कि तुम्हारी माँ के रक्त का एक एक बूँद में सतीत्व की भावना कूट कूटकर भरा हुई था। शायद इसी प्रतिक्रिया के फल से मेरे विरत मन को यह विश्वास करने की इच्छा हुई कि वह घोर असती है। जिस दिन कालीघाट में मैंने तुम्हारा तिरस्कार करते हुए तुमसे कहा था कि तुम मेरे बेटे नहीं हो उस दिन तुम्हारे प्रति मेरे मन में सबसे अधिक स्नेह भावना उमड़ी थी।"[९] केवल सुख और शांति और अभाव हीन संतोष पूर्वक जीवन में किस तरह उसके अन्दर से ही सुख संतोष और वैभव को जलाकर राख में परिणत करने वाली चिनगारी फूट पड़ती है इस मनोव्यापार पर काफी प्रकाश डाला गया है।

मेरे कहने का अर्थ यह नहीं कि प्रेमचन्द तथा उनके पूर्ववर्ता अन्य कथाकारों में सारी बातों को खोलकर रखने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। नहीं, प्रेमचन्द जी की यह भी विशिष्टता है कि उनके कथा साहित्य में मन की बातें विस्तार पूर्वक सीधे सादे रूप से रखी गई हैं। पर कथाकार ने मानव मन के जिस स्थल पर अपने विश्लेषण का कारबार छाना है वह चौराहा है जहाँ सब लोग आते जाते हैं अपना साज सज्जा से युक्त बने ठने हुए, वहाँ के पात्र सदा एक आवरण से पूर्ण छद्मवेश धारी सज्जन के रूप में उपस्थित नहीं होते हैं मौलिक और स्वाभाविक रूप में होते हैं। कथाकार बेचारा इन लाशों की चमड़ी उधेड़कर नग्नरूप में रखने से सकोच करता है। यही कारण है कि आज हिन्दी में एक प्रबुद्ध पाठक वर्ग ऐसा है जिसे इन उपन्यासों तथा कथाओं में जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब नहीं प्राप्त होता। वे कहेंगे कि सरदार पूर्णसिंह ने कहा है जिस समय बुद्धदेव ने स्वयं अपने हाथों हाफिज शीराजी का सीना उलटकर उसे मौन आचरण का दर्शन कराया उस समय फारस में बौद्धों को निर्वाण के दर्शन हुए। पर हमारे बुद्धदेव रूपी उपन्यासकार तो अपने हाथों हाफिज शिराजी रूपी पात्रों का सीना उलट कर उनके मौन आचरण का दर्शन तो कराते नहीं तब उपन्यास रूपी फारस में निर्वाण का दर्शन किस तरह से हो सके। हाँ, इस ओर आधुनिकतम उपन्यासकारों का ध्यान गया है और वे इस ओर प्रवृत्त भी हुए हैं। धीरे धीरे आधुनिक उपन्यासकारों के मस्तिष्क पर यह चेतना स्पष्टतर होती जा रही है कि घटनायें, चेष्टायें तथा क्रियायें चाहे देखने में नगण्य तुच्छ सा क्यों न जँचती हो पर वे उतना नगण्य या तुच्छ नहीं जितना वे

ऊपर से देखने मे मालूम पड़ती है। उनके पीछे एक चैतन्य मानव सत्ता है। एक सजीव आत्मा है जो अपने अन्दर चिन्मय चिनगारी छिपाई हुई है।

'प्रेत और छाया' मे मंजरी अपनी माँ को बेहद प्यार करती है। इतना प्यार करती है कि वह उसकी देख-रेख और पालन-पोषण के लिये होटल मे नवयुवकों की दिलवस्तगी के पेशे के द्वारा द्रव्योपार्जन के जीवन तक को स्वीकार कर लेती है। माँ भी अपनी पुत्री को अपने नेत्रों की पुतली बनाकर रखती है, पर इतना होने पर भी उपन्यास मे उन दोनों के चरित्र स्वभाव का चित्रण जिस ढंग से किया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि कहीं-कहीं दाल मे काला अवश्य है। माँ की मृत्यु के कुछ ही दिन पश्चात् पारसनाथ के सामने मजरी जिन शब्दों मे अपने माँ की मातृप्रेम से सब कुछ सीखने-वाली प्यास का जिन शब्दों मे वर्णन किया है उससे स्पष्ट ही एलेक्ट्रा ग्रन्थि की झलक सामने आ जाती है।

"माँ चाहती भी यही थी कि मैं अगर सब समय उसके निकट भी न रह पाऊँ तो कम से कम उसके पीछे, उसकी चिन्ता मे घुलती अवश्य रहूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी कालिज की साथिनो से जिन्हे उसने कभी एक दिन के लिये भी नहीं देखा था वह मन ही मन भयकर घृणा करने लगी। इत्यादि"[८]

अपनी माँ की मृत्यु के ऊपर विचार करते कोई उसके कानों मे फुस-फुसा उठता ही है "स्नेह के जिस कठोर बंधन मे वह तुम्हे बाँधे हुए थी वह तुम्हारे जीवन की गति को चारों ओर रोके हुए था। और भीतर-ही-भीतर तुम्हारे अनजान मे तुम्हारी अन्तरात्मा का रस सोख-सोखकर तुम्हे निष्प्राण सूखे झाड़ मे परिणत करने पर तुला हुआ था। पर अच्छा ही हुआ कि उसकी मृत्यु ऐसे समय मे हो गई जब तुम्हारे भीतर थोड़ी सी हरियाली शेष थी।"[९]

'पर्दे की रानी' मे मनोविज्ञान

जोशी जी का एक और उपन्यास है 'पर्दे की रानी'। इस उपन्यास की रचना प्रथम पुरुष वाली पद्धति पर हुई है अर्थात् इसमे दो स्त्री पात्रों ने, शीला और निरंजना ने, अपनी आत्म-कहानी के रूप मे अपने जीवन की कथा का वर्णन किया है। जोशी जी मनोवैज्ञानिक कथाकार है ही। इनके उपन्यासों को पढ़ने से किसी को भी ज्ञात हो जायेगा कि उन्होंने मनुष्य के

अन्तस में बैठी मूलगत प्रवृत्तियों को ही पकड़ने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक कथावस्तु के संगठन सौष्ठव और चुस्ती दुरुस्ती का सम्बन्ध है वे प्रेमचन्द जी के ही स्कूल में आते हैं, कथा की शृङ्खला की कड़ियाँ इतनी बारीकी, सूक्ष्मता, सतर्कता और कौशल के साथ जोड़ी गई है कि कहीं भी किसी ओर से भी किसी प्रकार की अव्यवस्था या शिथिलता दृष्टिगोचर नहीं होती। पर दोनों कथाकारों में मूलगत विभेद है और दोनों में बाहरी सादृश्य विधि को देखकर उन्हें एक ही श्रेणी में रखना सत्य का अपलाप है। प्रेमचन्द घटनाओं के स्रष्टा हैं उनके चित्रण हठात् आकर्षित कर लेने वाले जगत व्यापार चक्र की स्थापना कर पाठक को ऐसे जादू के नगर में लाकर बैठा देते हैं कि पाठक वहाँ से टस से मस भी होना नहीं चाहता। उसके सामने एक एक तिलस्मी दुनियाँ खड़ी हो जाती है कि वह उसकी सुन्दरता में तल्लीन हो जाता है और इधर उधर आँख उठाकर देखने की प्रवृत्ति भी नहीं होती। पर जोशी के घटनाचक्र के ऊपर भी मानव की मूलगत प्रवृत्तियों की ही विजय ध्वजा फहराती रहती है। ऐसा मालूम होता है कि घटनायें लाख सुन्दर हों लाख आकर्षक हों पर उनकी सार्थकता इतनी ही भर है कि वे अपने जन्म देने वाली मूल प्रवृत्तियों के स्वरूप को पहिचानने में सहायक होती हैं।

'पर्दे की रानी' नामक उपन्यास चूँकि पात्रमुखाद्‌गीरित आत्मकथा के रूप में कहा गया है अतः उसमें पात्रान्तरस्थ मूल प्रवृत्तियों को उभार कर दिखलाने की क्षमता भी है। जब कभी अवसर आता है इस उपन्यास के पात्र या तो आत्म विश्लेषण करने में प्रवृत्त हो जाते हैं या वे अपने सहयोगी के मानस का विश्लेषण करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लेखक ने पात्रों द्वारा मनोविश्लेषण का अवसर देने के लिये ही घटना चक्र को उस रूप में संगठित किया है। निरंजना के व्यक्तित्व में अन्तर्निहित जो एक विध्वंसकारी प्रवृत्ति है, पुरुष को अपनी सम्मोहक शक्ति के प्रयोग से आकर्षित कर उन्हें विनाश के गह्वर में ढकेल देने की जो एक प्रवृत्ति काम कर रही है वह पुरुष जाति के प्रति ही नहीं स्त्री जाति के प्रति भी हिंसक वृत्ति से प्रेरित हो रही है। अपनी माता शीला की हत्या का कारण भी वही होती है उसके सारे कार्य निद्रा विचरण मस्त व्यक्ति के कार्य की तरह हो रहे हैं। इन्द्रमोहन को अपने वाग्जालों से घेर कर उसे डाक गाड़ी के नीचे गिरा कर आत्महत्या करने के लिए वही बाध्यता उत्पन्न कर देती है पर साथ ही साथ उसके प्रति उसके हृदय में प्रेम के भाव भी चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुये हैं।

ऐसा क्यों है ? इन्हीं उलझनों की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए अन्त मे उपन्यासकार ने गुरूजी को उपस्थित किया है जिन्होंने निरञ्जना की इस मूल विकृति के रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न किया है। लेखक शायद अपने हृदय की तह मे महसूस करता था कि इस तरह की व्याख्या के अभाव मे उपन्यास का पूर्ण स्वरूप ही खड़ा नहीं हो सकता। अतः उसकी योजना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा यदि कथा कहना ही ध्येय होता तो इन्द्रमोहन की मृत्यु के साथ ही वह तो समाप्त हो चुकी थी। आगे के पाँच-छः पन्नो की कोई विशेष आवश्यकता तो न थी।

एक स्थान पर निरञ्जना की मानसिक स्थिति की व्याख्या इस प्रकार हुई है—

निरञ्जना किसी तरह उस होटल से जहाँ पर इन्द्रमोहन ने कपट से ले जाकर कौमार्य खण्डित करने की चेष्टा की थी निकल भागती है। वह इसी प्रसङ्ग पर गुरूजी से बातें कर रही है। गुरू जी के समझ मे नहीं आता कि निरञ्जना ने ही इन्द्रमोहन को ढीठ बनने को प्रोत्साहन दिया, प्रत्येक रङ्ग और प्रत्येक ढंग से उस चरम स्थिति को निकट लाने मे सहायक हुई। पर जब वह चरम अवसर आ गया तो वह निकल क्यो भागती है, उस अवसर से लाभ नहीं उठाती ? गुरूजी कहते है कि तुम्हारी प्रकृति के भीतर अत्यन्त विरोधाभास वर्तमान है नीरा ! निरञ्जना कहती है : इसलिए तो मुझे पागल होने का डर है गुरूजी ! केवल एक ही नहीं मेरे भीतर कई विरोधाभास वर्तमान है। मुझे ऐसा लगता है कभी-कभी मुझे यह अनुभव होने लगता है कि मेरे मन के मूल केन्द्र के ऊपर बहुत से विचित्र-विचित्र संस्कारो के स्तर एक के ऊपर एक इस सिलसिले से जमे हुये हैं और उनमे से प्रत्येक स्तर के तत्व किसी दूसरे स्तर के तत्वों से मेल नहीं खाते। उन सब स्तरो के नीचे मेरा मूल भाव भयङ्कर रूप से दबा पड़ा है। बीच मे जब मेरे भीतर परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के कारण भयङ्कर भूकम्प मच उठता है तो उन सब वज्र पाषाणों के समान कठिन स्तरों को डगमगा कर उन्हे भेद करती हुई मेरी वास्तविक प्रकृति प्रबल वेग से बाहर उमड़ पड़ती है। मेरी वह मूल प्रवृत्ति कभी-कभी भीषण ज्वालामुखी के समान आग के फव्वारे छोडती है और कभी स्निग्ध शीतल जल धारा बरसाती है पर न पहिले का कारण जानती हूँ, न दूसरे का। मैं अपने भीतर तक के विचित्र संस्कारों की क्रिया प्रतिक्रिया की कठपुतली मात्र हूँ। न अपने जीवन का कोई विशेष लक्ष्य दीख पड़ता है न अपने अस्तित्व की कोई उपयोगिता ही समझ मे आती है। मैं स्वयं अपने

लिए पहेली हूँ गुरूजी ! क्या कभी इस पहेली का रहस्य मैं भी सुलझाने में समर्थ हो पाऊँगी।"[१०]

इस तरह सारा उपन्यास एक पहेली बुझौवल से भरा है। प्रत्येक पहेली की जो व्याख्या दी गई है वह पहेली से कम आश्चर्य में डालने वाली नहीं है। साधारणतः हम किसी घटना का अर्थ साधारण और सीधे-सादे अर्थ में ही लगाने के अभ्यस्त होते हैं। हम जान बूझ कर उसे जटिल बनाना नहीं चाहते। हम किसी को रोते देखते हैं अनुमान करते हैं उसे कोई पीड़ा हुई होगी। किसी का हँसना देख कर हमारे हृदय में अनुमान हुआ कि उसके हृदय में कोई आनन्द विधायक परिस्थिति उत्पन्न हुई होगी या कल्पना जगी होगी। ऐसा नहीं सोचते कि कोई आँसू को लेकर हँसता हो और खिलखिला कर रोता हो। पीड़ापूर्वक हँसी अथवा आनन्दमूलक रुदन को देखने सुनने के अभ्यस्त हम नहीं होते। पर आधुनिक उपन्यासकार ऐसे पात्रों की अवतारणा करने लगे हैं जिनकी दुरङ्गी चाल तथा दोहरे तिहरे व्यक्तित्व को देखकर दङ्ग हो जाना पड़ता है।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट होगी। प्रायः देखा जाता है कि कोई पुरुष किसी नारी को प्यार करता है और जब उस प्यार का यथोचित प्रतिदान नहीं मिलता, उसे नैराश्य ही हाथ लगता है तब उसके हाथ कुछ ही उपाय रह जाते हैं। या तो नैराश्य के निर्मम थपेड़ों से ताड़ित होकर आत्महत्या कर ले, मदिरा की घूँटों के सहारे गम को गलत करे अथवा किसी दूसरी नारी की सुखद अञ्चल की शीतल छाया के अन्दर विश्राम करे अथवा कठिन से कठिन साधना द्वारा आजन्म अविवाहित रह कर दीपशिखा की लौ की तरह निरन्तर प्रज्वलित होता रहे। पुराणों तथा कथाओं के नायक सदा से यही करते आये हैं। नायिकाओं की बात दूर रहे। सीता सावित्री दमयन्ती इत्यादि नारियाँ इस व्रत के कारण ही जन हृदय में आज तक प्रतिष्ठित हैं। पर यह शायद ही कभी सुनने में आया हो कि नारी से निरादृत होकर—निरादृत होकर ही नहीं, निराश होकर वह किसी दूसरी नारी से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करे। ईर्ष्या की भावना से नहीं, किसी निराशा की प्रतिक्रिया से प्रेरित होकर नहीं, प्रतिहिंसा की भावना से नहीं परन्तु इस भावना से कि दूसरी नारी के सम्पर्क में आकर उनके चरित्र के वे उबड़-खाबड़ कोण (Angularity) दूर हो जायँगे जिनके कारण प्रथम प्रेमिका का प्रणय प्राप्ति में बाधा उपस्थित हुई थी। पर ऐसी

बात ही इस उपन्यास में घटित हुई है। निरञ्जना से निराश होकर नायक शीला से विवाह कर लेता है। वह कहता है—

"मैंने विवाह क्यों किया यदि इसका यथार्थ कारण मैं आपको बताऊँ तो क्या आप विश्वास करेंगी निरंजना देवी.... मैंने विवाह केवल इस आशा से किया था कि इस बात से आपके मन पर मेरे सम्बन्ध में अच्छी धारणा जम जायेगी। मेरे भीतर जो एक आवारागर्दी का भाव मुझे सब समय शैतान की कलाबाजियों के चक्कर मे डाले रहता था उससे मुक्ति पाकर मैं अपना स्थिर गम्भीर रूप आपके सामने रखना चाहता था। वह स्थिरता मुझे केवल वैवाहिक जीवन से ही प्राप्त हो सकती थी। मैं अपने अज्ञात में यह आशा रखता था कि जीवन के किसी चरम अवसर पर कहीं न कहीं फिर एक बार आपसे भेंट होगी। उस महत्वपूर्ण मिलन की तैयारी के उद्देश्य से ही मैं अपने जीवन का गठन एक विशेप आदर्श के अनुसार करने पर तुला हुआ था। मेरे लिये विवाह की यही सार्थकता थी।"[११]

अपने स्वभाव में परिवर्तन लाने के लिये तथा अपनी प्रेयसी पर अधिकार प्राप्त करने लिये दूसरी स्त्री से विवाह कर लेना एक विचित्र उपाय है जिसकी कल्पना प्रेमचन्द युग के कथा साहित्य के पात्र नहीं कर सकते थे। वे विक्टोरियन युग के सीधे-सादे से जीवन के राजमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति थे। उनमे किसी तरह की मानसिक कुण्ठा नहीं थी। कोई घुमड़न नहीं थी, कोई मानसिक गाँठ नहीं थी। उनके आत्म-सम्मान की भावना को ठेस लगी, तलवार म्यान से निकल पडी, सर लेकर या देकर समस्या का निपटारा हो गया। किसी नारी के प्रति प्रेम हो गया उसके लिये कठिन से कठिन परीक्षा में अपने को डाल दिया। सागर को बाँध डाला, हिमगिरि को अपने सर पर उठा लिया, प्राण ले लिये, प्राण दे दिये पर कहीं भी मनोवृत्ति की पेचीदगी, जटिलता एवं मानसिक कुण्ठा का दर्शन नहीं होता। उनके व्यक्तित्व की स्थूलता ही हमारे सामने आती है। उनकी सूक्ष्मता, बारीकी जटिलता कहीं भी दृष्टिपथ मे नहीं आती।

'प्रेत और छाया' का एक पात्र नन्दनी को भगा कर ले जाता है। यह कोई नई बात नहीं है। पहिले से भी पात्र ऐसा करते थे, कहीं तो तलवार के बल पर दिन दहाड़े सीनाजोरी कर और कहीं लुक छिपकर चोरी से। पर नन्दिनी को भगाकर ले चलने मे पारसनाथ को इस बात का अत्यधिक आनन्द है कि वह एक सती साध्वी विवाहिता नारी को पति से छुड़ा कर दूर ले जा रहा है। इसमें उसको एक विकृत रसोपभोग का सुख मिलता है

"जयन्ती ! आज तुम अति सुन्दर मालूम पड़ती हो" जयन्ती न जाने किस कल्पना के संसार में पहुँच जाती है और मुँह फुला कर कहती है "तो इसका अर्थ यह कि मैं सदा आज तक आपको असुन्दर प्रतीत होती रही हूँ और इसी तरह मानसिक जुगाली करती मन ही मन विष घोलती रहती है। इन दोनों के जीवन का निर्माण न जाने किन विनाशकारी एवं विध्वंसक तत्वों को लेकर हुआ है कि उनके जीवन में एक तूफानी अशान्ति छा छाइ रहती है। सतत विशाल निराशा और विध्वंस के बादल मँडराते नजर आते हैं। इसी बात का विश्लेषण करते हुए एक समय नन्द किशोर स्वयं पता लगा कर कहता है "मेरे मनोभावों की विकृति की इस विचित्रता पर गौर कीजिये कि जयन्ती से मैं विवाह नहीं करने जा रहा था, कि मैं अपने एकागी जीवन की अपूर्णता को पूर्ण करूँ बल्कि इसलिये कि मुझे इस तेजस्वनी नारी के स्वभाव में एक शान्त और संयत तथापि दुर्दमनीय गर्व का जो भाव दिखाई दिया था उसे अकारण ही चूर चूर करने की एक प्रतिहिंसा पूर्ण भावना मेरे मन में समा गई थी।"[४]

जो व्यक्ति इस तरह की भावना से प्रेरित होकर विवाह करने को तैयार हो वह वैवाहिक जीवन में सुख की आशा ही कैसे कर सकता है ? उस आत्मघाती जीव के लिये अपने अन्तर के ही विनाश के बीजों से पल पल दग्ध होकर पीड़ित होते रहने के सिवाय चारा ही क्या है। उत्कट प्रेम के भावों से प्रेरित होकर नारी के बाह्य सौन्दर्य पर रीझ कर उसके शारीरिक सुखोप भोग की लालसा की दृष्टि से विवाह द्वारा मान प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि और आर्थिक लाभ को ध्यान में रखकर पात्रों को वैवाहिक बंधन की ओर अग्रसर होते सुना गया था, रोमान्स की बातें सुना गई थीं, हम जानते थे कि किसी विपत्ति काल में पड़ी असहाय सुन्दरी से करुणा के भावातिरेक के कारण उद्धारकर्ता प्रेम करने लगे। आगे चल कर उससे विवाह भी करले। पर गर्व चूर करने के लिए, प्रतिहिंसा के लिये विवाह करना यह न देखा न सुना। यह उपन्यास के क्षेत्र में एक नूतन दृष्टि कोण का साधिकार प्रवेश है। यह इस बात का द्योतक है कि आज के मानव में महान् परिवर्तन आ गया है, पाठक बदल गया है, कथाकार बदल गया है और साथ ही बदल गई है उसकी औपन्यासिक अभिव्यक्ति। यदि हमें जीवन की सच्ची व्याख्या करनी है, मानवता की समस्याओं का सुलझा हल पाना है तो उसके अन्दर पैठना होगा और उसके आन्तरिक स्वरूप के मामजस्य में उसके बाह्य क्रिया कलापों को देखना सुनना होगा।

जोशी जी के अन्दर का कथाकार इस बात को खूब समझ रहा है कि नन्द किशोर और जयन्ती के वैवाहिक सम्बन्ध मे जो मूल प्रेरक भाव है वह लोगों को आश्चर्य मे डाल देने वाला सिद्ध होगा। इसे सुनकर लोग एक बार अवश्य चौकेंगे। इसके सत्य को सदेहात्मक दृष्टि से देखेंगे और कहेंगे भला यह भी कोई बात है। गर्व चूर करने के लिये विवाह ! नहीं कभी नही !! अतः लेखक कहता है।

"जिस विचित्र प्रकार की प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर विवाह के लिये तैयार होने की बात मैंने लिखी है उसे पढ़कर बहुत से पाठक अविश्वास पूर्वक मुँह बिचकाते हुए यह कहेंगे कि इस तरह की अस्वाभाविक मनोवृत्ति वास्तविक जगत के मनुष्यों मे कभी नहीं आ सकती। पर जो लोग अनुभवी है, जिन्होने यौवन की गहराई मे पैठकर उसके विभिन्न दृष्टि-कोणो का निरीक्षण करके उसके विविध पहलुओं का अध्ययन किया है उन्हे यह समझ लेने मे देर न लगेगी कि एक विशेष श्रेणी के व्यक्तियो के भीतर जीवन की एक विशेषवस्था में इस तरह के मनोभाव का उत्पन्न होना अस्वा-भाविक नहीं बल्कि पूर्णतया स्वाभाविक है।[१५]

प्रेमचन्द और जोशी की तुलना

ऊपर की पक्तियों मे जोशी जी के उपन्यासों के आधार पर आधुनिक कथा साहित्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की रूप रेखा उपस्थित करने की चेष्टा की जा रही है। आपाततः प्रेमचन्द जी के कथा साहित्य और जोशी जी के कथा साहित्य मे अनेक साम्य दिखलाई पड़ते है। दोनों के पात्र हमारे दैनिक जीवन मे हिलने मिलने वाले है, हमारे दुख मे दुखी और सुख मे सुखी होने वाले है। सबसे बड़ी बात यह है कि दोनों के उपन्यासों के कथा-शरीर मे अभूतपूर्व सौष्ठव है, संगठन है, कथा मे किसी तरह की अनगढ़ता नहीं है, अव्यवस्था नहीं है। सारी घटनायें अंगूठी के नगीने की तरह यथासम्भव सतर्कता से बैठी हुई चमक रही है। पर इतने ही साम्य की बात पर दोनों को एक ही श्रेणी मे बिठला देना और दोनों को एक श्रेणी का कथाकार मान लेना नितान्त भ्रामक होगा। यह भ्रम ठीक इसी तरह का होगा जिस तरह प्राचीन कथा और आख्यायिकों को आधुनिक उपन्यासों की श्रेणी में रखना।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लखनऊ विश्वविद्यालय के व्याख्यान माला के 'साहित्य के मर्म' शीर्षक व्याख्यान मे कथा और आख्यायिका और

"जयन्ती! आज तुम अति सुन्दर मालूम पड़ती हो" जयन्ती न जाने किस कल्पना के संसार में पहुँच जाती है और मुँह फुला कर कहती है "तो इसका अर्थ यह कि मैं सदा आज तक आपको असुन्दर प्रतीत होती रही हूँ और इसी तरह मानसिक जुगाली करती मन ही मन विष घोलती रहती है। इन दोनों के जीवन का निर्माण न जाने किन विनाशकारी एवं विध्वंसक तत्वों को लेकर हुआ है कि उनके जीवन में एक तूफानी अशान्ति ही छाई रहती है। सर्वत्र विशाल निराशा और विध्वंस के बादल मँडराते नजर आते हैं। इसी बात का विश्लेषण करते हुए एक समय नन्द किशोर स्वयं पता लगा कर कहता है "मेरे मनोभावों की विकृति की इस विचित्रता पर गौर कीजिये कि जयन्ती से मैं विवाह नहीं करने जा रहा था, कि मैं अपने एकाकी जीवन का अपूर्णता को पूर्ण करूँ बल्कि इसलिये कि मुझे इस तेजस्विनी नारी के स्वभाव में एक शान्त और संयत तथापि दुर्दमनीय गर्व का जो भाव दिखाई दिया था उसे अकारण ही चूर चूर करने की एक प्रतिहिंसा पूर्ण भावना मेरे मन में समा गई थी।"[१४]

जो व्यक्ति इस तरह की भावना से प्रेरित होकर विवाह करने को तैयार हो वह वैवाहिक जीवन में सुख की आशा ही कैसे कर सकता है? उस आत्म घाती जीव के लिए अपने अन्तर के ही विनाश के बीजों से पल पल दग्ध होकर पीड़ित होते रहने के सिवाय चारा ही क्या है। उत्कट प्रेम के भावों से प्रेरित होकर नारी के बाह्य सौन्दर्य पर रीझ कर उसके शारीरिक सुभोग भोग की लालसा की दृष्टि से विवाह द्वारा मान प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि और आर्थिक लाभ को ध्यान में रखकर पात्रों को वैवाहिक बन्धन की ओर अग्रसर होते सुना गया था, रोमान्स की बातें सुना गई थी, हम जानते थे कि किसी निश्चित काल में पत्नी अथवा सुन्दरी से करुणा के भावोद्रेक के कारण उदारचेता प्रेम करने लगा। आगे चल कर उससे विवाह भी करले। पर गर्व चूर करने के लिए, प्रतिहिंसा के लिए विवाह करना यह न देखा न सुना। यह उपन्यास के क्षेत्र में एक नूतन दृष्टिकोण का साधिकार प्रवेश है। यह इस बात का द्योतक है कि आज के मानव में महान् परिवर्तन आ गया है, पाठक बदल गया है, कथाकार बदल गया है, और साथ ही बदल गई है उसकी औपन्यासिक अभिव्यक्ति। यदि हमें जीवन की सच्ची व्याख्या करना है, मानव की समस्याओं का हल ढूँढ़ना है तो उसके अन्दर पैठना होगा और उसके आन्तरिक रहस्य के सामञ्जस्य में उसके साथ किया घटनाओं को देखना सुनना होगा।

जोशी जी के अन्दर का कथाकार इस बात को खूब समझ रहा है कि नन्द किशोर और जयन्ती के वैवाहिक सम्बन्ध मे जो मूल प्रेरक भाव है वह लोगों को आश्चर्य मे डाल देने वाला सिद्ध होगा। इसे सुनकर लोग एक बार अवश्य चौकेंगे। इसके सत्य को सदेहात्मक दृष्टि से देखेंगे और कहेंगे भला यह भी कोई बात है। गर्व चूर करने के लिये विवाह ! नहीं कभी नहीं !! अतः लेखक कहता है।

"जिस विचित्र प्रकार की प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर विवाह के लिये तैयार होने की बात मैंने लिखी है उसे पढ़कर बहुत से पाठक अविश्वास पूर्वक मुँह बिचकाते हुए यह कहेंगे कि इस तरह की अस्वाभाविक मनोवृत्ति वास्तविक जगत के मनुष्यों मे कभी नहीं आ सकती। पर जो लोग अनुभवी है, जिन्होने यौवन की गहराई मे पैठकर उसके विभिन्न दृष्टि-कोणो का निरीक्षण करके उसके विविध पहलुओं का अध्ययन किया है उन्हें यह समझ लेने मे देर न लगेगी कि एक विशेष श्रेणी के व्यक्तियो के भीतर जीवन की एक विशेषवस्था मे इस तरह के मनोभाव का उत्पन्न होना अस्वा-भाविक नहीं वल्कि पूर्णतया स्वाभाविक है।[१५]

प्रेमचन्द और जोशी की तुलना

ऊपर की पक्तियों मे जोशी जी के उपन्यासों के आधार पर आधुनिक कथा साहित्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति की रूप रेखा उपस्थित करने की चेष्टा की जा रही है। आपाततः प्रेमचन्द जी के कथा साहित्य और जोशी जी के कथा साहित्य मे अनेक साम्य दिखलाई पड़ते है। दोनों के पात्र हमारे दैनिक जीवन मे हिलने मिलने वाले है, हमारे दुख मे दुखी और सुख में सुखी होने वाले हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि दोनों के उपन्यासों के कथा-शरीर मे अभूतपूर्व सौष्ठव है, संगठन है, कथा मे किसी तरह की अनगढ़ता नहीं है, अव्यवस्था नहीं है। सारी घटनाये अंगूठी के नगीने की तरह यथासम्भव सतर्कता से बैठी हुई चमक रही है। पर इतने ही साम्य की बात पर दोनों को एक ही श्रेणी मे बिठला देना और दोनों को एक श्रेणी का कथाकार मान लेना नितान्त भ्रामक होगा। यह भ्रम ठीक इसी तरह का होगा जिस तरह प्राचीन कथा और आख्यायिकों को आधुनिक उपन्यासों की श्रेणी मे रखना।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लखनऊ विश्वविद्यालय के व्याख्यान माला के 'साहित्य के मर्म' शीर्षक व्याख्यान मे कथा और आख्यायिका और

अन्य कलाकारों से विभिन्न श्रेणी मे प्रतिष्ठित करती है। माना कि कथा के भाग के संगठन और सानुपातिक विकास की ओर दोनों का ध्यान है और दोनों ने इसे सगुण और निर्दोप रूप मे देखने की अधिकाधिक चेष्टा की है। पर जहाँ कहीं ऐसा अवसर आता है कि पात्रों के मनोविज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन हो सके जोशी जी ऐसे अवसर पर चूकते नहीं। उससे भरपूर लाभ उठाते है और अपने वर्णन-कौशल, भाषा-शक्ति, अभिव्यञ्जनात्मक प्रणाली को केन्द्रीभूत कर देते हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि लेखक ऐसे ही अवसर की ताक में था, ताक में क्या था उसने प्रयत्न पूर्वक ऐसे ही अवसरों की योजना की है जहाँ पात्रों के अन्तर्जगत की गहराई मे वह उतर सके, जहाँ की दुनिया निराली है, दृश्य निराले है और ऐसे हैं जिन पर लोगों को सहसा विश्वास न आये।

रस्किन ने अपने पुस्तक माडर्न-पेन्टर्स के तीसरे,अध्याय के ८ वे पैरेग्राफ मे कुछ इसी से मिलता-जुलता प्रश्न उठाया है। उसने कहा है कि चित्रकला के भिन्न-भिन्न युगों के इतिहास से यह स्पष्ट है कि चित्रकार अपने चित्र-विपयाधार के निर्वाचन मे कभी भी स्वतंत्र नहीं रहे है। मठाधीश या बडे-बडे सामन्तों के निर्देशों पर उनके अभिलेख्य क्षेत्र का निर्द्धारण हुआ है चाहे उनके चित्र स्वर्गीय देवदूत की आत्मा से विकीर्ण ज्योतिमंडल से उद्भासित हो, चाहे उनमे रोमानी प्रेम की साहसिकता पूर्ण बलिदान गाथा अकित की गई हो, चाहे देवालयों की दीवालों पर धार्मिक दन्त-कथाओं के दृश्य अंकित किये गये हों। सर्वत्र चित्रकार की अभिरुचि स्वतंत्र नहीं बल्कि वहाँ के प्रभुओं के संकेत की प्रधानता रही। पर इन बंधनो से जकडे रहने पर भी कुछ भावावेग प्रकम्पित तथा आन्तरिक उमडन से सृजित वक्र कम्पनशील उद्दकंन-भंगिमा चित्र के पीछे खड़ी रहते हमारा ध्यान आकर्षित कर ही लेती है और पुकार-पुकार कर कहती है कि वे ही है ये स्थल जहाँ चित्रकार की मनोवृत्ति सबसे अधिक रमी है और जहाँ उसने आनन्दोत्सव मनाया है। पुष्पक विमान पर आरूढ़ सीता के सहित आकाश मार्ग से अयोध्या की ओर प्रस्थान करते हुए लका विजयी राम की तरह चित्र के अन्दर से कोई उठी हुई आवाज कहती है 'सैपास्थली'[१७]।

धार्मिक भावना प्रवण युग के प्राणी होने के नाते चित्रकार मानस में धार्मिक भावों की प्रतिष्ठा अवश्य है और उसने (Pisa) के मठों की दीवालों को धर्म-भावापन्न चित्रों से सुसज्जित किया है पर उन चित्रों को देखने पर यह स्पष्ट प्रतिविंबित हो जाता है कि गार्हस्थ्य जीवन के छोटे-

छोटे चित्र स्पष्ट, सुकुमार प्रकृति तथा जगमगाते वस्त्राभूषणाभरण के लिये उसकी प्रतिभा में अधिक पक्षपात है। उसका वास्तविक क्षेत्र यही है। ORCAGNA के उदात्त और अवदात्त चित्रों में जिस औदार्य, गम्भीरता और महनीयता का बोध होता है वह साधारण लौकिक विषयों के सम्पर्क में आते ही न जाने कैसे छू मन्तर हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि वह सर्वश्रेष्ठ देवदूतों और धर्म के गुरु गम्भीर वातावरण में विचरण करने वाला प्राणी था। 'नवरसाल वनविहरण शील प्राणी' भले ही 'कानन कठिन करीलों' में जाने के लिए बाध्य हो गया हो पर वहाँ शोभा नहीं पा सकता। CORREGIO के विचित्र सतों की वक्र भगिमा, कृत्रिम हास्य रेखा तथा एक धूमिल अप्रसन्नता इस बात की सूचना देती है कि वह यदि इस रूप के चित्रण के प्रचलित फैशन की बाध्यता नहीं रहती तो उसकी चित्रकला अपनी अभिव्यक्ति के लिये कोई दूसरा ही क्षेत्र ढूँढती और वहीं से अपने विषयों का निर्वाचन करती।

ठीक यही बात जोशी जी में है। मनोवैज्ञानिक स्थलों को चुन लेने में सतर्कता पूर्वक उनके सयोजन कर लेने की जो इनकी उपयास कला में तत्परता दिखलाई पड़ता है छोटी-छोटी बातों के तृण ओट में जो पर्वतोच्च विशाल मानसिक प्रवाह छिपा है, उसे देखने और दिखाने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है वह जोशी जी के मनोवैज्ञानिक क्षेत्र को स्पष्ट कर देती है। छोटी छोटी बातों की लम्बी लम्बी जो व्याख्यायें दी गई हैं वे इसी बात की द्योतक हैं कि छोटी छोटी बातें ही हैं जो मानव के व्यक्तित्व की मिट्टी से सीधे अव्यवहित रूप से उपजती हैं। अत, उनमें चेतन सत्ता के ऐश्वर्य को, प्राणों के जीवंत आवेग को, प्राणों के सच्चे स्वरूप का साक्षात रूप में देखा जा सकता है। महान् घटनायें उन जीवन हीन पौधों की तरह हैं जो कभी छतों पर उपज जाता है पर उनसे जीवन का उच्छ्वास नहीं रहता। संन्यासी में एक जगह जयन्ती ने नन्दकिशोर के लिये गुच्छी की तरकारी बनाई और एक बार कैलाश के आगमन पर चाय के साथ मेवे इत्यादि लाकर दिये। बात सीधी सी है पर इसी के सहारे लेखक ने पाठकों का ध्यान न जाने कितनी मानसिक गुत्थियों की ओर आकर्षित किया है। "गुच्छी की तरकारी वाली बात का जो उल्लेख मैंने किया है उसे पढ़ कर विज्ञ पाठक अवश्य ही यह मत प्रकट करना चाहेंगे कि ऐसी तुच्छ बात पर इतना महत्त्व आरोपित करना हास्यास्पद है। मैं जीवन में नाना चक्रों के फेर में पड़ कर दीर्घ अनुभव के बाद इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि रात दिन जीवन की छोटी

से छोटी तुच्छ से तुच्छ बातों से मनुष्य की यथार्थ प्रकृति का वास्तविक परिचय प्राप्त होता है। बड़ी बातों से मानव चरित्र की ऊपरी सतह का परिचय मिलता है और छोटी बाते उसके मर्म में छिपी हुई विशेषताओं को प्रकाश मे लाती है"।[१८]

जोशी जी का 'मुक्तिपथ'

मुक्तिपथ जोशी जी का इधर का नया उपन्यास है। इतना अवश्य है कि इसमे लेखक की कथा कहने की प्रवृति मे वर्णनात्मकता, प्रेमचन्दी रंग-ढंग की अभिवृद्धि मालूम पड़ रही है। आधुनिक मनोविश्लेषण की गहरी छान बीन के द्वारा मानसिक स्तरों को उघाड़ कर दिखलाने की चेष्टा कम हो गई है। दैनिक जीवन की छोटी मोटी अर्थ हीन सी लगने वाली क्रिया चेष्टाओं के द्वारा व्यक्तित्व की झाँकी नहीं दिखलाई गई है पर घटनाओं की व्याख्या करने तथा उनके इस अबोध गम्य रूप विधान की बोध-गम्य एवं युक्ति-युक्त व्याख्या करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। लेखक मानो हम से कह रहा है कि जीवन की चाहे किसी तरह की घटना क्यों न हो बडी से बड़ी या छोटी से छोटी (अणोरणीयान् महतों महीयान') सबके मूल मे मानव की कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ ही होती है। एक छोटे से परिवार की सेवा में दिन रात संतोप पूर्वक शान्त चित्त से दत्त चित्त रहने वाली सुनन्दा नामक नारी मे राजीव नामक पुरुप एक विद्रोह की अग्न प्रज्वलित कर देता है, उसके अन्दर इन भावो को जगा देने मे समर्थ होता है कि उसकी सार्थकता इसमे है कि वह अपनी विश्व विजयनी मूल प्रेरक शक्ति का उपयोग इस विशाल विश्व के विराट परिवार की सेवा मे लगाये। उसकी वैपम्य और दैन्य पूर्ण स्थिति को दूर कर एक ऐसी योजना की स्थापना करे जिसके द्वारा जीवन की हाहाकार दूर होकर शान्ति के मलय पवन का सञ्चार हो सके। इसी प्रेरणा के फल स्वरूप वे मुक्ति निवेश की स्थापना करते है। सदियों से बंजर पड़ी हुई भूमि उनके अथक परिश्रम से धन धान्य से लहरा उठती है, लोगों मे स्फूर्ति आ जाती है और वे एक अदम्य प्रेरणा के वशीभूत होकर एक आदर्श जगत की स्थापना के स्वप्न की पूर्ति मे कृच्छ्र साधना के पथ को अपना लेते है। स्वप्न पूरा सा होता दिखलाई पड़ रहा है। पर ठीक इसी समय जब कि ढाई वर्षों के निरन्तर परिश्रम से इस योजना की एक स्पष्ट रूपरेखा सामने खड़ी सी दीख पड़ती है सुनन्दा के हृदय मे एक असन्तोष की भावना जड़ पकड़ने लगती है। राजीव के

छोटे चित्र रङ्ग, सुकुमार प्रकृति तथा जगमगाते वस्त्राभूषणाभरण के लिये उसकी प्रतिभा में अधिक पक्षपात है। उसका वास्तविक क्षेत्र वही है। ORCAGNA के उदात्त और अवदात्त चित्रों में जिस औदार्य, गम्भीरता और महनीयता का बोध होता है वह साधारण लौकिक विषयों के सम्पर्क में आते ही न जाने कैसे छू मन्तर हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि वह सर्वश्रेष्ठ देवदूतों और धर्म के गुरु गम्भीर वातावरण में विचरण करने वाला प्राणी था। 'नवरसाल वनविहरण शील प्राणी' भले ही 'कानन कठिन करीलों' में जाने के लिए बाध्य हो गया हो पर वहाँ शोभा नहीं पा सकता। CORREGIO के चित्रित सन्तों की वक्र भगिमा, कृत्रिम हास्य रेखा तथा एक धूमिल अवसन्नता इस बात की सूचना देती है कि वह यदि इस रूप के चित्रण के प्रचलित फैशन की बाध्यता नहीं रहती तो उसकी चित्रकला अपनी अभिव्यक्ति के लिये कोई दूसरा ही क्षेत्र ढूँढ़ती और वहीं से अपने विषयों का निर्वाचन करती।

ठीक यही बात जोशी जी में है। मनोवैज्ञानिक स्थलों को चुन लेने में सतर्कता पूर्वक उनके संयोजन कर लेने का जो इनकी उपन्यास कला में तत्परत्व दिखलाई पड़ता है, छोटी-छोटी बातों के तृण आट में जो पर्वतोच्च विशाल मानसिक प्रवाह छिपा है, उसे देखने और दिखाने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है वह जोशी जी के मनोवैज्ञानिक क्षेत्र को स्पष्ट कर देती है। छोटी छोटी बातों का लम्बी-लम्बी जो व्याख्यायें दी गई हैं वे इसी बात की द्योतक है कि छोटी छोटी बातें ही है जो मानव के व्यक्तित्व की मिट्टी से सीधे अन्यरहित रूप से उपजती है। अत, उनमें चेतन सत्ता के ऐश्वर्य को, प्राणों के जीवन आवेग को, प्राणों के सच्चे स्वरूप का साक्षात रूप में देखा जा सकता है। महान् घटनायें उन जीवन हीन पौधों की तरह है जो कभी छतों पर उपज जाती है पर उनसे जीवन का उच्छ्वास नहीं रहता। सन्यासी में एक जगह जयन्ती ने नन्दकिशोर के लिये गुच्छा की तरकारी बनाई और एक बार कैलाश के आगमन पर चाय के साथ मेवे इत्यादि लाकर दिये। बात सीधी सी है पर इसी के सहारे लेखक ने पाठकों का ध्यान न जाने कितनी मानसिक गुत्थियों की ओर आकर्षित किया है। "गुच्छा की तरकारी वाली बात का जो उल्लेख मैंने किया है उसे पढ़ कर विज्ञ पाठक अवश्य ही यह मत प्रकट करना चाहेंगे कि ऐसी तुच्छ बात पर इतना महत्व आरोपित करना हास्यास्पद है। मैं जीवन में नाना चक्रों के फेर में पड़ कर दीर्घ अनुभव के बाद इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि रात दिन जीवन की छोटी

छोटी तुच्छ से तुच्छ बातों से मनुष्य की यथार्थ प्रकृति का वास्तविक रिचय प्राप्त होता है। बड़ी बातों से मानव चरित्र की ऊपरी सतह का रिचय मिलता है और छोटी बातें उसके मर्म मे छिपी हुई विशेषताओं को प्रकाश मे लाती है"।[१८]

जोशी जी का 'मुक्तिपथ'

मुक्तिपथ जोशी जी का इधर का नया उपन्यास है। इतना अवश्य है कि इसमे लेखक की कथा कहने की प्रवृति मे वर्णनात्मकता, प्रेमचन्दी रंग-ढंग की अभिवृद्धि मालूम पड़ रही है। आधुनिक मनोविश्लेषण की गहरी छान बीन के द्वारा मानसिक स्तरों को उघाड़ कर दिखलाने की चेष्टा कम हो गई है। दैनिक जीवन की छोटी मोटी अर्थ हीन सी लगने वाली क्रिया चेष्टाओं के द्वारा व्यक्तित्व की झाँकी नहीं दिखलाई गई है पर घटनाओं की व्याख्या करने तथा उनके इस अबोध गम्य रूप विधान की बोध-गम्य एवं युक्ति-युक्त व्याख्या करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। लेखक मानो हम से कह रहा है कि जीवन की चाहे किसी तरह की घटना क्यों न हो बड़ी से बड़ी या छोटी से छोटी (अणोरणीयान् महतों महीयान') सबके मूल मे मानव की कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ ही होती है। एक छोटे से परिवार की सेवा में दिन रात संतोष पूर्वक शान्त चित्त से दत्त चित्त रहने वाली सुनन्दा नामक नारी मे राजीव नामक पुरुष एक विद्रोह की अग्न प्रज्वलित कर देता है, उसके अन्दर इन भावों को जगा देने मे समर्थ होता है कि उसकी सार्थकता इसमे है कि वह अपनी विश्व विजयनी मूल प्रेरक शक्ति का उपयोग इस विशाल विश्व के विराट परिवार की सेवा मे लगाये। उसकी वैषम्य और दैन्य पूर्ण स्थिति को दूर कर एक ऐसी योजना की स्थापना करे जिसके द्वारा जीवन की हाहाकार दूर होकर शान्ति के मलय पवन का संचार हो सके। इसी प्रेरणा के फल स्वरूप वे मुक्ति निवेश की स्थापना करते है। सदियों से बंजर पड़ी हुई भूमि उनके अथक परिश्रम से धन धान्य से लहरा उठती है, लोगों मे स्फूर्ति आ जाती है और वे एक अदम्य प्रेरणा के वशीभूत होकर एक आदर्श जगत की स्थापना के स्वप्न की पूर्ति में कृच्छ्र साधना के पथ को अपना लेते है। स्वप्न पूरा सा होता दिखलाई पड़ रहा है। पर ठीक इसी समय जब कि ढाई वर्षों के निरन्तर परिश्रम से इस योजना की एक स्पष्ट रूपरेखा सामने खड़ी सी दीख पड़ती है सुनन्दा के हृदय मे एक असन्तोष की भावना जड़ पकड़ने लगती है। राजीव के

सम श्रम के आधार पर प्रतिष्ठित सम्पूर्ण मानव जातीय सम व्यवस्था सम नियम और सम अधिकार की योजना के विरोध में स्वतन्त्र नारी की चेतना जाग पड़ती है और वह इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये आगे चल पड़ती है।

सुनन्दा के हृदय में कौन सी प्रवृत्ति थी जिसके कारण राजीव को जिसकी झाँकी बाह्य जगत के कार्य क्षेत्र की विशालता में मिल चुकी है और जिसे वह प्रत्यक्ष जीवन में अवतरित करना चाहता है। उसके विरोध में विश्व नारी के भीतर नारीत्व का पूर्णतया स्वतन्त्र चेतना जगाने की विराट कल्पना जो सुनन्दा के मन में जाग उठता है वह आदि नारी और आदि पुरुष का शाश्वत सवर्ष है और उसी पर हमारे जगत की वैषम्य पूर्ण स्थिति का उत्तरदायित्व है। यह स्थिति तभी दूर हो सकती है जब हम विश्व की समस्या का इसी सतह पर ले जाकर सुलझाने का प्रयत्न करें। मानवता के विकास के साथ जो पुरुष के हृदय में नारियों को अधिकृत करने की भावना जगी वह सभ्यता के विकास के साथ साथ उन हजारों लाखों वर्षों के अन्दर और भी बद्धमूल होती गई। वे ही संस्कार आज भी हमारे हृदय में वर्तमान है और नाना प्रकार छद्मवेश धारण करके सामने आते हैं। संसार की अन्तराष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं को हल करने का एकमात्र उपाय यही है कि इन लाखों वर्षों के पड़े संस्कार का खरोंच कर उनके असली स्वरूप को देखने की क्षमता हो। इस पुस्तक के अन्त में सुनन्दा ने अपने मत परिवर्तन के रूप में जो बातें कही हैं वे इस उपन्यास का मेरुदण्ड है उसकी कथा का साराश उसी के शब्दों में यह है—

"आप यदि कोई ऐसा विश्व योजना चाहते हैं जो सम श्रम द्वारा सच्चे अर्थों में सम कल्याण और स्थायी शान्ति स्थापित करने में सफल हो तो बाहर के पार्थिव जीवन के साथ-साथ भीतर के भाव जीवन के विकास की ओर भी सचेष्ट रहें।"[१]

जिस प्रकार 'घरे बाहिरे' में रवि बाबू का सदीप विमला को घर की चाहर दिवारी की सीमा से निकाल कर बाहर विश्व क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर देता है, सुनीता का हरि प्रसन्न सुनीता को अपने दल का नायिका बनाने की चाहना करता है उसी प्रकार राजीव भी सुनन्दा को एक परिवार का परिचया से मुक्त कर मुक्ति निवेश की संचालिका बना देता है। पर इनमें और सुनिरम में अन्तर है। दोनों कथाकारों ने पुरुष पात्रों में मानसिक गुत्थियाँ, पचादगी और जटिलताओं को समाविष्ट कर उनका विश्लेषण किया है

पर मुक्ति पथ मे जटिलता का आरोप मानवोचित दुर्बलता का प्रदर्शन पुरुष में न होकर नारी मे है। राजीव का व्यक्तित्व एक ऐसे उच्च सिद्धाँत के शिखर पर प्रतिष्ठित है कि जहाँ से खाढी की तलहटी की हरियाली की ओर दृष्टि जाती ही नहीं। ठीक उसी तरह मानो वृक्षों की फुलङ्गी पर बैठा हुआ मानव अपने शरीर मे लगने वाली प्रचंड झंझावात और झुलसाती लूओं को ही जीवन का चिरन्तन सत्य समझ कर उन्हीं का स्वागत करने अथवा उन्हीं के अनुरूप अपने जीवन को मोडने मे ही चरम उद्देश्य की सिद्धि समझे। पर वह स्नेह की धारा जो वृक्ष की जड़ों को सींचती है उसको भूल ही जाय। पर सुनन्दा ऐसी नहीं वह मानव की प्रवृत्ति की नींव पर ही जीवन की विशाल इमारत रखना चाहती है। यही कारण है कि वह अपने परिवार मे भी सन्तुष्ट नहीं और मुक्ति निवेश के वृहद् परिवार से भी सन्तुष्ट नहीं क्यों कि दोनों ही परिस्थितियों मे विश्वनारी की जो दमित आकांक्षायें हैं उन्हें उचित मार्ग प्रवाह नहीं मिलता।

वास्तव मे देखा जाय तो मानसिक जटिलता के अधिक समावेश की बात नारी मे जितनी सहज स्वाभाविक लगती है उतनी पुरुष जाति में नहीं। कारण मानव चेतना के विकास के साथ-साथ नारी की भावनाओं को जितना दबाया गया है, नारी ने अपने भावों का जितना दमन किया है, उनको जितना भूल जाने का प्रयत्न किया है उतना पुरुष ने नहीं। उसका हाथ सदा ऊँचा रहा है। वह सदा से दबाता (dominate) करता आया है, जीवन मे उसके पुरुपत्व के गौरव की स्वीकृति एक तरह से मान ली गई है। उसे विशेप कुछ करना नहीं। यही कारण है कि भारतीय परम्परा के अनुसार नारी ही भाव जगत मे अधिक सक्रिय दिखलाई गई है। प्रेम की पीड़ा का दुर्वह-भार उसे ही ढोना पड़ रहा है। नारी अपने प्रिय पात्र और प्रेमी के प्रति अधिक प्रयत्न-शील दिखलाई गई है। यह बात भले ही हो कि उसकी यह क्रियाशीलता अन्तर्जगत में न होकर बहिर्जगत में ही अधिक सार्थकता दिखलाती हो। पगन में छाले पडे प्राणन को लाले पड़े तउ-लाल लाले पडे रवरे दरस को।" भले ही पैरों के फफोले शीघ्र ही हमारी नजरों मे आ जाँय, प्राणों के लाले सहज ही दृष्टिपथ में आ जाँय पर इस बात का निर्णय करने का दावा कौन करेगा कि दिल पर और मन पर फफोले नहीं पड़ते, वहाँ पर कोई गाँठ, कोई जटिलता, कोई ग्रन्थि जम कर नहीं बैठ पाती और जीवन भर बेताब नहीं किये रहती। नारी के मत्थे क्रियाशी-लता के आरोपण की भारतीय प्रवृत्ति चाहे भारतीय हो पर यह प्रस्ताव कि

युग-युग की नारी की पददलित भावनाओं में इस सक्रियता का मूल ढूँढ़ा जाय यह यों ही टाल देने की वस्तु नहीं है। रानीव (पुरुष) के सम्पर्क ने भले ही प्रथमतः सुनन्दा (प्रकृति) को सक्रिय किया हो पर एक बार सक्रिय हो जाने के बाद पुरुष का नियन्त्रण वह नहीं मानेगी। वह अपनी साधना की सिद्धि तक पहुँच कर ही रहेगी। बस इसी मूल मनोवैज्ञानिक तत्व को जोशी जी ने मुक्ति पथ में दिखलाने की कोशिश की है और मैं यह कहना चाहता हूँ कि वे इस तरह भारतीय परम्परा का ही प्रतिनिधि कहते हैं।

ऊपर की पंक्तियों में विशेषतः जोशी जी के उपन्यासों के आधार पर यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि मनोविज्ञान का प्रभाव कथा के क्षेत्र में यह परिलक्षित होता है कि कथायें वर्णनात्मकता का रंग ढंग छोड़कर व्याख्यात्मक का रूप धारण करने लगी हैं, घटनाएँ, वर्णन, वस्तु व्यंजना गौण होने लगी हैं, उनकी प्रधानता घटने लगी है और अब वे अपने स्वतंत्र रूप में उपन्यासतत्व के अधिकारी नहीं रह गये हैं। यह पद अब व्याख्याओं को, मानव मन के अनेकों पर्दों को फाड़कर देखने की प्रवृत्ति को दिया जाने लगा है। इसका एकमात्र नहीं तो प्रमुख कारण यह अवश्य है कि मनोविज्ञान ने इस छानबीन करने की, मानव मन की व्याख्या करने की आदत डाल कर हमारी कथा की धारा को भी उधर प्रवाहित किया है।

जोशी जी का नया उपन्यास जिप्सी

जिप्सी उपन्यास में आते आते जोशी जी ने मनोविज्ञान के कुछ नूतन पहलुओं को भी अपनी कथा का आधार बनाया है और साथ ही कुछ ऐतिहासिक घटनाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या देने का प्रयत्न किया है। अब तक के सिवा उपन्यास के बाद के जोशी जी के लिखे हों अथवा किसी अन्य के किसी में भी सम्मोहन (Hypnotism) को कथा सूत्र के विकास में सहायक के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया था। एक पात्र को दूसरे पात्र की उपस्थिति में प्रभाव ग्रहण करते भले ही चित्रित किया गया हो पर सम्मोहन कला को विधिवत् उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार नहीं मिला था। रचनात्मक प्रतिभा ने उस ओर ध्यान नहीं दिया था। [illegible] के [illegible] में तथा जासूसी उपन्यासों के प्रारम्भिक दिनों में सम्मोहन ने इनके मनोविदों का ध्यान आकर्षित किया था।

Macdugal ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Abnormal Psychology में सम्मोहन सम्बन्धी अनेक मनोरंजक और [illegible] प्रयोगों का उल्लेख किया

है। वास्तव मे देखा जाय तो फ्रायड के अचेतन और उपचेतन वाले सिद्धान्त के आविष्कार के मूल मे (Hypnotism) का मुख्य स्थान है। पर विचार तथा ज्ञान के क्षेत्र की वस्तु को हमारे व्यक्तित्व को ऊपरी तहों से छन कर उस गहराई तक पहुँचने मे समय लगता है जहाँ से सृजनात्मक प्रक्रिया आरम्भ होती है। अतः, आज तक उपन्यास साहित्य के क्षेत्र से सम्मोहन वर्जित ही रहा। अब जाकर सृजनशील आन्तरिक गहराई तक वह पहुँचने लगा है और आशा है इस विषय को अनेक प्रतिभाओं का वरदान प्राप्त होगा।

जिप्सी उपन्यास का नायक नृपेन्द्र सम्मोहन कला का ज्ञाता है और वह अपनी यौगिक शक्तियों को पूर्ण रूप से जगाकर मनिया को उस सुपुप्तावस्था में ले जाता है जिसे अंग्रेजी मे हिफनोटिक-स्लीप, सम्मोहन निद्रा कहते हैं और उसी अवस्था मे अपने आत्म विश्वास पूर्ण दृढ आदेशों एवं संसूचनाओं द्वारा मनिया के विद्रोही भावों को जीतकर अपने प्रति आसक्त बनाता है। वह ठीक एक सम्मोहक (hypnotist) की तरह सुपुप्त मनिया से कहता है।

"तुम्हारा छुटकारा तभी मिलेगा जब मैं चाहूँगा। मै चाहे काल होऊं या कुछ और पर हर हालत में तुम्हारा प्यार चाहता हूँ·····'मुझे प्यार करो। उसी में डूब जाओ और उसमे अपनी सारी जिन्दगी खपा दो। बोलो करोगी मुझे प्यार।"

हाँ
फिर बोलो प्यार करोगी और खुश रहोगी ?
हाँ, प्यार करूँगी और खुश रहूँगी
अब तो मैं काल की तरह नहीं लगता
नहीं
तब नींद से उठ बैठो[२०]

इस बार के प्रयोग का प्रभाव मनिया पर यथेष्ट रूप से पड़ा। पर आगे चलकर जब मनिया मे ज्यों-ज्यों आत्म-विश्वास और स्वतन्त्र-चिंतन की मात्रा बढ़ती जाती है सम्मोहन का प्रभाव कम होता जाता है। १५वें परिच्छेद में नृपेन्द्र ने इस कला का प्रयोग किया है और उसी के शब्दों में।

"यह स्पष्ट है कि मेरे हिफनोटिज्म का केवल आधा ही प्रभाव उसके अन्तर्मन पर पड़ा था". ... ..इसी तरह के एक दो प्रयोग की असफलता के

बाद रूपेन्द्र अपनी असफलता के कारणों का उल्लेख करता हुआ कहता है।

"तब मेरी सफलता का कारण यह था कि तब मैं मनिया की सच्ची मंगल कामना से प्रेरित होकर सच्चा आत्मिक बल पाकर उसके मन को प्रभावित करने को उद्यत हुआ था पर आज मैं उसकी वास्तविक कल्याण कामना से प्रेरित न होकर अपनी स्वार्थ हानि की आशंका से ईर्ष्यादग्ध होकर कृत्रिम मानसिक बल के प्रयोग से हिप्नोटाइज करने चला था"[२१]

उपन्यास मनोविज्ञान का शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं है कि इसमें मनोवैज्ञानिक पहलुओं और समस्याओं की तर्क-सम्मत मनोवैज्ञानिक व्याख्या की जाय। सम्भव है कि हाइपोनिटिज्म की सफलता और असफलता की व्याख्या मनोविज्ञान की पुस्तकों में अन्य प्रकार से की गई हो। Macdugal ने अपनी पुस्तक Outline of Abnormal Psychology में Hypnosis नामक चतुर्थ अध्याय में इस तरह के प्रयोग की सफलता और असफलता की चर्चा की है। एक सम्मोहक कुछ अध्यापकों और विद्यार्थियों के समूह में एक सभ्रात महिला को सम्मोहनावस्था में ले गया। उसके हाथ में कागज का बना हुआ एक छुरा दे दिया गया। अब आप उसे कोई आदेश दीजिये कहिये कि अमुक की हत्या करे। वह बड़ी तत्परता से आपकी आज्ञा का पालन करेगी। पर जब विद्यार्थियों ने उससे कहा कि तुम अपने अधोवस्त्र को उतार कर नग्न हो जाओ तो तुरन्त उसकी सम्मोहनावस्था जाती रही और वह नैतिक क्रोध के भाव प्रकाशित करती अपने घर चली गई। इस पर टिप्पणी करते हुए लेखक कहता है।

यह कथा इस सत्य का प्रतिपादन करती है कि सम्मोहक के लिए किसी को दृढ़ नैतिक भावना के विरोधी कर्म के लिये नियोजित करना आसान नहीं[२२]

यह व्याख्या सम्मोहित व्यक्ति की दृष्टि में रख कर दी गई है और हो सकता है कि अधिक वैज्ञानिक हो। जिप्सी में जोशी ने सम्मोहित करने वाले व्यक्ति को दृष्टि में रखकर व्याख्या दी है। पर बात अपनी जगह ठीक है कि जोशी जी की मनोविज्ञान प्रियता ने प्रेरणा दी है कि वे अपने उपन्यासों में रहस्यपूर्ण मनोवैज्ञानिकता को भी स्थान दें।

जिप्सी के दो महत्वपूर्ण स्थल

इस उपन्यास के दो और स्थल हैं जहाँ साधारण बुद्धि को चुनौती देने वाला मनोवैज्ञानिक व्याख्यायें दी गई हैं। प्रथम स्थल वह जहाँ पादर

जरमिया ने ईसा के महान आत्म बलिदान की दारुण परिस्थितियो के प्रति सामर्थ्य रहते भी चुपचाप आत्म समर्पण के मनोविज्ञान का उद्घाटन किया है। दूसरा स्थल वह है जहाँ नृपेन्द्र द्वारा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की परिस्थिति मे रहने देने के लिये पूर्ण आश्वासन दिये जाने पर भी हजार दो हजार रुपये देकर उसे दूसरी दुकान खुलवा देने का वचन देने पर भी मनिया दुबारा दुकान खोलने पर तैयार नही होती है और कहती है : बाबा कोई इस गरीब लाचार को एक पैसा दे दो। भगवान तुम्हारा भला करेगा[२३] कहती हुई भीख माँगती फिरेगी। इस उपन्यास के पूरे दो परिच्छेद (अठाइसवाँ और उनतीसवाँ) ईसा की मृत्यु की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के लिये दिये गये है और यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि ईसा की ऐसी दुर्गति दारुण मृत्यु मनसा नियत (Psychically determined) थी। ईसा के द्वारा ही (उनके अचेतन द्वारा कहना अच्छा होगा) इस तरह की परिस्थितियाँ उत्पन्न की गई है कि उन्हे काँटों का ताज पहिनना पडे। लोग उन पर पत्थर फेके, थूके और तालियाँ पीटे। इस महान् विद्रोही आत्मा की यह निश्चित योजना ही ऐसी थी कि उसकी मृत्यु के पुंजीभूत उत्पीड़न को चरम मार्मिकता का रूप दिया जा सके। कुछ लेखक के शब्दो को लीजिये : : "वह जैसे अपने जीवन की सारी साधना उसी घोर अवमानना पूर्ण और साथ ही निदारुण रूप से कारुणिक मृत्यु की सिद्धि के लिये नियोजित किये चले जा रहे थे। क्योंकि उन्हे यह निश्चित विश्वास था कि (Vengence is mine, I will repay) प्रतिहिंसा मेरी है मैं बदला चुकाऊँगा और तभी यह बदला चुका सकते थे जब जीवन मे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सके जिनके कारण उनकी मृत्यु अत्याचारियों के हाथों से हो और साथ ही अधिक से अधिक हृदय-विदारक और अधिक से अधिक मर्मघाती रूप मे हो अर्थात् ईसा एक ऐसी महाज्वाला अपने शिष्यों के पास थाती के रूप मे दे जाना चाहते थे जो धधकती रहे और तत्कालीन सत्ताधारियों को भस्मसात् कर दे। यहाँ तक कहा गया है : : पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह विनय, वह नम्रता, वह अहंभाव शून्यता वह आत्म समर्पणशीलता दमित अहम् का ही परिपूर्ण प्रस्फुटन है यद्यपि उल्टी दिशा मे[२४]।

The Story represents the truth, namely, that the Patient cannot eassily be induced to perform any acion to which his moral character is decidedly opposed.

फ्रायड के मनोविज्ञान से परिचित व्यक्ति से कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह किसका कंठ स्वर है।

मनिया की विचित्र इच्छा, की जिसकी चर्चा ऊपर की गई है, मनोवैज्ञानिक रहस्य को बतलाते हुए कहा गया है कि यह भी विद्रोह का विकृत रूप था "बाबा कोई इस गरीब को एक पैसा दे दो" की रट लगा कर दर दर ठोकरें खाकर अपना अवमानना का चरम सीमा तक पहुँचाकर समाज तथा कथित प्रतिष्ठित व्यक्तियों का मार्मिक पीड़ा जगा कर विकृत प्रतिहिंसात्मक आत्म सन्तोष प्राप्त करने का यह परिवर्तित रूप था।

आधुनिक मनोविज्ञान अन्वेषणों द्वारा सहचेतनावस्था (Coconscious Personality) की अवस्थिति का पता स्पष्ट रूप से चला है। इसका अर्थ यह है कि विशेष प्रबल मानसिक क्रियाओं के कारण आदमी का व्यक्तित्व दो तीन चार खंडों में विभक्त हो सकता है और कभी कभी व्यक्तित्व का एक खण्ड दूसरे खण्ड से सर्वथा स्वतंत्र और अपरिचित रूप में काम कर सकता है। एक के कार्य व्यापार का दूसरे को कुछ भी ज्ञान नहीं रह सकता है। यह भी सम्भव है कि एक खण्ड दूसरे का स्थिति से परिचित रहे और कभी विरोधी कभी सहयोगी के रूप में क्रियाशील हो। इस तरह के व्यक्ति एकाधिक व्यक्तित्व के रूप में मनिया का चित्रण कई स्थानों पर किया गया है। एक स्थान पर वह कहता है मुझे लगता है कि मनिया नाम का जो लड़का तुम्हारे साथ इस बँगले में रहता है वह मुझसे कोई भिन्न लड़की है। तब मैं प्रत्यक्ष अपने को मनिया से अलग देखने लगती हूँ कभी उसे डाँटने की इच्छा होती है कभी उस प्यार करने का जी चाहता है[२५] कुछ आगे बढ़कर जब रूपेन्द्र समझाता है "भिन्नता है वह तुम्हारे द्विधा विभक्त मन में है" तब वह कहता है "एक अनोखी अनुभूति मुझे घर दबाती है जैसे मैं मैं ही नहीं रह गई हूँ और किसी दूसरे व्यक्ति की आत्मा मेरे भीतर प्रवेश पा गई है। जैसे मेरा शरीर और मेरा नाम केवल ये ही दो चीजें शेष रह गयी हैं।"

इस तरह इस उपन्यास में से अनेक प्रसंग उद्धृत किये जा सकते हैं, एसे विचार दिखलाये जा सकते हैं जो इस उपन्यास से अधिक मनोविज्ञान की पुस्तक के लिए अधिक उपयोगी हो सकते थे। इलाचन्द्र जी हिन्दी के उन औपन्यासिकों में से हैं जिनकी उपन्यास कला कथा में ही ढल कर अपने स्वरूप को प्रस्फुटित करती है पर विषय के निर्वाचन में उन्होंने दृढ़ता पूर्वक मनोविज्ञान को अपनाया है। उनमें आधुनिक सामाजिक और राज-

नैतिक समस्याओं के प्रति अवहेलना नहीं है। गाँधीवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद इत्यादि का मार्मिक विवेचन जितना इनके उपन्यासों में हुआ है उतना शायद ही अन्य किसी के उपन्यासों मे हुआ हो पर सब कुछ हुआ है मानव के मनोवैज्ञानिक आधार पर, सब के मूल मे रहने वाली मौलिक प्रवृत्तियों की ही छान बीन की गई है। इस सम्बन्ध मे आइन्स्टाइन और फ्रायड के उस पत्र व्यवहार[२६] की याद आ जाती है जिसमे युद्ध के मनोवैज्ञानिक कारणों का फ्रायड ने विश्लेषण किया है। इसका प्रभाव इलाचंद जी पर अवश्य है जैसा कि प्रेत और छाया की भूमिका से स्पष्ट है।

एक बात का और उल्लेख कर इस प्रसंग को समाप्त करूँगा। जिप्सी की उपसंहार की पंक्तियाँ बडी ही प्रकाशवर्द्धिनी है। मैंने कहा है कि मनोविज्ञान का ही यह प्रभाव है कि आज के कथा साहित्य मे असाधारण एवं विकृतमानस पात्रों की अवतारणा होने लगी है। यह बात जोशी जी अच्छी तरह पहिचानते हैं। कथा सुनने के बाद कहने वाला कहता है कि इस कथा मे आपको उपन्यास का मसाला भले ही मिले पर एक कठिनाई आपको यह होगी कि आपका नायक दुर्बलप्रकृति चारित्रिक शक्ति से रहित बे पेंदे का लोटा सिद्ध होगा। इस पर लेखक कहता है—

"मेरे लिये यही एक प्रलोभन है। वीर नायकों की गाथा लिखने वाले उपन्यासकारो की कमी नहीं है पर दुर्बल स्वभाव व्यक्तियो को कथानायक बनाने का सौभाग्य अकेले मुझे ही प्राप्त है"

पाद टिप्पणियाँ

(१) विवेचना, द्वितीय संस्करण, २००० पृ० १८०

(२) प्रेत और छाया की भूमिका (३) रंगभूमि पृ० २८८ (४) वही (५) प्रेत और छाया (६) निर्वासित, प्रथम संस्करण, सं० २००२, लीडर प्रेस प्रयाग, ४६ वां परिच्छेद पृ० २७५ से २८०

(७) प्रेत और छाया, द्वितीय संस्करण सं० २००४, पृ० ३८५

(८) वही पृ० १६४ (९) वही

१०. पर्दे की रानी, द्वितीय संस्करण, लीडर प्रेस, प्रयाग पृ० ९८।

११. वही पृ० १७८। १२. प्रेत और छाया पृ० २९७; एक पात्र नन्दिनी को भगाकर ले जाता है पर जब उसे पता चलता है कि वह कुलीन गृहस्थ की विवाहिता स्त्री न होकर वेश्या थी तो उसे निराशा होती है।

इस पर नर्तकी कहती है। 'तो क्या अभी तक तुम यह समझे बैठे थे कि समाज के और पति के बंधन में बंधी हुई एक भले घर की बहू को फुसला कर भगाये लिये जा रहे हो? ठीक है यही बात है। एक कुलीन घराने की विवाहिता स्त्री को भगाकर उसका धर्म नष्ट करने में तुम जैसे अधम पुरुषों को जो सुख मिलता है वह किसी वेश्या समाज की लड़की को चाहे वह विवाहिता ही क्यों न हो, भगाने में कहाँ मिल सकता है" पृ० ३०३।

१३ प्रेत और छाया पृ० ३३२। १४ संन्यासी पृ० ३५२।

१५ वही पृ० ३५३। १६ साहित्य का मर्म, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, लखनऊ विश्वविद्यालय व्याख्यान माला, नं० १ पृ० ६३।

१७ सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्
रघुवंश, त्रयोदश सर्ग, २३ वां श्लोक

१८ संन्यासी, चतुर्थ संस्करण, भारती भंडार लीडर प्रेस प्रयाग पृ० ३६१।

१९ मुक्तिपथ, हिन्दी भवन, इलाहाबाद २००६, पृ० ४२४।

२० जिप्सी, प्रथम संस्करण, परिच्छेद १५। २१ वही

२२ Outline of Abnormal Psychology by Macdugal, 6th edition P 91। २३ जिप्सी, प्रथम संस्करण।

२४ वही। २५ वही। २६ Collected papers by Freud

एकादश अध्याय

जोशी जी की कहानियों में मनोविज्ञान

जोशी जी की कहानियों में मनोवैज्ञानिक विषय का आग्रह : चिट्ठी पत्री कहानी में हीनता-ग्रन्थि

मनोवैज्ञानिक विषय के निर्वाचन की दृष्टि से जोशी जी आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ लेखक है। इनकी कथाओं मे चोर, जुआरी, लम्पट, मद्यप तथा हत्याकारी पात्रों की भरमार है। इनमे किसी न किसी तरह की मनोविकृति है। इनकी मनोवृत्ति असाधारण है और ऐसा प्रतीत होता है कि इनके व्यक्तित्व का पूर्णरूपेण संगठित विकास नहीं हो सका है। उनके व्यक्तित्व का कोई न कोई एक अलग पिण्ड पड़ा सा है और वह घुलमिल कर जीवन रस के साथ तदाकार नहीं हो सका है। पूर्व के अध्याय मे जोशी जी की "किडनैपड[१]" कहानी पर विचार हो चुका है। उनकी एक दूसरी कहानी है "चिट्ठी-पत्री" जिसमे पत्रात्मक शैली के द्वारा प्रमीला नामक एक धीर गम्भीर नारी की दारूण मृत्यु की कथा है।

प्रमीला जूनियर केम्ब्रिज पास लड़की है पर सुसराल जाने पर वहाँ की प्राचीन प्रथाओं की इस तरह पुजारिन हो जाती है कि वहाँ पर्दा प्रथा की उपयोगिता तक में विश्वास करने लगती है। अन्त मे उसका पति किसी वे बात की बात पर उसे एक लात जमाता है। उसे सह लेती है। पर उसे बुखार हो जाता है आगे चल कर निमोनिया के रूप मे परिणत होकर उसकी मृत्यु का कारण होता है। अपने रोगी जेठ की परिचर्या तथा सेवाओं मे अतिरिक्त तत्परता दिखाने के कारण भी उसे लोगों की भर्त्सना सुननी पड़ी थी अर्थात् हर तरह से वह एक मनोवैज्ञानिक केस के रूप मे उपस्थित होती है और उसका प्रत्येक हरकत किसी छिपी आन्तरिक पीड़ा का सकेत है। कुछ क्रियाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने का प्रयत्न तो लेखक की ही ओर से हुआ है। पर कुछ वाह्य आचरण तो इतने स्पष्ट हैं कि उनके आन्तरिक कारण का पता पा लेना किसी मनोविज्ञान से परिचित पाठक के लिए कठिन नहीं। नई शिक्षा दीक्षा में पली केम्ब्रिज पास लड़की के लिये प्राचीन पथी वातावरण से समझौता कर लेना, समझौता ही नहीं कर लेना पर उसकी वकालत भी करने लगना—इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के मूल में जो मनो-

वैज्ञानिक कारण क्रियाशील होते हैं उन्हें समझ लेना कठिन नहीं है। यह हमारे अन्तर्मन की वह क्रिया है जिसे मनोवैज्ञानिकों ने over compensation या reaction formation[३] कहा है। डाक्टर कैलाशनाथ प्रमीला के रोग की चर्चा करते समय अपने मित्र के पास पत्र में लिखते हैं 'एक मनोवैज्ञानिक डाक्टर की हैसियत से मैं यह कहूँगा कि उसका दीर्घकाल-व्यापी मानसिक पीड़न पति की लाश में चरमावस्था को पहुँच जाने के कारण उसके अज्ञात चेतन ने एक घातक रोग का आश्रय पकड़ लिया। तुम कहोगे कि इतनी घातक बीमारियों को छोड़ कर उसने न्युमोनिया का ही आश्रय क्यों पकड़ा ? मनोविज्ञान इसका भी सन्तोषजनक उत्तर देने के लिये तैयार है पर चूँकि' यद्यपि यहाँ मनोवैज्ञानिक कारण का उल्लेख नहीं किया गया है पर इस कहानी में मनोवैज्ञानिकों की व्याख्या के लिये अति मनोरंजक सामग्री वर्तमान अवश्य है।

प्रमीला के मनोविज्ञान की जटिलता के प्रति भी लेखक यथेष्ट रूपेण सतर्क है। प्रमीला इतनी शिक्षिता होकर तथा आधुनिकता के रंग में रंगी होकर भी अपनी ससुराल वालों की प्राचीन पथा प्रथाओं को स्वीकार कर लेती है। साधारणतः पाठक को प्रमीला के इस व्यवहार में उसकी सहिष्णुता, धैर्य और उदारता का ही दर्शन होता है। पर लेखक के लिये प्रमीला का मनोविज्ञान इतना सहज नहीं है। वह जानता है कि बाह्य दृष्टि से उज्ज्वल, परिमार्जित तथा सभ्य लगने वाले आचरण के मूल में कितनी मनोवैज्ञानिक कदर्यता या कुण्ठा रहती है। कमल का पुष्प बाहर से देखने में कितना ही नयनाभिराम क्यों न हो उसकी जड़ कुत्सित पंक में ही है। ऐडलर के मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के मूल में हीन भावना (Inferiority Complex) काम करती रहती है। वह अपने को हीन अनुभव करता है। और इस भावना से मुक्त होने के प्रयत्न में वह एक ऐसे पथ को चुन लेता है जहाँ उसकी प्रशंसा हो और उसके अहं को तुष्टि मिल सके। प्रमीला में भी यही बात दीख पड़ती है। उसकी एक सखी उसके पत्र के उत्तर में लिखती है—"शायद तुम यह सोचती हो कि तुम्हारा हृदय सचमुच पर्दा प्रथा का महत्त्व स्वीकार करने लगा है पर यह निरा ढोंग है। तुम्हारा अभिमानी हृदय मानों सांसारिक तथा सामाजिक चक्र में दलित और पिष्ट होकर अन्त में अपने आप को ठगना चाहता है और नम्रता, दैन्य और विनय की चरम सीमा को पहुँच कर अपने अभिमान के भाव को तुष्टि करना चाहता है।"[४]

पुत्र न होकर अवैध सन्तान है, वह जरा भी विचलित नहीं होता और इस पाप को निगल जाने में बड़ी सहिष्णुता का परिचय देता है। पर सुरेन्द्र के प्रति उसमें न जाने इतनी कठोरता कहाँ से आ जाती है ! एक दिन सुरेन्द्र से न मिलने के लिये पति की आज्ञा की अवहेलना कर भी पत्नी सज सँवर कर चोटी करने के बाद मचमचाती हुई बाहर चला गई।[६] राजेन्द्र बेवकूफों का तरह देखता रह गया "अपत्नीक" में भी जिस चन्द्रशेखर की कथा है वे किसी मनोवैज्ञानिक केस से कम नहीं हैं। वे न जाने क्यों विवाह की सस्था म विश्वास नहीं करते। उनका सिद्धात है कि स्त्रियाँ पुरुष से एक दम अलग रह कर अपना जीवन बितायें और पुरुष स्त्रियों से अलग रह कर। पर वे बीमार पड़ कर एक मित्र की पत्नी की सेवा और स्नेह प्राप्त करते हैं। बाद में एकदम लापता हो जाते हैं। यद्यपि लेखक ने अपनी ओर स इन विचित्र व्यापारों के मनोवैज्ञानिक कारण नहीं बतलाये हैं पर कहानी की योजना इस ढङ्ग से की गई है कि वह पाठक को अपने मूल के भीतर झाँक कर देखने की प्रेरणा देती है। एक मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिये ये कहानियाँ बहुत ही महत्वपूर्ण विचार की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। आलोचकों ने कहा है कि "प्रसाद जी के नाटकों का निवेदन एक उच्च सस्कृत और शिक्षित हृदय के प्रति होता है। उनका पाठक विशिष्ट होता है, साधारण नहीं।" उसी तरह यह तो नहीं कहा जा सकता कि जोशी का पाठक मनोविद् है, साधारण पाठक उसका आनन्द उठा ही नहीं सकता। पर इतना अवश्य है कि एक मनोविज्ञान के ज्ञाता के लिए इन कहानियों म एक अतिरिक्त आनन्द प्रदान करने की क्षमता है। वह इनकी तह में वर्तमान मनोविज्ञान की धारा को पाकर प्रसन्न हो जायेगा। जोशी जी की कहानियों का लक्ष्यीभूत पाठक मनोविज्ञान का ज्ञाता है। इस कहानी म एडिपस परिस्थिति से उत्पन्न मानसिक प्रवृत्तियों के मूल को पा लेना कठिन नहीं है। बालक के हृदय में अपनी माता पिता के लिये दो तरह के परस्पर विरोधी भावों का अवस्थान होता है। प्रेम का तथा घृणा का। आगे बढ़ कर एडिपस परिस्थितियों में वह माँ को प्यार करने लगता है, पर उसको अपने पिता की सम्पत्ति क रूप में देखकर अपनी इस अधिकार भावना के कारण कहीं उसमें परद्रव्यापहरण रूपी अपराधी भाव का उदय होता है। व्यक्ति के उचित विकास क लिए समयक्रमानुसार इन भावों को दूर हो जाना चाहिये पर इस कथा के नायक तिवारी जी के व्यक्तित्व के अचेतन स्तर म ग्रन्थि के रूप में यह अटका हुआ भाव उन्हें असाधारण मनोभावापन्न बनाये रहता

है। उनके लिये प्रत्येक नारी माँ है, माँ पिता की सम्पत्ति है। अथक प्रयत्न करने पर भी अपने और माँ के मध्य मे स्थित पिता रूपी स्थित बाधा को दूर करने मे वे सफल नहीं होते। अतः उनके अन्दर यदि मेरा-नहीं-तो-किसी-का-नहीं वाली मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है (reacton formation) के रूप मे और वे विवाह सस्था के विरोधी बन जाते है और एकातप्रिय आत्म-तल्लीनता से ही उनके लिबिडो को तृप्ति प्राप्त होती है। रुग्णावस्था मे एक नारी तिस पर भी विवाहित नारी अर्थात् माँ की सेवा उनके अन्दर पुनः मातृ-प्रेम अर्थात् नारी प्रेम के भावोन्माद की सृष्टि करती है, पर उनका अचेतन उन्हे इस परिस्थिति से मुक्त करने के लिए उस स्थान को छोड कर भाग जाने के लिये प्रेरित करता है।

"रोमांटिक छाया"[८] नामक कहानी मे भी एक अपाहिज, आलसी, बेकार, शराबी, मित्रों से माँग कर लोगों की जेब काट कर जीने वाले समाज विध्वंसक आचरण मे निरत नवयुवक की कथा है। उसे इस अवस्था मे लाने वाले जो मनोवैज्ञानिक कारण है उनकी व्याख्या की गई है। जोशी जी की अधिकाश कहानियों मे मनोवैज्ञानिकों के केस हिस्ट्री का रङ्ग है। वे उसी जाति की वस्तु है और उनकी व्याख्याओ मे मनोवैज्ञानिक कारणों के अनुसंधित्सु मनोवैज्ञानिक की प्रति-ध्वनि है। उनकी कहानियाँ जिस सुविधा से आलोचकों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के अनुरूप ढल जाती है, उसे देखते हुये हम कह सकते हैं कि यह संयोग की बात नही। इसे काकतालीय न्याय का चमत्कार कह कर संतोष करने से ही काम नहीं चलेगा। नहीं, जोशी जी ने सतर्क होकर अपनी कथाओं मे मनोवैज्ञानिकता का रंग भरना चाहा है। अपने मनोवैज्ञानिक पूर्व-ग्रह या पक्षपात की स्वचेतना जोशी जी में सदा वर्तमान रहती है जिसके अस्तित्व का पता उनकी कृतियों मे यत्र-तत्र बिखरे वाक्यो से मिलता रहता है। "किडनैप्ड" कहानी का एक पात्र कहता है "आप स्वभावतः यह सोचते होंगे कि मैं सीधी सी बात बेकार के लिये इस तरह घुमा फिराकर कहना चाहता हूँ। पर असल मे मेरी मानसिक उलझने कुछ ऐसी अनोखी रही है कि बिना मनोवैज्ञानिक व्याख्या के मेरे जीवन की किसी भी घटना का सच्चा स्वरूप आपको नहीं मिल सकता"[९] यह कथन उनकी अधिकाश कहानियों के संबंध मे घटित होता है और एक मनोवैज्ञानिक पाठक को कथा-बाह्य साधनों के सहारे भी उसकी छानबीन के लिये प्रेरणा देता है। पाठक को इस तरह की प्रेरणा देने वाले कथा साहित्य के प्रणेताओं मे जोशी जी का स्थान अद्वितीय है, अज्ञेय का नम्बर इनके बाद

ही आता है। "प्रेम और घृणा"[१०] में एक धन लम्पट पुरुष की कथा है। जिसका मन ही नारियों के कौमार्य के साथ खिलवाड़ करता है। "आत्म हत्या या मृत्यु" में एक मनुष्य शराब की तरंग में आकर एक धन रहस्य का उद्घाटन करता है जिस पता लगा है मैं पुलिस आज दस वर्षों से परेशान था। वह मनुष्य स्वीकार करता है कि उस नारी ने आत्म हत्या नहीं की था पर उस मनुष्य ने ही उसे दूसरे से प्यार करते देख उसकी हत्या कर डाली थी।[११]

खडहर की आत्मायें

ऊपर जिन कहानियों की चर्चा की गई व गत रोमांटिक छाया नामक कहानी संग्रह से ली गई हैं। ये सब इतिवृत्तात्मक हैं और कथा के माध्यम से इन्होंने अपने स्वरूप को प्रगट किया है पर इनके मूल विषयाधार में जो विचित्रता है उसमें आधुनिक मनोवैज्ञानिकता का प्रभाव पूर्ण रूप से परिलक्षित होता है। जोशी जी के कहानी संग्रह खंडहर की आत्मायें[१] की कहानियाँ तो मानों उन मानसिक विकारों को सात का ही सामने रखकर लिखी गई है जिन्हें मनोविदों ने असाधारण मनोविज्ञान (Abnormal psychology) कहा है। इस दृष्टि से "पागल की सफाई" और "विद्रोही" इस संग्रह की विशिष्ट कहानियाँ हैं। "पागल की सफाई" में एक पागल से दीख पड़ने वाले व्यक्ति के मुख से ही उसकी कुछ विचित्र सामरयालियों, चेष्टाओं तथा हरकतों के वास्तविक रहस्यों की व्याख्या कराई गई। उनके सांकेतिक महत्व का निर्देशन कराया गया है। नारायन भैया जैसे विद्वान् सज्जन उदार सहृदय व्यक्ति जो मनोविनोद के पुतले थे, अपने व्यंगात्मक विनोदों से समाज के शोषकों और परोवजावियों की धज्जियाँ उड़ा देते थे वे ही अब दीवारों को तोड़ते फिरते हैं। किसी व्यापारी के मकान में निशीथ वेला में आग लगाने का नाट्य करते हैं। कभी किसी मकान या दुकान के आगे सहसा झाड़ू देने लगते हैं। रास्ते में पड़े पत्थरों को इधर उधर फेंकते फिरते हैं। कहानी का एक पात्र प्रश्न करता है "उनके पागल-पन ने तोड़ फोड़ की उस विशेष प्रवृत्ति को ही क्यों अपनाया है? मस्तिष्क के विकार को प्रगट करने का और कोई दूसरा ढंग क्यों नहीं पकड़ा?[१२] सारी कहानी का निर्माण इसी प्रश्न के उत्तर के रूप में है। कहानी के साराश का उल्लेख करना हमारा उद्देश्य नहीं। इतना ही जान लेने से हमारे इष्ट की सिद्धि हो जायेगी कि नारायण भैया के सारे विकारग्रस्त

आचरण साकेतिक है उनकी मानसिक स्थिति के प्रतीक है। इन सारी चेष्टाओं की अपनी सार्थकता है और यह मानसिक मितोपयोजन (Mental economy) हिसाबीपन है।

इस निबंध के द्वितीय परिच्छेद मे मनुष्य के व्यक्तित्व के तीन अंशों की चर्चा की गई है ईगो (Ego), सुपर ईगो (Super Ego) ईड तथा (Id)। इन तीनों शक्तियों मे निरन्तर संघर्ष चला करता है। इसका समाधान अर्थात् पारस्परिक खींचातानी के परिणाम स्वरूप उत्पन्न भाव ही आचरण का रूप धारण करते है। साधारणतः अधिकाश रूप में ये आचरण पारस्परिक विरोधी शक्तियो मे संतुलन की स्थापना करते हुये व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास मे सहायक होते है। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि संतुलन की स्थापना असंभव हो जाय और यह मानसिक अस्वास्थ्य अथवा चारित्रिक त्रुटि के रूप मे या जिनियस के रूप मे प्रकट हो। मनुष्य की पूर्ण परिस्थितियों की गतिशीलता की जैसी माग होती है वैसे ही हमारे आचरणों का रूप होता है। यदि कोई मनोविकारग्रस्त है, पागल है, तरह-तरह के निरर्थक आचरणों का शिकार है, उसमे चोरी करने की लत है तो यह उसके लिये यह सबसे सुविधाजनक मार्ग है। उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। इसी रूप मे रह कर वह जीवन धारण कर सकता था अन्यथा वह परिस्थिति की परस्पर विरोधी मार्गों की चक्की मे पिस ही जाता "ब्राउन के शब्दों मे।"[१२]

*. .. although development of a major mental illness may be looked on as a terrible thing it is still economical, because only by so doing may the individual be maintained as an intact organism at all. It is well known that life often becomes so unbearable that only through the develpment of a psychosis may he evade suicide .. ... Symptoms are economical...... .Conflict situation are resolved in accordance with the least expenditure of energy possible in one existing total situation.......

कभी-कभी व्याख्या के दौरान मे ऐसा मालूम पडने लगता है कि कहानी की बागडोर कथाकार के हाथों से छूट कर मनोविश्लेपक के हाथों मे आ रही है। कथाकार मनोवैज्ञानिक व्याख्याता का रूप धारण करता जा रहा है। यद्यपि उसकी व्याख्या से पाठक को कम संतोप नहीं होता। कहानी के नारायण भैया दुकानों में आग लगाकर, विशेपतः कृपणों की दुकानों में,

समाज को चूसने वाले पूंजीपतियों के प्रति अपने हृदय में जमी घृणा के भावों का गुबार निकालते थे। राह में पड़े पत्थरों को हटाकर वे अपने उन्नति के मार्ग प्रशस्त करते थे। राह में या किसी दुकान के सामने झाड़ू लगाकर वे अपने तथा दूसरों के पाप कृत्यों का परिमार्जन करते थे। मनोविज्ञान की पुस्तकें इस तरह के उदाहरणों से भरी पड़ी हैं जिनमें वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा अधिकार पूर्वक कहा गया है कि पास की वस्तुओं को इधर उधर दूर फेंकना, जिस किसी को धक्का देना, किसी अप्रिय व्यक्ति से मुक्त होने की चेष्टा का प्रतीक है। तकिये को गले से लगाना किसी प्रिय के आलिंगन का प्रतीक है। यदि कोई पागल लाठी से पेड़ों को मारता है और गाली देता है तो सम्भव है वह अपने धनापहरण करने वाले किसी शक्तिशाली शत्रु को दण्डित कर रहा हो।

अंग्रेजी के अनेक आलोचकों ने कहा है कि लेडी मैकबेथ का बार बार हाथों का धोना और यह कहना कि समुद्र के पानी भी इन धब्बों को मिटाने से असमर्थ हैं यह उसके पाप कृत्य (डनकन की हत्या) से मुक्त होने की चेष्टा थी। यह पागल नारायण भैया अपनी अवस्था की व्याख्या करते हुए कहते हैं "अब पागलपन की आड़ में उन दुष्टों, बदमाशों समाज की छाती पर घुन की तरह घुसे हुये और जोंक की तरह चिपके हुये बेईमानों को खुल कर गालियाँ दे सकता हूँ जिनसे अपनी सभ्य और शिष्ट अवस्था में मैं मन ही मन बहुत जलता था पर झूठे शिष्टाचारवश कुछ न हो सकता था।"[६१] इस कहानी में ध्यान से देखने पर और भी अन्य अनेक मनोवैज्ञानिक विशेषतायें सहज ही प्राप्त हो सकेंगी। यहाँ तक कि अपने मनोविकार की अवस्था में अपने मित्रों और सम्बन्धियों से रुपये माँगना और लाकर उन्हें अपने परिवार वालों को देना यह भी उनके लिये मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। उनके अचेतन ने सभ्य एवं शिष्ट मार्ग से चलकर परिवार वालों के प्रति अपने उत्तरदायित्व के पालन में अपने को अक्षम पाकर इस सुविधाजनक मार्ग का अवलम्बन किया था।

"विद्रोही" का अस्थिरचित्त आवारा सफलता के उच्च शिखर पर भी पहुँच कर वहाँ से लौट आने वाला, नारियों के जीवन के साथ खिलवाड़ करने वाला, लोगों से पैसा माँग कर शराब और वेश्याओं के पीछे रहने वाला हरफन मौला पर किसी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकने वाला धनाढ्यों के यहाँ नौकरी स्वीकार कर उनके धन को बरबाद करने वाला तथा उनके पुत्रों को कुमार्गगामी बनानेवाला व्यक्ति किसी मनोवैज्ञानिक केस से कम

नहीं है। इस कहानी की राधा भी अपनी दबी महत्वाकाक्षाओं को विकृत रूप से पूर्ति करने वाली नारी है। उसने पर्याप्त धन अर्जन कर लिया है कि उसकी तीन पीढ़ियों तक के लिये पर्याप्त होगा पर तिस पर भी, सद्विचार सम्पन्न नारी होने पर भी अपने पेशे का परित्याग नहीं करती और आज एक राजा की अस्थायी प्रेमिका बनी हुई है। इसका कारण जैसा कि कथा-कार कहता है उसका फ्रस्ट्रेशन है। वह अपने कल्पना लोक मे अपने को रानी समझने के लिये आकुल है। वह राजा की प्रेमिका का अर्थ लौकिक अर्थ में रानी लगाती है और उसके अचेतन को इससे संतोष प्राप्त होता है।

'डायरी के नीरस पृष्ठ' नामक सग्रह में एक पात्र के द्वारा प्रकारान्तर से लेखक के सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति

जोशी जी की कहानियों के पात्रों तथा उसकी मानसिक अवस्था की असाधारणता का परिचय प्राप्त करना हो तो "डायरी के नीरस पृष्ठ" नामक कहानी के पात्र की विरल मोहाच्छन्नता को देखिये, उसके कुज्झटिकाच्छन्न स्वप्नों को पहचानिये तथा पढ़िये उन हृदयोद्गारों को जो उसकी आन्तरिक बेताबी के कारण उसके हृदय से निकल पड़ते हैं वह कहता है—

"असल बात यह है कि मैंने अपनी इच्छा-शक्ति बिलकुल दबा दी है। निर्द्वन्द, उल्लासकर संसार चक्र की चिन्ता से रहित जो कोई भी जीवन जहाँ कहीं भी मिलता है उसी को अपनाता हूँ। तुम क्या अफीमची या गँजेड़िया हो? आओ, आओ भाई, आओ! तुम से मेरी पूरी सहानुभूति है। तुम क्या जुवारी हो? इस संसार की चिन्ता भूल कर इस खतरनाक मैदान मे प्रज्वर आवेग से निर्द्वन्द्व आ कूदे हो? आओ! आओ! मैं तुम्हारा अन्त तक साथ दूँगा, तुम क्या वेश्यासक्त हो? लालसामय रूप की चिन्ताग्नि में मुग्ध पतंग की तरह अपने प्राणों की आहुति देने के लिये लालायित हुये हो? आओ, आओ, मेरे प्यारे भाई, अपने साथ मुझे भी उस विकराल ज्वाला के ताप का अनुभव कराओ। क्या तुम मद्यपायी हो? संसार के कठिन जीवन से मुक्ति पाकर स्वच्छन्द जीवन के लिये मतवाले हो उठे हो? निश्चिन्त होकर मृत्यु के अन्धकूप की ओर लुढ़कते चले जाते हो? हे प्रियसखा, मुझे भी अपने साथ ढकेल ले चलो।"[१४]

ये उद्धृत पंक्तियाँ कितनी ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ये बतलाती हैं कि मनुष्य के व्यक्तित्व के संगठित विकास में सब से बड़ी बाधा है इच्छा-

शक्ति की दुर्बलता, प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मेक्डुगल के शब्दों में एक प्रबल मनोवेग का अभाव (Want of master sentiment) है। इसमें यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि मनुष्य में यदि कोई मानसिक असाधारणता आ जाती है, यदि वह अफीमची है, गँजेड़िया है, जुआरी है, वेश्यासक्त है, मद्यपायी है तो वह उसके लिये एक मानसिक आवश्यकता है। ब्राउन के ऊपर उद्धृत शब्दों में "मनोविकृति या मानसिक रुग्णता भले ही भयकर दीख पड़े पर उस व्यक्ति के लिये एक आवश्यक पदार्थ है। उसके जीवन-धारण के लिये सब से सुविधापूर्ण मार्ग है।" कथा साहित्य पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते समय हम सदा याद रखना चाहिये कि रोगों को, असाधारणताओं को, मनोविकृतियों को सार्थकता की दृष्टि से अभीष्ट साधकता की दृष्टि से देखें, इस रूप में देखें कि ये व्यक्ति विशेष के जीवन के लिये मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता है। यह सर्वथा नूतन दृष्टिकोण है जिसे मनोविज्ञान के प्रगतिशील अध्ययन ने हमें प्रदान किया है। जोशी जी की उद्धृत ये पंक्तियाँ नाना प्रकारान्तर से लेखक के हृदय की बातों, उसके आग्रहों और पक्षपातों की ही बातें कह रही है। ये बतला रही हैं कि जोशी जी की कहानियों में हम इस तरह के पात्रों को पाने की आशा करते हैं और यदि इनके पात्रार्थ पर ध्यान दिया जाय तो ये ब्राउन के इस कथन का समर्थन करती जान पड़ेगी।[१४]

The chief tenet of modren psycho—pathology is that abnormal psychological phenomena are simply exaggerations i e over-developments or under developments or disguised (i e perverted) development of the normal psychological phenomena This view point is undoubtedly the most important single contribution of mordern psychology to our modern knowledge of the human being

अर्थात् आधुनिक मनोविकार विज्ञान का प्रधान सिद्धान्त यह है कि मनोविज्ञान का असाधारण घटनाएँ मनोवैज्ञानिक प्रकृत घटनाओं के अतिरञ्जित या छद्मवेश रूप हैं अर्थात् या तो उनका विकास अधूरा रह गया है या उनका विकास आवश्यकता से अधिक हो गया है। अथवा कहना चाहें तो कह लीजिये कि वे विकृत हो गई हैं।

जोशी जी में मनोवैज्ञानिकता के आग्रह का उत्तरोत्तर विकास ! मार्च १९५४ के 'नवनीत' में प्रकाशित 'यज्ञ की आहुति' नामक कहानी का विश्लेषण

जोशी जी की कहानियों मे शास्त्रीय मनोविज्ञान का आग्रह बराबर बढ़ता ही जा रहा है। 'नवनीत' के एक अंक मे उनकी कहानी प्रकाशित हुई है। 'यज्ञ की आहुति' जिसमे एक जेबकट की कथा कही गई है। एक जेबकट को भी साहित्य में साधिकार प्रवेश करना स्वयं एक मनोरंजक घटना है। प्रेमचन्द तक ऐसे पात्रों पर "आर्यधर्मेतराणा प्रवेशो निषिद्धः" का ताला लगा रहता था। यदि वे इस क्षेत्र मे आ भी गये तो भी उनकी क्रियाओं मे कोई विशेषता, मौलिकता या बाकापना नहीं था जो उन्हे साहित्य क्षेत्र-प्रवेश की मर्यादा के अनुरूप पात्रता प्रदान कर सके। वे साधारण पाकेटमारो की तरह जेब काट कर अपनी जीवका चलाते थे। उनके लिये जेब काटना आवश्यक हो सकता था पर यह आवश्यकता शारीरिक स्तर की स्थूलता पर ही प्रतिष्ठित थी। उसको एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता का गौरव नहीं मिल सकता। जोशी जी की कहानी एक मानसिक यज्ञ है जिसमे पाकेट मारी जैसी तुच्छ घास-फूस की आहुति से एक मनोवैज्ञानिक चाह की, भूख की पूर्ति होती है। जोशी जी में और अन्य कथाकारों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा है और है वह मनोविज्ञान का। इस कहानी का जेबकट शिक्षित है, समझदार है, उसे कोई आर्थिक कष्ट भी नहीं है। वह फिर भी वह इस गर्हित कर्म का परित्याग नहीं करता। उसकी प्रेमिका जब उसका कारण पूछती है तो वह उत्तर देता है ..पैसे वाले सेठों और बडी-बडी तनख्वाह पाने वाले बाबुओं का जेब काट कर मुझे एक आश्चर्यजनक सुख प्राप्त होता है। मार्था! केवल उसी सुख के लिये मैं जेब काटता रहा हूँ। अपनी गरीबी को दूर करने के उद्देश्य से नहीं ·· इन लोगों की जेब काट कर मैं मन-ही-मन अपने को दलितों का स्वयंसिद्ध प्रतिनिधि समझ खुश हो लेता हूँ।"[१६]

इस उद्धरण से घटना की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता वाली बात स्पष्ट हो गई होगी। पर यदि मार्था को दिये गये उत्तर को ध्यान से पढा जाय तो फ्रायड के उदात्तीकरण (Sublimation) वाले सिद्धान्त की प्रतिध्वनि उसमे स्पष्ट सुनाई पडेगी। वह कहती है "मैं तुम्हारी इस मनोवृत्ति को धिक्कार योग्य समझती हूँ। यह मैं जानती हूँ कि एक महत्वपूर्ण विद्रोह के बीज तुम्हारे

भीतर घर किये हुये है। इसीलिये मैं धिक्कारती हूँ। जरा एक बार सोचो तो सही तुमने विद्रोह को जो विकृत रूप दिया है उसने तुम्हारी कैसी दुर्गति कर डाली है अगर तुमने अपने इस मार्मिक विद्रोह की प्रवृत्ति को स्वस्थ भाव दिया होता तो नयी सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूतों के साथ तुम्हारा स्थान होता अपने विद्रोह को सकीर्ण और विकृत रूप न दे कर सामूहिक और व्यापक कल्याणकारी भाव देने के लिये कमर कस कर तैयार हो जाओ।"[१७]

नवीनतम कहानी सग्रह "होली और दिवाली" में मनोविज्ञान

जोशी जी के नवीनतम कहानी सग्रह "होली और दिवाली" म १४ कहानियाँ सगृहीत हैं। दो तीन कहानियों को छोड़ कर सब के पात्रों में कोइ न कोई मनोवैज्ञानिक असाधारणता है। काइ कुवारी है, किसी को हिस्टीरिया का फिट आ रहा है, किसी में हत्या करने की प्रवृत्ति है पर इनमें 'मैं' और 'इकाकी' ये दो कहानियाँ विशेष भाव से उल्लेखनीय हैं। इनका शीर्षक ही पर्याप्त रूपण मनोरजक है और पाठक में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को जगाने की सामर्थ्य रखता है। पर उन कहानियों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की ओर भी देखा जाय तो इन पर मनोविज्ञान का प्रभाव स्पष्ट मालूम पड़ेगा। 'मैं' नामक कहानी म एक आत्मलीन अहँभावापन्न, मानसिक वातावरणाच्छन्न तथा आत्म मथनरत मनुष्य का अनेक शब्दों म चित्रण है। इसमें मनुष्य की सूक्ष्म मनोवृत्तियों का जो मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है उसका विश्लेषण एक स्वतन्त्र लेख का विषय हो सकता है। पर इस कहानी म प्रयुक्त इन शब्दों का देखिये इनेट्रोवेंट, इगोइस्ट, मेगेलामेनिया, Sex repression यौनवृत्तिदमन, Perversion मानसिक विकृत, (Chaotic) (Stale) "एकाकी" म आये ये शब्द पर्याप्त मनोन्मीलक है। सिनिक, क्लास्ट्रोफोबिया, एगारो फोबिया। ऐसा मालूम पड़ता है कि लेखक अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञान की यानगी देने का लाभ सवरण नहीं कर सका है। किसी युग क इतिहास का घटनाओं को याद रखने का सहज साधन यह है कि उस समय क कुछ मुख्य-मुख्य शब्दों का याद रखा जाय जैसे शब्दों को केन्द्र म ऐतिहासिक घटनायें चक्कर काटती रहती है। उन्हें याद रखने से घटनायें स्वय स्मृतिपटल पर अकित हो जायेंगी। अत जो व्यक्ति इन कहानियों म आये इन शब्दों का याद रखेगा उसके मनोविज्ञान की पूरी शृङ्खला भङ्ग हो जायगा और वह उसे भूलने नहीं पायेगा।

कहानियों में आत्म चरितार्थमकता

जोशी जी की कहानियों का निर्माण मनोवैज्ञानिक धरातल पर होने के कारण इनकी कला में आत्मचरितात्मक शैली को अपनाने का आग्रह अधिक दिखलाई पड़ता है। इस शैली मे कहानीकार के द्वारा कथा नहीं सुनाई जाती, परन्तु किसी एक पात्र या एकाधिक पात्रों के द्वारा अपने जीवन की कथा का वर्णन रहता है। उस पात्र या उन पात्रों का "मैं" ही केन्द्र रहता है। उनके ही केन्द्र के चारों ओर अन्य पात्र तथा घटनाएँ चक्कर काटती रहती हैं। यह शैली मनोवैज्ञानिक धरातल पर लिखी कहानियों के लिए अधिक उपयोगी है कारण कि मनुष्य अपने को अन्यों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता से जानता है। अपने अन्दर की रहस्यात्मक क्रियाओं का उसे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः इस शैली की सीमा मे आत्म विश्लेषण की कला को पूर्ण स्वतन्त्रता से अपने विलास-प्रदर्शन का अवसर रहता है। अन्तस्तल को सूक्ष्मतिसूक्ष्म तथा मूर्ता-मूर्त भावो को स्वाभाविक ढंग से दिखलाने की सुविधा रहती है। "होली और दिवाली" नामक संग्रह की १४ कहानियों में से कहानियों को इस आत्म कथात्मक शैली का आधार मिला है। 'दिवाली और होली' मे मेरा जीवन चक्र, दुष्कर्मा, मेरे प्राथमिक जीवन की 'स्मृतियाँ', 'स्त्रीमय', 'क्रान्तिकारिणी महिला', 'एकाकी', या 'पिशाची', मे कहानियाँ भी आत्मकथात्मक है। क्योंकि इनमे भी किसी एक पात्र के द्वारा किसी एक व्यक्ति के जीवन की गोपनीयता का उद्घाटन किया गया है। और वह रहस्य उसका इतना अपना हो गया है कि उसके निजी जीवन का अंश हो गया है। "डायरी के नीरस पृष्ठ" नामक सग्रह की कहानियाँ भी इसी आत्म कथात्मक शैली के अन्तर्गत आयेगी "डायरी के नीरस पृष्ठ" मिस्त्री, 'एक शराबी की आत्म कथा', 'परित्यक्ता'। डा० लक्ष्मी नारायण लाल ने लिखा है "आधुनिक कहानी कला मे इस शैली का अपूर्व प्रचलन और प्रसार है, क्योंकि आज की कहानी कला का एक मुक्त धरातल मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोविश्लेषण की पद्धति ने आधुनिक कहानीकारों को असीम वर्ण्य वस्तु का क्षेत्र दिया है और आत्म विश्लेषण के माध्यम के द्वारा उन्हें सहज ही से अपना रहा है। आधुनिक कहानी शैलियों मे यह शैली सब से अधिक सशक्त और प्रभावशाली है। मानव के अन्तस्थल के गूढ से गूढ़ विषय और सवेदना इस शैली के द्वारा कहानी के रूप में अभिव्यक्त हो रही है।"

पाद टिप्पणियाँ

१ रोमांटिक छाया नामक संग्रह की ५वीं कहानी, ले० इलाचन्द जोशी, सामयिक साहित्य, लाहौर, प्रथम संस्करण ।

२ Psycho Dynamics of Abnormal Behaviour by J F Brown I edition 1940 , New York and London P 173 "By reaction—formation, or over compensation we mean the development of behaviour |which are diametrically opposed to the unconscious wish "

३ रोमांटिक छाया की प्रथम कहानी पृ० १३ । ४ वही पृ० ५ ।

५ रोमांटिक छाया की दूसरी कहानी । ६ वही पृ० ६ ।

७ रोमांटिक छाया की तीसरी कहानी । ८ रोमांटिक छाया की ५वीं कहानी ।

९ वही पृ० ७३ । १० रोमांटिक छाया की ६ठी कहानी ।

११ रोमांटिक छाया की ७वीं कहानी । १२ नं० २ की किताब ।

१३ खड्हर की आत्मायें, किताब महल, ५६ ए जीरो रोड, इलाहाबाद पृ० १३० ।

१४ डायरी के नीरस पृष्ठ, सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद १९५० पृ० ८ ।

१५ नं० २ की किताब ।

१६ 'नवनीत मार्च १९५४ में प्रकाशित 'पत्र की आहुति' नामक कहानी से उद्धृत, पृ० ८९ । १७ वही पृ० ८९ ।

द्वादश अध्याय

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में मनोवैज्ञानिक वस्तु संकलन

काम शब्द का व्यापकत्व

द्वितीय अध्याय मे फ्रायडियन मनोविज्ञान का जो विवरण उपस्थित किया गया है उससे स्पष्ट है कि मनुष्य के जीवन मे कामभाव का कितना प्राधान्य है। काम शब्द का प्रयोग प्रायः स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण सम्बन्धी रसपूर्ण व्यवहारों तथा प्रजनन-क्रिया के लिये ही किया जाता है और इसी सीमित अर्थ से हमारा काम भी चल जाता है। इसी अर्थ की सीमा मे इस शब्द को आबद्ध रखने पर भी हमें दैनिक व्यवहार मे विशेष कठिनाई नहीं होती। पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस शब्द की परिधि अधिक विस्तृत है, स्त्री-पुरुष की पृथक स्थिति के स्वीकरण के साथ उनके पारस्परिक आकर्षण तक ही सीमित नहीं। स्वलिङ्गी (Homo sexual) व्यक्तियो का उदाहरण लीजिये। स्वलिङ्गी व्यक्ति उसे कहते है जिसका आकर्षण अपनी जाति (sex) के व्यक्तियों के प्रति होता है, स्त्री का स्त्री के प्रति और पुरुष का पुरुष के प्रति। तुलसी के लिये भले ही सत्य हो कि 'मोह न नारि नारि के रूपा' अर्थात् नारी के रूप पर नारी कभी नहीं रीझती, पर दुनियाँ पर आँख खोल कर देखने वाला विचारक इस बात से कभी भी सहमत नहीं हो सकता।

अब तो स्वलैङ्गिकता का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारम्भ हो गया है और स्वलिङ्गी व्यक्तियो ने संगठित रूप से अनेक तर्कों के सहारे इस बात का दावा किया है कि उनको भी स्त्री और पुरुष के समकक्ष एक तृतीय जाति (Third sex) के रूप में मान्यता मिलनी चाहिये।[१] उनके व्यापारों पर भी उदारता से विचार होना चाहिये जैसा स्त्री पुरुषों के काम विषयक व्यापारों पर होता है* यदि स्त्री पुरुष के पारस्परिक तृप्तिमूलक व्यापार को हम सहज भाव से

---

* Through the mouths of their Scientific spokesman they lay claim to be a Special Variety of human race, "Third Sex" as they call, stand only with equal rights the other two.

स्वीकार कर लेते हैं, उसमें किसी प्रकार की घृणात्मकता, वीभत्सता अथवा विद्रूपता नहीं पाते तो स्वलैङ्गिक तृप्ति के व्यापारों के प्रति इतना कठोर हो जाना अन्याय है। स्वलैङ्गिक अभिव्यक्ति भी तो इन व्यक्तियों के लिये उतनी ही स्वाभाविक है, किसी गंभीर अतस्थ प्रकृति की माँग का नैसर्गिक उत्तर है। ऐसे व्यक्तियों की सख्या नगण्य नहीं, जिन्होंने अपने जीवन से विपरीत लिङ्ग के व्यक्तियों को सदा के लिये मिटा दिया है। यहा तक कि विपरीत वर्ग (Sex) के व्यक्ति को देखकर उनके मन म अपार घृणा का सचार होता है, तृप्ति की बात तो दूर रहे। पर स्वलैङ्गिक तृप्ति के व्यापारों को काम व्यापार (Sexual) न कहना तो उचित न होगा, Sex के अर्थ को अत्यधिक सकुचित कर देना होगा।

विपर्यस्त

ऐसे लोगों को फ्रायड ने विपर्यस्त (Pervert) कहा है। ऐसे लोग भी Sex अर्थात् काम भावना से ही परिचालित होते हैं, उनकी तृप्ति भी काम मूलक ही है। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि उनकी काम भाव धारा राजमार्ग से न होकर एक दूसरी ही टेढ़ी मेढ़ी राह से चल कर अपने को चरितार्थ करती है। कुछ मनोवैज्ञानिक कारणों से उनकी कामवासना एक विचित्र रूप से ही तृप्ति लाभ करती है। यह विचित्रता और असाधारणता दो रूपों में पाई जाती है। १ काम के आधार में (Sexual object) में। २ काम के लक्ष्य में, (Sexual aim) में। साधारणत काम भाव की तृप्ति विपरीत वर्ग (Sex) क व्यक्तियो क इन्द्रिय स्पर्श से ही प्राप्त किया जाता है। पर ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जैसा ऊपर उल्लेख हो चुका है, जो भिन्न वर्ग क व्यक्तियों की कोई उपयोगिता स्वीकार नहीं करते और उनके स्थान पर अपना सारा ध्यान स्ववर्ग क व्यक्ति की ओर केन्द्रित करते हैं। कहा जा सकता है कि ऐसे लोगों की काम विषयक विचित्रता या असाधारणता काम आधार (Sexual object) में है। इस श्रेणी मे परिगणनीय व्यक्तियों क अनेक रूप हो सकते हैं जिनका उल्लेख करना सम्भव नहीं। दो तीन रूपों का ही उल्लेख हो सकेगा जिनके उदाहरण हिन्दी कथा साहित्य में मिलने लगे हैं।

काम भावना का आधार

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो काम तृप्ति के साधक-तम करण जननेन्द्रिय को छोड़ कर शरीर के किसी विशेष भाग उदाहरणार्थ नारी के स्तन, उसके पैरों उसकी जिनुगावस्था को ही अपनी वासना का केन्द्र मान

लेते हैं। यदि यही प्रवृत्ति कुछ और बढ जाती है तो लोग शरीर के किसी अंग को भी सर्वथा परित्याग कर देते है और नारी के परिधान का कोई अंश, उसकी जूती या उसके अधोवस्त्र के नीचे के किसी खण्ड से ही उनकी काम लिप्सा निवृत्त हो जाती है। उसी तरह इस श्रेणी मे उन लोगों की गणना की जाती है जो नारी शरीर को सम्पूर्ण रूप मे (Demand the object as a whole) प्राप्त करने के अभिलाषी होते हैं। यहाँ तक कि नारी शरीर उनके लिए एक निष्क्रिय निर्जीव और शव पदार्थ का रूप धारण कर लेता है जिसका वे मनमाना उपयोग अपनी दुर्दमनीय विकृत इच्छाओं के तृप्तत्यर्थ कर सकते हैं।

लक्ष्य प्रेरित विकृति

दूसरी श्रेणी उन लोगों की है जो सम्पूर्ण मैथुन व्यापर चक्र की प्रारम्भिक अथवा सहायक क्रियाओं तक ही अपनी इच्छाओं को सीमित रखते हैं, आगे बढ कर अन्तिम परिणाम तक चले जाने की आकाक्षा उनमें नहीं होती। वे आलिंगन, चुम्बन, स्पर्शन, दर्शन और प्रदर्शन की अवस्था से आगे जाने की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। स्वपीड़क (Masochist) और पर पीड़क (Sadist) व्यक्ति भी इस दूसरी श्रेणी के जीवों के अन्तर्गत आयेंगे जिन्होंने स्वाभाविक स्त्री-पुरुष-परस्पर-सापेक्ष काम तृप्ति के लक्ष्य को परिवर्तित कर उसे पीड़ा का रूप दे दिया है। इन दो श्रेणियों मे एक और विभाग हो सकता है जिसमे वासना तृप्ति केवल मानसिक हो, जिसमे भौतिक आधार की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई हो।

सम्पूर्ण नारी शरीर की मॉग : सुनीता में कामाधार विकृति : हरिप्रसन्न का चरित्र :

निष्कर्ष यह कि मनुष्य के काम जीवन में प्रधानतः दो तरह की विकृतियाँ पाई जाती है। आधार सम्बन्धी और लक्ष्य सम्बन्धी। इन दोनों तरह की विकृतियों का चित्रण आधुनिक हिन्दी उपन्यासों मे पाया जाता है। आधार विकृति की बात पहिले लीजिये। इस पर विचार करते ही जैनेन्द्र के सुनीता नामक उपन्यास की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। इसका एक पात्र है हरिप्रसन्न। उसके चरित्र का चित्रण जिस तरह से प्रारम्भ हुआ है उससे स्पष्ट है कि उसके जीवन का विकास स्वाभाविक गति से नहीं हो सका है। वह अविवाहित है तथा क्रान्तिकारी। उसके मित्र श्रीकान्त के शब्दों मे "हरी की आत्मा में कहीं गाँठ पड़ी है कि वह अतर्क्य हो जाता

है वह तो जैसे अपने भीतर भेद को पाल रहा है। उसके मन में कहीं गुत्थी है जिसको तोड़ने के लिये वह रिवाल्वर तक आ पहुँचा है।"[२] हरिप्रसन्न के रूप में पाठकों को एक ऐसे व्यक्ति का पता चलता है जिसके जीवन में स्वाभाविक वृत्तियों का अत्यधिक दमन किया गया हो। यहाँ तक कि उच्छृंखल बंधनहीन जीवन के उसकी प्रति आसक्ति तथा उसकी क्रान्ति दल-संगठन-योजना भी इसी के परिणाम मालूम पड़ते हैं। वह अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर सुनीता को अन्धकारमय निशीथ वेला में सूने जंगल में अपने दल वालों के सम्मुख स्फूर्ति प्रदायिनी मायारानी देवी चौध रानी बनाकर ले जाता है। वहाँ पर उसका जो व्यवहार होता है उसे देख कर किसी को भी संदेह नहीं रह जाता कि वह एक आधार विकृत विपर्यस्त (Sexual pervert) है। वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसकी काम-तृप्ति अपनी चरितार्थता के लिये नारी शरीर का सम्पूर्ण रूप से माँग करने की अदम्य व्याकुलता से पीड़ित है। सुनीता खुले पत्थर पर सोई हुई है। उसका विनिद्रित और संपुटित मुख चाँदनी में खिल उठा है। हरिप्रसन्न उसकी अंगुलियों को चूम लेता है। वहाँ के कुछ दृश्य देखिये, कुछ वार्तालापों का अंश सुनिये और इन सब बातों के आलोक में विचार कीजिये कि हरिप्रसन्न के सम्बन्ध में कही गयी विपर्यस्तता (Perversion) की बात कहाँ तक ठीक है?

सुनीता तुम क्या चाहते हो हरी बाबू!

हरिप्रसन्न क्या चाहता हूँ। तुम पूछोगी क्या चाहता हूँ, तुमको चाहता हूँ।

सचुची तुमको चाहता हूँ![१]

उसके बाद सुनीता निरावरण हो जाती है, साड़ी उतार फेंकती है, शरीर से चिपट कर सटी हुई बाडी को फाड़ देती है और दिगम्बर प्राय अवस्था में कहती है "मैं तो तुम्हारे सामने हूँ, इन्कार कर करती हूँ। लेकिन अपने को मारो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो तो मुझे ले लो।"[३] परन्तु हरिप्रसन्न की हिम्मत नहीं होती और वह शान्त चुप बैठा रहता है।

हरिप्रसन्न किस श्रेणी में

यहाँ इस प्रश्न को लेकर थोड़ी सी शंका का अवसर हो सकता है कि उसको किस श्रेणी में रखा जाय, लिङ्गाधार की श्रेणी अथवा विकृत लक्ष्य कोटि में। कहा नहीं जा सकता कि वह मैथुनिक व्यापार के स्थान पर

दर्शन मात्र से तृप्त व्यक्तियों की श्रेणी मे परिगणनीय हो अथवा मैथुन-व्यापार-सहयोगी विशिष्ट नारी अंग के स्थान पर सम्पूर्ण नारी का अधिकार लिप्सु है। पर इतना अवश्य है कि उसमे दमित काम की प्रबलता जनित उद्वेग है, उसमे कुछ विपर्यस्तता की मात्रा है, उसके जितने व्यापार होते हैं, विशेषतः सुनीता को जंगल मे ले जाने के लिये प्रोत्साहित करने वाले षड्यंत्र सम्बन्धी व्यापार, वे सब मानो उसकी अनजान मे अचेतनावस्था मे घटित होते से दीखते है। उसका चेतन मस्तिष्क भले ही यह समझता हो कि सुनीता को वह अपने दल के आकाक्षी बालकों की स्फूर्ति, प्रेरणा और मदद देने वाली मायारानी के रूप में ले जाना चाहता है, पर उसका अचेतन उसे दूसरे व्यापार के लिये ही प्रेरित कर रहा था जिसमे प्रधान स्थान काम वासना का है जो टेढ़ी-मेढ़ी राह से अपनी तृप्ति चाह रही थी। जिस ढंग से उपन्यास में सुनीता के वन मे जाने की घटना का वर्णन हुआ है उसके अर्थ में किसी प्रकार की दुविधा नहीं।

हरिप्रसन्न लाल रोशनी को देखकर समझ लेता है कि वहाँ खतरा है, दल के लोग पकड़ लिये गये होंगे। पर मनोवैज्ञानिक बात तो दूसरी ही थी। हरिप्रसन्न के मनोविज्ञान की ओर देखने पर यही मालूम पडेगा कि वहाँ पर लाल रोशनी वगैरह कुछ नहीं थी। हरिप्रसन्न के अचैतन्यावस्था ने रोशनी देख ली थी, रोशनी का निर्माण उसके अन्तर्मन की एक क्रिया थी, कारण कि यह उसकी अभीष्ट-सिद्धि में सहायक होती थी। जिस तरह हिस्टिरिया ग्रस्त या सम्मोहित व्यक्ति अनेक कार्य करते है या दृश्य देखते हैं जिनका उन्हें स्वयं ज्ञान नहीं होता उसी तरह हरिप्रसन्न का अन्तर्मन ऐसे वातावरण की सृष्टि कर रहा है जिसमें सम्पूर्ण नारी शरीर पर एकाधिकार प्राप्त करने वाली वासना की तृप्ति हो सके। पर फिर भी वह इन व्यापारों से अनभिज्ञ है। वह एक ऐसी शक्ति से परिचालित हो रहा है जो उसकी एक दम अपनी है, इतनी अपनी कि उसका उसे ज्ञान भी नहीं है अर्थात् वह अपनी अज्ञात चेतना के हाथों पड स्वचालित यंत्र की तरह अपनी लक्ष्य-सिद्धि कर रहा है।

हरिप्रसन्न की लक्ष्य-सिद्धि किसमे है? नारी के सम्पूर्ण शरीर पर एकाधिपत्य में, एक विशेष अग मात्र पर ही नहीं। वह इसी भावना से परिचालित है जिसका प्रमाण उसके मुख से निकले उन वाक्यों से मिलता है जो उसने श्रीकात के अतिथेय काल में जब तब सुनीता को कहे है। एक स्थान पर वह कहता है "अभी तो यों ही चलता है। लेकिन वहाँ तुम्हारे

लिये काम होगा। वह काम तुम्हें सब की सब को चाहेगा। कहो अपना सब आपा उसे दोगी।"[५]

एक स्थान पर वह बोल उठता है "ठहरो भाभी, मैं इसलिये विवाह नहीं करता कि मैं पत्नी नहीं चाहता। मैं सब कुछ चाहता हूँ सब कुछ। मुझे चाहिये महोत्सर्ग।"[६]

सारे उपन्यास में यत्र-तत्र ऐसे भावोद्गार भरे पड़े हैं। हरिप्रसन्न जब सुनीता के पूर्ण शरीर का दर्शन कर लेता है तो उसे एक अपार और गम्भीर तृप्ति की पुलकानुभूति होती है जिसका वर्णन उपन्यासकार के शब्दों में यों है—

"हरिप्रसन्न ज्यादा दूर नहीं था। वह बैठा था। वह परास्त था, पुचकारा सा शांत था। ठोढ़ी उसकी हथेली पर टिकी थी और कोहिनी जाँघ पर। वह मानो इस अनबूझ विश्व ग्रन्थ में उलट गये एक अर्द्ध विराम के चिह्न की भाँति वहाँ बैठा था मानो निखिल प्रवाह के बीच क्षण की एक चुप को चिन्हित करने के लिये ही वह है, अन्यथा वह कुछ नहीं है। मात्र एक काली बूँद है।"[७]

इस वर्णन को पढ़ कर रतिश्रान्त और आनन्द तृप्त व्यक्ति का तन्द्रालस चित्र उपस्थित हो जाता है। फ्रायड ने बालक की काम भावना के विकास की प्रथमावस्था को ओरल स्टेज (Oral Stage) कहा है। जिस समय वह माँ का स्तन पान करता है, सेक्स की आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। फ्रायड का कथन है कि दुग्ध पान से तृप्त बालक जब माँ की गोद में विश्राम करता है तो उसकी मुद्रा में उसी गम्भीर सन्तोष की झलक पाई जाती है जिसका दर्शन वय प्राप्त मानव का काम तृप्ति की अलसाई मुद्रा में पाया जाता है।[८] हरिप्रसन्न की जिस मुद्रा का यहाँ चित्रण किया गया है उसमें एक ओर रति-तृप्त कामतृप्त व्यक्ति की मुद्रा में कितना साम्य है !*

दादा कामरेड में हरीश का चित्र

एक ऐसा ही उदाहरण यशपाल जी के प्रसिद्ध उपन्यास दादा कामरेड से दिया जा सकता है। इसमें भी हरिप्रसन्न की तरह क्रान्तिकारी दल के सदस्य हरीश नामक व्यक्ति की कथा है। जिस तरह विशाल क्षितिज मंडल पर परिक्रमा करता हुआ कोई ग्रह किसी दूसरे ग्रह के समीप आकर उसको प्रभावित करने लगता है उसी तरह भयानक क्रान्ति के वातावरण में तैरता

* As it sinks asleeep at the breast, utterly satisfied it bears

हुआ, लुकता-छिपता अपने भाग्य से आँख मिचौनी करता हुआ हरीश एक शैला नाम्नी कुमारी के सम्पर्क मे आ कुछ दिन के लिये मंसूरी मे विश्राम कर रहा है।

एक दिन हरीश शैला से कहता है "तुम्हें बुरा तो नहीं मालूम होगा यदि मैं एक बात कहूँ। फिर कहता है "मैं कुछ भी नहीं करूँगा ......मैं केवल जानना चाहता हूँ, स्त्री कितनी सुन्दर होती है ...... मैं तुम्हें बिना कपड़ों के देखना चाहता हूँ।"[९]

अन्त मे अनेक संकोच के बाद शैला उसके अनुरोध की रक्षा करने मे समर्थ हो पाती है। अपने उद्देश्य मे सफल हरीश का वर्णन यशपाल ने किया है, उसे पढ़ कर यही धारणा बँधती है कि वह हरिप्रसन्न का ही प्रतिरूप है। अन्तर है तो इतना ही कि हरिप्रसन्न की तृप्त मुद्रा का वर्णन जैनेन्द्र ने किया है और यहाँ हरीश अपनी दशा का वर्णन अपने शब्दों मे कर रहा है। एक की शैली वर्णनात्मक है दूसरे की अभिनयात्मक अतः अधिक मनोवैज्ञानिक। हरीश के दब्दों को उद्धृत करना असंगत न होगा।

हरीश ने उसके 'शैल' के तकिये के पास खड़ा होकर कहा "देखो मुझे ऐसा अनुभव होता है जैसे मैंने सब कुछ पा लिया है। एक पूर्णता सी ... जैसे तुम मेरी हो और मैं तुम्हारा और इसी भरोसे से मैं अपने बीहड़ मार्ग पर बढता चला जाऊँगा। नहीं तो तुम्हारे सामने अपराधी हो जाऊँगा।"[१०]

यशपाल जी के 'देशद्रोही' नामक उपन्यास मे खन्ना का चित्रण जिस रूप मे किया गया है उससे स्पष्ट है कि उसमें सेक्स विकृति की कुछ न कुछ मात्रा अवश्य वर्तमान है। प्रथमत. तो यही कि उसके जीवन को भयंकर आँधी और तूफ़ान से होकर अग्रसर होना पड़ा है, सब अवरोधक चट्टानों को तोड़ कर उसे अपने जीवन मार्ग को प्रशस्त करना पड़ा है, कभी भी चैन की साँस लेने का अवसर उसे प्राप्त नहीं हो सका है। तो भी सेक्स भाव की प्रबलता ही उसमे दृष्टिगोचर होती है। उपन्यासकार ने देशद्रोही के प्रारम्भ मे अपना परिचय देते हुए कहा कि 'हमारा आदर्श है समाज की वह अवस्था प्राप्त करना कि शिश्नोदर की अतृप्ति और तृष्णा से मनुष्य पशु न बना रहे।" यहाँ कहा गया है शिश्नोदर, पर फ्रायडवादी के उदर को भी शिश्न मे ही अन्तर्भूतकर लेने के कारण, उनके मतानुसार, जीवन सम्ब-

---

a look of perfect content which will come back again later in life after the experience of sexual orgasm.

दंक किया उदाहरणार्थ शिशु का दुग्धपान के साथ ही कामोत्तेजना की अनुभूति भी बालक को मिलती चलती है। इन दोनों भावों में तादात्म्य भले ही न हो, पर अविच्छिन्न साहचर्य तो है ही। अत ले देकर उदर भी शिश्न के अन्तर्गत आ जाता है। शिश्न व्यापक है और उदर व्याप्य।

परिस्थितियों के चक्कर में पड़कर खन्ना को जहाँ कहीं भी जाना पड़ा वहाँ एक नारी का सम्पर्क उसे प्राप्त होता ही है और अनेक अवसर आये हैं जब कि उसको काम वासना की स्वाभाविक रूप से चरितार्थ होने का पूर्ण अवसर था। ऐसा मालूम होता है कि उसकी कोई आन्तरिक लाचारी उसके मार्ग में अवरोधक हो जाती है और उसे स्वाभाविक रूप में आगे बढ़ने नहीं देती। दूसरे शब्दों में एक साधारण नारी के साथ साधारण मनुष्य की तरह साधारण आचरण नहीं करता। नूरन उसके सामने सर उघाड़े खड़ी है, खन्ना की बाँह थाम कर कहती" अब! और उसे बाँहों में ले माथे पर दाँत मार देती है। पर खन्ना का चेहरा कागज की तरह पीला पड़ जाता है, वह पसीना-पसीना हो जाता है। यहाँ तक कि नूरन घृणा से थूककर कहती है नामर्द।[११]

इकरा उसे न जाने कितनी बार प्रार्थना करती है पर वह साहस नहीं बटोर पाता। एक फूहड़ औरत के साथ जोखिम का इतना बड़ा खेल वह कैसे खेलने का? नर्गिस के साथ उसका व्यवहार साधारण मानवीय स्तर पर अवश्य होता है पर यहाँ पर भी उसे पूर्ण तृप्ति लाभ नहीं होता है। नर्गिस का सर्वभावेन अनुगतत्व, आत्म समर्पण और सहिष्णुत्व उसे असह्य हो उठता है। वह सोचता है कि वह प्रतिकार क्यों नहीं करती, पशु की भाँति वह सब कुछ सह क्यों जाती है? खातून के साथ तो तीन पहर रात गये उसकी बगल में बैठ उसकी निरावरण बाँहों और शरीर के अनेक अंगों को देख कर भी खन्ना को ख्याल न आता कि वह एक स्त्री के साथ एकान्त में है। समरकंद से जब वह साम्यवाद के सिद्धान्तों के प्रचार के लिये भारत भूमि की ओर जाली पासपोर्ट के सहारे प्रस्थित होने की तैयारी कर रहा है तो वह गुलिशा के प्रति अपने व्यवहार की विविध आलोचना करता है। साथ ही अपनी पत्नी राज और गुलिशा के प्रति प्रेम की तुलना करता है। वह सोचता है गुलिशा चाहती है एक साथी, मित्र जिससे वह समानता का दावा कर सकें। पर राज चाहती है एक पति के प्रति आत्म समर्पण करना जो जीवन निर्वाह के साधन के रूप में आवश्यक है।

पर खन्ना चंदा से वास्तविक तृप्ति लाभ करता है बल्कि चंदा से न

कह कर कहना चाहिये चन्दा की गोद से। चन्दा के सम्पर्क की चर्चा जब-जब आई है, तब-तब उपन्यासकार की ओर से खन्ना को चंदा का गोदस्थ अथवा गोदलाभाभिलाषुक के रूप में ही दिखलाने की चेष्टा हुई है। मालूम तो ऐसा ही पड़ता है कि खन्ना एक विपर्यस्त (Pervert) है जिसके लिये कामेच्छा को स्वाभाविक रूप से तृप्ति प्रदान करने वाली नारी की गोद ने ही उसके लिये सर्व सामर्थ्यवान रूप धारण कर लिया हो। यहाँ तक कि जब वह समरकंद मे गुलिशा के साथ राजनैतिक अध्ययन और चिंतन कर रहा होता है उस समय भी वह आँखे मूँद कर कल्पना मे राज की गोद मे सिर रखे विश्राम करने की इच्छा से ही आन्दोलित है। यहाँ भी उसकी प्रवृत्ति उसे नारी की गोद की ही ओर आकर्षित करती है चाहे वह गोद चन्दा की न हो राज की ही क्यों न हो। सुनीता के हरिप्रसन्न की चर्चा ऊपर की गई है। वह भी कभी-कभी भाभी की जाँघ को तकिये के रूप मे प्राप्त करने की अदम्य इच्छा से प्रेरित हो उठता।

देशद्रोही के अतिम दो परिच्छेदों मे खन्ना के जीवन के उस अंश का वर्णन है जो वह समरकद से लौटकर भारतवर्ष मे अपने साम्यवादी विचारों के प्रचारार्थ व्यतीत करता है। ये दोनों परिच्छेद एक तरह से उपन्यास के उत्तरार्ध कहे जा सकते हैं। इन परिच्छेदों मे चार-पाँच अवसर ऐसे आये हैं जिनमे खन्ना चंदा की गोद मे प्रार्थयिता के रूप मे अथवा गोद के अधिकारी के रूप मे प्रदर्शित किया गया है। खन्ना कहीं से भींग कर आया है और चंदा उसके स्वास्थ्य की आशंका से आतंकित हो उसे आराम करने के लिये प्रार्थना करती है।

चंदा कहती है 'अच्छा, तकिया ला दूॅ—।'

"नहीं रहने दीजिये"

"आप मुझे यहाँ से उठाना चाहती हैं।" खन्ना ने दूसरी ओर देखा

"नहीं बिना सहारे आराम न मिलेगा"

"तो आप सहारा दीजिये"

"कैसे ? चदा ने आशका के स्वर मे पूछा।

"अपनी गोद में स्थान देकर"[१२]

इस वार्तालाप के पश्चात् फिर दूसरे स्थान पर यशपाल जी कहते है "खन्ना ने अपना सिर उसकी गोद मे रख दिया। चंदा ने उसकी आँखों पर हाथ रख कर "सो जाओ, बहुत थके हो" आगे खन्ना को कहते हुए पाते हैं—

'मुझे तुम्हारी गोद में सिर रख कर सताप होता है मन चाहता है जैसे शशि तुम्हारी गोद में छिप जाती है वैसे ही शशि बन जाऊँ।'[११] पुन स्वप्न कहते हुए पाये जाते हैं "नहीं आज तो नहीं सोऊँगा। हाँ यदि स्नेह से गोद में सुलाना हो तो आ सकता हूँ। खैर, हाँ तीन चार बजे आऊँगा, चाय के समय। यहाँ तक कि रानीखेत के पहाड़ों के समीप जिन कारुणिक परिस्थितियों में उनकी जीवन-लीला का सम्वरण होता है उस समय दम तोड़ते हुए भी सखा इसी विश्वास को पालते हुए मरता है कि उसका सिर चन्दा गोद में लिये है, जीवन सग्राम में लड़ने के लिये वह स्वास्थ्य लाभ कर रहा है।

प्रेम में भयानक प्रतिक्रिया उसका मनोवैज्ञानिक रहस्य और उसका आधुनिक उपन्यासों में चित्रण

यशपाल का नवीनतम उपन्यास है 'मनुष्य के रूप'। हम ऊपर उपन्यासों के पात्रों में जिस तरह की असाधारणता की चर्चा करते आ रहे हैं वह तो इसमें दिखलाई नहीं पड़ता। मालूम होता है कि उपन्यासकार आगे बढ़कर कुछ और भी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक बारीकियों के सूत्र को पकड़ रहा है—वे बारीकियाँ जो साधारण से लगने वाले मानवों में भी पायी जाती हैं। सोमा और बरकत के पारस्परिक व्यवहारों में कोई असाधारणता तो नहीं मालूम पड़ती पर मनोवैज्ञानिक पेचीदगियों की राह से देखने पर उनके व्यवहार दूसरे ही रूप धारण कर लेते हैं और हम व्यवहारों के सच्चे स्वरूप का पता चल जाता है। कुटिलदैव के दुर्विपाक और सामाजिक परिस्थितियों में पड़ कर सोमा जगदीश सरोला के परिवार में दासी के रूप में शरण पाती है। पर अपना कार्य कुशलता और स्नेह तत्पर-व्यवहार के कारण सरोला महोदय का विशेष कृपा की अधिकारिणी हो जाती है। यहाँ तक कि परिवार के रुपये पैसे का हिसाब भी उसके पास ही रहने लगता है। यह देख कर अन्य नौकरों का ईर्ष्या जाग्रत होती है। उन्हें यदा कदा सोमा को डाँट फटकार का भी शिकार होना पड़ता है। पर परिस्थितियों में परिवर्तन होता है। सरोला के माता पिता जब आकर देखते हैं कि सोमा तो सर्वेसर्वा बन गई है तो उसे घर छोड़ने की आज्ञा देते हैं। सोमा बरकत से साथ बम्बई चली जाती है और वहाँ पहाड़न नाम सिनेमा अभिनेत्रिका के रूप में अपार वैभव और प्रसिद्धि उपार्जित करती है। बम्बई जाने पर कुछ दिन बरकत का व्यवहार उसके प्रति बड़ा कटु होता है। बाद में आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न

हो जाने पर सोमा ऊब कर बरकत से पिण्ड छुड़ाने की आकांक्षा करने लगती है। ज्यों-ज्यों सोमा की आर्थिक स्थिति सुधरने लगती है और उसमें आत्म निर्भरता आने के कारण वह बरकत की परमुखापेक्षिणी नहीं रह जाती, त्यों-त्यों बरकत का व्यवहार उस बौखलाई बिल्ली की तरह होने लगता है जो खम्भे को नोचती है। सोमा को तो कुछ नहीं कह सकता, वह तो हाथ से निकल चुकी थी, पर उसके पास आने जाने वाले व्यक्तियों को शङ्का की दृष्टि देखने लगा तथा उद्दण्ड व्यवहार करने लगा।

इन व्यवहारों का मनोवैज्ञानिक पहलू

यहाँ पर दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। प्रथमतः तो यह कि बरकत के हृदय मे सोमा को बम्बई ले जाने की भावना ही क्यों उत्पन्न हुई। सोमा का शासन और अधिकार उसकी आँखों का काँटा था और कई बार वह इस अपदार्थ नारी के हाथों बुरी तरह अपमानित हो चुका था जिसका डङ्क उसके हृदय मे अभी तक ताजा ही था। तब इन बातों को भूल उसे सहायता देने के भाव उसमे कैसे प्रबल हो उठे। सोमा के बारे मे तो कहा जा सकता है कि उसे एक मर्द की आड़ चाहिये थी और तत्काल उसको कोई दूसरा मर्द नजर नहीं आता था। पर बरकत सोमा को बम्बई ले ही गया तो उसे वेश्या बना कर, उसे तरह-तरह से जलील कर, उसका दारुण रूप मे शोषण कर मानवता को भी क्यों लज्जित करने लगा। अथवा सोमा ही अपने अवलम्बन देने वाले बरकत को आगे चलकर क्यों तिरस्कृत करने लगी।

इन प्रश्नों के कितने उत्तर दिये जा सकते हैं जिनका निर्माण मनुष्य के रूप मे उल्लिखित घटनाओं के सहारे किया जा सकता है और साधारणतः वे उत्तर स्वीकरणीय भी होंगे। पर उन सबों के अतिरिक्त एक खास कारण है जिसका सूत्र अज्ञात चेतना के हाथ मे है। वे पात्र जो कुछ कर रहे हैं मानों वे उसके लिये बाध्य हैं, उन पर उस तरह के व्यवहार करने की लाचारी है। कोई अज्ञात पर नैसर्गिक शक्ति उनको यंत्रवत् परिचालित कर रही है। मनुष्य के दाम्पत्य जीवन के इतिहास मे प्रायः ही यह बात देखने मे आती है कि वह प्रणय सम्बन्ध जिसमे अनेक अस्वीकृतियों के बाद, अनेक निराशाओं के पश्चात्, अनेक अवमानताओं का सामना करने के बाद केवल अति मानवीय धैर्य के बल पर ही सफलता प्राप्त होती है, उसका अन्त बड़ा दारुण होता है। इस सम्बन्ध का आदि युग अथवा प्रिहिस्टॉरिक (Pre-historic) युग जितना दुखद होता है उससे कहीं अधिक दुखमय उसके अन्त

का युग होता है। रह गया मध्य भाग वह भी कोई सुखमय नहीं होता है। यदि होता भी है तो उसकी अवधि बड़ी छोटी होती है। यही बात मेरीडथ के जीवन में देखी जाती है और बाइरन के जीवन में भी। प्रेमी अपनी प्रेमिका के हृदय को जीतने के लिए जिस अपार सहन शक्ति, विगत मानापमानता तथा कष्ट-सहिष्णुता का परिचय देता है वह कुछ रोमांसवादी प्रकृति के व्यक्तियों को भले ही प्रशसनीय लगे पर वह खतरे से खाली नहीं है। प्रेमी की दीनता, उसकी निष्ठा और थका देनेवाली लगन पर तरस खाकर प्रेमिका का चेतन मस्तिष्क प्रेम स्वीकृति देने के लिए भले ही बाध्य हो गया हो पर यह सम्भव है, सम्भव क्या एक तरह से निश्चित है कि चैतन्य रूप से आत्मसमर्पण करने पर भी अचेतन में विरोध बना रहे, बल्कि उग्रतर हो गया हो और इस विधान को उलट पलट देने के लिए षड्यन्त्र करता रहे। युद्ध के सिलसिले में यह बात देखने में आती है कि प्रधान सेना के हथियार डाल देने पर भी देश की जनता के द्वारा विजयनी शक्ति का विरोध होता रहता है और यह भी सम्भव है कि ये गोरिल्ले या तो नवीन शासन चक्र को एक दम ठप्प कर दें या उसे दूर कर अपना शासन स्थापित करने में सफल हो जायँ।

बरकत ने न जाने कितनी बार चेष्टा की थी कि वह सोमा के प्रेम का अधिकारी हो सके। उपन्यासकार की कुछ ऐसी सीमायें होती हैं कि वह अपने पात्र के जीवन की सारी सभावित घटनाओं का उल्लेख न कर सके। उसे बाध्य होकर कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख करना पड़ता है जिनके द्वारा पाठक की कल्पना जागरित हो जाय और वह उन अलिखित घटनाओं का भी आकलन कर सके। उपन्यासकार भले ही बरकत से एक बार कहला कर सन्तोष कर ले।

"सरकार जरा गरीबों का भी ख्याल रहे।"

जिसके उत्तर में सोमा माथे पर त्योरियाँ चढ़ा कर कहे "क्या बकता है, जो कहना है साहब से कहो"। पर पाठक खूब समझता है कि यह अपने ढग की न तो प्रथम घटना है और न अंतिम। बरकत को न जाने कितनी बार सोमा का कृपाप्रार्थी बनना पड़ा होगा साथ ही तिरस्कार भाजन भी। वह अपमान की आँच में जल ही रहा है कि तब तक परिस्थितियों के कारण सोमा को बरकत की वश्यता स्वीकार करनी पड़ती है। यदि सरोला साहब से सोमा की मुलाकात हो जाती है तो सम्भव था कि घटना प्रवाह कुछ ऐसा मोड़ लेती कि सोमा की स्थिति कुछ उस परिवार में ज्यों की त्यों बनी रहती

और उसके साथ सोमा को बम्बई जाने का अवसर ही नहीं आता। पर बरकत की अज्ञात चेतना उस सम्भावना का विरोध कर रही थी और उसने असत्य का आश्रय लेकर सोमा, सरोला का अंतिम मिलन न होने दिया। वह उसे बम्बई ले गया और तरह-तरह से प्रताड़ित, शोषित करने लगा। बम्बई मे सोमा और बरकत के पारस्परिक व्यवहार को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि परिस्थितियों के परिवर्तन ने दोनों के चेतन मे पारस्परिक अनुकूलता भले ही उत्पन्न कर दी हो पर दोनों की गहराई मे, अचेतन मन के किसी कोने मे विरोध के शक्तिशाली क्रियाशील (Dynamics) भाव वर्तमान थे जो अवसर पाकर अपने को चरितार्थ कर रहे थे।

प्रणयानुभूति के लिये एक विशेष प्रकार के पात्र की आवश्यकता : उसके मनोविज्ञान का विश्लेषण, हिन्दी उपन्यासों में उसका प्रवेश:

फ्रायड ने एक स्थान पर उन व्यक्तियों के मनोविज्ञान पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जिनमे अपने प्रणयी के निर्वाचन मे (चोइस फार लव आब्जेक्ट (Choice for love objcct मे) एक विशेष प्रकार की विचित्रता होती है।[१४] कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें किसी कुमारी तथा अपने प्रति सर्व प्रकारेण अनुगत तथा समर्पित पत्नी के लिये कोई आकर्षण नहीं होता। उनके प्रेम की अधिकारिणी ऐसी ही नारियाँ हो सकती है जिनका किसी न किसी प्रकार से दूसरों से सम्बन्ध है, जिन पर दूसरों का अधिकार है और जिन्हें जिनके प्रेमाधिकारी होने में कुछ उसी तरह की सुखानुभूति हो जो अपने शत्रु को पराजित करने मे अथवा उसकी सम्पत्ति को अपहृत करने मे होती है। उसी तरह कुछ ऐसी सूर्पनखाएँ (Siren women) भी होती हैं जिनका हृदय विवाहित पुरुष अथवा दूसरी स्त्रियों से प्रेम करने वाले पुरुष के लिए ही द्रवित हो सकता है, प्रेमातिरेक का अनुभव कर सकता है। कुछ ऐसे प्रेमी जीव होते हैं जिनकी नजरों में सच्चरित्रता, पातिवर्त्य, साधुता, यौनिक वफादारी अर्थात् नारियों के लिये आदर्श समझे जाने वाले गुण हेय हैं, निन्दनीय हैं और उनकी स्थिति उनके लिये नारियों को आकर्षणहीन, उपेक्षणीय बना देती है। ऐसी सद्गुण सम्पन्न और प्रतिष्ठित स्त्रियों में इस विशिष्ट मनोवृत्ति वाले पुरुषों की प्रेमाधिकारिणी होने की योग्यता नहीं आती। उनके आकर्षण में असर नहीं होता, वे इस तरह के प्रेम से पुरुषों की लौ नहीं जगा सकतीं, उनमें प्रेमोद्भूति-सामर्थ्य उसी दशा में आ सकती है जब उसका चरित्र लाञ्छन से युक्त हो जाय, उसके यौनिक जीवन में असंयम तथा अमर्यादा की गंध आये।

हरिप्रसन्न में प्रेम की भावना कम है। ज्योंही वह हरिप्रसन्न को बुलाने के लिए पुराने पते पर पत्र लिखता है तो साथ में सुनीता की तस्वीर देना भी नहीं भूलता "एक अपनी तस्वीर भी देना, शादी से ठीक पहिले वाली यही जो गजब की है तुमको मालूम होना चाहिए कि तुम्हारी ही राह से मैं उसे दुनियाँ में लाना सोच रहा हूँ।"[१५] इत्यादि इत्यादि बातें जो कभी श्रीकान्त के मुख से निकल जाती हैं उनके महत्त्व को कोई भी मनोवैज्ञानिक अंकित किये बिना नहीं रह सकता। श्रीकान्त का यह रहस्यपूर्ण मनोविज्ञान उस समय पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है जिस समय हरिप्रसन्न के आ जाने पर, सुनीता और सत्या से परिचित हो जाने पर किसी मुकदमे की पैरवी करने के बहाने वह दिल्ली छोड़ दो-चार दिन को कानपुर चला जाता है। हाँ, बहाना ही करके कहूँगा कारण कि जिस हल्के-फुल्के ढङ्ग से उपन्यास में इस घटना का उल्लेख हुआ है, उससे तुरन्त यह शङ्का उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती कि श्रीकान्त जानबूझ कर सुनीता और हरिप्रसन्न को पारस्परिक निकट वर्त्तित्व प्राप्त करने का अवसर देने के लिए ही चल दिया है। कानपुर गया तो था दो-तीन दिन के लिए ही पर वहाँ जाकर अपने प्रवास की अवधि में वृद्धि कर देता है और वहाँ से सुनीता के पास जो पत्र लिखता है वह इतना स्पष्ट और आत्माभिव्यंजक है कि उस पर किसी तरह की टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। पत्र के कुछ वाक्यों पर ध्यान दीजिये और फ्रायडियन मनोविज्ञान के मेल में लाकर विचार कर देखिये। देखिये कि आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता (Need of injured third party) वाली मनोवृत्ति मिलती है या नहीं।

"प्रिय सुनी, मैं अभी चार पाँच रोज यहीं रहूँगा। अदालत का काम तो खत्म हुआ समझो। फिर भी मैं रहने के लिए चार-पाँच रोज रहूँगा। हरिप्रसन्न वहाँ होगा ही। उसको किसी तरह की बाधा न होने देना। उसे भागने भी मत देना। देखो सुनीते, इस बारे में जो बातें मेरे मन में उठती हैं वह मैं कह नहीं सकता तुमसे कहता हूँ। उसकी बात पर बिगड़ना मत। सुनीता, तुम मुझे जानती ही हो। जानती हो कि मैं तुम्हें गलत नहीं समझता। जब तुमसे कहता हूँ कि इन कुछ दिनों के लिए मेरे ख्याल को अपने से बिल्कुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसी के लिए मैं यह अतिरिक्त दिन यहाँ बिता रहा तुम इतने दिनों के लिए अपने को उसकी इच्छा के नीचे छोड़ देना। यह समझना कि मैं हूँ नहीं उसको मार्ग देने के लिए हम झुक भी जायें, टूट भी जायें तो हर्ज नहीं।"[१६] हरिप्रसन्न के पास

जो यह पत्र लिखता है उसमे इतना उल्लेख करना नहीं भूलता कि "ऐसा न हो कि अपनी भाभी का लिहाज कर घर मे किसी तरह की तकलीफ पाओ। वह ऐसी तो नहीं है फिर भी". ... इन पंक्तियों मे श्रीकान्त का अन्तर्मन अपनी कथा स्वयं कह रहा है।

पाठक की धारणा और भी दृढ़ हो जाती है जब वह देखता है कि कानपुर से लौट आने पर श्रीकान्त को घर की ऋतु मे एक विचित्र आनन्द-प्रद परिवर्तन का आभास मिलने लगता है। श्रीकान्त अब सुनीता से कटा-कटा नहीं रहता। वह अधिक सरस हो उठा है। सुनीता उसके लिए अधिक स्पृहणीय, काम्य और प्यारी बन गई है। कालिदास ने कुमार सम्भव का वर्णन किया कि तपोनिष्ठ शिव को परास्त करने के लिये जब कामदेव वसन्त ऋतु को साथ ले तपोवन में प्रवेश करता है उस समय सारे जड़ और चेतन जीवों में रसाद्रता का संचार हो आता है। ठीक इसी तरह कानपुर से प्रत्यागमन के पश्चात् श्रीकान्त का अणु अणु रसोद्वेलित हो उठता है, वह अपने अन्तःकरण को सुनीता के लिए एक बहुत सशक्त, आकर्षक, बेताबी और प्रेरणा की सर्वग्राही अनुभूति से अभिभूत पाता है। वह बुहारी में लगी सुनीता को उठाकर अपने आलिङ्गन पाश में बाँध लेना चाहता है। इस व्यवहार से सुनीता के चेहरे पर नववधू सा भाव आ जाता है और वह कहती है "मैं तो सदा तुम्हारी हूँ। फिर छिः-छिः मेरे लिए यह प्रेम का आवेग कैसा ! और ऐसा धीरज क्यों खोते हो ? मुझे पहले सम्भलने तो दो"।[१७]

कहाँ हरिप्रसन्न के प्रवेश के पहिले निरानन्द और अलग जड़ता से पूर्ण, दम घुट घुट कर रह जाने वाला गार्हस्थ्य जीवन और कहाँ यह प्रसन्न-प्रवाह सागर की लहरें। दोनों में कितना अन्तर है। यदि पाठक चौंक कर पूछे इस महान् अन्तर की उपस्थित करने वाला कौन सा जादू है तो क्या अनुचित है ? जो चीज सुनीता और श्रीकान्त में बाधक रूप मे अवस्थित थी वह मानो हट गई और प्रेम का प्रवाह एक प्रशस्त मार्ग से उमड़ चला। फ्रायड ने इसी श्रेणी के व्यक्तियों को अर्थात् जिनके प्रेमानुभूति के आलम्बनत्व धर्म के लिए एक आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता होती है उनके सम्बन्ध मे विचार प्रकट करते हुए कहा है कि प्रेमानुभूति की इस शर्त की माँग तो कुछ व्यक्तियों में कभी-कभी इतनी प्रचण्ड हो जाती है कि सम्पर्क मे रहने वाली नारी को तब तक अवहेलना ही नहीं कटु तिरस्कार का भाजन होना पड़ता है, जब तक वह किसी न किसी रूप मे ही सही किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार में नहीं जाती। पर ज्योंही वह किसी अन्य व्यक्ति से

हरिप्रसन्न में प्रेम की भावना कम है। ज्योंही वह हरिप्रसन्न को बुलाने के लिए पुराने पते पर पत्र लिखता है तो साथ में सुनीता की तस्वीर देना भी नहीं भूलता "एक अपनी तस्वीर भी देना, शादी से ठीक पहिले वाली वही जो गजब की है   तुमको मालूम होना चाहिए कि तुम्हारी ही राह से मैं उसे दुनियाँ में लाना सोच रहा हूँ।"[१५] इत्यादि इत्यादि बातें जो कभी श्रीकान्त के मुख से निकल जाती हैं उनके महत्व को कोई भी मनोवैज्ञानिक लक्षित किये बिना नहीं रह सकता। श्रीकान्त का यह रहस्यपूर्ण मनोविज्ञान उस समय पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है जिस समय हरिप्रसन्न के आ जाने पर, सुनीता और सत्या से परिचित हो जाने पर किसी मुकदमे की पैरवी करने के बहाने वह दिल्ली छोड़ दो-चार दिन को कानपुर चला जाता है। हाँ, बहाना ही करके कहूँगा कारण कि जिस हल्के-फुल्के ढङ्ग से उपन्यास में इस घटना का उल्लेख हुआ है, उससे तुरन्त यह शङ्का उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती कि श्रीकान्त जानबूझ कर सुनीता और हरिप्रसन्न को पारस्परिक निकट वर्त्तित्व प्राप्त करने का अवसर देने के लिए ही चल दिया है। कानपुर गया तो था दो-तीन दिन के लिए ही पर वहाँ जाकर अपने प्रवास की अवधि में वृद्धि कर देता है और वहाँ से सुनीता के पास जो पत्र लिखता है वह इतना स्पष्ट और आत्माभिव्यञ्जक है कि उस पर किसी तरह की टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। पत्र के कुछ वाक्यों पर ध्यान दीजिये और फ्रायडियन मनोविज्ञान के मेल में लाकर विचार कर देखिये। देखिये कि आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता (Need of injured third party) वाली मनोवृत्ति मिलती है या नहीं।

"प्रिय सुनी, मैं अभी चार पाँच रोज यहीं कहूँगा। अदालत का काम तो खत्म हुआ समझो। फिर भी मैं रहने के लिए चार-पाँच रोज रहूँगा। हरिप्रसन्न वहाँ होगा ही। उसको किसी तरह की बाधा न होने देना। उसे भागने भी मत देना। देखो सुनीते, इस बारे में जो बातें मेरे मन में उठती हैं वह मैं कह नहीं सकता   तुमसे कहता हूँ। उसकी बात पर बिगड़ना मत। सुनीता, तुम मुझे जानती ही हो। जानती हो कि मैं तुम्हें गलत नहीं समझता। जब तुमसे कहता हूँ कि इन कुछ दिनों के लिए, मेरे ख्याल को अपने से बिल्कुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसी के लिए मैं यह अतिरिक्त दिन यहाँ बिता रहा   तुम इतने दिनों के लिए अपने को उसकी इच्छा के नीचे छोड़ देना। यह समझना कि मैं हूँ नहीं   उसको मार्ग देने के लिए हम झुक भी जायें, हट भी जायें तो हर्ज नहीं।"[१६] हरिप्रसन्न के पास

जो यह पत्र लिखता है उसमें इतना उल्लेख करना नहीं भूलता कि "ऐसा न हो कि अपनी भाभी का लिहाज कर घर में किसी तरह की तकलीफ पाओ। वह ऐसी तो नहीं है फिर भी".. .. इन पंक्तियों मे श्रीकान्त का अन्तर्मन अपनी कथा स्वयं कह रहा है।

पाठक की धारणा और भी दृढ़ हो जाती है जब वह देखता है कि कानपुर से लौट आने पर श्रीकान्त को घर की ऋतु मे एक विचित्र आनन्द-प्रद परिवर्तन का आभास मिलने लगता है। श्रीकान्त अब सुनीता से कटा-कटा नहीं रहता। वह अधिक सरस हो उठा है। सुनीता उसके लिए अधिक स्पृहणीय, काम्य और प्यारी बन गई है। कालिदास ने कुमार सम्भव का वर्णन किया कि तपोनिष्ठ शिव को परास्त करने के लिये जब कामदेव वसन्त ऋतु को साथ ले तपोवन में प्रवेश करता है उस समय सारे जड़ और चेतन जीवों में रसाद्रता का संचार हो आता है। ठीक इसी तरह कानपुर से प्रत्यागमन के पश्चात् श्रीकान्त का अणु अणु रसोद्वेलित हो उठता है, वह अपने अन्तःकरण को सुनीता के लिए एक बहुत सशक्त, आकर्षक, वेतावी और प्रेरणा की सर्वग्राही अनुभूति से अभिभूत पाता है। वह बुहारी में लगी सुनीता को उठाकर अपने आलिङ्गन पाश में बाँध लेना चाहता है। इस व्यवहार से सुनीता के चेहरे पर नववधू सा भाव आ जाता है और वह कहती है "मैं तो सदा तुम्हारी हूँ। फिर छिः-छिः मेरे लिए यह प्रेम का आवेग कैसा ! और ऐसा धीरज क्यों खोते हो ? मुझे पहले सम्भलने तो दो"।[१७]

कहाँ हरिप्रसन्न के प्रवेश के पहिले निरानन्द और अलग जड़ता से पूर्ण, दम घुट-घुट कर रह जाने वाला गार्हस्थ्य जीवन और कहाँ यह प्रसन्न-प्रवाह सागर की लहरें। दोनों में कितना अन्तर है। यदि पाठक चौंक कर पूछे इस महान् अन्तर की उपस्थित करने वाला कौन सा जादू है तो क्या अनुचित है ? जो चीज सुनीता और श्रीकान्त में बाधक रूप मे अवस्थित थी वह मानो हट गई और प्रेम का प्रवाह एक प्रशस्त मार्ग से उमड़ चला। फ्रायड ने इसी श्रेणी के व्यक्तियों को अर्थात् जिनके प्रेमानुभूति के आलम्बनत्व धर्म के लिए एक आहत तृतीय पक्ष की आवश्यकता होती है उनके सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए कहा है कि प्रेमानुभूति की इस शर्त की माँग तो कुछ व्यक्तियों में कभी-कभी इतनी प्रचण्ड हो जाती है कि सम्पर्क मे रहने वाली नारी को तब तक अवहेलना ही नहीं कटु तिरस्कार का भाजन होना पड़ता है, जब तक वह किसी न किसी रूप मे ही सही किसी अन्य व्यक्ति के अधिकार में नहीं जाती। पर ज्योंही वह किसी अन्य व्यक्ति से

सम्बंधित हो जाती है कि सारा वातावरण ही बदल जाता है और उसमें प्रेम के आलम्बनत्व धर्म की स्थापना हो जाती है।* सुनीता जब तक हरिप्रसन्न से सम्बद्ध नहीं थी श्रीकान्त के लिए अस्पृहणीय, उपेक्षणीय और अकाम्य थी पर उसके सम्पर्क में आते ही और उससे सम्बंधित होते ही सब कुछ हो जाती है, आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। इतना ही नहीं श्रीकांत ही सुनीता और अपने बीच में तृतीय पक्ष के प्रवेश कराने का कारण भी होता है जिस पर आघात करके तृतीय पक्ष को आहत करने की अशील भावना को सन्तुष्ट कर सके।

अपनी बातों का समर्थन करने के लिये हम थोड़ा पीछे और मुड़ कर देखेंगे। कारण कि इतनी चर्चा हो जाने के बाद थोड़ा मनोवैज्ञानिक आलोक हाथ में आ जाने के बाद चित्र की स्पष्टता में सहायता मिलेगी। हरिप्रसन्न परिवार में आ गया है। परिवार में थोड़ा हिलमिल भी गया है। पर सुनीता का धड़क नहीं खुला है, वह उससे अभी भी सकोच करती है, खुल कर बात नहीं करती। यह रुखाई श्रीकान्त को प्रीतिकर नहीं लगती। पर एक बार जब वह खुलकर थोड़ी बातें कर लेती है तो उसे अपार सतोष होता है। श्रीकान्त को बिना बीच में लिये ही हरिप्रसन्न की सुनीता के साथ इतनी बातें हो गई, कहें कि श्रीकान्त को अच्छा ही लगा। उसने देखा कि सुनीता वाक् शून्य नहीं है, वह भली प्रकार सवाल जवाब भी कर लेती है। और न वह रूखी और फीकी ही है। वह अपनी बात में रस ले सकती है और दे भी सकती है। यह अनुभव श्रीकान्त को जैसे बहुत दिन बाद हुआ और नवीन लगा। यह भी कहें कि यह अनुभव उसे प्रिय लगा। उसे लगा कि जीवन नीरस रहे, यह आवश्यक नहीं है। यह कि सचमुच हरियाली उसके बीच में से बिलकुल निर्मूल नहीं हो गई है। हरिप्रसन्न का अस्तित्व श्रीकान्त की मनोवृत्ति में जो रसानुकूल परिवर्तन कर देता है उसकी विवृत्ति फ्रायड मनोविज्ञान के द्वारा सहज ही प्राप्य है।

प्राचीन और नवीन उपन्यासों में प्रेम चित्रण

हिन्दी कथा साहित्य में मनोवैज्ञानिकता का समावेश एक दूसरे रूप में भी दृष्टिगोचर हो रहा है। आज से कुछेक वर्ष पहिले अर्थात् प्रेमचन्द तक

---

* In some cases this condition is so peremptory that a given woman can be ignored or even treated with contempt so long as she belongs to no other man but instantly becomes the object of feelings of love as soon as she comes into relationship of the kind described

कथा साहित्य मे स्त्री और पुरुष के प्रेम का वर्णन होता था। विषय और वासनाओं की प्रबलता का भी चित्रण होता था। देवकी नन्दन खत्री की नायकनायिकाओं के सर्वकंप्र और सर्वध्वंशकारी प्रेमाकर्षण, गोस्वामी जी के प्रखर वासनामय प्रेम का विवरण किस उपन्यास के पाठक से छिपा होगा। 'प्रेमाश्रम' में 'रंभभूमि' मे, 'कायाकल्प' मे, 'कर्मभूमि' मे प्रेम की चर्चा खुल कर की गई है। पर अब जो प्रेम की चर्चा होती है वह भिन्न प्रकार की है। प्रथमतः तो यह कि प्रखर प्रेम का विवरण देकर भी प्राचीन कथाकार शारीरिक सम्पर्क की बात कहने का साहस अपने मे बटोर नहीं पाते थे। प्रेमचन्द ने सुमन को गृहस्थी के शान्त और पवित्र वातावरण से उठा कर कोठे पर भले ही बैठा दिया हो पर उन्होंने उसकी शारीरिक और लैंगिक पवित्रता की रक्षा बड़ी ही सतर्कता से की है। आज के कथाकार इस तरह की पवित्रता की इतनी परवाह नहीं करते। द्वितीयतः, पूर्व के कथाकारों के नायक नायिकाओं मे पारस्परिक आकर्षण और प्रणयानुभूति के भाव तभी जाग्रत होते थे जब कि उसके लिये उद्दीपन सामग्री हो, अनुकूल वातावरण हो, आराम हो, फुर्सत हो और जीवन संगीत की तरह प्रवाहित होता हो। तृतीयतः, यदि कोई कथाकार प्रेम के स्थूल शारीरिक और यौनिक रूप को छूता भर भी था, तो उसके प्रेम परिणाम स्वरूप गर्भधारण की बात को साफ बचा जाता था। आज दस वर्ष पूर्व के हिन्दी उपन्यासों में आप कभी नहीं पाये कि किसी नायिका ने गर्भधारण करने का कष्ट उठाया है।* पर आज परिस्थिति बदल गई है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण का वर्णन साहस के साथ उसके पूरे अर्थों मे होने लगा है। शारीरिक और लैंगिक सम्बन्ध भी त्याज्य नहीं रह गया है। पहिले के नायक नायिकाओं का प्रेम फुर्सत और बैठे ठाले का प्रम था, नाट्य शास्त्र में कहा गया है—

> "ऋतुमाल्यालकारैः प्रियजन गाधर्व काव्यसेवाभिः
> उपवन गमन-विहारैः शृङ्गार-रस समुद्भवति"

इसी प्रकार उपन्यास और कहानिया के पात्र मे प्रेम समुद्भूति के लिये कुछ अनुकूल परिस्थितियों की कल्पना की जाती थी। मदिर या देवालय में जाते समय, किसी सुरम्य निर्जन वन्य स्थली में विचरण करते समय, नृत्य वाद्यादि पूर्ण महोत्सवों के अवसर पर ही नायक नायिकाओं मे प्रेम के पारस्परिक प्रादुर्भाव का वर्णन किया जाता था। इसका कारण शायद मानव मनोविज्ञान का अधूरा ज्ञान ही था। समझा जाता था कि मनुष्य एक बुद्धिमान जीव है, उसके सारे कार्यकलाप सोच कर किये जाते हैं। मीमांसा शास्त्र

का यह वाक्य है "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मदोपि प्रवर्तते" किसी उद्देश्य के बिना मूर्ख भी किसी कार्य मे प्रवृत्त नहीं होता विचारकों की मनोवृत्ति को स्पष्ट करता है। अत प्रेम जैसे महत्त्वपूर्ण जीवन व्यापार म सलग्न कथा साहित्य में अवतीर्ण होने वाले पात्र मनानीत अनुकूल परिस्थितियों को छोड़ कर आगे कैसे बढ सकते थे। भारतीय परम्परा में कुछ धीरोदात्त गुण-समन्वित पात्रों को ही साहित्य के प्रवेश का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि आधुनिक उपन्यास की धारा में इस प्रवृत्ति का विरोध ही है। उपन्यास आखिरकार डिमोक्रेटिक (Democratic) साहित्य है। पर प्रारम्भ में इस प्रजातन्त्र के भार को पूर्व परिचित पात्रों को ही उठाना पड़ा। परम्परा से सर्वथा अलग होना न तो सभव है और न वाछनीय ही।

प्रेम चर्चा, आधुनिक उपन्यासों में असाधारण परिस्थितियों की आवश्यकता

पर आज कल के उपन्यासों के पात्र असाधारण परिस्थितियों में प्रणया वेश के आन्दोलन से स्पन्दित होते हैं। जिस समय वे विपत्तियों से चतुर्दिक घिरे हों, युद्धक्षेत्र में जाने को तैयार हों, मानसिक चिन्ताओं मे निमग्न हों, ऐसी परिस्थितियाँ हों, जो उनके जीवन की सारी सक्रियता माँग लेती हों, ऐसे ही अवसरों पर कटकों और बाधाओं से भरे मार्ग से ही वे अपने प्रणय पथ का निमाण कर लेते हैं। परिस्थितियाँ जितनी ही प्रतिकूल हों उतनी ही वे उसको अन्दर से उभारती हैं।

युद्धकालीन माताए और हिन्दी उपन्यास

विश्वव्यापी द्वितीय महायुद्ध के बाद एक विशेष प्रकार के माताओं की चर्चा होने लगी है जिन्हें अग्रेजी म वार मदर्स (War mothers) कहते हैं। ये नारियाँ ऐसी होती हैं कि जो युद्ध के मोर्चे पर जाते हुए मृत्युमुखगामी सैनिकों से झटपट प्रणय की स्थापना कर उनसे गर्भ धारण कर मातृत्व का पद प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी नारियों पर मनोवैज्ञानिकों समस्या के रूप में विचार करना चाहिये। कौन से वे मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं जो अपातत प्रतिकूलता में भी नर-नारियों में प्रणय सम्बन्ध की विवशता उत्पन्न कर देते हैं। जिन लोगों ने इस समस्या पर प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर विचार किया है उनका कथन है कि जिस समय युद्ध छिड़ने की तैयारियाँ जोरों पर हो रही हों, जिस समय सैनिकों को युद्ध पर जाना हो अथवा युद्ध का विश्राम काल हो, जिसमें दूसरी झपट की तैयारियाँ हो रही हों उस समय सैनिकों में कामावेश की प्रबलता विशेष रूप से पाइ जाती है।

इस विचित्र मनोविज्ञान का रहस्य क्या है ? कारण क्या है ? कारण यही है कि मृत्यु के सन्मुख खडे होकर मनुष्य मे जीवन की कामना, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर अपनी अमरता को स्थापित करने की इच्छा उसमे बलवती हो उठती है। यह बलवती इच्छा उसमे स्त्री के प्रति तत्परत्व उत्पन्न करती है। यह तत्परत्व मैथुनिक सम्पर्क के लिये मार्ग प्रशस्त करता है जो संतान प्रजनन के रूप में सैनिक की अमरता की घोषणा करता है। यह सारी क्रिया कभी-कभी चेतन स्तर पर भी हो सकती है पर प्रायः होती है अचेतन। मनुष्यों को इसका ज्ञान नहीं होता है। किसी सकट या तनाव के अवसर पर मनुष्य का व्यवहार अधिक आदिम हो जाता है, उसको क्रियाये साकेतिक होने लगती हैं। युद्ध एक ऐसा ही संकट का समय है। उस समय जीवन की कामना सबसे अधिक प्रबल होती है, स्त्री पुरुष का पारस्परिक आकर्षण इस जीवन धारण चेष्टा का साकेतिक रूप है। इस प्रसंग मे Helene Deutsch के कुछ वाक्य उद्धरणीय हैं। हम अपनी चेतना मे भले ही इसकी आकाक्षा न रखते हो, पर मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की इस साके-तिक क्रिया पद्धति के परिणाम स्वरूप वास्तविक गर्भाधान विधान सम्पन्न हो जाता है। कारण कि नारी पुरुषों की इस अव्यक्त इच्छा के प्रति सहानु-भूति की दृष्टि से देखती है और शीघ्र ही उनके इस अप्रकट प्रस्ताव से सहमत हो अज्ञात सैनिक के सत्व को गर्भ मे धारण कर लेती है। सर्वनाश की भयंकर लपटों से चारों तरफ घिरे रह कर मनुष्य के अन्दर मैथुनिक व्यापार के द्वारा नारी में अपने आध्यात्मिक व शारीरिक प्रोत्क्षेपण (Projection) की अनुभूति अन्य अवसरों से अधिक तीव्र होती है और वे अज्ञात रूप से संतानोत्पत्ति की भावना से आन्दोलित हो उठते हैं। मृत्यु का आलिंगन करते समय मानो उसका मनोविज्ञान जीवन के प्रत्येक देवता की सहायता के लिये आमंत्रित करता है।*

ऊपर की पक्तियों में रणप्रयाण करने वाले व्यक्तियों के मनोविज्ञान जीवन के एक पहलू का जो विश्लेषण किया गया है उसका उदाहरण यशपाल जी के तीनों उपन्यासों मे मिलता है। 'देशद्रोही,' 'दादा कामरेड,' 'दिव्या'।

---

*The symbolic method of overcoming death often leads to consciousty undersired but very realistic pregnancies, for girls who, because they sympathise with this unconscious desired man agree to this unexpressed proposal and let themselves be impregnated by the 'UNKNOWN SOLDIER'.

'देशद्रोही' में फ्रायडिन मनोविज्ञान द्वारा निर्देशित मिथुनाचार सम्बन्धी विपर्यस्तता (Sexual pervsion) का कुछ चित्रण मिलता है। यह बात ऊपर लिखाई जा चुकी है। अब यह देखना है कि युद्धकालीन माताओं (War mothers) का चित्रण हिन्दी उपन्यासों में कहाँ तक हो रहा है। युद्ध का अर्थ शाब्दिक न लिया जाय।

यहाँ मेरा तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों से है जो इस श्रेणी में आ सकती हैं जिनके आघात से मानव त्रस्त हो उठता है, जीवन की सारी व्यवस्था, व्यवस्था उलट पुलट कर आशंका व अस्थिरता का वातावरण छा जाता है, मृत्यु सिर पर नाचती हो और मानव की सारी प्रवृत्तियों में क्षुब्धता छा जाती हो। भारत के सत्याग्रह एवं स्वातंत्र्य संग्राम के दिनों को हम भूले नहीं हैं। वे दिन भी ऐसे ही संकट के थे। इसी स्वतन्त्रता संग्राम के प्रमुख सेनानी बद्रीबाबू की कथा को लेकर देशद्रोही नामक विषादान्त उपन्यास की रचना हुई है। जिस समय सत्याग्रह का चरमोत्कर्ष था, लोगों को धड़ाधड़ जेल का यात्री बनाया जा रहा था, मिल मालिकों व मजदूरों में उत्तरोत्तर प्रगतिशील वैमनस्य को बद्रीबाबू ने शांत किया ही था कि गाँधी जी के द्वारा प्रचलित व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया जिसके अनुसार सबसे बड़े नेता सबसे पहिले व्यक्तिगत सत्याग्रह कर जेल के पथिक हो रहे थे। दिल्ली की जनता के लिये वे दिन अत्यन्त सनसनापूर्ण थे। देश के बड़े-बड़े नेता युद्ध विरोधी आन्दोलन में पकड़ जाकर धड़ाधड़ जेल जा रहे थे। इन सब सनसनी के साथ एक समाचार छपा "राजनैतिक विवाह! देहली के प्रसिद्ध नेता बद्रीबाबू का श्रीमती राजदुलारी के साथ विवाह!!' तीसरे ही दिन समाचार छपा था "चाँदनी चौक देहली में युद्ध विरोधी व्याख्यान देने के कारण त्यागमूर्ति बदरीबाबू की गिरफ्तारी"

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं। वे बदरीबाबू जिन्होंने देश सेवा व्रत के लिये ही जीवन अर्पित कर दिया है, जिन्होंने मन ही मन एक तरह के पारिवारिक बंधन से स्वयं को मुक्त करने का निश्चय कर लिया है उनके मन में राजदुलारी सदृश के साथ प्रणय सम्बन्ध में आबद्ध होने की कौन सी विवशता आ गई? सो भी उनका मन एक कुमारी के प्रति न उमग कर एक विवाहित नारी की ओर उमगा। अधिक से अधिक उसे विधवा कह सकते हैं। पति की मृत्यु तो अभी निश्चित न थी। कारण अनेक हो सकते हैं। पर थोड़े चिन्तन के उपरान्त यही बात जमती है कि प्रणयानुभूति में न.ढ प्यार इन्जाई

थर्ड पार्टी (Need for injured third party) अर्थात् तृतीय आहत व्यक्ति की आवश्यकता। राज का पति खन्ना तृतीय आहत व्यक्ति था।

दूसरा प्रश्न यह है कि इस वैवाहिक सम्बन्ध के लिये यह संकटकालीन समय ही क्यों उचित समझा गया ? विवाह के लिये कोई अधिक शांत व अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा की जा सकती थी। भला यह भी कोई बुद्धिमानी है कि एक पग तो विवाह मण्डप की ओर है और दूसरा जेल की ओर अथवा फाँसी के तख्ते की ओर। इस प्रश्न का उचित समाधान तभी मिल सकता है जब कि हम पूर्वोल्लिखित वातावरणस्थ नर-नारियों के मनोविज्ञान के एक पहलू से विचार करें। बदरीबाबू मे जेल जाने के ठीक पूर्व कामासक्ति का प्रबल वेग उसी रूप मे था जिस रूप मे युद्ध के मोर्चे पर जाते हुए सैनिक में होता है। महानाश से घिरा हुआ जीवन अपनी रक्षा जीवन के सारे देवताओं के सहारे साकेतिक रूप में करना चाहता था। राज मे भी सहानुभूति के कारण बदरी बाबू के हृदयस्थ किन्तु अप्रगट सांकेतिक रूप से मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की भावना के प्रति आत्म समर्पण के भाव प्रबल हो उठे थे। यही कारण है कि वह शीघ्र ही आपन्न-सत्वा हो जाती है और उसे तुरन्त एक पुत्रोत्पत्ति हो जाती है। वह पुत्र बदरीबाबू के परिवार के लोगों मे बढते वैमनस्य को दूर करने मे सफल हो जाता है, पर राजदुलारी के प्रति खन्ना (जो मरा ही न था और भारत में लौटकर आ जाता है) और राजदुलारी के पुनर्मिलन मे सबसे बड़ी बाधा प्रमाणित होता है। राज जान दे सकती थी, पर अपने प्रसाद के लिये कलंक लगाने, एक के जीते जी दूसरा पाप लादने के लिये तैयार न थी। मेरे कहने का अर्थ यह है कि इन असाधारण और प्रतिकूल परिस्थितियों में वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना होना और पति मे गर्भ-स्थापन व पत्नी में गर्भ-धारण का तत्परत्व युद्ध या संकटकालीन माताओं के मनोविज्ञान का एक मनोरजक पहलू है।

'दादा कामरेड' नामक उपन्यास एक क्रान्तिकारी के जीवन की पृष्ठ-भूमि पर लिखा गया है। इसमे मजदूरों के अधिकारों, हिंसा व अहिंसा की समस्या, काग्रेस व क्रान्तिकारी दल की नीति आदि पर विचार किया गया है। यौन सम्बन्धी बातों पर काफी उदारता से विचार किया गया है। पर मेरा उद्देश्य वहाँ इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना है कि शैल नामक लड़की हरीश नामक क्रान्ति दल के एक सदस्य के साथ प्रेम करने लगती है जिसकी परिणति यौन सम्बन्ध में होती है जिसके कारण शैल

गर्भवती हो जाती है। क्रान्तिकारी का जीवन तो सदा सकट का ही होत था, पद पद पर मृत्यु उसके पार्श्व में घूमा करती थी। उसका जीवन किस सम्वेदनशील नारी में वही मानसिक स्थिति उत्पन्न करने की क्षमता रखत है जो एक सैनिक को प्राप्त है। हरीश को प्राणदड हो जाने पर शैल क क्या मनोदशा हुई वह सुनिये और ऊपर कही गई सकटकालीन माताओ की मनोवृत्ति पर विचार कीजिये।

"हरीश चला गया। क्रातिकारी का आदर्श कायम कर गया।"

"नहीं दादा, वे अभी जीवित हैं। उसके बाद वह अपने गर्भ की ओर सकेत करती है। शैल पूछती है 'दादा क्या आप भी मुझे कलकित समझते हैं।"

"तुम्हें यह तो जीवन का स्वाभाविक मार्ग है।"

"मैं तुम्हारे लिये हरी को तुम्हारी बाँहों में दे दूँगा।"[१८] इन वाक्यों के लिये किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। ये स्वय अपनी बातें कह रहे हैं

दिव्या में भी सकटकालीन नर नारियों के इस मनोवैज्ञानिक पहलू क चित्रण मिलता है। इस उपन्यास में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज का चित्र खींचा गया है। जिस मनोवैज्ञानिक पहलू का हम विवेचन कर रहे हैं उसका सबसे बड़ा समर्थन इस उपन्यास में मिलता है। देशद्रोह के बारे में तो कहा जा सकता है कि उसमें वास्तविक युद्ध नहीं, पर उससे ही मिलती जुलती वस्तु काँग्रेसी स्वातन्त्र्य सग्राम के बीच रखकर मानवत का अध्ययन किया गया है। इसी तरह दादा कामरेड में क्रान्तिकारी हरीश को भी पद पद पर युद्ध की आशका है पर दिव्या में साक्षात भयकर युद्ध के ही बीच दिव्या व पृथुसेन को स्थित कर उन्हें देखने की चेष्टा की गई है। मद्र देश पर केद्रस ने आक्रमण किया है। मद्र की रक्षा के सारे प्रयत्न असफल हो गये हैं, इस विकट परिस्थिति में नवशिक्षित सैन्यतेतविश तट-वर्ती दुरुह उपत्यकाओं में शत्रु से लोहा लेने के लिये पृथुसेन की नियुक्ति की गई है। उपन्यास के पाँचवें परिच्छेद आत्मसमर्पण में युद्धारम्भ के कार्य-भार से अवनत और भयकर सकट के मुख में पड़ने वाले पृथुसेन तथा उससे बिछुड़ने वाली दिव्या की मानसिक स्थिति का चित्रण किया गया है। वे प्रासाद में कुछ समय के लिये एकात में मिल जाते हैं। दिव्या उद्रेक के अतिरेक में पृथुसेन के वक्ष में समा जाना चाहती है उसे अक में ले, सान्त्वना देने के प्रयत्न में पृथुसेन स्वयं विह्वल हो दिव्या में आश्रय ढूँढने लगता है। दिव्या उसके हाथों को अपने हाथों में ले वर्तन के लिये याच

हो जाती है। पृथुसेन ने कहा था "शीघ्र ही तविशातर पर युद्ध में जा रहा हूँ...... यदि तुमने मुझे अंगीकार किया है तो तुम्हारी वर्जना ही मेरी स्मृति में जायेगी। यदि न लौटा..... सम्भवतः मेरा शव ही शागल आये।"[१९]

पृथुसेन से विवाह होने मे अपने परिवार वालों की ओर से अस्वीकृति की आशंका कर वह कहती है "मेरे लिये किसी अन्य वर की सम्भावना नहीं..... 'और विवाह भी विलम्ब से नहीं तुरन्त..... "आर्य के युद्ध मे जाने के पूर्व ही करना चाहती हूँ।"[२०] समर यात्रा मे, केवल आज की सन्ध्या तो शेष है। दिव्या तान्त्रिक वैकुन्ठ से प्राप्त "महाशक्ति कवच" पृथुसेन की भुजा पर बाँध कर उसे अमर कर देना चाहती है। दासी ने रहस्य के स्वर मे संकेत किया कि सूर्यास्त के दो घडी पश्चात् मल्लिका प्रासाद मे पृथुसेन से भेंट होगी। दिव्या अभिसार की तैयारी कर रही है। उस समय उपन्यास-कार जो कुछ कहता है, वह हमारी स्थापना के लिये इतना संगत है कि उन्हें उद्धृत करना ही होगा। "उत्साह से उठ दिव्या उपेक्षित, मलिन वस्त्र उतार, प्रसाधन मे लग गई। भावावेश के कारण अधिक स्वेद आने से प्रसाधन कठिन हो रहा था। और हाथ अटपटा जाते। वह आत्मा-समर्पण की विजययात्रा के लिये प्रस्तुत हो रही थी। प्रसाधन इस यात्रा का अनुष्ठान था।........उसके सकट तथा उसके भय मे उसकी अर्द्धाङ्गिनी बनने के लिये, अपना अस्तित्व उसे सौंप उसके हृदय मे बस, उसे साहस और सान्त्वना देने के लिये दिव्या आत्म-समर्पण की विजय यात्रा के लिये प्रस्तुत हुई'..... 'महाशक्ति का कवच हाथ मे ले उसने छाया को रथ प्रस्तुत करने का आदेश दिया।"[२१] यहाँ दो बार आये हुए 'आत्म समर्पण की' 'विजय यात्रा' वाला वाक्याश द्रष्टव्य हैं। अब तक तो वर्जन था, पर ठीक समर यात्रा की रात्रि मे उसके आत्म समर्पण की भावना प्रबल हो उठती है। वह पृथुसेन की जीवन रक्षा के लिये उसकी भुजाओं पर महाशक्ति का रक्षा कवच बाँधती है। मैं तो एक पद आगे बढ़कर कहूँगा कि दिव्या बाह्य दृष्टि से उसकी रक्षा के लिये अनुष्ठान करती है पर उसका सबसे बड़ा अनुष्ठान साकेतिक है। वह पृथुसेन के तेज को गर्भ मे धारण कर उसे अमर कर देती है। पृथुसेन भी अपने को सुरक्षा के गर्भ मे पाकर अमर हो जाता है।

यशपाल के उपन्यासों मे वर्णित कुछ बातों की जो मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई, बहुत सम्भव है कुछ विचित्र सी लगे। ऐसा मालूम हो कि अनावश्यक खींचातानी की गई है, पर "सुनि आश्चर्य कही जनि कोई, मनो-

गर्भवती हो जाती है। क्रान्तिकारी का जीवन तो सदा संकट का ही होता था, पद पद पर मृत्यु उसके पार्श्व में घूमा करती थी। उसका जीवन किसी सम्वेदनशील नारी में वही मानसिक स्थिति उत्पन्न करने की क्षमता रखता है जो एक सैनिक को प्राप्त है। हरीश को प्राणदंड हो जाने पर शैल की क्या मनोदशा हुई वह सुनिये और ऊपर कही गई सकटकालीन माताओं की मनोवृत्ति पर विचार कीजिये।

"हरीश चला गया। क्रान्तिकारी का आदर्श कायम कर गया।"

"नहीं दादा, वे अभी जीवित हैं। उसके बाद वह अपने गर्भ की ओर सकेत करती है। शैल पूछती है 'दादा क्या आप भी मुझे कलंकित समझते हैं।"

"तुम्हें यह तो जीवन का स्वाभाविक मार्ग है।"

"मैं तुम्हारे लिये हरी को तुम्हारी बाँहों में दे दूँगी।"[१८] इन वाक्यों के लिये किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। ये स्वयं अपनी बातें कह रहे हैं।

दिव्या में भी सकटकालीन नर नारियों के इस मनोवैज्ञानिक पहलू का चित्रण मिलता है। इस उपन्यास में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज का चित्र खींचा गया है। जिस मनोवैज्ञानिक पहलू का हम विवेचन कर रहे हैं उसका सबसे बड़ा समर्थन इस उपन्यास में मिलता है। देशद्रोही के बारे में तो कहा जा सकता है कि उसमें वास्तविक युद्ध नहीं, पर उससे ही मिलती जुलती वस्तु कांग्रेसी स्वातन्त्र्य संग्राम के बीच रखकर मानवता का अध्ययन किया गया है। इसी तरह दादा कामरेड में क्रान्तिकारी हरीश को भी पद पद पर युद्ध की आशंका है पर दिव्या में साक्षात भयंकर युद्ध के ही बीच दिव्या व पृथुसेन को स्थित कर उन्हें देखने की चेष्टा की गई है। मद्र देश पर केन्द्रस ने आक्रमण किया है। मद्र की रक्षा के सारे प्रयत्न असफल हो गये हैं, इस विकट परिस्थिति में नवशिक्षित सर्वार्थसिद्ध तट-वर्ती दुर्ग उत्तरकाओं में शत्रु से लोहा लेने के लिये पृथुसेन की नियुक्ति की गई है। उपन्यास के दोनों परिच्छेद आत्मसमर्पण में युद्धारम्भ के कार्य [illegible] और भयंकर संकट के मुख में पड़ने वाले पृथुसेन तथा उससे बिछुड़ी बाला दिव्या की मानसिक स्थिति का चित्रण किया गया है। वे सागर में कुछ समय के लिये एकांत में मिल जाते हैं। दिव्या उद्रेक के [illegible] पृथुसेन के वक्ष में समा जाना चाहती है [illegible] उसे अंक में ले, [illegible] के [illegible] में पृथुसेन स्वयं विह्वल हो दिव्या में आश्रय ढूँढने लगता है। दिव्या उसके हाथों को अपने हाथों में ले दर्शन के लिये [illegible]

हो जाती है। पृथुसेन ने कहा था "शीघ्र ही तविशातर पर युद्ध में जा रहा हूँ...... "यदि तुमने मुझे अंगीकार किया है तो तुम्हारी वर्जना ही मेरी स्मृति में जायेगी। यदि न लौटा... सम्भवतः मेरा शव ही शागल आये।"[१९]

पृथुसेन से विवाह होने मे अपने परिवार वालों की ओर से अस्वीकृति की आशंका कर वह कहती है "मेरे लिये किसी अन्य वर की सम्भावना नहीं.......और विवाह भी विलम्ब से नहीं तुरन्त... "आर्य के युद्ध मे जाने के पूर्व ही करना चाहती हूँ।"[२०] समर यात्रा मे केवल आज की सन्ध्या तो शेष है। दिव्या तान्त्रिक बैकुन्ठ से प्राप्त "महाशक्ति कवच" पृथुसेन की भुजा पर बाँध कर उसे अमर कर देना चाहती है। दासी ने रहस्य के स्वर मे संकेत किया कि सूर्यास्त के दो घडी पश्चात् मल्लिका प्रासाद मे पृथुसेन से भेंट होगी। दिव्या अभिसार की तैयारी कर रही है। उस समय उपन्यासकार जो कुछ कहता है, वह हमारी स्थापना के लिये इतना सगत है कि उन्हें उद्धृत करना ही होगा। "उत्साह से उठ दिव्या उपेक्षित, मलिन वस्त्र उतार, प्रसाधन मे लग गई। भावावेश के कारण अधिक स्वेद आने से प्रसाधन कठिन हो रहा था। और हाथ अटपटा जाते। वह आत्मा-समर्पण की विजययात्रा के लिये प्रस्तुत हो रही थी। प्रसाधन इस यात्रा का अनुष्ठान था।... 'उसके सकट तथा उसके भय मे उसकी अर्द्धाङ्गिनी बनने के लिये, अपना अस्तित्व उसे सौंप उसके हृदय मे बस, उसे साहस और सान्त्वना देने के लिये दिव्या आत्म-समर्पण की विजय यात्रा के लिये प्रस्तुत हुई.... 'महाशक्ति का कवच हाथ मे ले उसने छाया को रथ प्रस्तुत करने का आदेश दिया।"[२१] यहाँ दो बार आये हुए 'आत्म समर्पण की' 'विजय यात्रा' वाला वाक्याश द्रष्टव्य है। अब तक तो वर्जन था, पर ठीक समर यात्रा की रात्रि मे उसके आत्म समर्पण की भावना प्रबल हो उठती है। वह पृथुसेन की जीवन रक्षा के लिये उसकी भुजाओं पर महाशक्ति का रक्षा कवच बाँधती है। मैं तो एक पद आगे बढ़कर कहूँगा कि दिव्या बाह्य दृष्टि से उसकी रक्षा के लिये अनुष्ठान करती है पर उसका सबसे बड़ा अनुष्ठान साकेतिक है। वह पृथुसेन के तेज को गर्भ मे धारण कर उसे अमर कर देती है। पृथुसेन भी अपने को सुरक्षा के गर्भ में पाकर अमर हो जाता है।

यशपाल के उपन्यासों मे वर्णित कुछ बातों की जो मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई, बहुत सम्भव है कुछ विचित्र सी लगे। ऐसा मालूम हो कि अनावश्यक खींचातानी की गई है, पर "सुनि आश्चर्य करी जनि कोई, मनो-

विज्ञान महिमा नहि गोई" मनुष्य न मनोविज्ञान ऐसी ही आश्चर्यजनक वस्तु है। मनुष्य इस तरह के भाव तरंगों की विवशता का शिकार होता है यह बात ध्रुव सत्य है। चाहे उसकी चैतन्य अनुभूति उसे कभी कभी ही हो सकती है पर फ्रायड के मनोविश्लेषण से थोड़ा भी परिचित व्यक्ति से यह बात छिपी नहीं है। स्वस्थ और विकृत मानस व्यक्तियों में एक ही मानसिक प्रक्रिया काम करती है। बल्कि कहा तो यह जा सकता है कि स्वस्थ मानस वाला व्यक्ति व्यक्तित्व की छिपी कन्दराओं में चलते-चलते होने वाले व्यापार ही मनोविकार ग्रस्त मानव में स्पष्ट रूप से बाहर आकर प्रकट होने लगते हैं। असाधारण तथा मनोविकारग्रस्त मानव के आचरण तथा मानसिक व्यापार साधारण स्वस्थ मानव के मनोवैज्ञानिक रहस्यों पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकते हैं। स्ट्रिन्डबर्ग (Strindburg) की कथा हमारे सामने है। उसका एक नारी से सम्बन्ध हो गया। बाद में उसे पता चला कि वह नारी पुंश्चली है तो वह विक्षिप्त सा हो उठा। उसका विश्वास था कि इस चरित्रहीन नारी से मैथुनिक सम्पर्क द्वारा उसने अपना रक्त उसके रक्त से मिश्रित किया है अपनी आत्मा के अंश का दान किया है। अब येनकेन प्रकारेण इस अंश को वहाँ से निकाल लेना ही चाहता था। अतः यह नई बात नहीं है कि मनुष्य नारी के गर्भ में प्रवेश कर पुनर्जीवन लाभ की कामना करता है। "आत्मेव जायते पुत्र" कह कर प्रकारान्तर से इसी मनोविज्ञान की पुष्टि की गई है। संकट के समय यही मनोविज्ञान उमड़ पड़ता है।

दिव्या में एक मनोवैज्ञानिक पहलू और है जिसकी चर्चा हम मनुष्य के रूप में कर चुके हैं। बरकत व सोमा को लेकर जिस मनोविज्ञान का रूप प्रदर्शित हुआ है वही रूप कुछ कुछ पृथुसेन व सीरो को लेकर हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि विवाह के उपरान्त शीघ्र ही सीरो व पृथुसेन के सम्बन्ध में ऐसी कटुता आ जाती है जो सहसा समझ में नहीं आती। पाठक अकचका कर पूछता है अरे यह क्या। अभी तो इतनी धूम धाम से वैवाहिक क्रिया सम्पन्न हुई और अभी ही यह नौबत आ गई कि सीरो के मुख से यह आग निकले "मैं तुम्हारी क्रीतदासी नहीं हूँ। तुम मेरे आश्रित हो। मैं तुम्हारे आश्रित नहीं। मैं तुम्हारे पिंजरे की वह शारिका नहीं हूँ और पृथुसेन की उंगलियाँ सीरो का गला पकड़ कर उसे मरोड़ डालने के लिये तिलमिला उठीं। इसके कारण उपन्यासकार ने बतलाये भी हैं। पर जिन मानसिक परिस्थितियों में विवाह सम्पन्न हुआ था, उसमें इस तरह का सम्बन्ध स्थिति अवश्यम्भावी थी। पृथुसेन दिव्या को प्यार करता था उसके साथ

प्रणयाबद्ध होने के लिये प्रतिश्रुत था। सीरो के हृदय में दिव्या के लिये इतनी ईर्ष्या के भाव थे कि वह दिव्या के नामोच्चारण पर ही नागिन की तरह फुफकार उठती थी। एक दिन अति ही विपन्नवास्था में दिव्या पृथुसेन से भेंट करने के लिये प्रार्थना प्रेषित करती है पर वह सीरो के साथ प्रेमालाप में संलग्न है। वह सीरो के ही कहने से मिलना अस्वीकार कर उसे अपने द्वार से लौटा देता है। जिस व्यक्ति के चलते ही उसके चिरपोषित सपनों पर तुषारापात हो जाता है उसके प्रति उसके अचेतन में विरोधी भाव संचित होते रहते हैं। परिस्थितियों के फेर मे पड़ कर अथवा अपनी कुल मर्यादा के झूठे गौरव मे आकर अथवा अपने बडे पितामह की आज्ञा पालन के कारण—जो भी हो उसके चेतन मन ने सीरो के ही पक्ष में वोट दिया हो। पर इससे क्या ? अचेतन मन तो सीरो को ही इस अघट घटना के लिये उत्तरदायी मानता था और यही कारण था कि छोटी-छोटी बात के लिये भी इस तरह का अकाण्ड ताण्डव छिड़ जाता। इसी से कुछ मनोवैज्ञानिकों की सम्मति है कि जो विवाह लम्बी और दीर्घकालीन कोर्टशिप के पश्चात् सम्पन्न होता हैं जिसमे प्रेमी को अनेक विघ्न बाधाओ व अस्वीकृतियों का सामना करना पड़ता है, वह प्रायः असफल होता है, उसका दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं होता। कारण कि प्रेमिका के चेतन मस्तिष्क ने प्रेमी की दृढता और व्याकुलता के प्रति आत्म-समर्पण कर दिया हो पर उसका अचेतन दबाव (Coercion) के प्रति विरोधी ही बना रहता है। दूसरी ओर कोर्टशिप के दिनों मे प्रेमिका के अविवेक के कारण जिस दुर्गति का सामना करना पड़ा था उसकी स्मृति मनुष्य से खटकती रहती है।

'पर्दे की रानी' श्री इलाचन्द्र जोशी का प्रसिद्ध उपन्यास है। जोशी जी के उपन्यास की आधार शिला मनोवैज्ञानिक है। उनके सारे पात्रों का जीवन सूत्र अचेतन के हाथों मे रहता है। वे एक छद्म वेश धारण किये रहते हैं। 'पर्दे की रानी' के पात्रों ने अपने जीवन की आन्तरिक प्रवृत्तियो का स्वयं विश्लेषण किया भी है। इस उपन्यास का पात्र इन्द्रमोहन भले ही किसी रणक्षेत्र मे जाकर शत्रुओं का सामना न करे, पर यह सत्य है कि उसके हृदय में जो प्रलयकर ताण्डव हो रहा है वह सहस्त्रों युद्धों से भी विभीषिकामय है। वह छल-बल और कल से एक नारी पर विजय प्राप्त करना चाहता है जो उसमें प्रेम की चिनगारी जलाकर अब उसके साथ यों खेल रही है जैसे चूहे के साथ बिल्ली खेलती हो। उपन्यास की पूरी कथा देना सम्भव नहीं, किन्तु पाठक से यह छिपा नहीं है कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये वह क्या

नहीं करता। शीला से विवाह करता है, फिर उसकी हत्या करता है, इस तरह के कपटाचारण के सहारे निरजना के साथ नेपाल यात्रा की राह में उस पर विजयी होता है, अर्थात् उसके सतीत्व का खण्डित करने म सफल होता है। इन्द्र मोहन का अन्तर्मन अपने आसन्न विनाश को देख रहा था। अत उसमें जीवन की कामना तथा उस नारी पर शाश्वत विजय की कामना प्रबल थी। इधर निरजना के हृदय में तो पहिले से ही इन्द्रमोहन के व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण था ही, इस चरम क्षण में उसे सदा के लिये अपना बना लेने की इच्छा पूरे उत्कर्ष पर थी। इस ज्ञान की उपलब्धि होते ही कि इन्द्रमोहन एक भयकर राजनैतिक मामले म गिरफ्तार होने वाले है, सभव है कि निरजना के अचेतन मानस स्तर पर वे सारी प्रतिक्रियाएँ उभर कर आ गई हों जो युद्ध म आहुतोन्मुख को देख कर होती हों और उसके अन्दर एक ऐसी रासायनिक क्रिया होने लगी हो, जिसकी आँच में विरोध का धातुपिंड गल गया हो। यही कारण है कि इन्द्रमोहन भले ही रेल की पटरी के नीचे कूद कर जान दे देता हो पर निरजना के गर्भ में आकर साकेतिक रूप म अमरत्व का लाभ उठा लेता है। इस अमरत्व सिद्धि को सफल बनाने म निरजना का असाधारण परिस्थिति जन्य मनोविज्ञान पूर्ण सहयोग दे रहा था।

'पद की रानी' के पात्रों में एक अन्य विचित्रता भी है। निरजना व इन्द्र-मोहन दोनों एक दूसरे की ओर आकर्षित है। "उन्हें देखकर ही मेरा प्रति रक्त कण न जाने किस अतल में सुप्त सस्कारों के आकस्मिक जागरण के फलस्वरूप एक निराले विद्युत स्फुरण से तरगित होने लगा।" तिस पर भी निरजना दो सौ पन्नों तक उनको अपने से एकदम अलग हो रखती गई है। छूने भी नहीं देती। निरजना की इस दृढ़ता म थोड़ा लचीलापन तब आने लगता है जब वह शीला से विवाह कर लेता है। आत्म-समर्पण तो वह तब करती है जब वह शीला की हत्या कर निरजना के साथ नेपाल की ओर पलायन कर रहा है। इन्द्रमोहन तथा उसके पिता मनमोहन की जो प्रेमानु रक्ति निरजना के प्रति है उसके मूल में वह प्रवृत्ति काम करता है जिसे फ्रायड ने लव फार हेरलाट (Love for harlot) कहा है। और इसका सम्बन्ध शिशु जीवन के एडीपस सिच्युएशन (Edipus situation) से है। इस एडीपस (Edipus) परिस्थिति की बात और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम मनमोहन जी को निरजना के सामने अपने पुत्र के प्रति अपना कटु व विद्वेष-पूर्ण भावनाओं को अभिव्यक्त करते पाते हैं। जब उन्हें मालूम होता है कि इन्द्रमोहन निरजना के यहाँ आता जाता है तो उनके हृदय में क्रोध जग

उठता है। वे निरंजना को अपने पुत्र से सावधान करने के लिये इन्द्रमोहन के आचरण के विरुद्ध दोषारोपण करते हैं। यह उनके हृदय के कालुष्य का ही परिचायक है। यों तो निरंजना के चरित्र मे कई जटिलतायें है। अनेक गुत्थियों ने उलझ कर उसके व्यक्तित्व को जटिलतर बना दिया है, पर यह देख कर कि शीला के साथ इन्द्रमोहन के वैवाहिक सम्बन्ध मे आबद्ध हो जाने पर निरंजना का काठिन्य कुछ गलने सा लगता है, उसका प्रतिरोध कुछ कम होने लगता है पाठक के हृदय मे इस असाधारण व्यवहार के रहस्य को जानने की जिज्ञासा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस रहस्य का बोधगम्य उद्घाटन तभी होगा जब इस पर हम फ्रायड के दृष्टिकोण से विचार करेंगे।

अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' को हिन्दी मे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान मिलेगा। जिस प्रकार कोई अनु-संधानकर्ता वैज्ञानिक एक बडे ही शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र के नीचे अणु और परमाणुओं की गतिविधि की परीक्षा करता हो, उसी प्रकार इस औपन्यासिक ने मानव व्यक्तित्व व उसकी चेतना के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों की जाँच पड़ताल की है। इसकी चर्चा अन्यत्र की गई है। यहाँ पर उपन्यास के एक पहलू की ओर ही ध्यान आकृष्ट करना है। भुवन के सम्बन्ध गौरा से बहुत पहिले के हैं। वह उसकी शिष्या रह चुकी है। वह उसके प्रति प्रणय की प्रेरणा का अनुभव करता है पर कहीं भी खुलता नहीं। यहाँ तक कि उससे बचने के लिये अपने को कितनी ही तरह की परिस्थितियों मे डालता है। जानबूझ कर ऐसी परिस्थितियों की खोज के सिलसिले मे वह कभी पहाड़ पर, कभी समुद्र में, कभी अण्डमन आदि स्थानों मे पर्यटन करता है पर यह जानने वालों से छिपा नहीं है कि उसके व्यापारों का सांकेतिक महत्व क्या है। वह किससे प्रेम करता है? रेखा एक जगह कहती भी है "मैंने आज एक बड़ी डिस्कवरी की है, भुवन, यू आर इन लव। भुवन अन्त में युद्ध मे भर्ती होता है। यह क्या कम आश्चर्य की बात है कि बर्मा फ्रन्ट की भौगोलिक अनिश्चितता में जब कि पग-पग पर आक्रमण की सम्भावना रहती है, किसी भी क्षण उसे विस्फोटक द्रव्य नष्ट कर सकता है या वह पकड़ ही लिया जा सकता है, उसी समय उसे अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान होता है। सहसा वह पत्र के सामने पड़ी हुई कापी निकाल लेता है और पेंसिल से उसे द्रुतगति से रंगने लगता है और लिखता क्या है सो देखिये—गौरा!

मैं लौट कर आऊँगा या नहीं, क्या पता कब आऊँगा, यह भी कौन

जाने। पर अगर आया आने के साथ यह अगर न होता तो शायद अब भी मैं यह पत्र न लिख पाता। अगर आया तो क्या मुझसे विवाह करोगी ''२९

प्रश्न स्वाभाविक है कि भुवन में इस तरह से स्पष्ट रूप में प्रस्ताव रखने की तात्कालिक विवशता क्यों आ गई। क्या युद्ध के संकटापन्न काल में जो एक विशिष्ट मानसिक परिस्थिति छा जाती है उससे इसका मूल नहीं खोजा जा सकता? इस पत्र के आगे की पंक्तियाँ भी स्पष्ट हैं—

"एक वर्ष पहिले जब लम्बी चुप्पी के बाद मैंने जावा से तुम्हें दो तीन पत्र लिखे थे तब मैं अस्वस्थ था और तुम्हें होमसिक होने की बात लिखी थी तभी मैंने जाना था कि मैं तुमसे भाग कर वहाँ गया था। तुम्हीं से। और यह जानकर आस पास फैली विशालता में खो गया था और फिर जाना था कि यह विशालता भी तुम हो। तुमने मुझे घेर लिया था और उसमें एक सान्त्वना थी, एक मरहम था सहसा मुझे लगा कि उस विशालता के आगे हथियार डाल कर अपने सभी कवच बंधन छोड़ कर मैं स्वस्थ हो जाऊँगा। मेरे क्षत भर जायेंगे।"

पंडित इलाचन्द्र जोशी ने सतर्क होकर आधुनिक मनोविज्ञान के प्रभाव को ग्रहण किया है। उन्होंने फ्रायड, युंग, एडलर आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का अध्ययन किया है और अपनी कृतियों में यथेष्ट स्थान दिया है। यही कारण है कि उनके पात्रों के चेतन स्तर पर भी व्यक्ति की अचेतना में निर्दिष्ट रूप से प्रवाहित रहने वाली भावनाएँ भी झलक कर आ जाती हैं या वे पात्रों की अन्तर्धारा से पाठकों को परिचित कराने से नहीं चूकते। उदाहरणस्वरूप प्रेत और छाया के उस प्रसंग को देखिये जहाँ पारसनाथ मुंजोरिया जी की पत्नी को भगाये लिये जा रहे हैं। अपनी प्रेमिका पर हर तरह से अधिकार प्राप्त कर लेने की सफलता पर प्रेमी के मन में उल्लास और स्फूर्ति का होना स्वाभाविक है। पर यहाँ पर पारसनाथ के हृदय में एक अतिरिक्त उल्लास किस लिये है? वह एक विवाहित स्त्री को भगाये लिये जाता है। उपन्यासकार इस प्रसंग पर टीका करते हुए एक मनोविश्लेषक की तरह कहता है "पर यह सब होने पर भी यह अनुभूति उसे एक उन्मादक और अस्वाभाविक स्फूर्ति प्रदान कर रही थी कि वह एक विवाहित स्त्री को भगाये लिये जाता है, किस ओर भगा ले जा रहा है, किस उद्देश्य से और कितने समय के लिये—अपने अन्तर्मन के ये सब प्रश्न उसे एकदम अर्थहीन और निराधार लगते थे।

केवल यह कल्पना उसे रह-रह कर तरंगित कर रही थी कि जो स्त्री उसके साथ भाग निकली थी वह अब तक किसी दूसरे की सम्पत्ति थी और आज वह पूर्ण रूप से उसके अधिकार में है। "एक विवाहित नारी को भगाने में जो सुख है वह किसी अविवाहित स्त्री के भगाने में कदापि नहीं। किसी गुणवती व शीलवती सुन्दरी स्त्री का पातिव्रत खंडित करने से हम नरक के कीड़ों को सब से बड़ी महत्वाकांक्षा की पूर्ति होती है।"[२३] पारसनाथ का मनोविज्ञान स्पष्ट है। वह युवा शिशु है और अपने पिता-सम्पत्ति रूपी माता का प्रेमाधिकार प्राप्त करने की आनन्दानुभूति से पुलकित हो रहा है।

'चढ़ती धूप' लेखक श्री अंचल का पात्र मोहन तारा से प्यार भले ही करता हो पर अन्तिम समय तक शारीरिक मर्यादा का पालन वह करता ही है। परन्तु मिल के फाटक पर पुलिस की गोलियों का शहीद हो जाने के एक रात पूर्व उसके जीवन भर की संचित तृष्णा एक बारगी उभर आती है और वह समर्पण के बाद कहता है "तारा, मैंने अपना श्रेष्ठतम आज तुम्हें दे दिया। तुम्हारे श्रेष्ठतम की जो अनुभूति मुझे मिली वह जीवन भर के लिये काफी है।[२४]

पाद टिप्पणियाँ

१, 'इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइको-अनालिसिस' ले० फ्रायड, जान रिवरी द्वारा अनुवादित, द्वितीय संस्करण पृ० २५६।

२. 'सुनीता' पृ० २४, दूसरा संस्करण १९४१।

३. वही पृ० १८०। ४. वही पृ० १८०। ५. वही पृ० १५४। ६. वही पृ० १८०। ७. वही पृ० १८२।

८. 'इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइको अनालिसिस' ले० फ्रायड, जान रिवरी द्वारा अनुवादित, द्वितीय संस्करण।

९ 'दादा कामरेड', विप्लव कार्यालय, लखनऊ १९४३ पृ० ५९।

१०. वही पृ० १५९।

११. 'देशद्रोही', विप्लव कार्यालय, लखनऊ १९४३ पृ० ५९।

१२. वही पृ० २५३। १३ वही पृ० २६४।

१४. Collected papers, Freud, IV Vol P. 196-199।

१५. 'सुनीता', द्वितीय संस्करण १९४१। १६. वही पृ० १३५।

१७. वही पृ० १८५। १८. 'दादा कामरेड', पृ० २५९।

१९ 'दिव्या', द्वितीय संस्करण पृ० १०१। २०. वही पृ० १०३।

२१. वही पृ० ११०। २२. 'नदी के द्वीप', प्रथम संस्करण पृ० ४४।

२४. 'चढ़ती धूप', द्वितीय संस्करण १९४७ पृ० ३०२।

●

त्रयोदश अध्याय

उपन्यासकला का अन्तर्प्रयाण

आधुनिक उपन्यासकार और युग की बिखराहट इसे अन्य युगों से पृथक कर देने वाली विशिष्टता का अभाव। पर कोई व्यापक तत्व की खोज निकालना ही होगा जिससे हमें उपन्यास कला की गति विधि के समझने में सहायता मिले।

इस निबन्ध का सम्बन्ध आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता के कुछ पहलुओं से रहा है। यूरोप तथा अमेरिका के आधुनिक औपन्यासिकों ने अपनी रचनाओं में मानव मन तथा मानव जीवन की अनुरूपता लाने के लिए, मनुष्य को समूर्त ला उपस्थित कर देने के लिए, उपन्यास को मनुष्य के आभ्यन्तरिक जगत के सच्चे प्रतिनिधित्व की योग्यता तथा क्षमता से समन्वित करने के लिए कथा क्षेत्र मं तरह तरह के अनेक प्रयोग किये हैं। उनकी प्रतिभा तथा रचना कौशल के प्रभाव से उपन्यास का एक तरह से कायाकल्प ही हो गया है। उसकी वेशभूषा, साज सज्जा तथा बाहरी परिधान में ऐसा आमूल परिवर्तन हो गया है कि यदि १७वीं व १८वीं शताब्दी के उपन्यास का पात्र रिपवान विन्किल (Rip Van Winkle) की तरह जग कर आज के क्षेत्र में पदार्पण करें तो वह आश्चर्य चकित हो अपनी आँखें मलता रह जाय। आधुनिक युग के अनेक औपन्यासिक ऐसे हैं जिन्हें मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। फ्रांस में अन्द्रेजीद, प्रुस्ट, इङ्गलिस्तान म जेम्स ज्वायस, विरजीनिया वुल्फ, जर्मनी में टोमस मैन, अमेरिका में विलियम फोकनर आदि। इन लोगों को औपन्यासिकों का उपन्यासकार (novelists' novelist) कहा जाता है कारण कि इन लोगों में से अनेक ने अपने उपन्यासों के मध्य मं अनेक एसे अवसर ढूंढ़ निकाले ह जहाँ उन्हें अपनी कला की विवेचना करना पड़ती है और उसका श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुये यह बतलाना पड़ता है कि उपन्यासकारों क लिए किस मार्ग का अवलम्बन समाचान होगा तथा पूर्व क उपन्यासकारों की कला में, उनकी दृष्टि से, क्या दोष थ ? क्या पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के द्वारा मानव जीवन का समुचित प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं हो सका है ? इन सब आधुनिक उपन्यासकारों में क्षमता वर्जीनिया वुल्फ न अपने उपन्यासों में अपने मन्तव्यों को

अधिकता से अभिव्यक्त किया है तथा अलग से भी कॉमन रीडर (Common Reader) नामक एक आलोचनात्मक पुस्तक के दो भागों में अपने विचारों को संग्रहीत किया है। अतः, उनको ही आधुनिक उपन्यासकारों का प्रतिनिधि मान लेना हमें सुविधाजनक होगा।

आधुनिक युग विशृङ्खलता तथा बिखराहट का है। कहीं भी कोई ऐसी विशिष्टता दृष्टि में नहीं आती जिस पर अंगुली रख कर निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि यही वस्तु है जो सर्वसाधारण रूप मे प्राप्त होती है, यही गुण है जो अपनी सर्वव्यापकता के कारण इसे अन्य युगों से पृथक कर देता है। उपन्यासों के क्षेत्र मे भी यही बात लागू होती है। हम चाहे तो अपनी सुविधा के लिए उपन्यासों के कुछ वर्ग स्थापित कर दे, कह दे कि आज के कुछ उपन्यासकार प्रोलिटेरियट है, कुछ आर्थिक हैं, कुछ सेक्स सम्बन्धी है, कुछ मे आधुनिक जीवन की समस्याओं को उपजीव्य के रूप मे उपस्थित किया गया है, कुछ ऐतिहासिक है, कुछ जासूसी है, कुछ मनोवैज्ञानिक हैं, पर इस तरह का वर्गीकरण अधूरा है। रङ्ग आपस मे इस तरह मिल जाते है, एक की सीमा दूसरे से इस तरह मिल जाती है कि सारा चित्र पारस्परिक विपरीत रेखाओं की काटा-काटी से विक्षुब्ध और विच्छृङ्खल हो उठता है, अस्पष्ट हो जाता है और अपने वर्गीकरण पर हम खिन्न हो उठते है। हमे अपने विचारों के स्थिरीकरण में सहायता देने के लिए मासिक पत्रिकाओ मे लघु या दीर्घ आलोचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। आज कितनी ही पुस्तक मण्डलियाँ, कितने ही अध्ययन-चक्र हैं जो पुस्तकों के महत्व का निर्देशन करते है। पुस्तकों की बिक्री के झूठे या सच्चे आकडों को प्रकाशित करके भी हमे अपने मत निर्धारण मे सहायता देने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु इससे समारी समस्या के समाधान मे अर्थात् आधुनिक उपन्यासों के एक या एकाधिक सर्वव्यापक तत्व की उपलब्धि मे हमें कुछ भी सहायता नहीं मिलती।

मालूम होता है कि इस युग की अराजकता, व्याकुलता और छितराहट को प्रतिनिधित्व में विश्वास नहीं। उसे अपने प्रतिनिधित्व का अधिकार किसी को देना स्वीकरणीय नहीं। पर साथ ही यह भी उतना ही ठीक है कि इस अस्तव्यस्तता और अनियमितता की तह मे एक नियम है, शृँखला है। समुद्र भले ही विक्षुब्ध दिखलाई पडे, उसकी उमड़ती हुई तरंगे हमारी दृष्टि को भले ही अपने मे ही अवरुद्ध कर लें पर उसके शाश्वत रूप को कैसे अस्वीकार किया जावे? हमें उसे ढूँढ़ना होगा। शेली से बढ़कर विद्रोही

और नियम सयम की स्वशिनी आत्मा किस की होगी पर उसे भी स्वीकार करना पड़ा था कि किसी विशेष युग के सब साहित्य स्रष्टाओं में एक सादृश्य, एकरूपता की उपस्थिति होगी ही और वह उनकी निजी इच्छा से पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र होगी। किसी युग विशेष के निर्माण में अनेक परिस्थितियों का सहयोग रहता है तब वे अपने युग की इस वैचित्र्य पूर्ण प्रभाव से बच ही कैसे सकते हैं? यद्यपि वे एक अश में उन प्रभावों के निर्माता भी हैं जिनसे उन्हें प्रभावित होना पड़ता है।[1]

अत, उपन्यास साहित्य के इन तीन शताब्दियों की गतिविधि को समझने के लिए तथा आज या कल भविष्य की स्पष्ट झाकी लेने के लिए भी एक तरह का शैलीविन्यासीकरण, एक व्यापक सिद्धान्त का पृथकीकरण, दूसरे शब्दों में सामान्यीकरण, जेनरलाइजेशन (generalisation) नितान्त आवश्यक है। वास्तव में इसके बिना मनुष्य की गति ही नहीं, इसके अभाव में मानवजीवन के सभी व्यवहार व्यापार रुक जायेंगे।

वह व्यापक तत्व है कथा का अन्तप्रयाण। इस क्षेत्र में जितने भी वाद आए हैं उनका मूल कारण यही है। इसके लिए कथा को चार चरण उठाने पड़े हैं

ऐसी अवस्था में यूरोपीय उपन्यासों के लगभग तीन शताब्दियों के इतिहास की तथा हिन्दी साहित्य की एक शताब्दी की गतिविधि को देखकर हम एक ही व्यापक तथा सर्वसाधारण तथ्य निकाल सकते हैं, जिसके सम्बन्ध में न्यूनातिन्यून मतभेद की सम्भावना हो सकती है। वह यह है कि कथा साहित्य की प्रवृत्ति सदा बाहर से भीतर की ओर रही है, स्थूल से सूक्ष्म की ओर रही है। इसका इतिहास बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने का इतिहास है। योरोपीय कथा की बात ही छोड़ दीजिए। वहाँ तो कथा साहित्य के मानव मनोभिमुख तन्त्र प्रयाण की प्रवृत्ति चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है और इसके कारण उपन्यासों में कल्पनातीत परिवर्तन हो गए हैं—ऐसे परिवर्तन जिनको देखकर चिरतनशील आलोचक उनके भविष्य के बारे में सशंक हो उठते हैं। *हिन्दी उपन्यास साहित्य के साधारण पाठक को भी यह बात अज्ञात* नहीं है कि अब उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर केन्द्रित नहीं कि उनके पात्र क्या करते हैं। वे इससे आगे बढ़कर इस बात का अपना लक्ष्य बना रहे हैं कि उनकी विचार प्रक्रिया क्या है, वे क्या सोचते हैं और कैसे सोचते हैं? उनकी सूक्ष्म मूल प्रेरणा क्या है? यही एक राज मार्ग है अर्थात् मनो-

भूम्यन्तर्गामित्व का मार्ग जिस पर उपन्यास नियमित रूप से प्रगति क
आया है। उपन्यास मे जो कुछ भी परिवर्तन हो गया है, उससे प्रच
नियमों मे, कन्वेशन मे कथा सौष्ठव के निरन्तर ह्रास मे, भाषा के लची
मे, उपन्यासों की व्याख्यात्मकता मे इन सबों का मूल कारण है उपन्या
निरन्तर आन्तरिकता की प्रवृत्ति। वही मुख्य है और शेष आन्त
प्रवृत्ति के सहज और स्वभाविक परिणाम है। प्रकृतिवाद (Natural
यथार्थवाद (Realism), प्रतीकवाद (Symbolism), प्रभाववाद (In
ssionism) और समय-समय पर किसी वाद का जो आधिपत्य उपन्यास
पर होता सा दिखालाई पड़ता है सब का मूल उद्देश्य एक ही रहा है। अ
उपन्यास साहित्य के विहंगमावलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते
इस अभ्यन्तर प्रयाण यात्रा मे उसे तीन या चार युगों को पार करना
है। अर्थात् इस आन्तरिक प्रवृत्ति की माग के कारण, इसके जब
तकाजे की वजह से उसे चार रूप धारण करने पडे है।

*प्रथम युग एपीसोडिक उपन्यासों का जिसमे जीवन की समस्या वार
छेड़ी गई है। प्रेमचन्द के पूर्व तक हिन्दी उपन्यास की यही अ
रही।*

प्रथम युग उन उपन्यासों का है जिन्हे अंग्रेजी मे पिकारेक्स(Pica
que) और एपीसोडिक (Episodic) उपन्यास कहते हैं। इनमे किसी व
की साहसिकता से पूर्ण आश्चर्य चकित कर देने वाली कथाओं की माला
हुई रहती है। ये कथाएँ एक तरह से अपने मे स्वतन्त्र है। यदि इन्हें स
रूप में भी देखा जाय तो भी कोई हानि नहीं होगी। इनके स्वरूप मे
सम्बद्धता का आभास मिलता है तो केवल इतने ही भर से कि नायक
घटनाओं के मध्य से होकर गुजरना पडता है। उसके ही जीवन मे,
ऐसी घटनाएँ घटित हुई है जिनसे उसका कुछ सम्बन्ध है। एलिजा
युग के कथाकार टॉमस नाशे (१५६७ : १६०१) डिफोनी (१५४३ : १६
के उपन्यास तथा १८वीं शताब्दी के उपन्यासकार डीफो, स्मौलेट आदि
तरह के उपन्यासों के निर्माता की श्रेणी मे आयेंगे। इन उपन्यासों के पा
चरित्र-चित्रण का अभाव सा है, उनकी वाह्य रूपरेखा ही देखने मे आ
है मानो वे नर-कंकाल हों केवल जिनमें प्राणों का स्पन्दन नहीं हो। उ
क्रिया कलापों का वर्णन अवश्य है पर उस अनुचिन्तन के प्रति कथाकार स
उदासीन है जिनकी अभिव्यक्ति के लिए ये रूप धारण करते है।

वैज्ञानिक ने जिसे तैयारी की अवधि कहा है उसकी ओर उपन्यासकारों का ध्यान नहीं गया है। पात्रों की तथा उनके जीवन की समस्या को बाहर से छेड़ा गया है और उपन्यासकारों की दृष्टि इस बाह्यमयता में इस तरह उलझी हुई है कि उन्हें अन्दर झाँकने का न तो निता हा है और न शक्ति ही। प्रेमचन्द के आगमन के पूर्व तक हिन्दी म कुछ इसी से मिलती-जुलती अवस्था बनी रही।

द्वितीय युग प्लॉट प्रधान उपन्यासों का। ये 'किम्' से आगे बढ़कर 'कथ' और 'केन' का वर्णन करते हैं। इस युग के हिन्दी में प्रेमचन्द जी प्रतिनिधि हैं।

दूसरा युग प्लॉट नावेल्स (plot novels) का है अर्थात् ऐसे उपन्यासों का जिनका कथा भाग सुन्दर और सुसगठित हो और जिनकी रचना एक विशेष विचार, एक अनुभूति व अभाव से प्रभावित हो। इनमें भी पात्रों की बाह्य क्रियाओं का उल्लेख अवश्य होता है, इनके पात्र भी ससार के रंगमंच पर अभिनय रत दिखलाये जाते हैं पर औपन्यासिकों दृष्टि में एक परिवर्तन अवश्य लक्षित होने लगा है। वे अब बाह्य क्रिया कलापों के साथ उनकी मूल अन्तर्प्रेरणाओं को भी देखने लगे हैं। वे अब इतनी सी बात कह कर ही सतोष नहीं कर लेते कि पात्रों ने क्या किया पर आगे बढ़कर यह भी बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि कैसे किया और क्यों किया। यदि मनोविज्ञान की शब्दावलियों में हम अपने विचार प्रकट करें तो कह सकते हैं कि प्लॉट नोवेलिस्ट का सम्बन्ध व्हाट क्वेश्चन' (What question) तक ही सीमित नहीं रहता। वह इतना ही बतलाकर रुक नहीं जाता कि पात्रों ने क्या किया (किं कृत) पर हाउ (How)। कैसे (कथ) और क्यों (Why) को भी बतलाता है अर्थात् यह बतलाता है कि बाह्य क्रियाएँ किस तरह सम्पादित हुई हैं और क्यों हुई, 'कथ' और 'केन कारणेन'। इन उपन्यासकारों को हम मनोवैज्ञानिक के रूप म देखने की कल्पना करें तो कह सकते हैं कि प्रथम युग के उपन्यासकार (Structuralist) हैं और दूसरे युग के उपन्यासकार (Functionalist) हैं। परिभाषा देते हुए वुडवर्थ ने कहा है कि वह मनोविज्ञान जो इस प्रश्न का ठीक और यथार्थ उत्तर देने का प्रयत्न करता है कि मनुष्य क्या करते हैं क्यों करते हैं और आगे चलकर इस पर भी प्रकाश डालता है कि वे कैसे और क्यों करते हैं वह (Functional Pshychology) है।[२] अर्थात् इस तरह का मनोविज्ञान अपनी व्यापकता में किम्, कथ, और केन कारणेन इन सब प्रश्नों का यथोचित उत्तर देता है।

अंग्रेजी उपन्यासों के किसी भी पाठक से यह बात छिपी नहीं है कि १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १९वीं शताब्दी के कुछ प्रारम्भिक वर्षों मे इन तीनों प्रश्नों को अपनी सीमा मे समाहित करने वाले उपन्यासों की रचना हुई। यह रिचर्डसन और फील्डिग का युग था। इन लोगों की प्रतिभा के स्पर्श से प्लॉट नावेल का रूप निखर कर सामने आया। उपन्यास-कला तट पर बैठ कर तरगों के उत्थान और पतन को ही देखने वाली न रहकर, वायु के झोंकों के सहारे थोड़ी सी शीतलता के स्पर्श से तृप्त न न होकर नदी मे उतर कर जल का आचमन भी करने की ओर प्रवृत्त हुई। यही कारण है कि जहाँ तक रूपविन्यास, वाह्यसंगठन और स्थापत्य का प्रश्न है इन उपन्यासों पर नाटकों का ऋण अधिक है और प्रथम श्रेणी के उपन्यासों पर महाकाव्य का। रिचर्डसन ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास क्लारिसा को नाटकीय वर्णन (Dramatic narration) कहा है। हिन्दी मे उपन्यास कला के इस रूप का प्रतिनिधित्व प्रेमचन्द के उपन्यास मे पाया जाता है। अंग्रेजी मे १८वीं शताब्दी के पूर्व के उपन्यासकार Structuralist हैं और इसके बाद प्लॉट वाले रिचर्डसन और फील्डिग के उपन्यास (Functionalist) कहे जा सकते है। उसी तरह हिन्दी मे उपन्यासों के प्राक् प्रेमचन्द युग को Structuralist कहा जा सकता है और प्रेमचन्द युग को Functionalist।

द्वितीय युग की त्रुटियाँ एवं तृतीय युग का प्रारम्भ

इसके पश्चात् अंग्रेजी उपन्यास कला का तीसरा चरण उठता है जिसमे उपन्यास कला अधिक मानसिक गहराई की ओर प्रवेश करती है। यद्यपि द्वितीय युग के प्लॉट प्रधान उपन्यासों ने वाह्य क्रिया-कलापों को आन्तरिक कारणों से सम्बद्ध करके ही देखा है और इस प्रकार उनमें मानव मानसिकता का अंश अधिक आ सका है पर फिर भी उनमे आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व का दर्शन नहीं होता। उनके पात्र व्यक्ति न होकर जाति (Type) ही गए है। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्ति का कुछ अंश आया अवश्य। प्राचीन काल मे एक राजा था, एक आदमी था, इतने से ही काम चल जाता था, नाम लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। वह राजा या आदमी हम तुम मे से कोई भी हो सकता था। उसमें व्यक्तित्व का विकास था ही नहीं। पर आगे चलकर उन्हें नाम लेकर पुकारा जाने लगा। अर्थात् उनमें अधिक अपनापन आया। वे टाइप न होकर व्यक्ति होने लगे पर अभी तक तक उनमें पूरे व्यक्तित्व का विकास न हो सका था।

द्वितीय युग के उपन्यासों को अवश्य चरित्र प्रधान उपन्यास कहा जा सकता है पर इसी सीमित अर्थ में कि इस वैविध्य पूर्ण मानव की अनेकरूपता में से कुछ एक विशेषताओं को चुन कर पात्रों के व्यक्तित्व में उन्हीं की क्रियाएँ दिखलाई जाती थीं और उनसे विपरीत पड़ने वाले जितने गुण थे उनको निर्ममता पूर्वक उखाड़ कर फेंक दिया जाता था। इन उपन्यासों के पात्रों के नाम जो दिए गए हैं जैसे Mr Alworthy Mrs Honour यही इस बात का प्रमाण है कि उनका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उभर नहीं सका है। पात्रों का पेचकश से दबाकर उन्हें एक साँचे में ढाल दिया जाता था, उनका जीवन प्रवाह एक बधी बधाई प्रणाली से प्रवाहित होता रहता था, कहीं भी किसी प्रकार की विषमता तथा असंगति खोजने पर भी नहीं मिलती थी। वे चट्टान की तरह दृढ़स्वभाव, उन्नतचरित्र और महान् व्यक्तित्व सम्पन्न होते थे, उनमें किसी तरह के विकास का अवसर नहीं था। वे जो थे सदा वैसे ही बने रहते थे। इससे इतना लाभ अवश्य हुआ कि उपन्यासों ने एक सौष्ठवपूर्ण संगठित रूप पाया। एक "अनुल्लिङ्घनीय सम्बन्ध" की प्राप्ति हुई। पर वह एक ऊपर से बाहर का चिपकाई वस्तु ही रही, अन्दर से विकसित होने वाला नहीं। बाह्य दृष्टि से पूरी मुक्ति हो नहीं सकी।

मनोवैज्ञानिकों की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उपन्यासों के पात्र का व्यवहार किसी बाहरी उत्तेजना (Stimulus) के प्रति आचरण वादी प्रतिक्रिया (Behaviouristic response) के रूप में होता था। ठीक उसी तरह जिस तरह सरकस के शिक्षित पशु में हंटर के फटकारते ही सिखाई प्रतिक्रियाएँ आप से आप होने लगती हैं या कोई चाभी भरी गुड़िया चाबी देते ही ठीक समय पर बोलने लगती है या आचरण करने लगता है। अतः इनके पात्रों में बुद्धि का विकास विवेक, ज्ञान, बौद्धिकता का दर्शन तो हो गया था पर उन शक्तियों का पता नहीं चलता था जो मानवात्मा की किसी रहस्यस्थल से रहस्यात्मक रूप से निकलकर हमारे बुद्धि विवेक पर छा जाती है। उन्हें अभिभूत कर उसकी गति को अप्रत्याशित ढंग से मोड़ देती है, एक अपरिकल्पनीय पथ का पथिक होने के लिए विवशता उत्पन्न कर देती है। पर इन असंगतियों तथा मनुष्य की रहस्यमयी शक्तियों की ओर उपन्यासकारों का ध्यान जाने लगा और उपन्यास कला के तृतीय युग का प्रारम्भ हुआ।

तृतीय युग में उपन्यासकला आत्मनिष्ठ हो गई

इस तृतीय युग की मुख्य प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब मेरिडिथ और हेनरी

जेम्स के उपन्यासों में प्राप्त होता है। प्रथम युग में वाह्य क्रिया-कलापों की प्रधानता थी, द्वितीय युग मे क्रियाओं के साथ आन्तरिक प्रेरणाएँ भी साथ लगी आईं। समय के साथ मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियों की प्रधानता होती गई और एक वह भी समय आ गया कि उपन्यास कला जो कुछ शेष बाह्यात्मकता थी उससे मुक्त हो अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप (Subjective aspect of experience) के आधार पर ही अपने स्वरूप का विस्तार करने लगी। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि मनुष्य के अन्तजर्गत मे अनेक परस्पर विरोधी, आलोड़न प्रतिलोड़न, घूर्णन प्रतिघूर्णन, तनाव, कसमकश, संघर्ष की रस्साकसी चला करती है और हमारी वाहरी क्रियाएं इन्हीं क्रिया प्रति-क्रियाओं के परिणाम हैं। उपन्यास कला अपने विकास क्रम मे वाह्य क्रियाओं के साथ ही आन्तरिक संघर्ष और तनाव तक पहुँच गई थी। अब वाह्य क्रियाओं से सर्वथा मुक्त हो आन्तरिक रहस्यमयी प्रवृत्ति को ही अपनाकर वहाँ जमकर बैठ जाना बड़ी ही सहज क्रिया थी और उसने यही किया भी। उसने एक पद उठाया नहीं कि वाह्य क्रियाओं से सर्वथा मुक्ति पाकर शुद्ध मानसिक जगत की सीमा मे आ पहुँची और वह मनुष्य के अचेतन प्रदेश में प्रवेश करने लगी। बीसवीं शताब्दी के प्रवृद्धमान विभिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों की विद्युज्ज्योति उसके हाथ मे थी और उसी के आलोक में वह मानवात्मा के अन्तर प्रदेश में प्रवेश करती ही चली गई और वहाँ की कड़ाह की तरह उबलती हुई भावनाओं को अपने यहाँ स्थान दिया।

चतुर्थ युग मे उपन्यास कला मानव अन्तस्थल के उन भावों को पकड़ने का प्रयत्न करती है जो शब्दातीत भी हो सकते है।

परन्तु अपने चतुर्थ युग मे आधुनिकतम युग मे उपन्यासकला की अंतर्प्रयाण प्रवृत्ति जिसने १८वीं शताब्दी मे उसे यात्रा के लिए प्रेरणा दी थी उसे और भी आगे बढने के लिए प्रोत्साहित कर रही है। फ्रायड, एडलर, जुङ्ग, वर्गसा, आइन्सटाइन आदि मनीषियों ने मानवात्मा के अन्तर्प्रदेश मे भी न जाने कितने स्तरों का आविष्कार किया है और कर रहे हैं। उपन्यास कला शायद चल-चित्रों के सिवा अपने क्षेत्र मे सबसे नूतन है। इसमें यौवन का उद्दाम वेग है और वह अपनी उमङ्ग में आकर किसी भी सङ्कट, विपत्ति या भय का सामना करने के लिए तत्पर है। जरा से सकेत पर ही अपरीक्षित, अपरिचित तथा नए स्थान मे जाकर अपने को किसी भी सङ्कट पूर्ण परिस्थिति मे डालकर परीक्षोत्तीर्ण होने का प्रमाणपत्र पाने के

लिए उत्सुक है चाहे इसके लिए उसे कोई भी रूप धारण क्यों न करना पड़े। उपन्यास कला के मनमाने रूप से उछल कूद करने के लिए, किसी भी क्षेत्र में, कहीं भी जाने के लिये इस कारण से भी सुविधा है कि आज तक इस कला के आलोचकों में कोई अरस्तू जैसा तेज पुञ्ज नक्षत्र उग नहीं सका है जिसके प्रभामण्डल का तेजोप्रदीप्त आतंक सब पर छा जाय, सबको इस तरह अभिभूत कर ले कि अन्य ज्योतिष्पिण्डों को अपनी स्वतन्त्र ज्योति विकीर्ण करने के अवसर के अभाव में उसी की ज्योति अभिवृद्धि में नियोजित होना पड़े। कोई पाणिनि जन्म नहीं ले सके हैं जो अपने सूत्रों में इसे बुरी तरह शृङ्खलित कर दें। एक विचारक के शब्दों में हम उपन्यास लेखकों, थोड़ा बढ़कर कहिये जीवन लेखकों के लिए कितने सौभाग्य की बात है कि किसी ऐसे आधुनिक अरस्तू ने अवतार नहीं लिया जो दृश्य काव्य के प्राचीन लेखकों की तरह औपन्यासिकों की भी गति का कार्य, समय और स्थान के समत्रय के सूत्र से जकड़ कर रख दें।[1]

अतः किसी अरस्तू के सिर पर न रहने के कारण उपन्यास कला को परम स्वतन्त्रता रही, उसे विद्वता और पांडित्य के लौह कारागार को तोड़ने में शक्ति का अपव्यय नहीं करना पड़ा। अतः तरह-तरह के साहसपूर्ण प्रयोगों, नई नई प्रयोगों एवं टेकनीक को आजमाने तथा उनकी सम्भावनाओं के अनुसंधान करने का औचित्य प्राप्त हुआ अर्थात् "भावइ नाथ करहु तुम सोई" की राह पर चलकर अपना लक्ष्य सिद्धि में उसे न्यूनातिन्यून बाधाओं का सामना करना पड़ा।

तृतीय युग में हेनरी जेम्स की उपन्यास कला ने मानव के अचेतन प्रदेश की भावनाओं की अभिव्यक्ति को ही अपना लक्ष्य अवश्य बनाया था पर फिर भी वहाँ की जो प्रज्ञानात्मक अनुभूतियाँ थीं वे ऐसी ही थीं जिन्हें शब्दों के जाल में, भाषा के बंधन में लाकर मूर्त किया जा सके, उन्हें ग्रहणीय बनाया जा सके, उनके स्वरूप का कुछ आभास दिया जा सके, चाहे इस प्रयत्न में, इन अनिश्चित भावों के आनुरूप्य प्राप्त करने की साधना में भाषा को अपनी अंतिम बूँद तक ही क्यों न निचुड़ जाना पड़े। परन्तु मानवात्मा की आन्तरिक गहराई में जो भावात्मक अनुभूतियों की लहरें उठती हैं उनके लिए अनिवार्य नहीं कि वे शाब्दिक ही हों, ऐसी हों कि शब्दों के संसार में लाया जा सके अथवा नादों के सहारे अपनी अभिव्यक्ति को समूर्त किया जा सके। नहीं, वे स्पर्श गन्धज, घ्राण सम्बद्ध, रसना-सम्बद्ध भी हो सकती हैं। उनके सूक्ष्म जीवन की एक वह भी अवस्था हो सकती है जिसमें वे देश,

काल और गति से मुक्त होकर अपनी शुद्ध सत्ता मे अवस्थित हो। आज के मनोवैज्ञानिक तथा उनसे संकेत पाने वाले उपन्यासकार इसी मानसिक क्षितिज की, अचल तथा जीवन की समीपतम रेखा को पकड़ने के प्रयत्न मे है जिन्हे पकड़ पाने के सारे प्रयत्न फीके पडते रहे हैं। हेनरी जेम्स के साथ उपन्यास कला जीवन की कितनी ही गहराई मे प्रवेश क्यों न कर गई हो पर चेतन मस्तिष्क (Conscious mind) की आधिश्रयणिक (X Ray) किरणों की पतली रेखा वहाँ पहुँचती ही थी, विवेक का हलका स्पर्श वहाँ पड़ता ही था। जहाँ वह आन्तरिक प्रवाह का चित्रण करती थी वहाँ भी उसे चेतन स्तर पर लाकर ही देखती थी जबकि वे शाब्दिक रूप धारण कर लिए होती थीं। यह नहीं होता था कि उनके शुद्ध रूप को, उनके विकसित होते रहने वाले रूप को वहीं रख कर उनके विकास को ज्यों का त्यों अभिव्यक्त करें। पर आज का औपन्यासिक आगे बढ कर उस दिवास्वप्न देखने वाले मस्तिष्क को भी पारिपार्श्विक दृष्टि (Marginal View) को साथ मे रखेगा। उसकी धारणा मे वर्गसों की फिलासफी के कारण महान क्रान्ति हो गई है।

वर्गसों के सिद्धान्तों का उपन्यास-कला पर प्रभाव

वर्गसो का आधारभूत सिद्धान्त है कि सत्ता निरन्तर परिवर्तनशील है। वह आगे बढती रहती है। पर यह परिवर्तनशीलता मृत-जड़ गति नहीं पर चिर सृजनशील, स्वत. स्फूर्त्त जीवनोत्पलव (Elan Vital) है। सत्ता की वह परिवर्त्तनशीलता, उसकी सृजनशील प्रक्रिया का अविराम नैरन्तर्य, सहजानुभूति के द्वारा ही जानी जाती है। बुद्धि के द्वारा नहीं। बुद्धि तो इस चिर प्रवहमान जीवनोत्पलव की स्वाभाविक और अविभाज्य गति को अनेक टुकड़ों मे विभक्त कर कुछ व्यवहारिक सुविधाएँ भले ही उत्पन्न कर दे पर न तो वह उसका प्रतिनिधित्व कर सकती है और न उसके यथार्थ रूप का चित्रण ही कर सकती है। ससार के पदार्थो का ज्ञान सापेक्षिक होता है, हम एक वस्तु को अनेक वस्तुओं की अपेक्षा मे ही देखते हैं। अन्य वस्तुओं का हमारा ज्ञान ऊपरी तथा वहिरगस्पर्शी होता है पर सहजानुभूति के द्वारा हम इस काल के चिरन्तन प्रवाह मे अपने स्व के वारे मे आभ्यन्तर और प्रगाढ़ ज्ञान प्राप्त कर सकते है। साधारणतः हमारी बुद्धि यह समझने की अभ्यस्त है कि हमारा व्यक्तित्व वाहरी अलग-अलग विभक्त विन्दुओं का योगफल है। बुद्धि सत्ता की गति को अनेक विन्दुओं मे विभक्त कर देती है और समझती

है कि इन्हें जोड़कर गति को बना लेंगे पर यह भ्रान्त धारणा है। जीवन तो एक तरल इकाई है (Fluid whole) जिसका प्रत्येक क्षण भूत में अवलम्बित तथा भविष्य में प्रोक्षेपित है। किसी वस्तु के ज्ञान तथा उसकी अभिव्यक्ति में सदा पृथकत्व रहता है। इन सिद्धान्तों ने हमारे दृष्टिकोण में एक क्रान्ति पैदा कर दी है। इनको लेकर चलने वाले उपन्यासों में तो कायाकल्प का ही वातावरण उपस्थित हो गया है।

आजकल के उपन्यासों का प्रमाण वाक्य यह है — जीवन व्यवस्थित रूप से सजाई गई दीपमालिका नहीं है। वह तो एक ज्योति मंडल है जो हमारी चेतना को प्रतिक्षण अपने झीने और अर्ध पारदर्शक आवरण से आच्छादित किये रहता है। क्या उपन्यासकारों का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वे इस परिवर्तनशील, अज्ञेय तथा स्वच्छन्द जीवनोच्छ्वास का विशुद्ध रूप में पकड़ें, यथा सम्भव बिना किसी विदेशी और बाहरी वस्तु के मिश्रण के, चाहे उसमें कितनी असंगतियों तथा जटिलताओं का समावेश क्यों न हो। भीतर झाँक कर देखें। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन एतादृशत्व (like this) से बहुत दूर की चीज है। एक किसी दिन के किसी भी क्षण को ध्यानपूर्वक देखो, मस्तिष्क पर असंख्य संस्कारों की छाप पड़ती रहती है, क्षुद्र क्षुद्र, कुछ असंगत, क्षणिक और नोधा-तीत और कुछ इतनी स्पष्ट कि मानो इस्पात की सुई की नोक से खोदी हुई हो।'[१] मस्तिष्क के इसी चिर लघु पर साथ ही चिरजीवी, 'अणोरणीयान्' पर 'महतो महीयान्' क्षण को का अपना कला के जाल में, भाषा के जाल में पकड़कर उसकी गतिशीलता का अभिव्यक्त करना आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की साधना के लिए उपन्यास कला को कितने नाच नाचने पड़े हैं, उसे कितने रूप धारण करने पड़े हैं यह श्रीमती वर्जिनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस, मार्शल प्रुस्त, और आन्द्रे जीद के उपन्यासों के पढ़ने से पता चलता है। आइये सरसरी निगाह से इन लोगों के उपन्यासों की कुछ विशेषताओं को देख लिया जाय। ये विशेषताएँ किसी एक उपन्यासकार की नहीं हैं। पृथक्-पृथक् उनकी उपन्यास कला का विवेचन हमारी परिधि से बाहर है। जो बातें यहाँ दी जा रही हैं उनके बारे में यही इशारा किया जा सकता है कि ये अपने मूल रूप में कुछ स्थानीय पारिस्थितिक परिवर्तनों की तात्कालिक विरक्तता के सिवाय सबों में पाई जाती हैं।

आधुनिक कथा में काल की अवधि की लघुता

उपन्यास कला की मानव मनोवैज्ञानान्वेषण की प्रगतिशील यात्रा की

चर्चा हमने ऊपर की पंक्तियों मे की है। इस यात्रा के कारण उपन्यास मे नए परिवर्तन हुए। इस दृष्टि से विचार करते सर्वप्रथम हमारा ध्यान उनकी रचना की ओर जाता है। यहाँ रचना शब्द का प्रयोग हमने उस अर्थ मे किया है जिसके लिए अंग्रेजी में Texture शब्द का प्रयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो का एक यह भी कर्तव्य है कि वह आधुनिक युग के प्रभाव के कारण जटिल से जटिल होते जाने वाले पात्रों का तथा पाठको का साथ दे सकें, उनके समानधर्मी हो सके। दूसरे शब्दो मे वे इस रूप मे पाठकों के सामने न उपस्थित हों कि वे उसको असमानधर्मा, विदेशी तथा अन्य लोक का प्राणी समझकर उन्हे संदेह की दृष्टि से देखे। इसी समानधर्मित्व को लाने के लिए अरस्तू ने समकत्रय वाले सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। यूरोप के उपन्यासों मे मनोवैज्ञानिकता के सिद्धान्तों के साथ इस समक सिद्धान्त के पालन का आग्रह बढता सा गया है और यह बात द्वितीय युग से ही स्पष्ट होती गई है। मनोवैज्ञानिकता का प्रवेश तो रिचर्डसन और फील्डिंग के समय से ही हो गया था। मनुष्य को सप्राण, सजीव, और सहृदय प्राणी के रूप मे देखने की प्रवृत्ति तो उनके साथ ही प्रारम्भ हो गई थी परन्तु उनकी कथा इतनी विस्तृत होती थी कि उनके Texture मे घनत्व, प्रगाढ़तत्व के लिए अवसर ही नहीं हो सकता था। उनके चित्र मे घनत्व नहीं हो सकता था, उनके बन्ध मे कसावट हो ही नहीं सकती थी। हाँ, उनके चित्रों मे (Structure) संपुटित गाढ़त्व भले ही हो और वह होता भी था। हेनरी फील्डिंग के उपन्यासों से बढ़कर कथा भाग के सौष्ठव का चमत्कार देखने को और कहाँ मिल सकता है? पर साथ ही रचना (Texture) का विरलत्व, झीनापन, छिद्रता (यदि इस शब्द के प्रयोग की अनुमति मिले तो) भी इनसे अधिक कहाँ मिल सकता है? यदि एक छोटे से उपन्यास की सीमा मे एक पूरे युग का अथवा एक मनुष्य के पचास-साठ वर्षों के लम्बे जीवन के चित्र का चित्रण करना हो तो उपन्यासकार बहुत सी मानसिक तथा

---

life is not a series of gig lamps symmetrically arranged, life is luminous halo, a semitransparent envelope surround us from the beginning of consiosness to the end. is it not the task of the novelist to convey this varying, this unknown and uncircumscribed spirit, whatever aberration or complexty it may display, with as little of mixture of the alien and external as possible?

शारीरिक घटनाओं का परित्याग कर कुछ मुख्य मुख्य घटनाओं को ही स्थान देने के लिए बाध्य है, विवश है। पर दूसरी ओर उन उपन्यासों को लीजिए जिनमें कथा की अवधि बहुत ही छोटी है। इन उपन्यासों में घटनाओं के निर्वाचन में उतनी स्वतन्त्रता से काम नहीं लिया जा सकता। इनमें छोटी छोटी सी घटनाओं की भी विस्तृत विवृत्ति की विवशता और लाचारी उसी रूप में पाई जाती है जितनी प्रथम वर्ग के उपन्यासों में उन्हें परित्याग करने की।

प्रथम वर्ग के उपन्यास पाठक में गाढ़ बन्धत्व, बुनाई का गाढ़ापन, प्रतिभा की सूक्ष्म दर्शिता के भाव नहीं जगा सकेंगे। दूसरे वर्ग के उपन्यासों की श्रेणी में जेम्स ज्वायस, श्रीमती विर्जिनिया वुल्फ आदि के उपन्यास आयेंगे। जेम्स ज्वायस के युलिसिस नामक बृहद्काय उपन्यास में केवल एक व्यक्ति के २४ घंटे की कथा है। विर्जिनिया वुल्फ के उपन्यास मिसेज डालोवाई में केवल तीन घंटे की कथा और फिलिप टायनबी के टी विथ मिसेज गुड मैन (Tea with Mrs Good man) में केवल एक घंटे की। हद हो गई कि होरेस मेक्काय के उपन्यास दे शूट होर्सेज (They shoot horses Don't they) में तो दो तीन मिनट की ही कथा है। एक आदमी को दो तीन मिनट बाद ही प्राणदण्ड की सजा सुनाई जाने वाली है इसी बीच में जो स्मृतियों की आँधी उठी है उसे वहाँ बाँधने का प्रयत्न किया गया है। आँधी को बाँधने की कथा भी कम रोचक नहीं। इस श्रेणी के उपन्यासकारों को बुद्धि पूर्वक, सावधानी से, सतर्क होकर अपनी कला के सौन्दर्य के अनुरोध पर कथा की अवधि और उसकी तीव्र गति को सीमित करना ही पड़ता है ताकि वास्तविक जीवन के विचार और भावों तथा उनकी अभिव्यक्ति में अधिकतर साम्य और अनुरूपता आ सके। 'दस वर्ष के पश्चात्' कह कर अथवा उल्लिखित घटनाओं के मध्य में पड़ने वाली अवधि में घटित घटनाओं का जरा सा उल्लेख कर कथा क्रम को जोड़ देने की आवश्यकता ही नहीं। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यास इस [illegible] के पक्ष में नहीं हैं। वे कथा विकास क्रम में इस तरह के लम्बे लम्बे कुदानों के बदले में तीव्रगति के भीतर का प्रदर्शन करना ही आवश्यक समझते हैं चाहे इसके लिए उन्हें कथा भाग की अवधि को भले ही सीमित करना पड़े।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के तीन टकनीक

परन्तु उपन्यासकार को इस परिस्थिति में बड़ी ही संकट पूर्ण समस्या का सामना करना पड़ता है। उपन्यास अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए

कथा की माँग करता है, कथा की अन्तर्गामिनी प्रवृत्ति बाह्य क्रिया-कलापो के उच्च शिखरों की दृढता को सदेह की दृष्टि से देखकर मूल प्रवृत्तियों की तरलता को ही अपनाना चाहती है और तिस पर पाठक है जो उपन्यास के प्रति अपने संदेह को सहज ही मे स्थगित करने (Willing suspension of disbelief)[६] के लिए तैयार नहीं। पाठक उपन्यास के सुरम्य स्थलों मे विचरण करते समय हरित शाद्वलों का रसोपभोग तो अवश्य करता है पर सतर्कता पूर्वक उसके कान भी खडे रहते है, जहाँ कहीं भी कुछ खटका हुआ नहीं कि वह भागा। दो स्वामियों की ही सेवा कठिन कही जाती है। है। यहाँ औपन्यासिक को तीन स्वामियो की सेवा कर उन्हे संतुष्ट रखना पड़ता है। "अहो भारो महान् कवेः।" अतः अपने में इस भार वहन की योग्यता लाने के लिए, परिस्थितियों और उत्तरदायित्व के अनुरूप लचीलापन लाने के लिए उसने कितने टेकनीक, शिल्प विधि का आविष्कार कर लिए है। उनमे तीन मुख्य है पूर्वदीप्ति (Flash back), चेतना प्रवाह (Stream of consciousness), काल क्रम की उलट-पलट (Time shift)।

पूर्वदीप्ति : इसमें घटनाओं के अतीत का क्रामिक वर्णन नहीं रहता। परन्तु वे पात्रों की स्मृति से अतीत के अन्धकार को प्रदीप्त करती चलती हैं। अतः उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता वढ़ जाती है।

पूर्वदीप्ति (Flash back) मे भी पात्र के जीवन की घटनाओं का वर्णन रहता है परन्तु अन्य पुरुषात्मक उपन्यासों के सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ उपन्यासकार दिव्यदृष्टि-सम्पन्न संजय की तरह महाभारत के रणक्षेत्र के दृश्यों के क्रमिक उल्लेख की ऋजु और सीधी रेखा न खींचते हुये यहाँ कथाकार कथा को पात्रों के मस्तिष्क मे उठी हुई स्मृति तरङ्गों के रूप मे उपस्थित करेगा। महाकाव्य (Epic) के नियमों का अनुवर्तन करने वाले १६वीं शताब्दी की घटना वैचित्र्यपूर्ण कथाएँ हों अथवा नाटकों की तरह कार्य के आदि, मध्य, अवसान के संकेत पर अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने वाले १८वीं शताब्दी के सुसङ्गठित कथा वाले प्लॉट नॉवेल(plot novel) —सब मे प्रगति की एक सीधी प्रणाली होती थी। ऐसा मालूम होता था कि उपन्यासकार रूपी इञ्जीनियर ने एक ऐसी नहर बाँध दी हो जो अपनी निश्चित सीमा के भीतर ही उन्हे मार्ग देती हुई अपने रस से कुछ इधर-उधर के, पर निर्दिष्ट, क्षेत्रों को अभिसिंचित करने की अनुमति देती हो। यदि कहीं धारा सूखने सी लगती तो सारी परिस्थिति की देखरेख करने वाला

उपन्यासकार अपने पास सञ्चित टकी की जल-राशि के कुछ अंश को मुक्त कर उसे जीवन प्रदान करता है।

उपन्यास की कथा, मान लीजिए, एक दो पात्रों को लेकर प्रारम्भ हुई और अपने जल पर कुछ दूर तक चली जाती है। सञ्चित जल-राशि का थोड़ा उन्मुक्त अंश प्रवाहित होकर शेषप्राय होने को आया। तब तक उपन्यासकार ने बड़े कौशल से एक दूसरे पात्र या घटना का सन्निवेश किया। जिसकी प्रेरणा से सूखती हुई धारा आगे बढ़ चली। इसी तरह उपन्यास का प्रवाह नियन्त्रित होकर प्रगति करता रहता है। इस तरह की उपन्यास कला एक ऐसे प्रदर्शनी समारोह की याद दिलाती है जिसमें अनेकों मूक और स्थिर चित्रों की माला को सजा कर रख दिया गया हो। वे हों तो अलग अलग ही पर हाँ, पूर्वापर क्रम देखने पर उनकी पारस्परिकता एक विस्तीर्ण सम्बन्ध का आभास दे सकती है, प्रबन्ध के अनुस्यूतार्थ सम्बद्धता का रूप बनाये रखती है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द जी के 'गबन' का अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक हो सकता है। आप कल्पना कीजिये एक माला को जिसमें सूत के सहारे माला के बहुत से दाने पिराये रहते हैं। उसमें एक बड़ा दाना होता है जिसे सुमेर कहते हैं। उसे प्रारम्भिक कह लीजिये या अन्तिम एक ही बात है। यदि इन उपन्यासों को एक माला के रूप में देखें तो ऐसा मालूम होगा कि ये दाने ही दाने दिखलाई पड़ रहे हैं। ऐसा नहीं लगता कि सुमेरु के हृदय से रस का स्रोत बह चला हो।

पर पूर्व दीप्ति (Flash back) पद्धति में उपन्यासकार वर्तमान से सम्बद्ध या उसे सार्थकता प्रदान करने वाली घटनाओं को पात्रों के स्मृति खंडों के रूप में चित्रित करता चलता है। ऐसे उपन्यासों में कथा की अवधि छोटी अवश्य होती है पर किसी न किसी रूप में जीवन के वृहद्‌वृत्त की घटनाएँ वहाँ स्थान पाती ही हैं। परन्तु अपनी ऐतिहासिकता का परित्याग कर, अतीत का चोला उतार कर वर्तमान का बना धारण कर सामने आने के कारण उनकी वह खुरदुराहट जो पाठक को खटकती थी बहुत अंशों में दूर हो जाती है। ये घटनायें इस पद्धति से उपस्थित की जाने के कारण मुख्य कथाभाग से अलग पड़ी वस्तु न रह कर उसी के प्राणों की एक खास बन जाती है, उसकी अपनी हो जाती है, सजातीय और सधर्मी। वास्तव में देखा जाय तो घटनाओं को इस तरह से सुसज्जित कर देने से उनमें मानवीयता या कहिये मनोविज्ञान का समावेश अधिक हो जाता है। उसमें एक वर्तमानता आ जाती है जो केवल वर्तमान ही नहीं रहती पर उसमें अधिकतर समृद्ध, पुष्ट,

चमत्कृत वर्तमानता होती है। वर्तमान क्षण तो अपने मे अति क्षुद्र, अल्प और क्षणिक होता है। पर यदि वह अतीत को अनुप्राणित कर अर्थात् अपनी सास उसमे फूँक कर उसे सप्राण कर उसके कधे पर बैठ सके तो वह बहुत ही भव्य और विशालाकृति का दृश्य खडा कर सकता है।

हमने देवदत्त को देखा और हमें ज्ञान हुआ कि "अयं देवदत्त"। बाद मे दस वर्षों के पश्चात् फिर उसे बनारस मे देखा और मुझे ज्ञान हुआ "सोऽयं देवदत्तः"। अरे यह वही देवदत्त है! यह ज्ञान जिसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है पूर्व वाले ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण देते हुए कहा गया है "तत्तेन्दतावगाहिनीप्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा"॥ तत्ता (तत्+ता) तथा इदंत्ता (इदम्+ता) को पहिचान कराने वाली प्रतीति को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। तत् का अर्थ है तद्देश और तत्काल अर्थात् पूर्वकाल और पूर्वदेश, अतीत। इदन्ता का अर्थ है एतद्देश और एतत्काल। यह हुआ वर्तमान। अतः प्रत्याभिज्ञा वह है जो पूर्व, अतीत और वर्तमान के सम्बन्ध का ज्ञान कराती है। दूसरे शब्दों मे परिचित वस्तु के पुनः दर्शन के समय अतीतान्वित वैशिष्ट्य सहित जो प्रतीति होती है वही प्रत्यभिज्ञा है। कहना नहीं होगा कि यह प्रतीति उस प्रतीति से कहीं भव्यतर है, उच्चतर है, आढ्यतर है जो अतीत की तात्कालिकता मे हुई होगी। अतः आज की उपन्यासकला अपनी प्रधान पर लघु और सीमित कथा को इस प्रत्यभिज्ञा समन्वित अतिरिक्तापेक्षत्व को भी साथ-साथ दिखला उद्दीप्त कर देने की योजना करती है और मानो कहती है कि मै या मेरी "कथा गर्द राह या तिनका भले ही हो पर आँधी के साथ जो हूँ"। इसमे झझा के मत्त झकोरों का उन्माद मिला हुआ जो है।

इस दृष्टि से हिन्दी का पाठक "शेखर एक जीवनी" पर विचार करे तो इस पद्धति का महत्व मालूम होगा। शेखर मे भी कथा है इसे कौन अस्वीकार करेगा। पर आप कल्पना करें कि वह कथा एक रात के घनीभूत विजन के रूप मे देखी न जाकर और प्रत्यभिज्ञा पद्धति पर कहीं न जाकर उसी एक सीधी लकीर पर चलने वाली पद्धति पर कही जाती तो वह कितना न कुछ खो देती। इस पद्धति को आज का औपन्यासिक जाने या अनजाने रूप से अपनाता चला जा रहा है। अंग्रेजी में हेनरी जेम्स, मेरिडिथ आदि की रचनाओं को इस पद्धति का पूर्ण अवलम्ब मिला है। जो हो, आज का उपन्यास समय के उत्पीड़न, स्वेच्छाचार, जुलुम (Tyranny) जिसके निगड़ रज्जु पाश ने उसमें से प्राणों को निकालकर सुन्दर जापानी मुनुवा बना

डाला था, उससे आज बहुत कुछ मुक्त है, स्वतन्त्र है अथवा यों कहिये कि वह समय के साथ स्वतन्त्रता लेने लग गया है। हिन्दी के एक उपन्यासकार हैं। नरोत्तम प्रसाद नागर उन्होंने अपने उपन्यास में 'दिन के तारे' (यही उपन्यास का नाम है) उगा दिए हैं। इसमें भी यदि उपन्यास के कथा भाग की अवधि का उल्लेख नहीं किया गया है पर यह अवश्य है कि यहाँ पर भी उपन्यास का कलेवर इस पूर्व दीप्ति पद्धति (Flash back) के द्वारा पुष्ट हुआ है। शशि शान्ति या आशा की कथा साथी न प्राप्त होकर, अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा न करती हुई मुख्य कथा की गोद में ही फलती फूलती दिखलाई गई है। अतः खटकती नहीं। उसी तरह जिस तरह माँ की गोद में चिपके बालक का पार्थक्य बहुत कुछ माँ के साथ घुल कर तदाकार सा ही दीख पड़ता है। इस स्थान पर नागर जी कहते हैं "अतीत के करघे पर वर्तमान का ताना बाना बुनना शशि को बड़ा अच्छा लगता था और जब वह देखता था कि ताना बाना तनते एक अच्छा खासा पेटर्न तैयार हो गया है जो स्वयं ही उस पर मुग्ध हो रहता। कभी कभी उसे ऐसा लगता है कि जीवन का अतीत ही उसके लिए वर्तमान हो गया है। वर्तमान को अपनाने के लिए वह दो कदम आगे बढ़ता था तो पचास कदम उसे पीछे हटना पड़ता था।"[१]

अतीत के करघे पर वर्तमान का ताना-बाना बुनने वाले या वर्तमान के करघे पर अतीत का ताना बाना बुनने वाले (एक ही बात है) नूतन ढंग के उपन्यासों में अतीत की घटनाओं का कम महत्व नहीं है। कथा की अवधि भले ही छोटी हो, एक घण्टे की या एक दिन की पर इस छोटी सी अवधि का महत्व इसी में है कि वह अपने भूतपूर्व इतिहास की सृष्टि है, उसके वर्तमान रूप के निर्माण में इतने बड़े विशाल अतीत का हाथ है। पात्र का वर्तमान रूप, उसके मनोभाव, प्रतिक्रिया विचार इच्छा, अनुभूति सब अतीत से सम्बद्ध है। अतः उनसे कोई औपन्यासिक अपना पिण्ड छुड़ा नहीं सकता। उनको तो स्थान देना ही होगा। हाँ, ऐसे उपन्यासों में वे अतीत की घटनाएँ पहले के उपन्यासों की तरह तिथिवार पुरावृत्ति की तरह सजा कर नहीं रखी जायेंगी, वे पात्रों के मन से छन कर आयेंगी। वे वर्तमान होकर आयेंगी। उनका अतीतपन दूर हो जायगा। वे बाहर से चिपकाई चीज न होकर वर्तमान का अंग बन जायेंगी। और इस ढंग में उपस्थित किए जाने के कारण अर्थात् पात्र उन घटनाओं को जीने वाला न रहकर एक परिवर्तित द्रष्टा हो गया है। एक उसकी प्रत्यभिज्ञा या मानसिक प्रतिक्रिया में निम-

ज्जित होकर आने के कारण काक, पिक और वक, मराल हो गया है। अतीत को वर्तमान से होकर वर्तमान के आलोक मे पीछे मुड कर देखा गया है। अतीत को अतीत बनाए रख कर उसके अधिकार को अक्षुण्ण रख कर आगे की ओर नहीं देखा गया है जैसा प्राचीन उपन्यासकार करते आ रहे थे। वास्तव मे देखा जाय तो उपन्यास कला की प्रगतिशील मनोवैज्ञानिकता और आत्मनिष्ठता ने घटनाओं को घटनाओं के रूप मे रहने नहीं दिया है। वे तो अब पात्र के मनोवैज्ञानिक चित्र के आधार मात्र रह गई हैं। जो हो इतना अवश्य है कि जिन उपन्यासकारों ने थोडी भी उपन्यास कला की आत्मनिष्ठता, अन्तर्प्रयाण (Inward march) की गति को पहचानी है उनमे वर्तमानता की छोटी लौ को अतीत के क्षेत्र में ले जा कर उसे उद्भासित करते रहने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है।

पूर्व दीप्ति पद्धति की त्रुटि, कथा मे असंतुलन : इसका परिमार्जन चेतना प्रवाह पद्धति ने किया।

यद्यपि इस पद्धति से उपन्यास कला को बहुत सहायता मिली पर आगे बढ़ने पर, इसकी शक्ति की परीक्षा होने पर इसकी सीमायें भी सामने आईं। यह पता चलने लगा कि जहाँ इस प्रयोग से अनेक सुविधाएँ प्राप्त हो सकीं वहाँ उसकी त्रुटियाँ भी दीखने लगीं जिनका परिमार्जन आवश्यक था। इस पद्धति से उपन्यास की समग्रता मे अनुपातिकता और संतुलन की स्वरूप-हानि होती थी। दूसरी बात यह है कि इसके द्वारा पाठकों के अन्दर अभिनयशील साक्षातता, तात्कालिकता, के भाव की भ्रमोत्पत्ति में बाधा होती थी। कारण कि कथा के एक बृहदंश का चित्रण इस ढंग से होता था मानो वे हो गए हैं, वे मूर्त हों, निष्ठा प्रत्यय (क्त क्तवतु) के विषय हों परन्तु प्रधान कथा के होते हुए वर्तमान सत्प्रत्यय (शतृ शानच्) प्रत्ययों के विषयीभूत रूप मे उपस्थित किया जाता था। इस तरह कथा के दो क्षेत्रों मे पाँव रखने के कारण उसमे थोड़ा असंतुलन आ जाना स्वभाविक था।

इस दोष का कुछ-कुछ परिमार्जन चेतनाप्रवाह पद्धति के द्वारा हुआ। पहले हमने जिसे पूर्वदीप्ति (Flash back) पद्धति कहा है उसमे यद्यपि घटनाओं को बाहर से उठाकर मानसिक स्तर पर लाया जा सका, उसमें तीन वस्तुओं तत्ता, इदन्ता के साथ उनके सम्बन्ध ज्ञान या स्मृति के पुट से मानव की अनुचिन्तनशीलता, भावप्रवणरूपता (Contemplativeness) अवश्य आई पर अभी तक भी उसके भावप्रवण या अनुचिन्तनशील रूप के साथ

उसका सक्रिय, बाह्य, क्रियात्मकरूप (अर्थात् वह रूप जिसमें बाहरी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के माध्यम से ही प्रगट होने की प्रवृत्ति होती है, जो उपन्यासों के प्लॉट के चौराहे पर आकर सरे बाजार अपने स्थूल प्रदर्शन का इच्छुक होता है) साथ लगा हो रहा। अरस्तू ने प्लॉट को कार्य की अनुकृति कहा था। बाह्य घटनाओं का विन्यास (Imitation of action, con texture of incidents)[5] कहा था परन्तु इस नई पद्धति के द्वारा सारा घटनाओं को बाह्य संसार से हटाकर मानसिक संसार में बैठा दिया गया। इस कारण उसमें अधिक सूक्ष्मता आई। वे अधिक प्रभावशाली हो उठीं उसी तरह जैसे अंगूर में रखा पानी की दो चार बूँदें जब खिंच जाती हैं तो तलवार हो उठती हैं। इसमें मानवीय चेतना की विवृति, उसकी तरलता, अनुरूपता, किसी रूप रेखा को अपने प्रवेग से मटियामेट कर देने वाली आन्तरिकता तथा प्राणवत्ता के स्वरूप को चित्रित करना उपन्यासकार का ध्येय होता है।

यही कारण है कि इस ध्येय को लेकर अग्रसर होने वाले उपन्यासों में प्लॉट का बंधन छिन्न भिन्न हो जाता है, कारण कार्य की शृंखला में यह नियन्त्रित नहीं होता, आदि मध्य और अवसान के नियमों का प्रतिबन्ध इस पर नहीं लगता। ये सब नियम और प्रतिबन्ध हैं और इनका महत्व भी कम नहीं है। पर इनका प्रभाव क्षेत्र बाह्य जगत है, आन्तरिक या चेतना जगत नहीं। जीवन को उसके चैतन्य प्रवाह के टुकड़ों में विभक्त कर उसे किसी व्यवस्था या प्रणाली में बाँधा नहीं जा सकता। ऐसा करना उसे झुठलाना है, उसके स्वरूप को नष्ट कर देना है चेतना प्रवाह में आदि मध्य अवसान बिन्दु नहीं हो सकते। क्रिया शान्त होती है, उसका अन्त निश्चित होता है। *एक बार हुई वह समाप्त हो गई* चाहे उसके परिणाम दीर्घ व्यापी क्यों न हों। उस पर समय का बन्धन होता है। चूंकि उसका अन्त निश्चित है, उसका आदि तथा मध्य भी निश्चित है। परन्तु हमारे अन्तर्जीवन की चेतना अनुभूति, भाव और आत्मनिष्ठ जीवन और उसके सम्बन्ध साहचर्य (association) के प्रवाह की समाप्ति कहीं नहीं है। ऐसा नहीं होता है कि उनकी अनुभूति हुई और समाप्त हो गई, तरंग उठीं, बुलबुले उठे और विलीन हो गए। किसी बाहरी रूप विधान की वश्यता उन्हें स्वीकार नहीं। यदि उन पर किसी बाहरी रूपरेखा का बन्धन है तो यह आप का दिया हुआ है। आपने अपनी सुविधा के लिए उन्हें एक ऐसा रूप प्रदान किया है जो उसका अपना नहीं है। प्लॉट, तथा शब्दों का माध्यम भी उसे स्वीकार नहीं शब्दों

के बन्धन को भी वे स्वीकार नही करते । वे अनुभूतियाँ और भाव शाब्दिक नहीं । वे शाब्दिकेतर (Non-verbal) भी हो सकती है । वे ऐसी भी हो सकती हैं कि केवल मात्र स्पर्शनी ही हों ।

चेतना-प्रवाह-पद्धति का इतिहास

इस चेतना प्रवाह (Stream of consciousness) शब्द का प्रयोग सर्व-प्रथम विलियम जेम्स ने किया था । अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स ऑफ साइकॉलोजी (१८९०) मे उसने लिखा था, "मस्तिष्क की प्रत्येक निश्चित मूर्ति उसमें स्वच्छन्दता पूर्वक प्रवाहित होने वाले जल प्रवाह के रंग मे डूबी रहती है । इस मूर्ति को सार्थकता और महत्व प्रदान करने वाली वस्तु यही ज्योतिवलय या कह लीजिए छायावेष्ठित ज्योति है जो संरक्षक भाव से सदा उसे घेरे रहती है । चेतना अपने समस्त छोटे-मोटे टुकडों मे कट कर उप-स्थित नहीं होती, इसमे कहीं जोड नहीं, यह प्रवाहमयी होती है । इसे हमे चेतना के विचार या आत्मनिष्ठ जीवन का प्रवाह ही कहना चाहिए ।[१] आलोचना के क्षेत्र मे इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मिस डॉरिथी रिचर्डसन के उपन्यास पॉइन्टेड रूफ, (Pointed Roof) १९१५ की चर्चा करते समय मिस सिन्क्लेयर ने किया था । इस उपन्यास की नायिका मेरियम हडसन है । कथाकार की ओर से कहीं भी विश्लेषण करने, टीका टिप्पणी करने या व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं हुआ है । मेरियम की चेतना के क्षण एक-एक कर अथवा परस्पर सम्मिलित होते हुए बहते चले जा रहे है । चेतना के क्षण को खींच कर इतना बढ़ाया गया है कि वे टूटने पर आ गए हैं, भावों से प्रकंपित हो रहे है ...... कोई ड्रामा नहीं, किसी परिस्थिति का चित्रण नहीं । बस जीवन है जो बहता ही चला गया है । मेरियम का चेतना प्रवाह आगे प्रवाहित होता गया है । आगे चलकर जेम्स ज्वायस और विर्जीनिया वुल्फ के उपन्यासों मे इस पद्धति के चरम स्वरूप के दर्शन होते है ।

इन लोगों के उपन्यासों मे जीवन के मानसिक आन्तरिक जीवन प्रवाह के सांवेदनिक इन्द्रिय वेदना संस्कार के विशुद्ध रूप के चित्रण का प्रयत्न हुआ है । उन्हे किसी कल्पनात्मक या बौद्धिक साँचे मे, मोल्ड (Mould) या पेटर्न (Pattern) मे बैठा कर देखने का प्रयत्न नहीं है । स्नायु के विशुद्ध प्रकम्पन को ही पाठक के स्नायु की तरंगों मे मिला देना है । वस्तु के उस विशुद्ध रूप को उपस्थित करना है जिसमें वह कुछ दूसरी न बन जा कर अपनी विशुद्ध सत्तात्मक रूप मे अवस्थित रहती है । परिणाम यह होता

है कि कोई समाहारक तत्व रह नहीं जाता। कोई अवधान केन्द्र का प्रतिबंध नहीं रहता, कोई व्यापकत्व नहीं रहता, सबको घेर रखने वाला विजन दूर हो जाता है। अत पहले की निराधृत, छोटी-छोटी, दुबकी पड़ी रहनेवाली उपान्त भावनाएँ प्रमुख हो उठती हैं। जिन्हें हम पहले अवगतियाँ कह कर टाल देते थे, चित्र में पड़ा हुआ बेकार फालतू निरर्थक धब्बे समझ कर छूते भी नहीं थे वे ही अब प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेते हैं। यदि अगुली से डोरे में एक ठीकरा बाँधकर नचाइए तो केन्द्र की केन्द्रतानुगामी शक्ति उसे सदा अपनी ओर आकर्षित करती रहेगी और वह ठीकरा वृत्त बनाता हुआ घूमता रहेगा। उसके अन्दर एक सीध म भाग भाग जाने का (Fly off at tangent) प्रेरणा तो बार बार उठती है पर इस पर केन्द्र का नियन्त्रण रहता है और वह अपने वास्तविक रूप में न प्रकट हो वृत्ताकार रूप धारण करती है जो उसका वास्तविक रूप न होकर विकृत रूप ही है। आज के *उपन्यास में इस विकृताकृति की नहीं पर विशुद्धाकृति की माँग वढ रही है।* इसी माँग को पूरी करने के लिए उपन्यासों ने चेतना प्रवाह को अपनाया। हृदय की धड़कन ने, भाव घनत्व के लय युक्त उत्थान और पतन ने, तार के प्रकम्पन ने उपन्यास में स्थान पाया।

उपन्यास को देखने से एक ऐसे तार की कल्पना हो आती है जिसे छेड़ दिया गया हो और उसी के प्रकम्पन-लहरों के इर्द गिर्द बालू के कण कुछ अव्यवस्थित रूप से एकत्र हो गए हो। मैंने कहा अव्यवस्थित। पर यह नाप जोख कर चलने वाली बौद्धिक दृष्टि से ही। नहीं तो उनमें अपनी आन्तरिक व्यवस्था तो है ही चाहे वह हमारी आँखों म भले ही खटके। पर वे तो वहाँ बालू के घनीभूत धब्बे की तरह पड़े हैं, घर तो नहीं बनाते। हमारी बुद्धि को तब तक सतोष कहाँ जब तक वह बालू का घर ना बना ले। आज के उपन्यास बालू को बालू ही रहने देंगे। उसे वे थोड़ा एकत्र कर दें पर

---

*Every definite image in the mind is steeped and dyed in the free water that flows round it The significance, the *value of the image is all in this halo* or penumbra that surrounds and escorts it consciousness does not appear to itself chopped up in bits ... .. It is nothing jointed it flows ...Let us call it the stream of thought of consciousness or of subjective life

आगे बढ़ना वे अपने कर्त्तव्य क्षेत्र से बाहर की बात समझते हैं। इस तरह की प्रवृत्ति को मनोविज्ञान का ही नहीं आधुनिक भौतिक विज्ञान का भी समर्थन और प्रोत्साहन मिल रहा है। पूर्व का भौतिक विज्ञान द्रव्यों के परिमाणुओं को एक ठोस साकार वस्तु समझता था पर अब उन्हे लहरों की गति के रूप मे देखता है। पहले का द्रव्य अब कुछ विद्युत तरंग एलेक्ट्रोन और प्रोटोन का वात्याचक्र बन कर रह गया है। यही विचारधारा है जो आज की उपन्यास कला को चेतना प्रवाह मे निमग्न हो जाने के लिए पीठ ठोक रही है। उपन्यास कला ने मानव की आन्तरिक गहराई मे प्रवेश करने पर वहाँ चेतना के प्रवाह की उपलब्धि की और इसके रूप मे से उसे अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए एक नूतन साधन हाथ लगा। अंग्रेजी के उपन्यासकारो ने इससे पर्याप्त लाभ उठाया और इसका प्रयोग किया। यह प्रभाव हिन्दी के उपन्यासकारो पर भी पड़ा है। इस दृष्टि से श्री प्रभाकर माचवे का छोटा उपन्यास 'परन्तु' उल्लेखनीय है। प्रारम्भिक पंक्तियो मे ही एक प्रोफेसर राजनीति पर व्याख्यान दे रहे हैं। पर उनकी कक्षा के एक विद्यार्थी अविनाश का मन न जाने कहाँ-कहाँ उड रहा है। अविनाश का अन्तर्मन अपने गाँव मे लौट चला। वे बचपन के दिन ठाकुर ...दा के दिन, पुकूर की सीढ़ियों पर चोरी चुपके पढ़ा हुआ बङ्किम बाबू का "कृष्णकातेर बिल", और उसमे नायक नायिका के बेहोश होने पर कैसे होश लाता है...... 'शरत् बाबू के "स्वामी" मे वह फूल तोडने का प्रसङ्ग...... .... "संन्यासी" उपगुप्त" रवि बाबू की बसन्त सेना ....ही, साहित्य का यह रईसी विलास से भरा जर्जर अङ्ग " . . शृंगार और अनन्त यौवना उर्वशी"... ..... ।।सेसर।। कानों मे प्रोफेसर की आवाज की भनक . ..... "सूटेडन जर्मनी का चेकोस्लोवाकिया मे दावा' . "पथ का दावा ... "दावेदार नहीं . " दावा' . 'यानि दावानल दहन करिया विश्व, आमि जहन्नुमेर आगुने बशिया हाशी, पुष्पेर हाशी'' पुष्पा ।। पुनः अंतर्चेतना का अबाधित प्रवाह। पुष्पा या शमा ? हेम ? गाँव के बचपन की साथिनें खेल। एकत्र अध्ययन। पुष्पा "शरीर" थी हेम आत्मा ... "परन्तु वेशभूषा शमा की ही अच्छी थी परन्तु हेम की सांवली मुद्रा मे वे रसभीनी आँखों से ढुलक पड़ते मन्त्र मुग्ध कर डालने वाले कामरूप के तान्त्रिक का अज्ञात जादू मानों उसमें बसा हो .....अब भी स्पष्ट याद है, वह बड़ी-बड़ी आँखों से ढुलक पड़ने वाले आँसू और सच भी तो था, उसकी माँ को मुझे इस तरह डांटना क्यों चाहिए था, उसे क्यों न बुरा लगा होगा, क्या मैंने

पाप किया था ? पाप   ॥ सतर्क ॥ देखें अरविन्द घोष पाप के विषय में क्या कहते हैं ? सामने रखी हुई अरविन्द की पुस्तक पढ़ने लगता है" अज्ञेय के उपन्यास में भी चेतना के अबाधित प्रवाह का रंग कम नहीं है पर यह 'परन्तु' तो चेतना का अबाधित प्रवाह ही है। इस दृष्टि से 'परन्तु' हिन्दी का अकेला उपन्यास है।

आधुनिक उपन्यास की आत्मनिष्ठता (Subjectivity) उपन्यासकार अपने उपन्यास का महत्वपूर्ण अंग हो गया है, वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने वाला तटस्थ प्रेक्षक मात्र नहीं।

(T W Beach) महोदय ने अपनी पुस्तक (Twentieth Century Novel)[१०] में बड़े ही गंभीर और विद्वतापूर्ण रूप से प्रतिपादन किया है कि ज्यों-ज्यों उपन्यासकला का विकास होता गया है त्यों त्यों उपन्यासकार की छाया उपन्यासों से दूर होती गई। पहले उपन्यासकार पद पद पर किसी न किसी बहाने, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए, घटनाओं की शृंखला जोड़ने के लिए, किसी रहस्य के उद्घाटन करने के लिए उपन्यास के रंग मंच पर आता जाता रहता था। पर ज्यों ज्यों उपन्यास कला में प्रौढ़ता आती गई अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आती गई। वह उसकी उंगली छोड़ कर बाहर आती गई और स्वयं बोलना प्रारम्भ किया। थैकरे के (Vanity fair) में पाठकों के हृदय को सबसे अधिक विक्षुब्ध करने वाली वस्तु है तो यही कि वह समय कुसमय बिना देखे समझे ही (Dear readers) (प्यारे पाठकों) के सम्बोधन के द्वारा कुछ कहने लगता है और पाठकों के ध्यान की कल्पना का संसार चूर चूर हो जाता है, मानो लेखक ने आकर उनको सुखद स्वप्नों के भ्रम से बाहर निकाल वास्तविकता के पथ पर पटक दिया हो। आज भी उपन्यास कला अनेक प्रयोगों के बाद यही कर रही है। आज के भी उपन्यासकार विशेषतः नूतन पद्धतियों (जिनकी चर्चा हो रही है) के पालन करने वाले अविरोध के साथ अपने उपन्यास में प्रवेश करते हैं। परन्तु वह प्रवेश उनकी कला का संश्लिष्ट अंश हो गया है। आज का जागरूक औपन्यासिक अपने उपन्यास का अंश मात्र ही नहीं पर एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंश है। पर सबसे आश्चर्य की बात यह है कि नए उपन्यासकारों का इस्तक्षेप", बार-बार सामने आना ही नहीं, परन्तु धरना देकर उपन्यास में बैठे रहना हमें विशेष खटकता नहीं। इसका कारण क्या है?

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के सामने सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य का तात्विक, वास्तविक स्वरूप क्या है ? वह क्या है ? उसके स्वरूप की सीमा क्या है ? क्या वह स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे देखा जा सकता है ? बाहर से, शेष संसार के अनेक वस्तुओं के सम्पर्क से उसमे जो निरन्तर परिवर्तन होता हैं, उसकी चेतना पर जो आघात होते रहते है, उससे अलग कर मानव देखा जा सकता है ? यह स्वयं है या अपने सम्पर्क मे आये अनेकों मनुष्यों के सहयोग से, उनके व्यक्तित्व के टुकड़ों से निर्मित ? अतः उनको भी अपने अन्दर समाहित कर उनको भी ढोते चलने वाला व्यक्ति है ? जेम्स ज्वायस तथा विर्जिनिया वुल्फ के उपन्यासों के स्वरूप को देखने से तथा यत्र-तत्र उनके प्रगटित विचारों को पढने से इसका स्पष्ट उत्तर मिलता है कि मनुष्य का कोई भी क्षण उसके अतीत और उसकी वर्त्तमान अनुभूतियों का पुंजीभूत रूप है। मनुष्य का प्रत्येक क्षण मानो व्यक्ति से कहता है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

इन औपन्यासिकों से ऐसे सैकड़ों नहीं, हजारों ऐसे वचन उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे इस मत का समर्थन होता है।

अन्त मे चलकर यह दृष्टिकोण इस विशुद्ध आत्मनिष्ठता (Pure subjectivily) का रूप धारण कर लेता है कि संसार मे सब कुछ आत्म-निष्ठ (Subjective) है अर्थात् वैसा ही है जैसा हम अनुभव करते हैं। हमारी अनुभूतियों से पृथक वह है ही नहीं। यहाँ पर अनायास ही भारतीय दर्शन के मीमासा की ज्ञातता और नैयायिकों के अनुव्यवसाय का प्राचीन झगड़ा स्मरण हो जाता है। अनुव्यवसाय भी "अयं घंटः" इसी ज्ञान से उत्पन्न होता है। ज्ञातता का जन्मदाता भी वही है। पर जहाँ ज्ञातता घट मे रहने वाला धर्म है वहाँ अनुव्यवसाय आत्मा में रहने वाला धर्म है। एक वस्तु-निष्ठ है दूसरा व्यक्तिनिष्ठ या आत्मनिष्ठ। एक का दृष्टिकोण आब्जेक्टिव है और दूसरे का सब्जेक्टिव। आज की औपन्यासिकता नैयायिकों के अधिक सन्निकट है। ऐसे दृष्टिकोण के कारण उपन्यास के एक पात्र को दूसरे से, पृथक करना संभव नहीं क्योंकि वह तो दूसरे को जो दीख रहा है उससे तो अलग है ही नहीं, द्रष्टा से दृश्य पृथक कैसे हो सकता है। इतना ही नहीं इसी सूत्र को पकड़ कर आगे चलने पर आप पायेंगे कि उपन्यासकार से भी

पात्रों को अलग करना संभव नहीं। उपन्यास जो कुछ है उनकी रचना है, प्रतिबिम्ब है। अतः उपन्यासकार अपना स्थान को किस तरह लोप सकता है। यातु प्रश्न था, यदि व्यक्ति का वेश छोड़ सकता है। पहले के उपन्यासों में तो दुनिया साथ-साथ चलता चलता था। एक उपन्यास की दूसरे उपन्यासकार की। उनका कार्य स्पष्ट लक्ष्य रहता था। कोई व्यक्ति कर बुद्धि पूर्वक उपन्यास में प्रवाहित भाषा को दूर में देना करता था और व्यापार एक विशिष्ट रूप धारण करके उन में नहीं था, प्रमुख के साथ रूप में एक मर्यादा होती थी, सारी घटनाएं कारण और कार्य की शृंखला में बंधी दीख पड़ती थी। उपन्यासकार कभी अपनी कल्पित दुनिया से उपन्यास की वास्तविक दुनिया में आता जाता रहता था। पर उसका यह आवागमन आँखों को खटकता था। एक देश का प्राणी अगर दूसरे देश में मनमाने रूप में प्रवेश करे यह खटकने वाली बात भी थी। परन्तु उपन्यास कला अब मानस की गहराई में पैठ गई है, चेतना प्रवाह पद्धति ने वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों के अन्तर को मिटा दिया है। उपन्यासकार अब दूसरे संसार का प्राणी नहीं रह गया है। उपन्यास उसका अपना संसार है। यदि वह वहाँ बराबर परिभ्रमण करता रहता है तो यह उसका अधिकार ही है। इस प्रसंग में दो आलोचकों के कुछ भाग इतने *प्रमुख रूप में संगत* हैं कि यहाँ की उल्लिखित बातों के मर्म को स्पष्टता पूर्वक हृदयंगम करने के लिए उन्हें उद्धृत करना ही होगा।

"मैं निवेदन कर ही चुका हूँ कि आत्मनिष्ठता आधुनिक कथा साहित्य के विशिष्टताओं में से एक है। फिल्डिंग और थैकरे अपने वृत्तान्त विवरणों को व्यक्तिगत टिप्पणियों की बूंद से सदा सुसज्जित करते रहते थे। परन्तु तिस पर भी उनकी रचनाएँ गम्भीर अर्थ में निर्वैयक्तिक ही कही जाती हैं। उनमें कलात्मक नहीं तो एक दार्शनिक तटस्थता अवश्य वर्तमान थी। यही कारण था कि वे इतनी स्वतन्त्रता से अपनी कथाओं में प्रवेश कर सकते थे। और नहीं तो इसीलिये कि उनकी स्थिति निश्चित रूप से कथा के बाहर थी और वहीं से वे सारे समारोह का नियन्त्रण करते थे। आज के साहित्यिक जो दो दर्प मूलक कारण के आधार पर पाठक के *सम्पर्कत्व या निकटवर्तित्व* का परित्याग कर देते हैं उनसे अपनी सामग्री की पकड़ उनमें अधिक थी। आज का युग सकुलता और विसराहट का है और ऐसी अवस्था में तटस्थता और यथार्थता की वस्तुनिष्ठ पकड़ दिन दिन कठिन होती गई है। कलाकार को बाध्य होकर अपनी चेतना की गूढ़ता और रहस्यमयता की ओर झुकना

पड़ता है। यही एक वास्तविकता रह जाती है जिसके बारे मे वह थोड़ा निश्चित और आश्वस्त हो सकता है। नहीं तो बाहर सभी चीजे अस्त-व्यस्त हैं,*[११] छिन्न-भिन्न हैं, Confused है। उनके बारे मे कलाकार आश्वस्त होकर कहे भी क्या? एक ही चीज के बारे में वह आश्वस्त है। अपनी अनुभूति का संसार और उसी का ही वह निर्माण करेगा।"

इसी तरह के विचार एक दूसरे आलोचक ने विर्जिनिया वुल्फ के उपन्यास के बारे मे प्रकट किया है। वे कहते है "विर्जिनिया" वुल्फ के पात्रों के संबंध सूत्र अपने स्रष्टा के साथ स्पष्ट है। पात्र उसी की वाणी मे बोलते है, उसी के ढंग पर सोचते हैं, लेखिका के रूप मे जहाँ वह अपने उपन्यास मे प्रवेश करती है तो अनधिकार चेष्टा सा नहीं मालूम पड़ता। वहाँ रहने का उसे अधिकार है। उसके उपन्यास ऐसे हैं जिनमें लेखक शामिल रहता है। वह बार-बार यह प्रदर्शित करने के लिए प्रयत्नशील दिखलाई पड़ती है कि उसका प्रत्येक पात्र उसे दूसरे देखने वाले पात्रों का प्रोत्क्षेपण मात्र है। जहाँ लेखिका ही देखने वाली भी हो वहाँ उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि

---

*The subjective approach I have already remarked, is one of the distinguishing signs of the modern fiction. Although Fielding and Thackeray constantly embroidered their narrative with personal comment, their work is in a deeper sense, highly impersonal. They preserved a philosophical if not an artistic detachment, and could enter their stories so freely if only because they so definitely stood outside them and commanded the show. They had a far firmer grasp of their material than most contemparies who, on esthetic ground fastidiously eschew their intimacy with the reader. For in complexity and confusion of the modern word such detachment and such a light hold of objective reality becomes increasingly difficult. The artist is driven back upon the individual consciousness as, with all its intricacies and mystriousness, the most solid reality he can be sure of: and finally he is often driven back upon himself.

है कि बाह्य उद्दीपन (Stimulus) और आंतरिक प्रतिक्रिया (Response) में आनुपातिक अनुबन्ध हो ही। संभव है कि बाहर का बड़ा ही महत्वपूर्ण घटना हमारे मस्तिष्क का ऊपरी सतह को थोड़ा सा सहला ही कर रह जाय। नैपोलियन की विशाल सेना जला, अग्निदरलीन को रौंदती हुई मास्को में पहुँच जाय पर जाने आस्टिन के कानों पर जूं तक नहीं रेंगे। भारतवर्ष दो टुकड़ों में बँट जाय, बंगाल का अकाल लाखों व्यक्तियों को निगल जाय, देश विभाजन से उत्पन्न साम्प्रदायिकता राजनीति के क्षेत्र में भूकम्प पैदा कर दे, बापू को गोलियों का शिकार बना दिया जाय पर अज्ञेय और जैनेन्द्र के कथाकार में जरा भी स्पन्दन न हो। पर महज एक छोटी सी घटना, उदाहरणार्थ एक व्यक्ति मेज पर बैठ जाना और मेरी ओर मखि यार को थोड़ा सा खिसका देना मेरे हृदय के शान्त सरोवर में वैसी लहरें उठा सकता है, जिनकी ध्वनि और प्रतिध्वनि मेरे हृदय के जीवन पर्यन्त गूँजती रहे। दुनिया के लोग कहते ही रह जायँ कि 'कैसे छोटे नरन तें सरत बड़न के काम" तब तक हमारा मनोविज्ञान उपन्यास के पात्रों के मानसिक जगत में चूहे के चाम से दमामा मढ़कर उसके निनाद से सारे वातावरण को गुञ्जित कर दे। वर्जीनियाँ वुल्फ का 'Waves' नामक उपन्यास में और कुछ नहीं केवल छः पात्रों की निर्जनोक्तियाँ तथा हृदयोद्गार का प्रवाह ही है।

मनोविज्ञान के आग्रह के कारण भाषा में परिवर्तन

चेतना प्रवाह वाले उपन्यास में पात्रों के अन्तर्जगत का जिस रूप के चित्रण का प्रयत्न होता है उसकी अभिव्यक्ति के लिए साधारण भाषा उपयोगी नहीं हो सकती। रूढ़ि या परम्परा के संकेत पर प्रचलित तथा अमर कोष के अर्थ को ढोने वाली भाषा हमारे दैनिक व्यवहार के लिए भले ही उपयोगी हो, मस्तिष्क के सामाजिक स्तर की विवृत्ति के लिए काम की हो क्योंकि उस स्तर के सारे व्यापार और हलचल शाब्दिक होते हैं। शब्द जाने-पहचाने होते हैं, रूढ़ होते हैं, सांकेतिक होते हैं, कन्वेन्शल (Conventional) होते हैं। पर ये शब्द मानव मस्तिष्क के वैयक्तिक स्तर के लिए वर्णन सक्षम कैसे हो सकते हैं, जिसकी गहराई में भावों की निर्झरणी की निर्बाध और शब्दातीत धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। अतः, ऐसे उपन्यासों की भाषा भी दूसरी ही होनी चाहिए। एक विचारक के शब्दों में There are not words enough in all Shakespeare to express the nearest fraction of a man's experience in an hour[१२] अर्थात् शेक्सपीयर के पूरे साहित्य को एकत्र करने पर भी शब्दों की संख्या उतनी नहीं हो सकेगी कि

मनुष्य के एक घंटे की अनुभूतियों के लघु अंश को भी ठीक से अभिव्यक्त कर सके ? यही कारण है कि इन उपन्यासों की भाषा में साधारण वाक्य विधान (syntax) से काम नहीं चलता, भाषा बायीं से दाहिनी ओर एक सीध में नहीं चलती, नये अभिव्यंजक ध्वनि अनुकरणात्मक शब्दों का निर्माण किया जाता है। शब्दों को जहाँ से चाहे तोड दिया जाता है। एक शब्द के एक अंश को दूसरे शब्द के अंश के साथ जोड़कर विचित्र मल्हम तैयार किया जाता है। कभी-कभी शब्दों को विकृत तो नहीं किया जाता पर वाक्यों से, पैराग्राफ से अथवा अध्याय से मिला दिया जाता है जिसमे कोई बौद्धिक साहचर्य तो नहीं मालूम पड़ता पर हमारे भावोन्माद की अवस्था मे जो एक सूक्ष्म साहचर्य सूत्र होता है उसे पकड़ने की कोशिश की जाती है।

उदाहरण के लिए जेम्स ज्वायस की वर्क इन प्राग्रेस (Work in Progress) नामक पुस्तक से उस वाक्य की ओर संकेत किया जा सकता है जहाँ एक पात्र को सुरा के प्रभाव में आकर बातचीत करने के ढंग को यह कहकर अभिव्यक्त किया गया है कि He was talking alcoherently[१३] है। यह alcoherently शब्द कोष मे नहीं पाया जा सकता। परन्तु यह alcohol और Coherent इन दोनों शब्दों के अंशों का सम्मिश्रण है जो तत्स्थानीय और तात्कालिक परिस्थिति को अधिक सजीव रूप मे अभिव्यक्त करने वाली अभीष्ट-सिद्धि को ध्यान मे रख कर गढ लिया गया है। 'उसी पुस्तक मे एक स्थान पर मक्खियों की भिनभिनाहट का वर्णन करते हुए कहा गया है कि Flies go Rotandrinking round his scalp[१४] इस वाक्य में Rotandrinking शब्द में कुछ भी स्पष्टता नहीं। हाँ, इसके पढ़ने से मदोन्मत मक्खियों का ढुलमुल चित्र उपस्थित अवश्य हो जाता है। पर ज्वायस का उद्देश्य इतना ही भर नहीं है। वह अपने पात्र की अन्तर्चेतना मे प्रवेश कर वहाँ की स्थानीय स्मृतियों (Local memories) का भी चित्रण करना चाहता है। बात यह है कि यह वर्णित पात्र डबलिन का रहने वाला था और जिस अश्व प्रतियोगिता का वर्णन हो रहा है उसका मैदान Rotanda नामक स्थान में था। अतः एक डबलिन निवासी के लिए अपने परिचित स्थान के साथ बड़ी ही मधुर स्मृतियाँ गुँथी हुई हैं। इन स्थानों के नामोच्चार मे ही उसके लिए एक मधुर संगीत है। पात्र के अचेतन मे चिपटी हुई इसी भावना को ज्वायस आपके सामने मूर्तिमान करना चाहता है मानों एक मनोविश्लेषक अपनी उपयुक्त संसूचनाओं द्वारा अचेतन गुत्थियों को चेतन क्षेत्र मे लाने का प्रयत्न कर रहा हो।

इस तरह के शब्दों के ऊपर विचार करते समय L. A. G. Strong ने जेम्स ज्वायस पर लिखते हुए अपने एक स्वप्न का उल्लेख किया है। एक बार स्वप्न में देखे विज्ञापन के दो शब्द Higgerth Mizzers जागने पर बार बार उन्हें याद आने लगे। पहले तो उन्हें इसका कोई भी स्पष्ट अर्थ नहीं मालूम हो सका पर बाद में कुछ संकेत सूत्रों के आधार पर पता चला कि यह तीन शब्दों Harry mizles और Mistor तथा इनसे एक साथ लिपटी स्मृति का सम्मिश्रण था। पहला नाम एक मुक्केबाज (बाक्सर) का था जिसके खेल वे कभी देखा करते थे, दूसरा नाम एक घोड़े का था जिस पर वे कभी सवारी किया करते थे। इस घोड़े के साथ उनके कुछ भावात्मक संबंध भी थे। दक्षिणी Dartmoor में सब से ऊँची पहाड़ी का नाम Great Mistor है, जिस पर चढ़कर कितना ही बार उन्होंने अपने जीवन की स्वच्छन्द और सुखमय घड़ियाँ व्यतीत की थीं। उसको कभी कभी High Mistor भी कहा करते थे। उस स्थान के लोग अपने उच्चारण की विशेषता के कारण Great को Gret कहते थे तथा Height में एक और एच (H) जोड़कर Heighth के रूप में उच्चारण करते थे। वह घोड़ा एक प्रतियोगिता में सफल हुआ, उस मुक्केबाज का नाम भी अखबारों में मोटे मोटे अक्षरों में प्रकाशित हुआ था। इतनी बात जान लेने पर स्थान के विज्ञापन के शब्द Higgerth Mizgers[१५] की बात समझने में कठिनाई नहीं होगी। इस तरह की भाषा के प्रयोग से युलिसिस का अधिकांश भरा पड़ा है जिसके अर्थ का समझना तो कठिन है पर पूरा प्रसंग को पढ़ने के पश्चात् एक चित्र स्पष्ट होता अवश्य नजर आता है। Thonthorstrok, Sprizzling, Rhunerhinersles, Polvtizzy boislerovs, Hankinhunkn, Inklesspill Amboidipotes Tipperuhry[१६] इस तरह की भाषा का प्रयोग उपन्यास की नवीन वस्तु है। और यह है चेतना प्रवाह का प्रसाद। इस चेतना प्रवाह को तो युलिसिस के अन्तिम भाग में देखिये जहाँ के ४२ पृष्ठों में एक ही वाक्य है बिना किसी तरह विराम या अर्द्ध विराम के मानों कोई बरसाती नदी बड़े बड़े पर्वतों और जंगलों को रौंदती हुई बह गई हो। यह स्वप्नों की भाषा है—जो मुख्यतः सांकेतिक होते हैं।

हिन्दी में किसी साहित्यिक ने चेतना प्रवाह में अपने को इस तरह बहने नहीं दिया है। और यही कारण है कि हिन्दी उपन्यासों में भाषा इस तरह तोड़ी मरोड़ी नहीं गई है। हाँ, जैनेन्द्र के उपन्यासों में कहीं-कहीं पर पूरे नाम नहीं दिये गये हैं। अथवा ! अथवा ऐसे ऐसे चिह्नों का

प्रयोग अवश्य किया गया है, कभी-कभी उन्होंने समन्दर, मन्दर, इन्ने, विन्ने, ऐसे-ऐसे व्याकरण विरोधी शब्दों का भी प्रयोग किया है। पर जेम्स ज्वायस के ऊँट को निकल जानेवाला पाठक जैनेन्द्र के मच्छर से घबड़ाने वाला थोड़े ही है। A. A. Mendilow ने लिखा है "वे भाषा के ढाँचे को छिन्न-भिन्न कर उसमें सुधार करते हैं। उनकी भाषा में आवृत्तियाँ होती है, वह वक्र गति से चलती है, अनेक शब्दों के अंशों को जोड़कर एक नूतन शब्द गढ़ लिया जाता है, नये सिक्के प्रचलित किये जाते हैं। अपूर्ण प्रसंगों की ओर संकेत मात्र कर दिया जाता है, भाषा भावप्रवण शब्दों और उत्तेजक चित्रों की भरमार करती रहती है, वे हमें निस्तब्ध कर देते हैं, सम्मोहित कर देते हैं और आकारिक तर्क की प्रणाली से झकझोर कर निकाल देते हैं। उनका लक्ष्य होता है कि संवेदना की विचार धारा जो हमारी चेतना को आप्लावित कर देती है पाठक उसका अपनी सहज प्रतिभा के द्वारा पुनर्निर्माण करें। ······ वे सदा वैयक्तिक विशिष्टता पर जोर देते हैं चाहे सामान्यीकृत लोकग्राह्य शब्द प्रतीकों के प्रयोग से प्रेषणीयता लाने में जो एक व्यवहारिक सुविधा होती है उसका कुछ अंश में बलिदान ही क्यों न करना पड़े।[१७] मैं उसे उपन्यासों के क्षेत्रों में व्यक्ति की, उसकी आत्मनिष्ठा की, उसके मनोविज्ञान की विजय ही कहूँगा।

मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न स्तरों पर चलती रहनेवाली भाव धाराओं को एक साथ ही चित्रण करने की प्रवृत्ति चेतना प्रवाह पद्धति का एक रूप है

हमें यदा-कदा ऐसे मनुष्य की कथा सुनने को मिलती है जिनका मस्तिष्क शतावधान होता है अर्थात् उनका मस्तिष्क इतना तेज होता है कि वे एक

---

[१७] They explore the possibilities of linguistic illusion to counteract the discontinuity of attention and thought and conventional expression. They break and reform the pattern of language with repetitions and ellipses, portmanteaux words and new coinages, half-seized allusions, emotive words, evocative images, they stun us, hypnotise us, jolt out of the grooves of the formal logic, and so aim at inducing in us the recreation by the intuition of the queer flux of sensations and perceptions that, without pause, floods, our mind.

हो समय में अधिक बातों का ध्यान रख और कर सकते हैं। कहा जाता है कि १२० पं० अधिकांशतः [illegible] में। मानो उनके मस्तिष्क में कितने ही खाने थे और वे सब एक साथ अलग अलग काम कर सकते हैं। जब से कथा साहित्य ने मनोविज्ञान से सम्पर्क बढ़ाना प्रारम्भ किया है, उसमें यथार्थित चेतना प्रवाह और स्वगतोक्ति पद्धति का प्रसार बढ़ा और तब से मानव के मस्तिष्क के अनेक स्तरों को एक साथ क्रियाशील दिखलाने की प्रवृत्ति हिन्दी उपन्यासों में बढ़ने लगी है। अंग्रेजी के आधुनिक उपन्यासों की बात छोड़ दीजिए और [illegible] और अज्ञेय की। इनमें तो मानव मस्तिष्क के इस चमत्कार को दिखलाने वाले प्रसंग तो मिलते ही हैं। भगवती प्रसाद वाजपेयी ने हिन्दी में बहुत से उपन्यास लिखे हैं। उनमें मनोवैज्ञानिकता का कोई आग्रह नहीं है। पर फिर भी उनके "चलते चलते" नामक उपन्यास का एक छोटा प्रसंग देखिए। "अब यद्यपि हम लोग अपना-अपना सामान खरीदने लगे थे पर बाबा साहब बराबर कुछ न कुछ कहते जा रहे थे   इतना जल्दी अपने इरादों को बदल देना मैं नहीं समझता कोई अच्छी बात है   यह देखो सड़ा हुआ आलू है निकालो इसको   बल्कि मैं तो यही समझता हूँ आदमी के हर इरादे की कीमत है   ये छिमी हो आधा सेर और देना, अरबी नहीं चाहिए। आदमी का हर इरादा एक सिगनीफिकेंस रखता है   अठन्नी ठीक है। न चले लौटा देना।" मानस के एकाधिक स्तर पर क्रियाशील रूप के वर्णन का एक छोटा उदाहरण है। ऐसे अनेक प्रसंग इस उपन्यास से उद्धृत किये जा सकते हैं।

कथा तथा कालक्रम को उलट पुलट देने वाली पद्धति

तीसरी पद्धति को टाइम शिफ्ट (Time Shift) कहा जाता है। इसी को कथा क्रमोच्छेदक पद्धति (Chronological looping method) भी कहते हैं। कारण कि इसमें कथा के विकास के स्वाभाविक क्रम अथवा पात्रों के चरित्र विकास की सीधी गति को उलट पुलट कर उपस्थित किया जाता है। पात्रों के कार्य को, उनके विचार को तथा उनकी भावनाओं को उस रूप में प्रकट नहीं किया जाता है कि पता चले कि वे एक स्थान पर आकर अपने विकास क्रम की एक मंजिल पार कर चुके। अब इतनी दूरी तय करनी रह गई है, शेष को वे पीछे छोड़ आये। उनके उपन्यास की अंतिम पंक्ति तक पाठक यह निश्चित रूप से कह कर सन्तोष की सांस नहीं ले

सकता कि कहानी अब इस विन्दु तक पहुँच गई। जिस तरह सड़कों पर मील के पत्थरों से (Mile stones) से यात्रा पार की गई दूरी का पता पा कर यात्री आश्वस्त होता हुआ चलता है जैसा कि पहले के उपन्यासों में होता था। उस तरह की भावना इन उपन्यासों के पढने पर नहीं होती। इस पद्धति के प्रयोग का सर्वोत्तम और स्पष्ट उदाहरण कोनार्ड के दो उपन्यासों लार्ड जिम (Lord Jim) और चांस (Chance) में पाया जाता है।

लार्ड जिम नामक उपन्यास की कथा संक्षेप मे यों है। जिम एक जहाज पर काम करने वाला नौ सेना का वहादुर और कर्तव्यनिष्ट सैनिक है। परिस्थितियों की विवशता के कारण उसे अपने अधिकारियों के संघर्ष मे आ जाना पड़ता है। उसे विद्रोही कह कर पकड लिया जाता है और एक अपराधी के रूप में उसे न्यायालय की कार्यवाइयों का सामना करना पडता है। वह पदच्युत कर दिया जाता है, उसे अनेक प्रकार से अपमान का भाजन होना पड़ता है। पर अन्त में उसकी कर्मठता, परिश्रम और दृढ़ता सब पर विजय पाती है और वह अपनी खोई हुई पद प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है। यही कथा है। पर इसे प्रकट करने में कोनार्ड ने अनेक कौशल से काम लिया है जिनका यहाँ उल्लेख करना संभव नहीं। हम उसी की चर्चा करेंगे जिसका सम्बन्ध उससे है जिसे हम (Chronological Loop holing) अर्थात् कथाक्रम की तोड़ मरोड़ कहा है। जिम के विद्रोही और अपराधी प्रमाणित हो जाने पर उसे कहाँ-कहाँ और किन-किन अवस्थाओं में काम करना पड़ता है इसके वर्णन से उपन्यास आरम्भ होता है। उसके बाद कथा मुड़ जाती है और विद्रोह की पूर्व की जिम की जीवनी की कथा कहने लगती है। चौथे अध्याय में हम न्यायालय का दृश्य देखते हैं जहाँ पर विद्रोह के मामले की जाँच हो रही है। यहीं पर मारलो नामक एक व्यक्ति से पाठकों का परिचय होता है।

उसके बाद मारलो के मुख से विद्रोहियों की उस समय की वाह्य मुखाकृति का वर्णन पढते हैं जिस समय वे प्रथम विचारार्थ न्यायालय के सामने उपस्थित हुये थे। साथ ही साथ एक जर्मन पोताध्यक्ष से उस झड़प का वर्णन है जो नौ यात्रा के प्रारम्भ होने के पूर्व हो गई थी। बाद में हम न्यायालय की दृष्टि के सामने उपस्थित होते हैं और न्यायालय की आत्म हत्या की ओर उत्सुकता से देखने लगते हैं। तब एकाएक एकाधिक अध्यायों में जिम मारलो से पोत विद्रोह की कथा कहते हैं। यहीं पर उस फ्रांसीसी लेफ्टिनेन्ट के वर्तालाप की कथा है जो उसके और मारलो के बीच हुई थी[१८]........

आगे की रूप रेखा देखा देने की आवश्यकता नहीं। J W Beach महोदय ने जिनके आधार पर लार्ड जिम की रूप रेखा यहाँ पर दी गई है उस उपन्यास का एक ग्राफ बनाते हुए कहा है कि यदि कथा के स्वाभाविक विकास के क्रम को हम यों मानें A B C D E F G H I J K L M N O P Q R S T U V W X Y Z तो इस पुस्तक के अध्यायों के आधार पर वह ग्राफ यों होगा K L M P, W A E, B E A, G D, HJ, FE E F F F, T K I I, R I K L MN NQ QPO OP P, QP, P P, P, Q P P P Q, P Q R ZV VX S S, S TY, V, U, U, WXX ११ यदि कानार्ड के अन्य दो उपन्यास चांस और नास्ट्रोमो का देखा जाय तो उनकी कथा का विकास चित्र इसी गड्ड मगड्ड रूप में उपस्थित होगा। इसी तरह का और उपन्यास अभी हाथ में स्टेफन हडसन ने लिखा है जिसका नाम है Saga of Richard kurt।

इस तरह के उपन्यासों में अतीत की अपरिवर्तनीय दृढ़, स्थिर और निर्जीव सत्ता स्वीकार नहीं की जाती। समय के प्रवाह से अलग कट पड़े हुए पत्थल के रूप में अतीत को नहीं देखा जाता। अतीत है ही नहीं। जो कुछ है वह प्रवृद्धमान वर्तमान है जो पूर्वापर सब जगह सब ओर छाया हुआ है। इसमें घटनाओं को इस रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं जो वर्तमान और अतीत की पार्थक्य भावना को दृढ़ करता रहे। ऊपर हमने वर्तमान के ताने-बाने पर अतीत के पट को बुनने वाले उपन्यासकारों की चर्चा की है। यद्यपि उन्होंने प्रयत्न किया कि दोनों का पार्थक्य मिटे पर उन्हें सफलता मिली नहीं थी। उनमें भूत और वर्तमान का सम्मेलन जतुकाष्ठ न्याय[10] की याद दिलाता था, एक "वृन्तगतफलद्वय" न्याय की भावना नहीं जाग्रत करता जैसा कि कानार्ड के उपन्यास करते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि जीवन के निज सत् की सिद्धि के लिए जेम्स ज्वायस, विर्जिनिया वुल्फ इत्यादि औपन्यासिकों ने सतह के नीचे जाकर एकान्त साधना की। उसी अभीष्ट की उपलब्धि में कनार्ड ने भी अपने औपन्यासिक चित्तवृत्ति को नियोजित किया है पर इसके लिए उन्होंने पाताल में जाने की आवश्यकता नहीं समझी, उनके पैर इस बाह्य रंगमंच में ही जमे रहे। उन्होंने बाह्य निष्ठता (आब्जेक्टिविटी) को ही इस तरह ग्रहण किया, इतना नीचा कि वह स्वयं निष्ठता, (सब्जेक्टिविटी) की सीमा में आ लगा। आब्जेक्टिव सब्जेक्टिव हो गया। जेम्स ज्वायस की पद्धति दूसरी थी। वे सब्जेक्टिव को ही आब्जेक्टिव बना कर पेश करना चाहते थे। कानार्ड के उपन्यासों में जिस तरह

कथा का स्वरूप टेढ़े-मेढ़े मार्गों से चलकर उपस्थित होता है उसे पढ़कर चित्रनिर्माण-निरत एक चित्रकार की कल्पना जागृत हो जाती है। कोनार्ड एक चित्रकार है। वह एक कथा चित्र की सृष्टि कर रहा है। पाठक उसकी निर्माण-क्रिया को देख रहा है। कान्वास पर रंग की तूलिका कभी यहाँ चल जाती है, कभी वहाँ, कभी इधर, कभी उधर। उस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं। उस पर इसका बंधन नहीं कि पहले सिर बने, बाद मे पीठ, तब पैर। नहीं, कभी भी कोई अंग बन जा सकता है। यदि उस पर प्रतिबन्ध है तो अपनी मधुर इच्छा और प्रेरणा का। इसी तरह सारा चित्र तैयार हो जाता है।

आधुनिक युग मे मनोविज्ञान के प्रवेश के कारण उपन्यासों की काया मे जो परिवर्तन उपस्थित हुये है और उनमे नये-नये प्रयोग हुये है उसकी झलक मात्र देने का प्रयत्न यहाँ किया गया है। इसके पूर्ण विवरण के लिए अधिक समय, स्थान, अध्ययन की आवश्यकता है। हिन्दी मे अभी तक इस तरह के प्रयोग नहीं हुये है। केवल अज्ञेय ने थोड़ा-बहुत प्रयत्न इस ओर किया है।

पाद टिप्पणियाँ

१. Preface, The Revolt of Islam.

२. Contemporary Schools of Psychology by R. Wood Worth, 8th edition 1949, P. 13.

३. H. Lawrence . The contemplative man Vol I P. 213-214, 1770.

४. Common Reader by Virginia woulf, P. 149 Pelicon Books, 1934

५. मेढक जब एक स्थान से कूद कर दूसरे स्थान पर जाता है तो बीच की चीज को एक दम साथ नहीं लेता, परन्तु जब तीर चलता है तो सब स्थानों को स्पर्श करता हुआ चलता है।

६. Litereria Biographia by Coleridge से उद्धृत।

७. 'दिन के तारे' प्रथम संस्करण पृ० १६४।

८ Poetics, part II, page 2

९. An assessment of Twentieth Century literature by J. Issac P 88 से उद्धृत.

१० Twentieth century Novel by J W Bach P 14
११ Modern Fiction by Muller, Funk and wagnalls Co New York and London P 191
१२ R L Stevenson Essay on Walt Whitmen in Familiar studies in Men and Books 1882
१३ J W Beach Twentieth century Novel 1942, P 524
१४ English Novelists A chapter on James Joyce by I A Strong से उद्धृत १५ वही १६ वही
१७ Time and Novel by A A Mendilow Piter Novill P 153
१८ J W Beach, Twentieth century Novel P 361
१९ वही।

चतुर्दश परिच्छेद

हिन्दी कथा-साहित्य पर मनोवैज्ञानिक आक्रमण का प्रारंभ

हमारी मान्यता

हम इस मान्यता को लेकर अग्रसर हुए हैं कि यह युग मनोविज्ञान का है। पाठक कथाकार से माँग करता है कि वह अधिकाधिक मात्रा मे मनोविज्ञान को अपनी कृतियों मे स्थान दे। वह यथामनोविज्ञानानुभावी हो। वह कोई बात ऐसी न कहे जिसका स्वरूप मनोविज्ञान की किरणो के प्रति असहिष्णु हो। कथाकार पाठक की इस माँग के प्रति जागरूक है और हर तरह से इस माँग की पूर्त्ति करने की चेष्टा करता है। कथासाहित्य मे मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का बोलबाला, कथाभाग का ह्रास, कारण-कार्य की शृंखलाहीनता, वर्ण्य विषय के निर्वाचन मे आधुनिक सामाजिक राजनैतिक, तथा आर्थिक तात्कालिकता के प्रति नात्याग्रह, नर-नारी को यौन समस्याओं का सोत्साह स्वागत, स्ववार्तालाप (Interior monologue) का साग्रह प्रवेश, कथा-साहित्य की आत्म चरितात्मक प्रवृत्ति, एक क्षण को अपनी प्रतिभा का सहारा देकर उसे दीर्घजीवी बना देने की प्रवृत्ति, (Story) के बदले Plot का प्रधान्य—ये कुछ ऐसी विशेषताएँ है, जिन्हे मनोविज्ञान से ही प्रेरणा मिल रही है।

और कथा-साहित्य मनोविज्ञान से पूरी प्रेरणा ले ही क्यों नहीं ! आज जितनी भी विधाओं के माध्यम से साहित्य की आत्मा अभिव्यक्त हो रही है उनमे उपन्यास ही एक ऐसी विधा है जिसमे सभ्यता के विकास के साथ बाहर से विकसित होने वाले परन्तु अन्दर ही अन्दर बंधते जाने वाले मानव की आन्तरिक जटिलता को स्पष्ट करने की सबसे अधिक क्षमता है। इसी बात को दूसरे ढंग से भी कहा जा सकता है। दर्शन तथा धर्म के ग्रन्थों मे सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रसार के बारे मे कहा जाता है कि यह सारा नामरूपात्मक जगत् भगवान की लीला है। वह अकेला था, उसके मन मे हुआ कि मैं बहुत हो जाऊँ। एकोऽहंबहुस्यामः। बस क्या था, सृष्टि आरम्भ हो गई। उसी तरह मनुष्य मे जैसे-जैसे मनोविज्ञान का आग्रह बढ़ता गया, मनुष्य और उसकी समस्याओं पर इतिहास की दृष्टि से नहीं,

बाहरी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की दृष्टि से नहीं परन्तु आन्तरिक दृष्टि से, मूल प्रेरणाओं की दृष्टि से विचार करने का आग्रह बढ़ता गया, उसके भाव प्रकाशन अर्थात् आत्म प्रकाशन अर्थात् साहित्य विधाओं में भी अन्तर आने लगा।

नई नई साहित्यिक विधाएँ अस्तित्व में आने लगीं और जो पहले से ही वर्त्तमान थीं उनके रूप रंग, चाल ढाल में परिवर्त्तन होने लगा। जो बातें पहले प्रधान थीं वे गौण होने लगीं तथा जो गौण थीं वे प्रधान हो चलीं। आज कथा साहित्य में अनेक परिवर्तन हो गये हैं, इसमें तो किसी को विवाद हो ही नहीं सकता। 'परीक्षागुरू' और 'नदी के द्वीप' तथा 'जय वर्धन' की कथाओं में महान अन्तर है। क्यों अन्तर आये? इसके अनेकानेक कारण हो सकते हैं। उन कारणों का पता लगाना और उनका विश्लेषण करना कठिन ही नहीं असभव है। बहुत से आलोचक हुए हैं जिन्होंने इस अनेकतावादी दृष्टि से किसी साहित्यिक विधा, और कथा साहित्य पर विचार किया है। पर हम यहाँ इतने व्यापक और विस्तृत दृष्टिकोण को लेकर नहीं चल रहे हैं।

कथा-साहित्य के प्रति मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालीय दृष्टि

हमारा दृष्टिकोण बहुत कुछ वैसा ही है जो प्रयोगशाला में किसी वैज्ञानिक का होता है। वैज्ञानिक जानना चाहता है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर क्या प्रभाव पड़ता है। पर इसका यथार्थ ज्ञान कैसे हो? ससार में एक वस्तु पर इतने प्रभाव पड़ते रहते हैं कि किसी विशेष वस्तु के प्रभाव को अन्य प्रभावों से पृथक् करना कठिन है। अत, वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में परिस्थितियों पर नियन्त्रण करने की चेष्टा करता है। वह कृत्रिम वातावरण तैयार करता है। वह परीक्षणीय वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य प्रभावों को दूर कर देता है और दोनों परीक्ष्य वस्तुओं को ही आमने सामने रखकर उनके पारस्परिक प्रभावों की जाँच करता है। इसके कारण एक कृत्रिमता तो आ ही जाती है, पर वस्तुओं को एक (Form) में लाकर देखने की सुविधा भी हो जाती है।

साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में वैज्ञानिक की प्रयोगशाला की तरह का दृढ नियन्त्रण करना सभव नहीं। पर हम अपनी कल्पना के द्वारा इससे मिलता-जुलता वातावरण उपस्थित कर सकते हैं। अत, हम अपनी आलोचनिक प्रयोगशाला में से इतिहास, अर्थशास्त्र तथा समाज और राजनीति का

हटा देते है। वहाँ केवल मनोविज्ञान को ही रहने देते है। कथा तो रहेगी ही। हम कल्पना कर लेते हैं कि कथा-साहित्य का संबंध केवल मनोविज्ञान से है। अन्य वस्तुओं से नहीं है। और तब देखना चाहते है कि कथा साहित्य मे जो परिवर्त्तन आ गये हैं या आ रहे हैं उन्हे मनोवैज्ञानिक आधार पर कहाँ तक समझाया जा सकता है। इस दृष्टि से जो तथ्य हाथ लगते है, वे कहाँ तक उपयोगी हैं। कथा-साहित्य पर विचार करने के कितने ही दृष्टिकोण हो सकते हैं। जो दृष्टिकोण उपन्यास-साहित्य के किसी भी पहलू पर प्रकाश डाले तो वह सर्वथा अनुपयोगी नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने पर कथा-साहित्य के संबंध मे अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध हो सकते है।

मैं ही इस तरह का संकुचित दृष्टिकोण अपना रहा हूँ सो बात नहीं। बहुत बार इस तरह के प्रयोग आलोचना के क्षेत्र मे हुये है और उनके आधार पर अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त हो सकी है। हिन्दी साहित्य के विकास मे अनेक शक्तियाँ काम कर रही थीं। पर शुक्ल जी ने मुस्लिम आक्रमण पर ही ध्यान केंद्रित किया और उसी की प्रतिक्रिया के रूप मे हिन्दी साहित्य के विकास के इतिहास को देखना चाहा। कौन कह सकता है कि इस दृष्टिकोण के आधार पर चलने से हिन्दी के अनेक अन्धकारमय पहलुओं पर प्रकाश नहीं पड सका है? उसी तरह कोई आलोचक अपनी प्रयोगशाला मे यदि अन्य प्रभावों को पृथक् कर केवल मनोविज्ञान को आमने-सामने ही रखकर उस पर विचार करता है तो यह न्याय्य आलोचना व्यापार है।

'अन्धेरे बन्द कमरे' पर इस दृष्टि से विचार, कथा-भाग का केन्द्रीय भाव, मनोवैज्ञानिक—

इस दृष्टि से मोहन राकेश के उपन्यास 'अंधेरे वद कमरे' पर विचार किया जाय। किसी उपन्यास पर विचार करते समय आलोचक का ध्यान सर्वप्रथम उसके कथा भाग की ओर जाता है। हम देखने ही चेष्टा करते हैं कि उपन्यास मे जो कथा कही गई है, अथवा जिस वस्तु के आधार पर कथा कही गई है, उसको प्रदीप्त, स्फूर्त करनेवाली किरण किस ओर से आ रही है। समाज की ओर से? धर्म की ओर से? अर्थशास्त्र की ओर से? अथवा मनोविज्ञान की ओर से? इसी के साथ यह भी प्रश्न होता है कि हमारे पास क्या कसौटी है जिसके आधार पर कहा जा सके कि आलोच्य उपन्यास को उद्भासित करनेवाली किरण का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उपन्यास म तो कितनी बातें आ जाती ह, जीवन के जितने विविध पहलू हैं, वे उपन्यास म इस तरह आकर घुलमिल जाते हैं कि यह कहना कठिन हो जाता है कि इसमें किस बात की प्रधानता है। तब एक उपन्यास को दूसरे उपन्यास से विभाजित करनेवाली स्पष्ट रेखा कौन सी है ? यहाँ हम मनोविज्ञान के सदर्भ में विचार कर रहे ह। अत हमारे सामने प्रश्न यह है कि कौन सी वस्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यास को सबस अलग कर देती है। 'अधेरे बद कमरे' को हम मनोवैज्ञानिक कह सकत ह या नहीं ?

सर्व प्रथम हमारा ध्यान इस उपन्यास के केन्द्रीय भाव की ओर जाता है। इस केन्द्रीय भाव को झट से पहचान कर उसका सकेत कर देना सहज नहीं है। इसके लिए निषेधात्मक उपाय से काम लेना हमारे लिए अधिक उपयोगी होगा। यह कहना अधिक सहज होगा कि इस उपन्यास का केन्द्रीय भाव क्या नहीं है। ब्रह्म के स्वरूप को पहचानने के लिए वेदान्त शास्त्र म 'अरु धती न्याय' का आश्रय लिया गया है। अरुन्धती एक बहुत ही छोटी तारिका होता है, जिसे जल्दी से देख पाना सहज नहीं होता। अत, पहले तो उसके आसपास की तारिकाओं को दिखला कर कहा जाता है कि ये अरुन्धती नहीं हैं। इस तरह दर्शक को अरुन्धती के पहचानने में सुविधा होती है। लेखक ने उपन्यास की जो छोटी सी भूमिका लिखी है उसमें वह इसी पद्धति से काम लेता सा दिखलाई पड रहा है, हालाकि उसे भी अपने अन्तर्मानस या कह लीजिये अचेतन की इस प्रच्छन्न क्रिया का पता न हो। वह कहता है—"और जहाँ तक परिचय का सवाल है, मैं सोचकर भी तय नहीं कर पा रहा कि इसे क्या कहूँ। आज की दिल्ली का रेखाचित्र ? पत्रकार मधुसूदन की आत्मकथा ? हरवश और नीलिमा के अन्तर्द्वन्द्व की आत्मकहानी ?"[१] यदि आप इन पक्तियों के प्रति एक मनोविश्लेषक का दृष्टिकोण अपनायें और यह समझें कि ये पक्तियाँ लेखक रूपी रोगी के मुक्त साहचर्य के रूप में विस्तृत हृदयोद्गार हैं तो आपको स्पष्ट हो जायेगा कि इन प्रश्नों के क्रम म एक विचित्र सोद्देश्य नैरन्तर्य है। इन पक्तियों के बाह्य रूप में प्रच्छन्न जो भाव हैं उसका अर्थ है कि इसमें दिल्ली का रेखाचित्र कभी नहीं है। दिल्ली का चित्र आ गया है तो क्या, पर वह इतना कम है, इतना जरा सा है कि उसे उपन्यास का केन्द्रीय भाव कह देना बड़े साहस का काम है। Hemingway के प्रसिद्ध उपन्यास 'शस्त्रों की विदाई' (A Farewell to Arms) में युद्ध की कथा और उसकी विविध अवस्थाओं का वर्णन कहीं अधिक अश में हुआ है, तिस पर भी आलोचकों ने कहा कि

इसमें तो एक सैनिक और नर्स के प्रणय संबंध की कथा ही कही गई है और युद्ध की कथा केवल इस कथा की पृष्ठभूमि तथा वातावरण ही प्रस्तुत करती है। (In this novel, the war, of which the central character is a more or less acquiescent and occasionally involved onlooker is only the background and setting for the central story of the relationship between the soldier and the nurse)[२] ठीक इन्हीं शब्दों को थोड़ी हेर-फेर के साथ इस उपन्यास के लिए प्रयोग मे लाया जा सकता है ?

पत्रकार मधुसूदन की आत्म-कथा वाली वात मे अपेक्षाकृत अधिक ताकत है। आखिरकार सारा उपन्यास मधुसूदन की आत्म-कथा के रूप मे ही तो लिखा गया है। परन्तु निश्चय ही उपन्यास आत्म-कथा नहीं है। आत्म-कथा और उपन्यास मे अन्तर होता है। आत्म-कथा का मैं इतना स्फीत, दुर्दम्य और प्रवल होता है कि वह सव पर छाया रहता है। उसके सामने किसी की भी नहीं चलती। घटनाएँ, पात्र, वातावरण अर्थात् उपन्यास के सारे तंतु उसी की सेवा मे नियोजित रहते हैं, पर उपन्यास में कथा कहने वाला पात्र तटस्थ द्रष्टा तथा साक्षी की तरह रहता है। घटनाएँ अपनी मगरूरी के साथ घटती चली जा रही हैं, उन्हे कथा कहने वाले की कोई परवाह नहीं। उसका काम तो केवल देख भर लेना है और उसका विवरण भर देना हे। उसके अस्तित्व तथा अनस्तित्व से घटनाये सर्वथा निरपेक्ष है। इधर आत्म-कथा के नाम से हिन्दी मे कुछ उपन्यास प्रकाशित हुए है। उनमे वाणभट्ट की आत्म कथा अथवा बुद्धदेव की आत्म-कथा वहुत ही प्रसिद्ध है। परन्तु वाणभट्ट मे घटनाओं ने जिस अप्रत्याशित ढंग से मोड लिया है, उसे देखकर कोई भी पाठक कह सकता है कि इसमे आत्म-कथा का दृढ कण्ठस्वर नहीं जो अपने से सम्बन्धित सारी दुनिया को command करता है। यह भी वात नहीं कि लेखक को इस वात का ज्ञान न हो। लेखक अवश्य सृजक है और उसकी सारी शक्ति सृजन मे केन्द्रित रहती है, पर जव कभी इस सृजन-कार्य के प्रवाह मे उसका आवेग कुछ मद पड़ता है और शिखर से थोड़ा उतरकर वह पाठक की ओर अग्रसर होता है तो ऐसी कुछ वातें उसके मुँह से निकल ही जाती है, जो सारे वातावरण पर नेत्रोन्मीलक प्रकाश डालने वाली होती है। वाणभट्ट की आत्म-कथा के लेखक की इन पक्तियों को देखिये। "मुझे एक-एक करके वीती हुई घटनाये याद आने लगीं। निपुणिका का अचानक मिल जाना, छोटे महाराज के अन्तःपुर मे स्त्रीवेश मे भट्टिनी का

उद्धार, भदन्त और अवधूत का संयोगवश मिलन और कुमार कृष्णवर्धन से परिचय। यह सब क्या पूर्व विहित विधान है ? इतने संयोग कैसे एकत्र हो हो गये ? कितनी विचित्र बात है यह ? ऐसा जान पड़ता है कि यह किसी निपुण कवि का निबद्ध आख्यायिका है।'[१] ऐसा लगता है कि यह लेखक के निभृत क्षणों की वाणी हो जो सार्वजनिक उपयोग के लिए नहीं, परन्तु अपने से कहने के लिए अधिक हो। इस उपन्यास की भूमिका में जो बात कही गई है, उससे हम अनुमान कर सकते हैं, वह सीधी आत्म कथा नहीं है और यदि आत्म कथा है भी तो आत्म कथा से कुछ पग दूर हटी हुई चीज है। अतः 'अँधेरे बंद कमरे' मधुसूदन की आत्म कथा नहीं है।

अब यही बात शेष रह जाती है कि यह उपन्यास हरबंस और नीलिमा के अन्तर्द्वंद्व की आत्म कहानी है। जिस तरह से वृक्ष को पत्तियों तथा पुष्प और फलों में जीवन रस हो प्रवाहित होता रहता है, उसी तरह नीलिमा और हरबंस के दाम्पत्य जीवन में जो पेचीदगियाँ उपस्थित हुई हैं, और समय समय पर उनके अंतस को झकझोर देती हैं, कभी कभी आनन्द की सृष्टि करती हैं और कभी रौरव नरक का दृश्य उपस्थित कर देती हैं, भावों के संघर्ष के कारण या उनके जीवन में किसी अन्य व्यक्ति के आ जाने के कारण जो मानसिक मंथन उत्पन्न होता है उसी के रस से सारे उपन्यास का पोर पोर सिंचित है। नाटकों की चर्चा करते हुए प्राचीन नाट्यशास्त्रियों ने यह नियम बताया था कि नाटक के प्रत्येक अंक तथा दृश्य को आवश्यक नायक होना चाहिये अर्थात् कोई भी अंक या दृश्य न हो जिसमें नायक उपस्थित न हो। उसी तरह हम देखते हैं, कि इस उपन्यास से मधुसूदन या जीवन भार्गव या शिवकुमार या हरजीत, ऐसे पात्र कुछ क्षण के लिए अनुपस्थित भले ही हों, परन्तु हरबंस और नीलिमा कभी भी अनुपस्थित नहीं होते। यदि ये अनुपस्थित होते से दीखते हैं तो भी उनकी छाया किसी न किसी रूप में वहाँ मंडराती ही रहती है। अतः, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस उपन्यास का वर्ण्य विषय राजनैतिक नहीं है, सामाजिक नहीं है, और न तो किसी नैतिक आदर्श की ही प्रतिष्ठा करती है। इसका उद्देश्य नर और नारी के बीच जो अज्ञात और ज्ञात सूत्र सक्रिय रहते हैं और उनके चरित्र तथा व्यवहार को प्रभावित करते रहते हैं, उसी का वर्णन इस उपन्यास का केन्द्रीय भाव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि विश्व का अधिकांश कथा-साहित्य नर और नारी के संबंध की समस्या को लेकर ही सर्जित हुआ है। यही बात इस उपन्यास में भी

है। पर अन्य उपन्यासों में इस समस्या को जिस मनोवैज्ञानिक स्तर पर छेड़ा गया है, वह स्तर इस उपन्यास में भिन्न है और यही भिन्नता वह विभाजक रखा है, जो इस उपन्यास को अन्य उपन्यासों से पृथक कर सकती है।

इसके कारण कथा-शरीर में परिवर्त्तन—

अतः किसी उपन्यास के केन्द्रीय भाव मनोवैज्ञानिकता निश्चित हो जाने पर देखना यह है कि इसके कारण उपन्यास के सगठन में कौन सा परिवर्तन हो गया है? जिस तरह परिस्थिति का सामना मनुष्य को करना पडता है, उसी तरह शरीर की मासपेशियाँ भी अपने को तदनुकूल बना लेती हैं। यदि कोई मनुष्य दो मन का बोझ उठाता है तो उसके शारीरिक अवयव एक विशेष प्रकार का रूपाकार ग्रहण करते है। यदि उसके ऊपर कम भार पड़ता है तो उसके शरीर के अवयवों की स्थिति भिन्न प्रकार की होती है। और यदि वह किसी भी भाव से सर्वथा मुक्त रहता है तो उसके शरीर मे एक प्रसन्नस्तिमित प्रवाह की सुषुमा छाई रहती है। अतः देखना यह है कि इस मनोवैज्ञानिक भार का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए इस उपन्यास को कितने पैंतरे बदलने पडे हैं।

यह निश्चय है कि यह उपन्यास उन उपन्यासों की श्रेणी मे नहीं आता, जिनमे कथा भाग के प्रति उदासीनता रहती है, जिनके कथा भाग में स्थितिपालकता रहती है गत्यात्मकता नहीं। इस उपन्यास मे घटनाओं की कमी नहीं, अनेक घटनाएँ घटती हैं, पात्र अनेक तरह के अकाडताण्डव करते हुए दिखलाई पड़ते है। अकाडताण्डव का अर्थ यह नहीं कि Action Stories की तरह ये घटनाये इतनी उग्रता, मासलता, हिंसात्मकता तथा भयंकरता से घटती है कि उनके सामने, उनके आघात (Impact) के सामने उपन्यास की सारी कच्ची सामग्री फिर से बलात्कार पुनर्संगठित (Re-arranged) हो जाती है या उसे होना पडता है। वे सारे उपन्यास को निगल लेती है। आज के युग मे ऐसे उपन्यास नहीं लिखे जा सकते। मेरे कहने का अर्थ केवल इतना ही है कि वे पाठक जो उपन्यास में कुछ घटते हुए देखने के प्रेमी हैं, उन्हे भी यहाँ निराश नहीं होना पडेगा। नीलिमा और हरवंश मे मनोमालिन्य, हरिवश का योरप जाना, फिर वहाँ पर नीलिमा को बुलाना, वहाँ पर नीलिमा का कलामण्डली के साथ अनेक देशों का भ्रमण करना, वहाँ नये अनुभव प्राप्त करना, मधुसूदन, शुक्ला तथा सुरजीत को लेकर घटने वाली घटनायें संख्या की दृष्टि से भी कम नहीं है। पर ये घटनायें बड़े

मने मने म घट रही ह। मानो नात्युग्र आँच पर इसका परिपाक हा रहा हो। जहाँ पर घटनाओं की आच ने उग्रता धारण किया हा, जहाँ पर घटनायें चरमात्कर्ष (climax) पर पहुँचा हैं, वहाँ पर उपन्यास समाप्त हा जाता है। ऐसा लगता है आँच की उग्रता के कारण बटला में इतना उबाल आया कि पानी ने गिरकर सारे चूल्हे का बुभा दिया। चला सब कुछ समाप्त हा गया, जानने को कुछ रहा नहीं। नीलिमा आर हरवश म समझौता हा गया, मधुसूदन निम्मा के पास चला गया और शुक्ला ता सुरजीत क साथ सुखमय जावन व्यतीत कर ही रही थी।

'अधेरे बन्द कमरे' और 'अजय की डायरी' की तुलना—

इस दृष्टि से डॉ० देवराज के नूतन उपन्यास 'अजय की डायरी, स 'अधेरे बन्द कमरे' की तुलना मनोरजक हा सकती है और हम मनोवैज्ञानिक उपन्यास के स्वरूप निर्णय म सहायता मिल सकती है। अजय की डायरी में कथाभाग नहीं के बराबर है। लेखक देश की तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक समस्याओं से सर्वथा उदासीन है। उसे इस बात की चिंता नहीं कि स्वतन्त्रता के बाद देश के इतिहास का कौन कौन सी शक्तियाँ मोड़ रही हैं। शैक्षणिक सस्थाओं म काम करने वालों म पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के कारण कभी कभी किस तरह किसी छात्र के साथ अन्याय हो जाता है, राजनीतिज्ञों की सहायता से किस तरह योग्यताहीन व्यक्ति भी ऊँचे पद पर पहुँच जाते हैं, इसकी झलक जरा सी आ गई है कारण कि उपन्यास को छोड़ कर इसे कुछ और नहीं होना था, पर उसकी तरफ पाठक का ध्यान जरा भी नहीं जाता। हमारा ध्यान तो अजय, हेम, तथा शीला को लेकर जिस मानसिक वात्याचक्र का निमाण होता है, उसी पर केन्द्रित रहता है। हाँ, अजय के विदेश चले जाने के बाद कथा की लड़ी-सी बधती अवश्य दीख पड़ती है। पर यह भी बात ठीक है कि जिस अश में कथात्मक प्रवृत्ति म विकास हुआ है उसी अश में मनोवैज्ञानिकता का ह्रास भा हुआ है।

दूसरी ओर 'अधेरे बन्द कमरे' में लेखक ने सतर्क होकर देश की राजनैतिक तथा सास्कृतिक वातावरण का उल्लेख किया है। आधुनिक पत्रकारिता के अनेक मनोरजक पहलू तथा किसा को आगे बढ़ाने के लिए किन किन हथकण्डों से काम लिया जाता है, पत्र के सवाददाता किस तरह अपनी कल्पना के सहारे सनसनीखेज समाचार बना लिया करते हैं, इत्यादि बातों का पर्याप्त उल्लेख हा गया है, ताकि पाठक का तत्कालीन वातावरण

का भी ज्ञान हो जाय। पर अजय की डायरी इन सब बातों से सर्वथा निरपेक्ष सी है। डॉ० देवराज हिन्दी साहित्य के उन इन-गिने लेखकों मे से हैं, जिनमे अगाध पाण्डित्य का गाभीर्य है, जिन्हे देश के प्राचीन तथा अर्वाचीन एव विदेशी साहित्य का प्रर्याप्त परिचय है, जिन्होंने अन्य देशों के साहित्यिक प्रयोगों तथा प्रगति का अध्ययन किया है। उनमे सृजनात्मक तथा अलोचनात्मक प्रतिभा का समन्वय है। दर्शन तथा मनोविज्ञान के तो वे आचार्य हैं ही। अतः इसमे कोई आश्चर्य नहीं कि उनकी रचना हर दृष्टि से समृद्ध हो। चूँकि मनोविज्ञान सबसे तरुण विज्ञान है, यहाँ तक कि आज का युग ही मनोविज्ञान का कहा जाता है। अतः उनकी रचना मे मनोविज्ञान का रंग गाढ़ा है।

यहाँ हमारा ध्यान एक बात की ओर भी जाता है। 'अजय की डायरी' का नायक एक थीसिस लिखने मे व्यस्त है, जिसका नाम है creative process और इस उपन्यास अर्थात् 'अजय की डायरी' को हेनरी जेम्स तथा मार्शल प्रुस्ट को समर्पित किया है। एक प्रतिष्ठित लेखक ने (नाम याद नहीं) अंग्रेजी मे एक पुस्तक लिखी है creative process जिसमे हेनरी जेम्स की उपन्यासकला पर प्रकाश डाला गया है तथा यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि उपन्यासो के रचना-विधान में लेखक की कौन-कौन सी मानसिक प्रक्रिया काम कर रही थी। वहाँ पर उपन्यास में कथा भाग का क्या महत्व है, इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने एक स्थान पर कहा है—"जेम्स का यह विश्वास था कि जो बात उन्हे अच्छी लगती है वह पाठक को भी प्रियकर लगेगी। ऐसी अवस्था मे उग्र तथा भयंकर कार्यों वाले दृश्यों के वर्णन मे कोई महत्व नहीं जब कि सारी सार्थकता उपन्यास मे भाग लेने वाले पात्रों के मानस के अन्दर होते रहने वाले व्यापारों में है। वास्तव में भौतिक शक्ति को बढा-चढा कर दिखलाने मे विशेष हानि की सम्भावना है। इससे इस बात का डर है कि पाठक का ध्यान बाह्य क्रिया-कलाप तक ही सीमित रहे और उनकी आतरिक बारीकियों की ओर जाये ही नहीं। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि असाधारण घटनाओं के कारण पाठक का ध्यान कृति की वास्तविकता की ओर जाये ही नहीं। उपन्यास पढने की ओर पाठक इसलिए प्रवृत्त होता है कि उसे अपनी आत्मा की जकड से थोडी मुक्ति मिले, परन्तु घटना-प्रधान या कार्य-प्रधान उपन्यासों के पढ़ने से ऐसा हो सकता है कि पाठक अपनी आत्मा की जकड से भागकर काल्पनिक जगत् मे पलायन कर जाय। हालाकि होना यह चाहिये था कि वह अपने

से मुक्त होकर उपन्यास में वर्णित संघर्षों तथा तनावों में उलझे। दूसरी ओर यदि बाह्य क्रियाओं का उल्लेख नाम मात्र को होगा तो कलाकार को पात्रों के मानस के चित्रण की ओर ध्यान देने की अधिक स्वतन्त्रता होगी और वह एक ऐसा नाटकीय ततुजाल की सृष्टि कर सकेगा, जो पाठकों के मस्तिष्क को फँसा ले सके।"[४]

ऐसा लगता है कि डॉ० देवराज के अचेतन ने कहीं न कहीं हेनरी जेम्स की कला के सम्बन्ध में लिखी गई Creative process की बातों का ग्रहण किया है, उससे प्रभावित हुआ है और वही उनकी रचना में कथा के प्रति उदासीनता के रूप में प्रगट हो रही है। जो लोग आधुनिक मनोविज्ञान के स्वप्न तन्त्रों का प्रक्रिया से परिचित हैं उनके लिए स्वप्नों के Manifest content तथा latent content के terms में डा० देवराज की रचनात्मक मानस प्रक्रिया का समझने में कठिनाई नहीं होगी।

'अँधेरे बन्द कमरे' तथा अजय की डायरी के अध्ययन के बाद एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है। उपन्यास में घटनायें जिस रूप में मोड़ लेती हैं, जिस रूप में वे विकसित या परिणत होती हैं उसके आधार पर भी उसकी आन्तरिक प्रेरणा के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है, जिसने लेखक को रचना के लिए अनुप्राणित किया है। लेखक की जीवन सम्बन्धी मान्यताओं के

James trusted that what interested him would interest his reader Such being the case, it was pointless to dwell upon scenes of violent actions when what was of real significance went on in the minds of the participants Indeed, too violent a display of physical force might have specific dis-advantages Interest might be restricted to the action itself at the expense of its deeper implication In addition actions that were too extra-ordinary jeapardised the readers attention to the work, he escaped from his self' into the imagined world instead of involving his self in the projected conflicts & tension On the other hand if the surface action is reduced to minimum the artist would be free to give his attention to the minds of his characters & to contrive a drama that would ensure the minds of his readers

सम्बन्ध मे भी कुछ अनुमान किया जा सकता है। मैं अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए 'गोदान' को लूँगा। तत्पश्चात् अजय की डायरी तथा 'अंधेरे बन्द कमरे' एवं 'तंतुजाल' की ओर मुड़ूँगा। कारण, 'गोदान' पर्याप्त रूप से परिचित ग्रंथ है और आशा की जाती है कि इन पंक्तियों के पाठकों में से अधिकाश 'गोदान' से अवश्य परिचित होंगे। अतः उन्हे 'गोदान' के सहारे, मेरे कथन को ग्रहण करने मे सुविधा होगी।

गोदान में घटनाक्रम से लेखक की जीवन सम्बन्धी मान्यता—

'गोदान' के दो पात्रो होरी और राय साहब पर ध्यान दीजिये। ऊपर से देखने पर तो ऐसा ही लगता है कि होरी जीवन मे सर्वथा पराजित है। एक किसान के लिए इससे बढ़कर पराजय की बात क्या हो सकती है कि कठिन से कठिन संघर्ष कर के भी वह पैतृक सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त दो बीघे जमीन को भी नहीं बचा सका। दूसरी ओर राय साहब से बढ़ कर सौभाग्यवान कौन है जिसे जिन्दगी की सब मुरादे हासिल सी दीख पड़ती हैं। मुकदमा जीत गये, मिनिस्टर हो गये, उनके सबसे बडे प्रतिद्वन्द्वी दिग्विजय सिंह अपनी कन्या का विवाह उनके पुत्र से करने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। लेकिन फिर भी होरी राय साहब से अधिक सुखी है। होरी का विद्रोही पुत्र उसकी सेवा करता है, उससे बैर ठानने वाला भाई हीरा आकर उसके पैर छूता है और अपना दोष स्वीकार करता है। उसकी दोनों पुत्रियाँ सुखी गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत कर रही हैं। किमतः सुखं परम्! दूसरी ओर राय साहब का पुत्र विद्रोही हो जाता है। उनकी पुत्री मीनाक्षी का दाम्पत्य जीवन नरक से भी बदतर है। इससे बढ़ कर दुःख की बात क्या हो सकती है। इससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हो-न-हो प्रेमचन्द के हृदय मे आधिभौतिक स्मृद्धि के प्रति बहुत ऊँचे भाव न थे।

'गोदान' के सबध में जिस बात का उल्लेख किया गया है, उसको ध्यान मे रखकर यदि 'अन्धेरे बन्द कमरे' 'तन्तुजाल' 'अजय की डायरी' पर विचार किया जाय तो एक बात स्पष्ट रूप से सामने आती है। अन्धेरे बन्द कमरे मे हरिवंश और नीलिमा को लेकर जो मानसिक संघर्ष उपस्थित हुआ है। उसके वर्णन मे लेखक ने काफी Frankness से काम लिया है। यहाँ तक कि नीलिमा जब यूरोप में अपने कलाकारों के साथ अपनी कला के प्रदर्शन के लिए जाती है और अपने साथी के साथ जो उसका घनिष्ठ व्यवहार होता है, उसकी भी चर्चा वह अपने पति हरिवंश से करने मे नहीं चूकती और

बढती है और उसमें समय की दीवार ढह ढह जाती है, जो बातें पहले घटी हैं, वे बाद में आती हैं और जो बातें बाद में घटी हैं वे पहले आ जाती हैं। इस तरह की गड्डुम गड्डुता अर्थात् घटना जाल के सारे ततुओं को एक दूसरे के साथ जटिल रूप म गूथा जाना इस उपन्यास की विशेषता है।

यह बात उपन्यास के प्रत्येक पाठक को मालूम है कि पहले के सब उपन्यासों की कथा का विकास कालक्रमानुसार एक सीधी पक्ति में हुआ करता था। जिसको अग्रेजी में Orderly un folding of plot कहते हैं। अर्थात् कथाक्रम का एक सुव्यवस्थित विकास। प्रेमचन्दजी तक, जैसा कि प्रेमचन्द सम्बन्धी अनुच्छेद में दिखलाया गया है, कथा के विकास की इसी पद्धति की प्रधानता रही। कथा एक स्थान से निकलकर एक सीधी-सादी सड़क पर से होती हुई ठीक अपनी नाक की सीध में अपने गन्तव्य स्थान पर जाकर समाप्त हो गई। हाँ, प्रेमचन्द म दो-तीन कथाएँ साथ-साथ जरूर चलती हैं। परन्तु उन कथाओं की सीधी लकीरें इतनी स्पष्ट हैं कि उनको देख लेना कठिन नहीं है। परन्तु मनोविज्ञान के आग्रह से और कह लीजिये कि भार के कारण अब कथा को इस तरह के सीधे-सादे मार्ग पर चलना कठिन हो गया है। और उसे अपनी परिस्थिति का सामना करने के लिए अवसरानुकूल तरह-तरह के रूप धारण करने पड़े जिसका किंचित् उल्लेख इस पुस्तक के उपसहार वाले भाग में किया गया है। परन्तु उपन्यास का यह वक्र-गतित्व और यथावसर स्वरूप परिवर्त्तन की बात इधर और भी स्पष्ट हो चली है। यहाँ तक कि 'अधरे बन्द कमरे' जैसे कथा के मोह का परित्याग न कर सकने वाली उपन्यास कृति में भी इसका प्रभाव पर्याप्त रूप में दिखलाई पड़ता है।

डेविड डेची ने अपनी पुस्तक "Present age" के fiction नामक अनुच्छेद में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है। उन्होंने कहा है कि आधुनिक उपन्यासकार को दो महत्वपूर्ण समस्याओं का सामना करना पड़ता है। एक—नैतिक, और दूसरा—मनोवैज्ञानिक। नैतिक समस्या का समाधान हमारे अनुभूति के मूल्यों से है। प्रश्न यह है कि अनुभूति में कौन सा साधक तत्व है ? और हम उसकी सार्थकता को कैसे दिखला सकते हैं ! दूसरा जो मनोवैज्ञानिक समस्या है, उसका सबध हमारी चेतना के स्वरूप और समय के साथ यह किस रूप में सम्बद्ध है, इसके साथ है। ज्यों-ज्यों आधुनिक मनोविज्ञान का विकास होता जा रहा है, त्यों-त्यों उपन्यासकार के लिए यह सोचना कठिन होता जा रहा है कि चेतना एक सीधी और

कालक्रमिक पंक्ति मे एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु की ओर सीधे ढंग से प्रवाहित होती है। बात तो ऐसी है कि उपन्यासकार अब चेतना को तरल रूप में देखता है जो युगपत् रूप में अनेक भिन्न-भिन्न स्तरों पर सक्रिय हो सकती है। जो लोग चेतना को इस रूप मे देखने के अभ्यस्त हैं (यह केवल एक विचार शैली का प्रश्न है; अच्छे और बुरे का प्रश्न नहीं) उनके लिए कहानी में एक सीधे और क्रमिक कथा को उपस्थित करना असंतोपजनक और अवास्तविक मालूम पड़ता है। आदमी का वर्त्तमान रूप जो कुछ भी है, वह उसके भूतपूर्व रूप को ही लेकर है। वर्त्तमान क्षण तो एक अवास्तविक।(Abstraction) है, यदि कोई चीज है, तो वह भूत का (Already) अभूत (Not yet) मे सतत प्रवहण है। चेतना स्वयं ही अतीत निरीक्षण और भविष्य के आकलन का निरन्तर मिश्रण है। समय पृथक्-पृथक् कालक्रम के बिन्दुओं की माला नहीं है। परन्तु यह वह है जिसे बर्गसाँ ने Duree कहा है। हम सब केवल अपनी स्मृतियाँ है। और यदि हम किसी के वर्त्तमान रूप का वर्णन करना चाहे तो उसका अर्थ यह होगा कि हम उसके भूतकाल की सब बातों का वर्णन करे। स्मृति के प्रति हमारे भाव बदल गये हैं। स्मृति को हम अब इस रूप मे नहीं देखते कि वह जो कुछ पीछे छूट गया है, व्यतीत की ओर मुडकर देखने का एक साधन मात्र है। नहीं, अब हम यह मानने लगे हैं कि स्मृति हमारी चेतना और व्यक्तित्व का सर्वाधिक अंश है।

---

[४] The modern novelist has been faced by two major problems. one moral and one psychological. The moral one concerns the value of experience : what is significant in experience and how can one show that it is so ? The psychological problem concerns the nature of cousciousness, and its relation to time. Modern Psychology has made it . increaringly difficult for the novelist to think of consciousness as moving in a straight chronological line from one point to the next. He tends rather to see it as altogether fluid, existing simultaneously at several different levels. To those who look at consciousness in this way (and it is a question of modes of thinking rather than of better or those ways) the presentation of a story in a straight

इन पंक्तियों के आलोक में इस बात के रहस्य को देख लेना कठिन नहीं है, कि मानव चेतना को ही आधार मानकर चलने वाले उपन्यासों की तो बात दूर है, कथा भाग को लेकर चलने वाले उपन्यासों में भी कथा की वह सफाई या सिधाई क्यों नहीं है, जो पहले के उपन्यासों में दिखलाई पड़ती है। संभव है कि कथाकार चेतना के इस जटिल स्वरूप को जान-बूझकर लेकर नहीं चलता हो, जिसका उल्लेख डेविड डेशी ने किया है। परन्तु उपन्यासकार जिस वातावरण में साँस ले रहा है, और प्रभाव ग्रहण करता है, उसका प्रभाव उस पर धीरे धीरे उसके अनजानते में पड़ रहा है इसमें कोई संदेह नहीं और वह कथा के स्वरूप को इस तरह से एक विशेष ढंग से मोड़ रहा है।

'अँधेरे बंद कमरे' के कथा निर्माण का विश्लेषण—

यहाँ पर 'अँधेरे बंद कमरे' की ही बात करूँगा, क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, उसमें कथा भाग से लेखक सर्वथा तटस्थ नहीं हो सका है। परन्तु कथा को उपस्थित करने के ढंग में परिवर्तन अवश्य हुआ है। कथा का प्रारम्भ इस रूप में होता है कि मधुसूदन नौ बरस बाद दिल्ली में अचानक ही अपने पुराने मित्र हरवंश से मिल जाता है। इन नौ बरसों के अन्दर उन दोनों के जीवन में बहुत सी घटनाएं घट चुकी हैं। परन्तु जब हम पुस्तक का प्रारम्भ करते हैं तो उन घटनाओं का कुछ भी उल्लेख नहीं हुआ है। बाद में धीरे धीरे उन घटनाओं का उल्लेख होता है और वह भी मधुसूदन की स्मृति के मार्ग से आता हुआ दिखलाई पड़ता है। पुस्तक के

---

chronological line becomes unsatisfactory and unreal People are what they are because of what they have been, the present moment is an unreal abstraction, there is only the continuous flow of the 'already' into the 'not yet" consciousness itself is a continuous blend of retrospect and anticipation and time is Bergson's duree rather than a series of discrete chronological points We are our memories and to describe us truthfully at any given moment means to say every thing about our past Memory is no longer regarded as a device for looking back on what has been left behind, but as an intergral part of Consciousness and personality'

प्रथम भाग के पढने पर इतनी बात का ज्ञान होता है कि हरवंश विदेश से लौटकर आ गया है, पहले तो वह अकेले ही गया था, परन्तु बाद में उसकी पत्नी नीलिमा भी चली गई। परन्तु इस बात का कुछ भी ज्ञान नहीं होता कि विदेश मे जाकर उन लोगो के साथ कौन-कौन सी घटनाये घटीं। नीलिमा और हरवश के बीच मे जो पत्र व्यवहार होता है, यह भी हमे देखने को मिल जाता है। कहने का अर्थ यह कि कथा का एक थोडा सा अश हमारे सामने प्रस्फुटित होकर आता है। पुस्तक के दूसरे भाग मे हमे नीलिमा और हरवंश के बीच विदेश प्रवास के अवसर पर होने वाली घटनाओं का ज्ञान होता है। परन्तु वह भी सीधे-सादे ढंग से कालक्रमानुसार नही होता। कुछ बातें तो मधुसूदन और नीलिमा के बीच होने वाले वार्त्तालाप से प्राप्त होता है और कुछ बातों का ज्ञान हरवंश और मधुसूदन के बीच मे होने वाले वार्तालाप के द्वारा होता है इस तरह कथा धीरे-धीरे (by instalment) पाठक के सामने उपस्थित होती है और इस पद्धति के अपनाये जाने के कारण कथा मे मनोवैज्ञानिक रस की अभिवृद्धि हुई है इसमे कोई संदेह नहीं। मेरा उद्देश्य अंधेरे बंद कमरे के टेकनीक का विस्तृत उल्लेख करना नहीं है। मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि लेखक मे मनोवैज्ञानिक जागरूकता अधिक है। इसलिए उसके कथा के विकास मे भी जटिलता आ गई है, जो स्वाभाविक है। ऊपर इस बात की चर्चा की गई है कि कालक्रम के अनुसार विकसित होने वाली कथाओं मे भी घटनायें जो रूप धारण करती हैं उसके द्वारा भी लेखक के उद्देश्य का परिचय मिलता है। उसी तरह कहा जा सकता है कि घटनाओं के निर्माण मे लेखक जिस पद्धति का अवलम्बन करता है, वह भी उसके आतरिक प्रेरणाओं का द्योतक होता है। किसी पुस्तक की आलोचना करते समय हमे याद रखना चाहिये कि प्रत्येक लेखक अपनी कृति में दो बातों का उल्लेख करता है, प्रथमतः तो यह कि वह क्या कहना चाहता है, और दूसरा यह कि उसे ऐसा कहने की प्रेरणा कहाँ से मिली? यह कोई आवश्यक नहीं कि वह स्पष्ट शब्दों मे ही उनकी घोषणा करे। उसके विषय-निर्वाचन, कथा कहने के ढंग, कथा-विकास के सिलसिले मे आनेवाली छोटी-मोटी-सी और नगण्य-सी लगने वाली बातों के द्वारा भी इन सब पर अपरोक्ष रूप से प्रकाश पडता रहता है। मानव का निर्माण ही कुछ ऐसे तंतुओं से हुआ है जो उसे सदा अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के लिए बाध्य करते हैं। मनुष्य सदा अपने को अपनी अनिच्छा के बावजूद भी Betray करता रहता है। मनोवैज्ञानिकों

की ऐसी मान्यता है। मेरी कल्पना है कि यदि लेखक म मनोविज्ञान की जटिलता के प्रति आग्रह नहीं होता तो उसकी कथा में भी इस तरह की जटिलता नहीं आती।

यहाँ पर प्रश्न यह होता है कि आधुनिक युग में तो शायद ही कोई उपन्यास मिले, जिसमे पुराने उपन्यासों की तरह कथा एक पंक्ति की सीध में विकसित होती हुई दिखलाई पड़े। यह तो मेरी दृष्टि से इष्टापत्ति ही है। इसके द्वारा मेरे कथन और मान्यता का ही समर्थन होता है, क्योंकि आज के कथाकार में पहले से अधिक मनोवैज्ञानिक आग्रह है। इसलिए उसकी कथा भी वक्रगति से और जटिल रूप से चलती है।

'अँधेरे बन्द कमरे' की अन्य मनोवैज्ञानिक विशेषतायें—

'अधेरे बद कमरे' म कुछ अन्य बातें भी हैं, जिनके द्वारा इस पुस्तक म मनोवैज्ञानिक आग्रह की बात स्पष्ट होता है। शायद यह प्रथम उपन्यास है जिसमें एक ऐसे पात्र की चर्चा हो जिसे अंग्रेजी में Psychological case कहते हैं। जब हरवंश यूरोप की यात्रा कर रहा है, तो उसके साथ एक वृद्ध महिला है, जो अपनी पुत्री अमृतबाला को मानसिक चिकित्सा के लिए लन्दन ले जा रही है। अमृतबाला २२ २३ वर्ष की लड़की है। कभी तो वह एक दो-महीने नॉर्मल रहती है, मगर फिर जब दौरा पड़ता है तो वह चीखना चिल्लाना, हर चीजों को तोड़ना फोड़ना शुरू कर देती है। यहाँ तक कि अपना खाना भी उठाकर फेंक देती है। यह जरूर है कि वह abnormal लड़की उपन्यास की गतिविधि को अधिक प्रभावित नहीं करती, परन्तु यह इस बात की सूचना है कि (Abnornal) पात्रों ने हिन्दी उपन्यास में प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया है। लन्दन म जब हरवंश अपने दाम्पत्य जीवन से उत्पन्न मानसिक उथल पुथल से तंग हो जाता है तो वह सोचता है कि मैं अपने को किसी मानसिक चिकित्सक को दिखलाऊँ। परन्तु वह प्रारम्भ में इसलिए नहीं जाता कि उसके पास फीस देने के लिए पैसे नहीं हैं।—"मुझे इससे भी यह आशा होने लगी है कि शायद वह मनोविश्लेषक मेरे मन की गुत्थियों को भी सुलझा सके। मेरे पास उसकी फीस देने लायक पैसे नहीं है।" एक जगह नीलिमा के पास पत्र में हरवंश लिखता है—"मैं यह पत्र तुम्हें दो दिन पहले ही लिखता, मगर मैंने सोचा कि मैं भी एक बार ए० पी० सी० के मनोविश्लेषक के पास जाकर उससे परामर्श कर देखूँ। मैं कल मम्मी के साथ उसके यहाँ गया था। मुझे वह आदमी इसलिए अच्छा

लगा कि वह मुझे यह तो बताता रहा, मेरे दिमाग में कहाँ क्या नुस्ख है। मगर तुम्हारी तरह झगड़ा करते हुए नहीं। काश ......कि तुम भी उसकी तरह होती ......। बहरहाल मनोविश्लेषक ने जो कुछ भी कहा, उसके बावजूद मैं समझता हूँ कि हमारे पास एक दूसरे के साथ जिन्दगी गुजारने के सिवाय कोई चारा नहीं है।"[६]

फ्रायड ने अपनी पुस्तक में मनुष्य के द्वारा होने वाली छोटी-मोटी भूलों के मनोविज्ञान पर प्रकाश डाला है। पुस्तक मे कई स्थानों पर दिखलाया है कि मनुष्य के द्वारा जो भूले या गल्तियाँ होती हैं उनके द्वारा भी मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। वे सोद्देश्य होती है। फ्रायड ने एक जगह बतलाया है कि एक व्यक्ति अपनी पत्नी को प्रायः उसके विवाह के पूर्व के नाम को लेकर पुकारा करता था। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा यह पता चला कि वास्तव में वह अपनी पत्नी से संतुष्ट नहीं था। अतः वह उसका अचेतन इस बात की कल्पना किया करता था कि क्या ही अच्छा होता कि विवाह से पूर्व वाली अवस्था को प्राप्त कर लेता, और सदा कोर्टशिप का ही जीवन व्यतीत करता। यही कारण था कि बार-बार अपनी पत्नी के नामोच्चारण में उनसे भूल हो जाया करती थी। कई बार हम इस उपन्यास मे भी देखते है हरवंश अपनी पत्नी नीलिमा से संतुष्ट नहीं है। अतः वह समय-कुसमय उसके पुराने नाम सविता से ही पुकारता है। यहाँ तक कि वह पत्र लिखते समय भी माई-डियर सवि कहकर ही संबोधित करता है।

पत्र का कुछ अंश यों है—

माई-डियर सवि,

शायद तुम चौंको कि तुम्हे तुम्हारे पुराने नाम से मैं क्यों संबोधित कर रहा हूँ, मगर तुम्हारा यही नाम, जिससे मैं कभी चिढा करता था, मुझे अब ज्यादा आत्मीय लगता है। सोचता हूँ, शायद इस तरह संबोधित करके भी अपने को तुम्हारे अधिक निकट महसूस कर सकूँ ......।"[७]

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि हरवश के हृदय का क्या भाव है। यहाँ पर जो वह अत्मीयता की बात कह रहा है, मानों वह अपने चेतन को वास्तविक परिस्थिति के संबध मे भ्रम रखने के लिए केवल छलना मात्र है। मनोविज्ञान के विद्यार्थी को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि हमारा अचेतन वास्तविकता पर पर्दा डालने के लिए और उसकी कटुता को दूर करने के लिए कौन-कौन से छन्द रचता है। उपन्यासकार भी इन भूलों के

पीछे काम करने वाले मनोविज्ञान से अच्छी तरह परिचित हैं। मधुसूदन और हरवंश आपस में बात चीत कर रहे हैं। इस पर लिखित कुछ पंक्तियों पर ध्यान दीजिये—"मगर बात वहीं तो समाप्त नहीं हो गई," वह बोला—"आज सावित्री ने इस बात को लेकर एक तूफान खड़ा कर दिया है।" नीलिमा का वास्तविक नाम यही था। नीलिमा यह नाम उसके बाद में अपने लिए चुन लिया था, मगर हरवंश के मुँह से अब भी कई बार उसका पुराना नाम ही निकल पड़ता था। यह ज्यादातर तब होता था, जब वह उत्तेजित होता।" इस तरह हम देखते हैं कि इस उपन्यास में कितने स्थानों पर मनोवैज्ञानिक भूलों की करामात दिखलाई पड़ती है।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये—हरवंश अपनी पत्नी से प्रसन्न नहीं है, पर साथ ही साथ शुक्ला के लिए उसके हृदय में सद्भावना है। वह विदेश से दोनों के जन्म दिन पर शुभ कामनाओं का पत्र भेजता है। शुक्ला के जन्म दिन पर तो वह पत्र समय पर पहुँच जाता है, परन्तु नीलिमा के पत्र को डाक में छोड़ने में कुछ ऐसी भूल हो जाती है कि वह उसकी जन्म तिथि पर नहीं पहुँच पाता। उस समय अपने एक पत्र में हरवंश जो बातें लिखता है, वे बातें हमारे लिए नेत्रोन्मीलक हो सकती हैं। "तुमने लिखा है कि शुक्ला को मैं ने उसके जन्म दिन पर अपना स्नेह भेजा, और मेरा पत्र डाक उस दिन की डाक से पहुँच हो गया। तुम्हारे जन्म दिन से अगले रोज वहाँ मिला। मैं इस बात के लिए अपने को बहुत अपराधी महसूस कर रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि ऐसा क्यों हुआ। मैं उस दिन चिट्ठी लिखने के लिए बैठा था कि तुम्हें तुम्हारे जन्म दिन के अवसर पर अपना स्नेह भेजूँ, मगर निश्चित लिखना रह गया भूल गई, मगर भूलने से भी तो उसकी व्याख्या नहीं हो जाती। क्या तुम चाहोगी कि मैं मनोविश्लेषक से इस सम्बन्ध में परामर्श करूँ? और जानूँ कि इसका क्या कारण हो सकता है?" इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में भूलों की मनोवैज्ञानिकता धीरे धीरे प्रवेश कर रही है और यदि इस प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा और प्रोत्साहन पाया तो इसके आधार पर और भी उपन्यास लिखे जाने की सम्भावना है।

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि हमारा अचेतन जीवन की महत्वपूर्ण तिथियों जैसे विवाह की तिथि, जन्मतिथि या और किसी दृष्टि से महत्वपूर्ण तिथि को लेकर बहुत ही Trick खेला करता है। उस दिन कुछ ऐसी घटना घट जाती है, जो कुछ बहुत विचित्र लगता है, और उसका रहस्य समझ में नहीं आता। परन्तु वास्तव में ऐसी बात तो ये घटनाएँ बहुत सूक्ष्म रूप

से कार्य और कारण की शृंखला में जुडती रहती है। हरवंश की ओर से नीलिमा के जन्म दिन पर जो भूल हो गई, उसकी बात तो ऊपर कही जा चुकी है। परन्तु इसी तरह की भूल नीलिमा की ओर से हरवंश के जन्म दिन पर भी हो जाती है। यूरोप प्रवास मे नीलिमा और हरवंश वर्लिन में अपने प्रदर्शन के लिए जा रहे हैं। खाने-पीने के अवसर पर रम की बोतल उमादत्त के हाथ में है, उसके हाथ से हरवंश बोतल ले लेता है और कहता है—"तुम्हे पता है नीलिमा! आज मेरा जन्म दिन है · तुम उस उपलक्ष्य मे यह बोतल खोलकर एक घूँट मुझे नहीं दोगी ?" नीलिमा कुछ चौंककर बोतल उसके हाथ से ले लेती है—"अरे हाँ, सचमुच मुझे याद ही नहीं था। आज आठ मार्च है न ? अच्छा तो यह उसी खुशी मे सही।"[८] इसके बाद परिस्थिति मे कुछ ऐसी उदासीनता, ठंडक, निरुत्साह का वातावरण उत्पन्न हो जाता है कि हरवंश बिना एक भी घूँट लिए बोतल रख देता है और कहता है—"मैं आज ही लंदन वापस जा रहा हूँ।"

F. L. Lucas ने अपनी पुस्तक Psychology and Literature में जीवन की सच्ची घटनाओं से लेकर कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं, जिनसे पता चलता है। कि मनुष्य के अचेतन को जीवन की महत्त्वपूर्ण तिथियों से एक विशेष प्रकार की दिलचस्पी होती है (Unconscious seems a great Strickler for anniversaries)। एक पति महोदय को अपनी साली से प्रेम था, वह प्रेम शारीरिक सीमा तक भी पहुँच गया था। उसकी पत्नी को निमोनिया की बीमारी हुई, बीमारी के उपचार के लिए एक शीशी मे एकत्र की हुई आक्सीजन गैस रोगिणी को देनी पड़ती थी। एक दिन पति महोदय जब आक्सीजन गैस देने लगे तो भूल से वह आक्सीजन गैस शीशी से निकल गई, और रोगिणी के फेफड़ों मे नहीं दी जा सकी। दूसरी शीशी लाने मे विलम्ब हो गया, तब तक पत्नी के प्राण कूच कर गये। ठीक इसी के Anniversary के दिन पति महोदय को दमे का दौरा शुरू हुआ, जिसके कारण उनको भी उसी तरह एक-एक साँस के लिए घुटना पड़ा, जिस तरह उनकी पत्नी एक-एक साँस के लिए घुट-घुटकर मरी थी।[९]

दूसरा उदाहरण दो मित्रों का है—जिन्होंने दो बहिनों से विवाह किया था। बाद मे दोनों में से एक को दमे की बीमारी हो गई। उसने यह स्वप्न भी देखा कि वह एक प्रबल जल-प्रवाह में तैर रहा है, और धीरे-धीरे डूबता जाता है। मनोवैज्ञानिक Stekel जो उसकी चिकित्सा कर रहे थे, उन्होंने उसे स्पष्ट शब्दों मे कहा कि हो न हो तुम्हारे अन्दर कोई न कोई

नाज जम कर बैठी है, यदि तुम उसे मेरे सामने लाते नहीं हो तो तुम्हें स्वस्थ होने की सम्भावना है नहीं। पहले तो उसने साफ अस्वीकार कर दिया और कहा कि उसके मन में कोई बात नहीं है। जिस वक्त वह कह रहा था, उस वक्त उसकी आवाज काँप रही थी। परन्तु अन्त में उसने रोते हुए इस बात को स्वीकार किया कि अपने मित्र की पत्नी अर्थात् अपनी माली के साथ उसका प्रेम-सम्बन्ध हो गया था। आश्चर्य की बात है कि इस प्रेम-सम्बन्ध के ठीक anniversary के दिन उसको दम की बीमारी का प्रारम्भ हुआ।[१]

ये दो उदाहरण Lucas की पुस्तक से दिए जा रहे हैं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अचेतन के लिए हमारे जीवन की महत्त्वपूर्ण तिथियों से क्या सम्बन्ध है? यदि हम 'अंधेरे बन्द कमरे' में उल्लिखित घटनाओं को इन घटनाओं के आलोक में देखें तो सचमुच इसके मनोवैज्ञानिक पहलू के स्वारस्य की उपलब्धि में सहायता मिलेगी। यद्यपि यह उपन्यास प्राचीन टेकनाक के माध्यम से ही अपने स्वरूप का विकास करता है, लेकिन मनोविज्ञान के प्रभाव के बढ़ते हुए चरणों की छाप इसमें स्पष्ट परिलक्षित होती है।

शुक्ला और हरवंश के सम्बन्ध पर यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो भी इसमें मनोवैज्ञानिकता का पुट कम न मिलेगा। कई स्थानों पर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि मनोवैज्ञानिकता से हमारा अर्थ दो व्यक्तियों के बीच उस सम्बन्ध से है, जिसमें सामान्य सम्बन्ध से कुछ भिन्नता हो, देखने में अजब सा लगे, पर उसमें वास्तविकता की मात्रा कहीं अधिक हो और यह मनुष्य की गहराई में काम करने वाली प्रेरणाओं पर आधारित हो। शुक्ला हरवंश की साली है। साली और बहनोई के सम्बन्धों में मधुरता रहती ही है और दोनों एक-दूसरे से प्रभावित रहते हैं। व्रजनन्दन सहाय का सौन्दर्योपासक इसका अच्छा उदाहरण हो सकता है। इधर के अन्य उपन्यासों में भी इस तरह के उदाहरण मिल जा सकते हैं। परन्तु हरवंश का शुक्ला पर जो hold है, वह उस जाति का है जो Psychiatrist का अपने मनोविकार ग्रस्त रोगियों पर होता है, अथवा सम्मोहक का सम्मोहित किये जाने वाले व्यक्तियों पर होता है। लेखक भी सम्बन्ध की इस असाधारणता से पूर्णरूपेण परिचित है। एक स्थान पर नीलिमा इन दोनों व्यक्तियों के सम्बन्ध का विश्लेषण करते हुए कहती है कि शुक्ला का अपने बहनोई का fixation है। fixation मनोविश्लेषण का एक पारिभाषिक शब्द है।

संभव है अपनी पूरी पारिभाषिकता के साथ इस शब्द का प्रयोग यहाँ पर भी उपयुक्त न हो सका हो, पर इतना तो स्पष्ट ही है जिस समय इन दो पात्रों के सम्बन्ध-सूत्रों का संगठन हो रहा था उस समय लेखक से मन मे मनोवैज्ञानिक विचित्रता अवश्य थी।

इसी तरह मधुसूदन और निम्मा के सम्बन्ध की परिणति जिस रूप मे हुई है, उनमें भी कोई-कोई अचेतन प्रेरणा ही काम करती-सी दिखलाई पडती है। मधुसूदन के मन ऐसी प्रेरणा होती है कि निम्मा की ओर दौड़ पड़ता है और शायद उससे विवाह भी कर लेता है, इसके अन्दर जो एक विस्फोट है, उपप्लव है विशिष्ट अर्थ मे मनोवैज्ञानिक ढंग का है। यद्यपि उपन्यास में इस सम्बन्ध के मनोवैज्ञानिक पहलू पर प्रकाश नहीं डाला गया है पर घटनायें कुछ इस ढंग से घटती है कि मनोविज्ञान के एक साधारण विद्यार्थी को भी अन्दर झाँककर देखने की प्रेरणा करती है।

इतना ही नहीं मनोविज्ञान मे बहुत से शब्द जैसे—Fixation, शेडिस्ट प्रसिद्ध हो गये है, जिनका प्रयोग इस उपन्यास मे स्थान-स्थान पर मिलता है।

पिता और माता के कटु अथवा स्नेहमय सम्बन्धों का बालक के जीवन पर क्या असर पड़ता है, इस बात का कुछ आभास तो पहले भी लोगों को था, पर जब से मनोविश्लेषण ने व्यक्ति के बाल्य-कालीन जीवन के अध्ययन की ओर ध्यान दिलाया है और बतलाया है कि मनुष्य के जीवन का निर्माण उसके प्रारम्भिक चार-पाँच वर्षों में ही हो जाता है, तथा बालक एक तरह से अबोध रहते हुए भी वातावरण के प्रति पूर्ण रूप से प्रतिक्रियाशील रहता है, तबसे लेखको का ध्यान बाल्यमन के चित्रण की ओर भी गया है। शेखर एक जीवनी इस क्षेत्र मे पहला कदम था। आगे के उपन्यास लेखकों से हम आशा करते थे कि उनके यहाँ बालकों को अधिक आदर और सत्कार मिलेगा। यह आशा पूरी तो नहीं हुई, परन्तु अब उपन्यासों मे बाल-मनोविज्ञान का कुछ न कुछ वर्णन होने लगा है। यदि पति और पत्नी मे सद्-भाव नहीं रहता और पारस्परिक कलह मची रहती है, तो उन दोनों के बीच में पड़ कर बालक का व्यक्तित्व भी खण्डित हो जाता है और उसके जीवन का स्वस्थ विकास नहीं हो पाता और वह Abnormal हो जाता है। नीलिमा एक स्थान पर मधुसूदन से अपने दाम्पत्य-जीवन की समस्या पर विचार कर रही है। वह कहती है—"कम से कम अरुण के लिए तो हमें सोचना ही चाहिये कि उस पर इस सबका क्या असर पड़ता होगा। वह कभी हरवंश

कौन सा तत्व है कि जो उपन्यास में इतस्ततः बिखरी हुई सामग्री में एकता प्रदान करता है। उसको एक सूत्र में आबद्ध कर संगठित रूप में उपस्थित करता है और जिसके अभाव में उपन्यास छिन्न भिन्न होकर नष्ट हो जा सकता है। बहुत से उपन्यास ऐसे होते हैं जिनमें आदमी को एक Biological being बना दिया जाता है, उसको Elements के रूप में Reduce कर दिया जाता है। कुछ उपन्यास ऐसे होते हैं जिनकी प्रवृत्ति यह दिखलाने की होती है कि मनुष्य जो कुछ है, वह अपना बाह्य आचरण और क्रियाओं को छोड़कर और कुछ नहीं है। यदि मनुष्य को ठीक तरह से समझना है, या समझाना है तो हम उसके बाह्य क्रिया कलापों और आचरणों तक ही सीमित रखना चाहिये। इस तरह के उपन्यासों को हम स्मृतिहीन उपन्यास कहेंगे और इस तरह के उपन्यास प्रायः एक सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ दृष्टिकोण से लिखे जायेंगे। पत्रात्मक शैली, आत्म कथात्मक शैली या डायरी शैली में इस तरह के उपन्यास अपने स्वरूप का अच्छी तरह प्रदर्शन नहीं कर सकते। मेरे जानते अमेरिका के अनेक उपन्यास, जिनमें हेमिंग्वे के उपन्यास प्रसिद्ध हैं, इसी तरह के स्मृतिहीन उपन्यासों की श्रेणी में आयेंगे। चाहें तो उन उपन्यासों को हम आचरणवादी उपन्यास भी कह सकते हैं क्योंकि जिस तरह से आचरणवादी मनोवैज्ञानिक मनुष्य को उसकी बाहरी क्रियाओं तक ही सीमित कर उसे सामान्य जीव के स्तर पर ले आने की कोशिश करते हैं उसी तरह इन उपन्यासों में भी मनुष्य के बाहरी रूप, ऐंद्रियग्राही रूप पर ही विशेष बल दिया जाता है। दूसरी ओर स्मृतिवाले उपन्यासों में पत्रात्मक शैली, डायरी शैली, तथा आत्म-कथात्मक शैली के द्वारा मनुष्य की आंतरिक प्रवृत्तियों के प्रदर्शन की ही चेष्टा की जाती है। मार्शल प्रुस्ट के उपन्यास का नाम ही है—अतीत की स्मृतियाँ। इसमें स्मृति जाल के सिवाय और कुछ भी नहीं है। पात्रों के बाह्य आचरण के प्रदर्शन के प्रति लेखक सर्वथा उदासीन है। 'ततुजाल' का नायक नरेश क्या करता है भला ! वह तो रेवाड़ी से लेकर जयपुर तक ट्रेन से यात्रा करता है और इसी यात्रा के दौरान में जो उसके मस्तिष्क में स्मृति की लहरें उठती हैं, वे ही उपन्यास का रूप धारण कर लेती हैं। यह विशुद्ध रूप से आंतरिक जीवन का उपन्यास है और अनेक अमेरिकन उपन्यासों से ठीक विपरीत रूप में उपस्थित है। इसमें अतीत की स्मृतियों को जाग्रत किया गया है और वे स्मृतियाँ जाग्रत हो कर अतीतमात्र नहीं रह जातीं, परन्तु एक समृद्ध वर्त्तमान का रूप धारण कर लेती हैं।

उपन्यासों पर एक नये ढंग से विचार

उपन्यासों पर एक दूसरे ढंग से भी विचार किया जा सकता है, जिसका भी संकेत मुझे David Daiches की पुस्तक 'The novel and the modern world' से मिला है।[२३] मैंने ऊपर इस बात की चर्चा की है कि किसी भी उपन्यास पर विचार करते समय आलोचक का कर्तव्य यह देखना है कि उसका अर्थात् उपन्यास का संगठकतत्व क्या है? वास्तव मे देखा जाय तो उपन्यास मे दो आयाम होते हैं दिक काल, व्यक्ति। Space, Time Character, अर्थात् उपन्यास में व्यक्ति सम्बन्धी घटनाएँ होती हैं, जो कालक्रमानुसार दिक मे घटित होती हैं अर्थात् घटनाये किसी समय मे घटित होती हैं और वे किसी स्थान पर घटित होती है। कुछ उपन्यासो की रचना समय आयाम को लेकर होती हैं। उनमे संगठनसूत्र समय के हाथ मे होता है। समय स्थिर है, पाठक इसी स्थिर समय के बीच खड़ा है, पर इसी स्थिर कालबिंदु पर, भिन्न-भिन्न स्थानों पर, भिन्न-भिन्न घटनाये घट रही हैं। काल अचल है, पर दिक, स्थान चंचल है, वह परिवर्तित होता रहता है। बजा तो दस बजकर/बीस मिनिट ही है, पर कुछ घटनायें ठीक इसी समय पर बम्बई मे घट रही है, कुछ कलकत्ते मे और कुछ दिल्ली मे। पाठक बड़े मजे मे उन सब घटनाओं को देख रहा है। दूसरी तरह के उपन्यास वे हो सकते हैं कि पाठक एक स्थान पर खड़ा है और एक व्यक्ति-पात्र की चेतना के सहारे अतीत, वर्तमान और भविष्य सबकी यात्रा निर्द्वन्द्व होकर करता है। अर्थात् यहाँ पर दिक्, स्थान तो अचल है। पाठक पात्र के व्यक्तित्व मे प्रवेश कर एक स्थान पर खडा है, पर काल पर कोई प्रतिबन्ध नहीं; वह कहीं से कहीं भी किसी ओर मुड सकता है। यहाँ पात्र के व्यक्तित्व के आधार पर ही पाठक एक स्थान पर खड़ा है। अतः वह मान लेते हैं स्थानपात्र का व्यक्तित्व। अतः आयाम के नाम पर उपन्यास मे दो तत्व रह जाते हैं। समय और व्यक्तित्व (स्थान)। अतः आयाम की दृष्टि से दो तरह के उपन्यास हुए:काल प्रधान उपन्यास तथा दिक् प्रधान अर्थात् व्यक्तित्व प्रधान उपन्यास।

एक उपन्यास में लेखक पाठक को एक नगर, कह लीजिये दिल्ली के कनाटप्लेस की सडक पर खडा कर देता है। वहाँ पर एक ही समय मे एक ही स्थान पर अनेक व्यक्ति एकत्र होते हैं और पाठक उन सब व्यक्तियों की चेतना की झाँकी लेता है, देखता है कि वे क्या करते हैं, क्या सोचते हैं। किस-किस तरह के व्यापार में निरत होते हं, दूसरे उपन्यास में पाठक को

एक व्यक्ति की चेतना प्रवाह में अवस्थित कर दिया जाता है और वह व्यक्ति की स्मृति की उत्ताल तरंगों पर इधर से उधर प्रवाहित होता रहता है। पहला काल प्रधान उपन्यास है जिसके दबाव में पड़कर इधर से उधर बिखरी पड़ी रहने वाली आकस्मिक घटनायें एक सार्थक रूप धारण कर लेती हैं, जिसका ज्ञान सिवा सवज्ञ लेखक के और किसी को नहीं होता। दूसरे में नियामक सूत्र व्यक्तित्व में है जो स्मृति के आधार सामयिक टुकड़ों को सार्थकता प्रदान करता है। इन दो प्रकार के उपन्यासों की रचना-पद्धति को यदि चित्र रूप में दिखलाया जाय तो वह कुछ इस प्रकार का होगा—

M = Memory
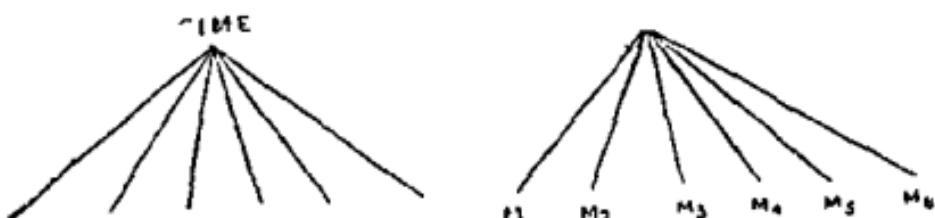
यदि हम 'ततुजाल' को देखें तो पता चलेगा कि इसमें कुछ अंश में तो नियामक सूत्र काल के हाथ में और कुछ अंश में नियामक सूत्र पात्र के व्यक्तित्व के हाथ में है और इन दोनों के पारस्परिक आकर्षण और विकर्षण स्वरूप कथा आगे बढ़ती है, सीधी पंक्ति में नहीं परन्तु टेढ़े-मेढ़े रास्ते से, लीक को छोड़ कर चलती हुई कभी इधर कभी उधर। हाँ इसके कुछ Fixed points जरूर हैं, जहाँ इधर-उधर भटकती हुई भी कथा आ जाती है और फिर आगे बढ़ती है। पता नहीं और लोगों को इस तरह का अनुभव है या नहीं। पर मुझे तो है। मैं किसी मित्र के घर पर मिलने गया। वह घर जरा मेरे घर से दूर। मुझे यदि दूसरे बार उस मित्र के यहाँ जाना होता है तो प्राय राह भूल जाया करता हूँ। अत इस भूल से बचने के लिए मैं करता क्या हूँ कि कुछ मुख्य मुख्य Sign posts को ठीक से नोट कर लेता हूँ। जैसे—यह मजेस्टी टाकी है, यह ताजमहल होटल है, यह राजमहल एण्ड को० पुस्तक भण्डार है। अत यदि भूल भूलैया लगती है तो इन्हीं के सहारे अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता हूँ। इतना ही नहीं। कभी कक्षा में व्याख्यान देते हुए भी इस तरह विषयान्तर में चला जाता हूँ कि भूल जाता हूँ कि किस विषय पर पढ़ा रहा था तो छात्रों से पूछना पड़ता है कि हाँ, तो क्या पढ़ा रहा था। और तब उनकी सहायता लेकर आगे बढ़ता हूँ। कुछ

इसी तरह की परिस्थिति का सामना 'ततुजाल' के पाठक को भी करना पड़ता है।

कथा-रस—वह कथा-रस जो जो सीधे-सादे ढग से प्राप्त होता है—पर लुब्ध पाठकों के लिए 'ततुजाल' की कथा के सूत्र को Follow करने मे कुछ कठिनाई होगी पर इन सारी उलझनो के बीच जिस सुनिश्चित् योजना का अनुपालन किया गया है उसे एक बार समझ लेने पर उपन्यास आइने की तरह साफ हो जाता है। सर्वप्रथम हम एक पात्र के चेतना-प्रवाह के सम्पर्क मे आते है अर्थात् व्यक्तित्व (Space) अचल है, काल चंचल। हम व्यक्ति की स्मृति की आँधी पर सवार हो न जाने कहाँ-कहाँ घूम आते है मानों भूत, भविष्य, वर्तमान का अन्तर मिट गया हो। तत्पश्चात् हमारा ध्यान पात्र के वातावरण की ओर जाता है, हम दूसरे-दूसरे पात्रों की चेतना मे प्रवेश करते है, जिनका सम्बन्ध उस वातावरण से है। यह वह अवस्था है जब कि व्यक्तित्व तो चंचल है, अर्थात् व्यक्ति तो पृथक-पृथक है, हम पृथक-पृथक व्यक्तियो के चेतना प्रवाह मे पैठते है, पर समय स्थिर है। इसके बाद इन पात्रों मे से एक की चेतना मे, सब ओर से हट कर, जम कर आसन जमा लेते है और उसके स्मृति प्रवाह पर प्रवाहित होने लगते है। यहाँ पुनः व्यक्ति की स्थिरता और समय की चंचलता वाली स्थिति आ जाती है। इसके बाद फिर हमारा ध्यान एक बार वातावरण की ओर जाता है, भिन्न पात्रों की चेतना के साथ हमारा सम्पर्क होता है। अर्थात् समय स्थिर पर व्यक्ति चंचल की अवस्था स्थापित हो जाती है। इसी तरह उपन्यास का निर्माण होता जाता है। यह बात निम्नलिखित चित्र (पृ० ४६६) से स्पष्ट होगी—

कथा A T F T A T B T A की राह से बढती है और इस राह के बारे मे यह नहीं कह सकते कि प्रथम मुनिन्ह जे कीरति गाई। सो मग चलत सुगम मोहि भाई। नहीं, यह एक नया मार्ग है। परम्परा-पालक उपन्यासों का मार्ग नहीं है। इस मार्ग पर चलने के कारण उपन्यास को मानव-जीवन के अन्तर्प्रयाण मे सुविधा होती है।

वास्तव मे देखा जाय तो इधर के उपन्यासों मे जितने भी प्रयोग किये गये है, उनका एक मात्र लक्ष्य है कथा कहना नहीं, वे 'अकथेप्सु' है, वे अफलप्रेप्सु है, उनमे इस बात की जल्दी नहीं पड़ी है कि किसी कार्यारम्भ का फल या परिणाम कुछ दिखला ही दिया जाय। नहीं, शुभ या अशुभ फल की गारन्टी कौन ले सकता है। हमारा तो 'कर्मण्येव अधिकारः' है, हम प्रयत्न कर सकते है और सो भी मानसिक प्रयत्न। क्योंकि बाहरी प्रयत्न के लिए
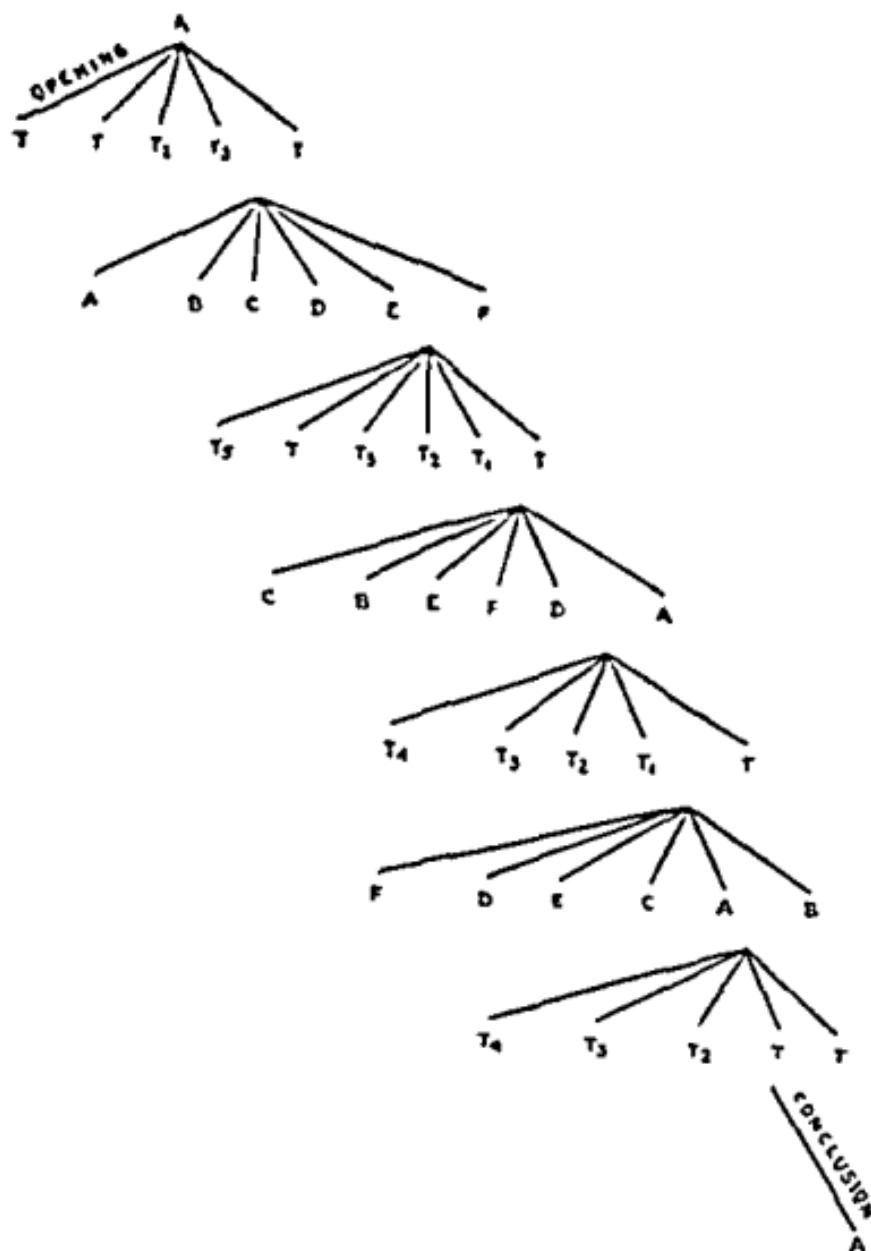
भी हम स्वतन्त्र नहीं हैं। हम अपने शत्रु को मजा चखाना चाहते हैं, उसकी हड्डी पसली एक कर देना चाहते हैं। पर हम कर सकते हैं भला ? पर अपने अन्दर उसको लाकर अपने मानसिक जगत् में उसे बैठा कर उसके साथ यथेप्सित व्यापार करने में इस कलियुग में क्या बाधा है ? कहा ही कि मानस पाप न कलिकर पापा।"

डायरियों का प्रयोग, कथा-साहित्य के क्षेत्र मे, बहुत प्राचीन तो नहीं है पर फिर भी होता रहा है। पर डॉ० देवराज ने अजय की डायरी मे एक नया प्रयोग किया है। एक पात्र दूसरे पात्र की डायरी पढ़ता है और तब अपनी डायरी लिखता है। जिस तरह से नदी के प्रवाह को बाँध देने से प्रवाह मे तेजी आ जाती है उसी तरह यहाँ पर भी थोड़ी सीमा डाल देने के कारण पात्रों के मानसिक प्रवाह मे तेजी आ गई है, इसमे कोई संदेह नहीं। ऐसे उपन्यासों की कमी नहीं जिनमे आठ-दस पात्र मिलकर किसी सामयिक समस्या पर विचार करते हों। पर ऐसा प्रयोग अभी तक देखने मे नहीं आया था कि विचार विमर्श के दौरान मे कुछ समय के लिए दो पात्र सभा से अलग होकर विचार करने लगे हों और फिर सभा मे सम्मिलित हो। जैनेन्द्र ने अपने नूतन उपन्यास 'जयवर्धन' मे इस तरह का प्रयोग किया है। मैंने एक स्थान पर कहा है कि उपन्यासकार स्वयं veyer होता है, दूसरों के गुप्त रहस्यों के देखने मे उसे मजा आता है और पाठको को भी Peeping Tom बनाता है। जैनेन्द्र को आठ-दस व्यक्तियों की सम्मिलित गुप्त सभा से संतोष नहीं। वे अधिक ऐकान्तिक रहस्य देखना और दिखलाना चाहते हैं। जिस तरह गीता का साधक विविक्त सेवी लघ्वाशी, ध्यान-योग तत्पर होता है, ठीक उसी तरह अपने क्षेत्र मे एक मनोवैज्ञानिक कथाकार विविक्त सेवी होगा, उसे ज्यादा भीड-भाड़ पसद नहीं होगी। वह लोगों के एकात तथा गोपनीय रहस्यों का द्रष्टा और दर्शायक होगा। जैनेन्द्र के मनोविज्ञान मे इस एकात-रहस्य-दर्शन की प्रवृत्ति अधिक है।* उनका सारा साहित्य एक विचित्र गोपनीयता के झीने आवरण से अच्छादित है। समझ मे नहीं आता कि उनके पात्र क्या कहना चाहते है।

इस पर्देनशीं से कोई खाक बर आये,
ख्वाब मे भी आये तो मुंह ढाँककर आये।

इधर 'ग्यारह सपनों के देश' मे एक नया प्रयोग हुआ है। इसमे ११ उपन्यासकारों ने एक-एक परिच्छेद लिखे है और इन ११ परिच्छेदों मे यह उपन्यास पूर्ण हुआ है।

तंतुजाल पर विचार, अजय की डायरी से तुलना

डॉ० रघुवंश का ततुजाल भी यहाँ पर उल्लेखनीय है, क्योंकि अजय की डायरी की तरह ही इसमे भी कथाभाग के प्रति सर्वथा उदासीनता है। नीरा बहन की तबियत अधिक खराब है। बहुत लम्बी बीमारी के कारण

शायद व जीवन के अंतिम क्षणों पर पहुँच रही हैं। उनसे ही मिलने के लिए नरेश रेवाड़ी स्टेशन से अलवर को प्रस्थान करता है। रेवाड़ी और अलवर म केवल कुछ घण्टों की दूरी है। इसी अवधि में नरेश के स्मृति पटल पर अतीत की घटनायें जीवनोप्लव की तरह सामने आती हैं। उन्हें नरेश मानो फिर से जी रहा है, और इसी क्रम में उपन्यास का निर्माण होता चला जा रहा है। लेखक ने कहा भी है "फिर एक दिन अपनी समस्त पिछली स्मृतियों के रूप में रह जाता है 'ततुजाल।'

'ततुजाल' की विशिष्टता, अजय की डायरी की तुलना में, दो बातों में निहित है। प्रथमत तो वर्ण्यवस्तु में, द्वितीयत वर्णन के ढग में। दोनों उपन्यासों म, इतना निश्चय है, पात्रों के मानस की गहराई में जाकर पकड़ने की चेष्टा की गइ है, पर अजय अपने अन्दर इतना डूबा हुआ नहीं प्रतीत होता कि Reality principle से उसका सम्पर्क मूत्र छिन्न भिन्न मालूम पड़े। सब कुछ होते हुए भी ऐसा लगता है, उसका बाह्य ससार बरकरार है, वह सब कुछ छोड़ छाड़कर राहे खुदा पर नहीं है अर्थात् वह ससार की बाह्य निष्ठता से मुख मोड़कर सर्वथा आत्मनिष्ठता म नहीं दुबक गया है। मनोवैज्ञानिक ने मानस की जिस प्रक्रिया को Secondary process कहा है वह भी पर्याप्त रूप म सक्रिय है। अजय अपना तात्कालिक वास्तविक जीवन जी रहा है हालाँकि उसमें उबलते बड़वानल के दाह की आँच उसे बैचेन अवश्य कर देती है। परन्तु ततुजाल के पात्र नरेश पर से Reality principle की पकड़ छूट सी चली है, वह Morbidity की सीमा के पास पहुँच गया है। नीरा और नरेश में जो आकर्षण है वह साधारण अर्थ में भाइ और बहन का सबध नहीं है। वे फ्रायडियन भाई और बहिन अधिक हैं। उनमें एक तरह की Morbidity है जो उन्हें वास्तविक अर्थ में स्वस्थ नहीं रहने देती। वे दोनों एक तरह से रुग्ण हैं, मानसिक दमन के शिकार हैं। नरेश पुरुष होने के नाते अधिक दृढ है। अत उसका Ego अन्दर से उफनकर आनेवाली प्रवृत्तियों पर अधिक नियन्त्रण कर सकता है, हालाँकि वह भी मुह की नोक पर ही खड़ा है और लगता है कि अब गिरा तब गिरा। पर नारी नारी है, उसमें कोमलता है, कहीं न कहीं कमजोर है, अत उसे यदि जीवित रहना है तो समझौता करना ही पड़ेगा और यह समझौता उसे Symptoms के मूल्य पर हो हो सकता है। नीरा जिस रोग से आक्रांत है, रोग स अधिक Symptom है, उसका मनोवैज्ञानिक महत्व अधिक है। यह रोग उसके लिय Psychological necessity है। यह ऐसा रोग है जिसे

मनोवैज्ञानिकों ने Psycho-somatic कहा है। यह शारीरिक कष्ट मानस मे स्थित किसी न किसी पीड़ा का शारीरिक रूप है।

नीरा पर केस हिस्ट्री रूप में विचार

यदि नीरा को केस हिस्ट्री के रूप मे देखा जाय और साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र से जरा बाहर निकलकर चिकित्सा के क्षेत्र मे प्रवेश किया जाय तो इस बात के लिए भी कारण ढूँढ़े जा सकते है कि नीरा को जिस रोग ने आक्रात किया वह Intistenal T. B. के रूप मे ही क्यों प्रकट हुआ? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो किसी उपन्यास मे ऐसे ही स्थल महत्त्वपूर्ण समझे जाते है, जहाँ पर लेखक की ओर से कुछ अधिक नहीं कहा गया हो, पर मनोवैज्ञानिक आलोचक को घटना के पीछे जा कर उसके रहस्यों को उद्घाटन करने का अवसर मिले। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक Jung ने Psychology and literature नामक निबंध मे इसी मत का समर्थन किया है। परन्तु हम इस कारण के ढूँढ़ने के फेर मे नहीं पड़ेंगे कि नीरा को इसी रोग ने क्यों आक्रात किया, उसने दूसरा रूप क्यों नहीं धारण किया? उसे खासी क्यों नहीं हुई? उसे हृदय की धड़कन की बीमारी क्यों नहीं हुई? या उसके शरीर के किसी अग मे कोई विकार क्यों नहीं उत्पन्न हो गया? मेरे कहने का उद्देश्य यह है कि लेखक रोग के इस पहलू से अवगत नहीं है। एक जगह जो डॉक्टर नीरा की चिकित्सा करता है, वह कहता है—"रोगी रोग के साथ होता है.. ..रोगी कभी डॉक्टर के साथ नहीं रहता, वह सदा रोग के साथ रहता है।" "वह कहना चाहती, ऐसा मानकर क्यों चला जाय कि प्रत्येक मरीज एक बच्चा होता है, जो अपने भले बुरे को नहीं समझता जो रोग के विषय मे कुछ भी जानकर घबरा ही जायेगा.... इसके विपरीत उसे समझाकर अधिक सहायता ली जा सकती है, मरीज अधिक कॉपरेट कर सकता है। डॉक्टर, हाउस सर्जन मुस्करा देता है और उसकी मुस्कान उसके इन सारे प्रश्नों का उत्तर दे देती है—"यह ऐसा ही चलता है, प्रत्येक मरीज यही तर्क देता है। पर प्रोफेसर का कहना ठीक है कि रोग की चिकित्सा अथवा निदान मरीज के मनोविज्ञान पर अधिक आधारित है" हर केस को हमको सॉयकोलोजीकल ढंग से लेना चाहिये" और नीरा, तुम्हारे जैसे सेल्फकाशस मरीजों के लिए उनका कथन बिल्कुल सही है।"

वास्तव मे अगर कथा की दृष्टि से देखा जाय तो 'अजय की डायरी' मे

अपेक्षाकृत कथा का अंश ज्यादा है। सब कुछ होते हुए भी पुस्तक पढ लेने के बाद 'अजय की डायरी' के कथा भाग को दो चार पंक्तियों में कह लेना कोई कठिन नहीं है। परन्तु 'ततुजाल' के पढ लेने के बाद किसी कथा को व्यवस्थित रूप से उपस्थित करने में कठिनाइ का सामना करना पड़ेगा। 'ततुजाल' में तो नरेश रेगाड़ी से चलता है, जरा सा आँख उठाकर बाहरी दृश्य को देख भर लेता है। देख लेता है कि भागती हुई ट्रेन के कारण दृश्य में क्या परिवर्तन होते चले जा रहे हैं और पुन अपने अतीत जीवन के चेतना प्रवाह में तल्लीन हो जाता है। इस उपन्यास को पढकर एक ऐसे जलचर की कल्पना उपस्थित हो जाती है, जो जरा सा सर उठाकर बाहर के ससार पर एक नजर डाल देता है और बाद में डुबकी लगाकर जल के नीचे-नीचे ही तैरता रहता है। फिर बहुत देर के बाद जल की सतह के ऊपर झाँकता है और पुन उसके बाद ज्यों का त्यों जल प्रवाह में तल्लीन। इसी जलचर की भाँति नरेश जरा सा बाह्य ससार को देख भर लेता है, परन्तु फिर उससे डरकर अपने चेतना प्रवाह के आतरिक जगत् में लीन हो जाता है।

उपन्यास के प्रति पाठक की दो तरह की प्रतिक्रियाये —

किसी उपन्यास के पढते समय पाठक में दो तरह की प्रतिक्रिया होती है, एक तो तब, जब वह उपन्यास पढना समाप्त कर लेता है और उसकी सारी कथाओं से अवगत हो जाता है। वह इस परिस्थिति में होता है कि इस उपन्यास की कथा को अपने शब्दों में कह सके। दूसरी प्रतिक्रिया वह होती है, जिस वक्त वह उपन्यास पढता रहता है, ज्यों-ज्यों वह पढता जाता है, त्यों-त्यों उसके अन्दर प्रतिक्रिया होती जाती है। उपन्यास अपने रहस्य का उद्घाटन करता जाता है, मानो पाठक सारी घटनाओं को अपनी आँखों के सामने घटती हुई देख रहा है। जो उपन्यास मनोवैज्ञानिक होंगे, उन उपन्यासों में आपको पुस्तक समाप्त कर जल्दी से जल्दी किसी परिणाम का ज्ञान लेने की प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की प्रेरणा नहीं होगी। आप बड़े मजे में धीरे धीरे उपन्यास को पढते जायेंगे और आपके अन्दर कोई रस, जिसे मनोवैज्ञानिक रस कह लीजिये, धीरे धीरे प्रवेश करता जायगा। मानो किसी का बेहोशी की शीशी सुघाकर आपरेशन किया गया हो। मैंने एक दाँत के डाक्टर के चिकित्सालय के सामने यह विज्ञापन लिखा हुआ पढ़ा था कि 'आपका दाँत निकल जाये और आपको पता तक न हो।' मनोवैज्ञानिक उपन्यास का

लेखक, इसी तरह का आपरेशन अपने पाठकों के मस्तिष्क का करता है और जो कुछ उसे देना होता है, वह कौशल से देता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि वह जो कुछ पाठकों को देना चाहता है, उस वस्तु का स्वरूप ही ऐसा होता है कि वह इसी ढंग से दी जा सकती है। कम से कम इतना तो सही ही है कि इसी ढंग से दिये जाने पर वह चीज अधिक सुविधा पूर्वक दी जा सकती है।

दूसरी ओर जिन कथाकारों में मनोविज्ञान का अधिक आग्रह नहीं होता, उनमें पाठकों के अन्दर दूसरे तरह की प्रतिक्रिया जगाने की प्रवृत्ति होती है। वे पाठक के अन्दर ऐसी प्रवृत्ति जाग्रत करते हैं कि पाठक जल्द से जल्द कथा के चरमोत्कर्ष वाले भाग पर पहुँच कर संतोष की साँस ले और एक ऊँचे टीले पर बैठकर सारी घटनाओं का बाह्य दृष्टि से सिंहावलोकन करे। देखे कि ये कथायें कहाँ तक मनोरंजक हैं, कार्य और कारण की शृंखला में आबद्ध हैं या नहीं। लोगों के हृदय में कहाँ तक अपनी सत्यता का भ्रम उत्पन्न करते हैं, अर्थात् इस तरह के उपन्यासों का पाठक उपन्यास पढ़ लेने के बाद ही उस पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यास के पाठक को पुस्तक समाप्त कर लेने की कोई जल्दी नहीं होती, न तो वह पुस्तक प्रारम्भ होती है और न कहीं उसका अन्त होता है।

'छविनाथ' पर विचार, स्मृति-उपन्यास—

अभी हाल ही में श्री योगेश गुप्त का 'छविनाथ' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ है। जिसे लेखक ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहा है। इसमे भी एक पात्र छविनाथ किसी मानसिक आवेश मे आकर तथा परिस्थितियों से अनुप्रेरित होकर अपने गृह को त्यागकर बाहर निकल पड़ता है और ट्रेन मे बैठकर एक अज्ञात प्रदेश की ओर यात्रा कर रहा है। जिस वक्त वह ट्रेन में बैठा है और गाड़ी धीरे-धीरे या तेज रफ्तार से आगे बढ़ रही है, उस वक्त उसके मस्तिष्क पर अपने प्राचीन जीवन की सारी खट्टी मीठी स्मृतियाँ झंझावात की तरह जाग उठती है और वह फिर से अपने अतीत को जानने लगता है। और इसी धुन मे उपन्यास की सृष्टि रचना हो जाती है। इस उपन्यास को भी एक तरह उन उपन्यासों की श्रेणी मे रखेंगे, जिन्हे Novel of memory कहा गया है और जिसका निर्माण फ्लेश बैक टेकनीक अर्थात् पूर्व-दीप्तीय पद्धति पर हुआ है। ऐसा लगता है कि पूर्व-दीप्तीय पद्धति मनोवैज्ञानिक कहे जानेवाले उपन्यासों की विशेषता सी मानी जाने

लगी है और ऐसा भी समय आ सकता है कि इसे रूढ़ि या परम्परा के रूप में अपनाये जाने लगे। इस उपन्यास में भी 'ततुजाल' की तरह कथा की बेयरिंग्स को स्पष्ट रखने के लिए यह बात समय समय पर याद दिलाई जाती है कि गाड़ी चल रही है और पात्र ऐसा सोच रहा है। परन्तु आगे चलकर शायद लेखक यह भूल गया है और प्रारम्भ में दो-तीन स्थानों पर इस बात का उल्लेख कर वह चुप हो गया है और पुन कहानी अपने ढग से विकसित होती चली जा रही है।

यह पिकारेस्क नावल नहीं—

इस उपन्यास म छविनाथ अनेक नारियों के सम्पर्क म आता है और उनको लेकर जो उसकी भिन्न भिन्न अनुभूतियाँ हुइ हैं, उन्हीं को वह कहता चला जा रहा है। यदि इन अनुभूतियों को एक दूसरे से अलग भी कर दिया जाय तो एक तरह से उनमें पूर्णता आ जाती है। यदि ये अनुभूतियाँ उपन्यास में ग्रथित हुई हैं तो उसका कारण यही है कि वे एक व्यक्ति के जीवन से सम्बद्ध हैं। इस तरह से यह उपन्यास पहले के पिकारेस्क नॉवेल से मिलता जुलता मालूम पड़ता है, जिसम नायक को भिन्न भिन्न परिस्थितियों में डालकर उसके Adventures की कहानी कही जाती है। इसीलिए छविनाथ और इन उपन्यासों को एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। उन उपन्यासों का एकमात्र ध्येय कथा की स्थूल विवरणात्मकता देकर पाठकों के हृदय की कौतूहल वृत्ति को सतुष्ट करना था, परन्तु यहाँ घटनाओं की स्थूलता से अधिक इन घटनाओं ने जिस मानसिक उथल-पुथल को जन्म दिया है, उनका सजीव चित्र उपस्थित करना ध्येय है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि छविनाथ का ध्येय कथा कहना नहीं, परन्तु मानसिक प्रतिक्रिया का चित्रण करना है।

लेखक का मनोविज्ञान—

एक बात और ऐसा लगता है कि लेखक भी कहीं न कहीं अपने उपन्यासों में जो कुछ भी स्थूल वर्णनात्मकता आ गई है, उससे वह असतुष्ट है। लेखक ने इस उपन्यास का नामकरण किया है, छविनाथ। और कोष्टकों में लिखा है—एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास! इन दो-चार शब्दों के आधार पर ही आप लेखक के मनोविज्ञान का विश्लेषण करें। नामकरण की पद्धति वही पुरानी है, जिसे देवकी नन्दन या किशोरी लाल वगैरह अपनाते थे। अथवा संस्कृत के महाकाव्यकार अपनाते थे। उनके यहाँ एक नियम था

या कि महाकाव्य या नाटकों का नाम नायक या नायिका के आधार पर रखा जाये। यहाँ पर भी छविनाथ का नामकरण नायक के नाम के आधार पर ही हुआ है। परन्तु आगे चलकर उपन्यासकार की अचेतन प्रज्ञा ने इसे टोका है और चेतावनी दी है कि आज का युग मनोविज्ञान का युग है, जिसमे नायक की स्थूल कथाओ से अधिक महत्व उसके मानस के सूक्ष्म विश्लेषण को दिया जाता है। अतः साधारण कथा न कहकर पात्र के मानस-प्रदेश की कथा कहनी है तो तुम्हे सम्हलना होगा। और नामकरण मे संशोधन करना होगा, जिसका परिणाम हुआ है कि "एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास" ऐसा वाक्य खण्ड जोड दिया गया है। छविनाथ नाम तो उपन्यास आई हुई कथा की स्थूलता अर्थात् स्थूल वर्णनात्मकता का प्रतिनिधित्व करता है और एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास यह वाक्य खंड इस युग का प्रतिनिधित्व कर रहा है—वह युग जो मनोविज्ञान का युग कहा जाता है और जिसकी झलक अज्ञात रूप से प्रत्येक संवेदनशील साहित्यकार मे आ ही जाती है।

छविनाथ की कथा का रूप—

मुझे एक जगह यह भी कहने का अवसर आया है कि आधुनिक मनोविज्ञान ने ही चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध मे बतलाया है कि वह एक सीधी रेखा मे आगे नहीं बढ़ती, टेढ़े-मेढ़े रूप मे ऊपर नीचे झाँकती हुई, डूबती-उतराती चलती है। यह बात आधुनिक उपन्यासों की विशेषता हो रही है, जो इस उपन्यास मे परिलक्षित होती है। इस उपन्यास के वाक्यों को देखिये—

"रेल एक निश्चित दिशा मे एक निश्चित गति से बढी चली जा रही थी। पर छविनाथ की स्मृतियों का कोई क्रम न था। कुछ ऐसी ही उनकी गति थी, जैसे किसी ने ए बी सी डी को सी बी डी ए करके रख दिया हो और करने वाला स्वयं ही परेशान हो कि उसे मँगवाया कैसे जाय"[१४]।

इनके पढ़ने के बाद उपन्यासकार के मंतव्य के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता। सच्ची बात तो यह है कि घटनाओं के प्रति वर्तमानकालिक रुख अपनाने पर उपन्यास मे सूक्ष्मता अथवा मनोवैज्ञानिकता के समावेश का अवसर कम रह जाता है। वर्तमान मे कुछ ऐसी उग्र तात्कालिकता रहती है, उसमे कुछ ऐसी सर्वग्रासिनी क्रियात्मकता रहती है, मनुष्य वर्तमान की समस्याओं को लेकर इतना सकर्मक हो जाता है कि

उसमें चिंतन के परिस्फुटित होने का अवसर ही नहीं मिलता। उसकी आँख इतनी खुली रहती है कि उसे बंद करने की फुरसत ही नहीं रहती। इसलिए आज के जितने भी महत्वपूर्ण उपन्यास हैं व स्मृति के उपन्यास हैं, उनमें लेखक या पात्र मुड़कर अतीत की ओर देखता है। छविनाथ में भी वही बात हो रही है।

कथा में मनोविज्ञान के समावेश की दो पद्धतियाँ और छविनाथ—

कथा की दृष्टि से छविनाथ में कोई विशेष बात नहीं है। जिस तरह 'अँधेरे बंद कमरे' में मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग यत्र तत्र मिलता है और ऐसा लगता है कि उपन्यासकार को आधुनिक मनोविज्ञान का ज्ञान है जिसका उपयोग वह उपन्यास की रचना में भी करता है, इस तरह की कोई भी चेष्टा छविनाथ में नहीं देखी जाती। छविनाथ की मनोवैज्ञानिकता इसी बात में है कि इसका पात्र एक ऐसा व्यक्ति है जिसके अन्दर कोई गाँठ हो जो उसे बेताब किये रहता हो, चैन नहीं लेने देता हो और वह शान्ति की खोज में इधर उधर मारा-मारा फिरता हो। उसके चरित्र की विशेषता इसी बात में है कि वह अनेक नारियों के सम्पर्क में आता है, उनकी रक्षा के लिए अपने को अनेक खतरों में भी डालता है पर किसी के साथ संतुलित तथा स्वस्थ सम्बन्ध की स्थापना कर सकने में असमर्थ है। इस विशेषता के आ जाने का क्या कारण है इस बात का सन्तोषजनक संकेत इस उपन्यास में नहीं मिलता। इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि छविनाथ मनोवैज्ञानिक उपन्यास नहीं है। किसी कलाकृति को शुद्ध होने के लिए यह आवश्यक होता कि वह जो कुछ भी होना चाहे उसका एक संतुलित तथा विश्वसनीय हृदयग्राहक चित्र उपस्थित करे। इसके लिए दो ही उपाय हैं या तो विषय संबंधी सारी बातों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया जाय जैसा प्रेमचन्द करते थे। जालपा के हृदय में आभूषणों के प्रति अपार मोह है। क्यों है? इसके लिए उन्होंने पर्याप्त कारण दिये हैं। दूसरी पद्धति यह है कि चित्र भले पूरा न हो। एक आध कूचियाँ चलें, पर जो भी कूची चले उसका प्रत्येक दाग दामनदार गहरा वाला हो, ऐसी हो कि उसी में सारा चित्र छिपा हो। वे रेखाएँ ऐसी स्थिति में, ऐसे स्थान पर स्थित हों कि विशिष्ट व्यापी और अनन्त की गई हों।

अब मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार के लिए दो ही प्रमुख साधन हैं— यदि उसका वर्णन ता यह पात्रनिष्ठ प्रत्येक विशेषता के लिए मनो

वैज्ञानिक कारण दे। उदाहरणार्थ—छविनाथ के लेखक को चाहिये था कि अपने नायक के बाल्य-कालीन जीवन का इतिहास विस्तार पूर्वक देता। माता और पिता के साथ उसके सम्बन्ध कैसे थे ···· इसी की चर्चा होनी चाहिये थी। उसको एक बहिन का होना भी आवश्यक था। दूसरे शब्दों में जिसे मनोवैज्ञानिकों ने Family Romance कहा है और जिसके आधार पर ही मानव चरित्र की विशेपताओं का निर्माण होता है उसके चित्रण को उभार कर रखने की चेष्टा नहीं की गई है। सामग्री तो उपस्थित थी। छविनाथ अपनी माँ को बेहद प्यार करता है। परन्तु साथ ही उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं करता। उसे तरह-तरह की पीड़ा ही देता है। यह बात उपन्यास के प्रथम पृष्ठों से ही स्पष्ट हो जाती है। यदि इस स्थल को अधिक गहराई पर मनोवैज्ञानिक ढग से छेड़ा गया होता तो एक उच्च कोटि के मनोवैज्ञानिक उपन्यास का निर्माण हो सकता था।

दूसरी पद्धति अल्परेखा पद्धति है जिसमें चित्र के व्यंग का सारा भार कुछ टेढ़-मेढ़ी रेखाओं पर ही दे दिया जाता है। हिन्दी कथा-साहित्य में इसके प्रवर्त्तक जैनेन्द्र है। छविनाथ में 'मेरी बात' वाला प्रारम्भिक वक्तव्य जो उपन्यास का ही अंग है वह जैनेन्द्री ढग पर लिखा गया है। स्पष्ट है कि जैनेन्द्र का प्रभाव इस कथाकार पर भी है। पर वह इस पद्धति का आद्यन्त निर्वाह कर नहीं सका है। प्रारम्भ में कथा का आरम्भ इस ढंग से हुआ है जिसमे कुछ मनोवैज्ञानिक दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, पर बाद में लेखक उसी वर्णनात्मक पद्धति पर आ गया है। मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से छविनाथ की विशेपता यही है और यह आधुनिक हिन्दी उपन्यासों की विशेपता है कि कथा-मूर्ति निर्माण के लिये जो मिट्टी ली गई है वह ऐसी है, जिसमें कलाकार की अंगुलियों के स्पर्श से पूर्व ही मनोवैशानिक छाप मौजूद है। इसमें जो कुछ भी शैली की ताजगी आ गई है वह स्वतः स्फूर्त है। अपने बल पर है। कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध नहीं है। कथाकार की ओर से कुछ भी सहायता नहीं मिल रही है। संभव है कलाकार को मनोविज्ञान का कुछ ज्ञान हो और वह चाहता भी हो कि मनोवैज्ञानिक कथा का निर्माण हो, पर मनोविज्ञान ने उसकी प्रतिभा के स्तर को नहीं स्पर्श किया है, जहाँ से सृजन क्रिया प्रारम्भ होती है।

प्रतिभा के उस स्तर का क्या अर्थ? अर्थ यह कि ज्ञान और विज्ञान की विविध शाखाओं के द्वारा हमारे ज्ञान की वृद्धि नित्य प्रति होती जा रही है। जानकारी बढती जा रही है। उसका बौद्धिक परिचय भरकर ही न रह जाय।

वह आगे बढ़ कर हमारी संवेदना का अंश हो जाय। हम उसे अपने राग-विराग से सम्बद्ध स्नेह की आँखों से देख सकें। जब तक हम उन्हें अपनी वेदना, पीड़ा, तथा हृदय संवेग से मिला कर नहीं देखेंगे, हमारे हृदय की धड़कन उनके साथ नहीं बोलेगी जब तक 'चन्द्रोदय इवाम्बुराशि' हम 'परिवृत्तधैर्य' नहीं होंगे, जब तक हम उसके सहज भोक्ता नहीं। जब तक उनका संबंध हमारे Enjoying और suffering being से नहीं होगा, तब तक नहीं कहा जा सकता कि हमारी प्रतिभा का सृजनात्मक स्तर झंकृत हो सका है। स्नेह ही सृजन का जनक है। हमारे कथाकारों को मनोवैज्ञानिक या किसी भी ज्ञान के प्रति स्नेह की आँखें उत्पन्न करना चाहिए। मैंने कहीं 'फिल्मी गीत' में पढ़ा था मन की आँखें खोल बाबा, मन की 'आँखें खोल'। किसी शायर ने भी दिल में दर्द पैदा करने के लिए ही कहा था—क्योंकि इल्म से शायरी नहीं आती, तो वह भी प्रकारान्तर से यही कह रहा था।

यही बात कविता के प्रसंग में Wordsworth ने भी कही थी—If the labours of man of science should ever create any material revolution, direct or indirect in our condition and in the impression which we habitually the poet will sleep no more than at present, he will be ready to follow the steps of the man of science not only in general effects, but he will be at his side carrying sensation in the midst of the objects of the science it self The remotest dicovery of the chemist, the Botanist of Mineralogi t will be as proper object of the Poet's as upon which it can be employed अर्थात् यदि वैज्ञानिकों के परिश्रम के फलस्वरूप हमारी परिस्थितियों में तथा साधारणतः हम जो सम्वेदना प्राप्त करते हैं, उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में कोई महत्वपूर्ण क्रांति हुई तो कवि भी आज से ज्यादा सोया नहीं रहेगा। वह वैज्ञानिक का केवल साधारण प्रभावों में ही पीछा नहीं करेगा, परन्तु वह उसके बगल में खड़े होकर विज्ञान के पदार्थों को भी संवेदनीय बनायेगा। जिस तरह अन्य कोई भी विषय कवि के लिए उपजीव्य हो सकता है, उसी तरह रासायनिक वनस्पति या खनिज विज्ञान का कोई भी अदना सा आविष्कार कवि का उपजीव्य हो सकता है।"

मेरे कहने का अर्थ यह कि हिन्दी कथाकारों का इतना पता तो चल गया है कि कहीं पर आसपास ही मनोविज्ञान का मधुपात्र रखा हुआ है, उसकी गंध भी उनके नासिकारंध्र में प्रवेश कर रही है, वे दौड़ कर एक दो

घूंट पी भी लेते हैं, पर अपनी संवेदनाओं को लेकर वहाँ पहुँच नहीं सके हैं। आवश्यकता है कि अपनी सारी संवेदनाओं के साथ मनोविज्ञान के गृह मे प्रवेश किया जाय तभी कथा-साहित्य की जडे उस रस से सिंचित होंगी, जिसे हमने मनोवैज्ञानिक रस कहा है।

छविनाथ में कथोपकथन—

जब से कथा-साहित्य मे अन्तर्मुखी प्रयाण की प्रवृत्ति बढ़ी है, तब से कथोपकथन को अधिक से अधिक स्थान मिलने लगा है, इस बात का उल्लेख प्रेमचन्द के उपन्यासों के सम्बन्ध मे चर्चा करते समय किया जा चुका है। पर यह कथोपकथन दो भिन्न-भिन्न पात्रों के बीच हुआ करता था पर इस अन्तर्मुखी अर्थात् मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के विकास के साथ इस कथोपकथन के रूप मे परिवर्त्तन आता जाता है। यह कथोपकथन दो या अधिक पात्रों के बीच न होकर अपने से ही होता है, यह स्व-वार्त्तालाप है, मानो मनुष्य मे एकाधिक व्यक्तित्त्व हो और एक अंश दूसरे से बाते कर रहा हो। इधर के दस वर्षों के प्रकाशित उपन्यासों मे शायद ही कोई उपन्यास हो जिसमे इस तरह के स्व-वार्त्तालाप का सन्निवेश न हो। छविनाथ मे इस तरह के बहुत सजीव तथा सशक्त वार्त्तालाप नहीं मिलते, पर फिर भी ऐसे अवसर आए ही हैं। उदाहरण लीजिये छविनाथ की माँ ममतामयी कल्पना करती है कि छवि की शादी के बाद यह गृहस्थी खूब सुखी हो जायेगी। बस वह फिर स्वर्गीय पति के पास पहुँच जायेगी और वे दोनों ऊपर से इसे देख कर खुश होंगे। वे दोनों इस तरह बाते करेंगे—

वह कहेंगे, "नहीं जी, भला तुम्हे बेवकूफ समझना साफ बेवकूफी है"
"फिर मजाक उडाने लगे"
अरे, मजाक नहीं, सच !
सच ?
हाँ, बिल्कुल सच !
मुझमे भी बुद्धि है ?
बहुत है, मुझसे भी अधिक।
तुमसे भी अधिक ?
हाँ,
कैसे,
देखो ना, जो मैं नहीं कर पाया, वह तुम कर आई। वह झट **उनके**

यह आग यह पर हमारा वेदना का अंश हो जाए। हम उन व्यक्त राग-विराग से सम्पृक्त स्नेह की आँखों से देख सकें। जब तक हम उन्हें अपनी वेदना, पीड़ा, तथा हृदय आवेग से मिला कर नहीं देखेंगे, हमारे हृदय की धड़कन उनके साथ नहीं बोलेगी जब तक 'नंद्रादय दयानुराशि' हम 'परिवृत्तधैर्य' नहीं होंगे, जब तक हम उनके बहुत भोक्ता नहीं। जब तक उनका सबंध हमारे Enjoying और suffering being से नहीं होगा, तब तक नहीं कहा जा सकता कि हमारी प्रतिभा का सृजनात्मक स्तर अकृत हो सका है। स्नेह ही सृजन का जनक है। हमारे कथाकारों का मनोवैज्ञानिक या किसी भी ज्ञान के प्रति स्नेह की आँखें उत्पन्न करना चाहिए। मैंने कहीं 'फिल्मी गीत' में पढ़ा था मन की आँखें खोल बाबा, मन की 'आँखें खोल'। किसी शायर ने भी दिल में दर्द पैदा करने के लिए ही कहा था—क्योंकि इल्म से शायरी नहीं आती, तो वह भी प्रकारान्तर से यही कह रहा था।

यही बात कविता के प्रसंग में Wordsworth ने भी कही थी—If the labours of man of science should ever create any material revolution, direct or indirect in our condition and in the impression which we habitually the poet will sleep no more than at present, he will be ready to follow the steps of the man of science not only in general effects, but he will be at his side, carrying sensation in the midst of the objects of the science it self The remotest dicovery of the chemist, the Botanist of Mineralogist will be as proper object of the Poet's as upon which it can be employed अर्थात् यदि वैज्ञानिकों के परिश्रम के फलस्वरूप हमारी परिस्थितियों में तथा साधारणत हम जो सम्वेदना प्राप्त करते हैं, उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में कोई महत्वपूर्ण क्रांति हुई तो कवि भी आज से ज्यादा सोया नहीं रहेगा। वह वैज्ञानिक का केवल साधारण प्रभावों में ही पीछा नहीं करेगा, परन्तु वह उसके बगल में खड़े होकर विज्ञान के पदार्थों को भी संवेदनीय बनायेगा। जिस तरह अन्य कोई भी विषय कवि के लिए उपजीव्य हो सकता है, उसी तरह रासायनिक वनस्पति या खनिज विज्ञान का कोई भी अदना सा आविष्कार कवि का उपजीव्य हो सकता है।"

मेरे कहने का अर्थ यह कि हिन्दी कथाकारों को इतना पता तो चल गया है कि कहीं पर आसपास ही मनोविज्ञान का मधुपात्र रखा हुआ है, उसकी गंध भी उनके नासिकारंध्र में प्रवेश कर रही है, वे दौड़ कर एक ??

घूंट पी भी लेते हैं, पर अपनी संवेदनाओं को लेकर वहाँ पहुँच नहीं सके हैं। आवश्यकता है कि अपनी सारी संवेदनाओं के साथ मनोविज्ञान के गृह मे प्रवेश किया जाय तभी कथा-साहित्य की जडे उस रस से सिंचित होंगी, जिसे हमने मनोवैज्ञानिक रस कहा है।

छविनाथ में कथोपकथन—

जब से कथा-साहित्य मे अन्तर्मुखी प्रयाण की प्रवृत्ति बढ़ी है, तब से कथोपकथन को अधिक से अधिक स्थान मिलने लगा है, इस बात का उल्लेख प्रेमचन्द के उपन्यासों के सम्बन्ध मे चर्चा करते समय किया जा चुका है। पर यह कथोपकथन दो भिन्न-भिन्न पात्रों के बीच हुआ करता था पर इस अन्तर्मुखी अर्थात् मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के विकास के साथ इस कथोपकथन के रूप मे परिवर्त्तन आता जाता है। यह कथोपकथन दो या अधिक पात्रों के बीच न होकर अपने से ही होता है, यह स्व-वार्त्तालाप है, मानो मनुष्य मे एकाधिक व्यक्तित्व हो और एक अंश दूसरे से बातें कर रहा हो। इधर के दस वर्षों के प्रकाशित उपन्यासों में शायद ही कोई उपन्यास हो जिसमें इस तरह के स्व-वार्त्तालाप का सन्निवेश न हो। छविनाथ मे इस तरह के बहुत सजीव तथा सशक्त वार्त्तालाप नहीं मिलते, पर फिर भी ऐसे अवसर आए ही है। उदाहरण लीजिये छविनाथ की माँ ममतामयी कल्पना करती है कि छवि की शादी के बाद यह गृहस्थी खूब सुखी हो जायेगी। बस वह फिर स्वर्गीय पति के पास पहुँच जायेगी और वे दोनों ऊपर से इसे देख कर खुश होंगे। वे दोनों इस तरह बातें करेंगे—

वह कहेंगे, "नहीं जी, भला तुम्हे बेवकूफ समझना साफ बेवकूफी है"
"फिर मजाक उड़ाने लगे"
अरे, मजाक नहीं, सच!
सच?
हाँ, बिल्कुल सच!
मुझमे भी बुद्धि है?
बहुत है, मुझसे भी अधिक।
तुमसे भी अधिक?
हाँ,
कैसे,
देखो ना, जो मैं नहीं कर पाया, वह तुम कर आई। वह झट उनके

पाँव छू कर कहेगी "नहीं जी, यह तो सब तुम्हारी ही कृपा का फल है। तुम ऊपर बैठे बैठे सब मुझसे करा रहे थे। नहीं तो मुझमें भला इतनी बुद्धि कहाँ से आई।

ऊपर वार्तालाप का जो अंश उद्धृत किया गया है वह पति पत्नी के बीच घटित वार्तालाप नहीं है, परन्तु पत्नी कल्पना करती है कि इस प्रकार का वार्तालाप होगा। अतः यह कुछ न कुछ अंश में दिवा स्वप्न का रूप धारण कर लेता है और वक्ता के आंतरिक रूप को समझने में इससे अधिक सहायता मिलती है।

अब यह अवस्था तो आ ही गई है कि दो पात्र ही नहीं, दो दरवाजे आपस में बातें करने लगते हैं। कल्पना कीजिये कि एक पात्र अपनी प्रेमिका से मिलने के लिए जाता है। दोनों किसी होटल के आमने सामने कमरे में ठहरे हुए हैं। दरवाजे के खुलने की आहट पाकर पात्र अपनी प्रेमिका से मिलने के लिए आगे बढ़ता है कि किवाड़ बन्द हो जाते हैं। अब रात भर दोनों दरवाजे ही बातें हा करते रहते हैं।

'वीरान रास्ते और झरना' की लेखिका शशिप्रभा शास्त्री ने अपने इस लघु उपन्यास की रचना आत्मकथात्मक शैली में की है। आधुनिक युग में उपन्यासों के लिए आत्मकथात्मक शैली बहुत लोकप्रिय है। क्यों लोकप्रिय हो गई है, इस पर अन्यत्र मैंने कुछ प्रकाश डाला है। ऊपर की पंक्तियों में मैंने आधुनिक कथासाहित्य में स्वावार्त्तालाप का अभिवृद्धि का उल्लेख किया है। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि जो प्रवृत्ति आज के कथा-साहित्य में स्वयावात्तालापकत्त्व को जन्म दे रही है आत्मकथात्मकता के मूल में भी वही काम करती है। आखिरकार आत्मकथा के रूप में लिखे पूरे उपन्यास को महास्ववार्त्तालाप मान लेने में क्या हानि है? संस्कृत के साहित्य शास्त्रियों ने वाक्य के साथ महावाक्य की कल्पना की ही है। जिस प्रकार आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि इत्यादि धर्मों से युक्त होकर पदसमूह वाक्य बनते हैं उसी तरह इन धर्मों से युक्त वाक्य-समूह भी हो सकते हैं। ऐसे वाक्य समुच्चय को महावाक्य कह सकते हैं। रामायण, रघुवंश इत्यादि काव्यों का निर्देश महाकाव्य के लिए किया गया है सम्पूर्ण काव्य एक महाकाव्य ही है। अतः आत्मकथात्मक शैली में रचित सम्पूर्ण उपन्यास एक बृहद् महास्व-वार्त्तालाप ही है।

यह तो बात स्पष्ट ही है आज उपन्यासों में डायरियों का, पत्रों का, प्रयोग अधिक होने लगा है। साधारण वर्णनात्मक उपन्यासों में भी डायरियों

तथा पत्र व्यवहारो से सहायता ली जाती है। जैनेन्द्र का नूतन उपन्यास 'जयवर्धन' डायरी ही है, डॉ० देवराज की 'अजय की डायरी' का कहना ही क्या है ?

इस उपन्यास का मूल, मनोवैज्ञानिक—

'वीरान रास्ते और झरना' का उल्लेख यहाँ पर इसलिए नहीं किया जा रहा है कि उपन्यास कला का उत्कृष्ट नमूना है। वास्तव मे कला की दृष्टि से यह सजीव और महत्वपूर्ण रचना नहीं है। कला के लिए जिस संयम, धैर्य तथा नियन्त्रण की आवश्यकता है उसका यहाँ पर नितात अभाव है। लेखिका की ओर से बाते कह देने की इतनी शीघ्रता है कि इस उतावली के कारण कला के प्रसाधनो को सक्रिय होने का अवसर ही नहीं मिला है। मेरा अपना ख्याल है कि कलाकार को पाठक की माँगों के प्रति झट से आत्म-समर्पण नहीं करना चाहिये। पाठक तो घटित कोई बात जान लेना चाहता है। वह चाहता है कि कथाकार जल्दी से जल्दी उसे रहस्य बतला दे ताकि उसे चैन की साँस मिले। परन्तु रोगी के मन को भावे वही वैद्य भी फरमाने लगे, ऐसा तो कभी भी सुनने मे नहीं आया। वैद्य तो पथ्यापथ्य विवेक कर उचित समय पर ही किसी वस्तु की व्यवस्था करता है। भले ही रोगी को थोड़ा कष्ट झेलना पडे। इस उपन्यास मे इस तरह का कोई भी प्रयत्न लेखिका की ओर से हुआ है ऐसा नहीं मालूम पडता।

परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्व हो सकता है और इसीलिए इसका यहाँ उल्लेख भी किया गया है। इसकी कहानी का मूल सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। मनोविज्ञान ने हमे ग्रंथियों (Complexes) से पर्याप्त रूप से परिचित करा दिया है और हम अब समझने लगे है कि मनुष्य का सारा नहीं तो अधिकाश जीवन व्यापार इसी धुरी पर चक्कर काटता रहता है। बालक अपने बाल्यकाल मे अपने माता-पिता तथा अन्य निकटतम सम्बन्धियों के सम्पर्क मे आता है। इन लोगो के व्यवहार से, बातों से, तथा वातावरण के प्रभाव से उसके अन्दर कुछ ग्रंथियाँ बन जाती है जो उसे एक विशेष ढग से क्रियाशील होने के लिए प्रेरित करती रहती है। यहाँ पर अचला छिपकर माँ और उसकी सखी के बीच होने वाले वार्तालाप को सुन लेती है और उसे यह बात मालूम हो जाती है कि उसकी माँ पतिता है, चरित्र भ्रष्ट है और वह अपने पिता की सतान न होकर अपने चाचा की अवैध सतान है। इस बात को सुनते ही उसके मन मे गाँठ जम

(३) घर का नौकरों में अनमना हर फेर या बिगाड़ आ जाने के कारण तुम बड़ी परेशान हो जाती हो और जब तक हर चीज कायदे से ठीक नहीं कर देती तब तक चैन नहीं मिलता ?

(४) क्या तुम्हें स्टाम्प, तितली, चिड़िया, अंडे के खोल, दियासलाई सिगरेट के पैकेट या उसका पता जमाकर रखने की दिलचस्पी रही है ?[१५]

'अँधेरे बन्द कमरे' तथा 'अमावस और जुगनू' इन दोनों उपन्यासों को पढ़ने के बाद पाठक के मन में एक बात आये बिना नहीं रह सकती। यद्यपि ये दोनों उपन्यास १९वीं सदी के स्थूल वर्णनात्मक उपन्यासों से सर्वथा भिन्न हैं और मनोवैज्ञानिक हो उठे हैं, पर फिर भी प्राचीन कथा-साहित्य की कुछ विशेषतायें लगी ही हुई हैं। दो बिछुड़े व्यक्तियों का मिल जाना, किसी गुप्त रहस्य का पता चल जाना, जिसे हमने मृत समझ लिया है उसे बहुत दिनों के पश्चात् एक संकटकालीन अवसर पर छद्मवेश में प्रकट हो जाना—ये सब कुछ motifs प्राचीन कथा-साहित्य की विशेषता था। इस तरह की बातें इन दो उपन्यासों में भी प्राप्त होती हैं। नीलिमा और हरवंश का दाम्पत्य जीवन टूटते टूटते बच गया है। हालाँकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अनिवार्य नहीं था। मैं यह मानकर चलता हूँ कि यह उपन्यास अपने में पूर्ण है और लेखक इसके सूत्र को बढ़ाना नहीं चाहता। यदि वह चाहे तो जीवन की उर्वरक खाद के आधार पर भूमि तैयार हो गई है उस पर एक अतिभव्य मनोवैज्ञानिक वृक्ष की नींव वह रख सकता है। ठीक इसी तरह अमावस और जुगनू में डॉ० जोशी, उपन्यास के अन्त में, रजत के पिता प्रमाणित होते हैं जो रजत के जन्म के बाद ही उसे छोड़कर सन्यासी हो गये थे। कथा की इस तरह की परिणति में प्राचीन कथा साहित्य के भग्नावशेष की गन्ध आती है। इन उपन्यासों की ओर से इतना ही कहा जा सकता है कि प्राचीन कथा साहित्य के भग्नावशेषों को भी मनोवैज्ञानिक परिवेश में लाकर बैठाने की चेष्टा की जा रही है। सम्भव है कि कथाकार की प्रतिभा अपनी आँच में इन्हें गलाकर अपने उपयुक्त बनाले।

डॉ० रांगेय राघव का उपन्यास 'पतझर' इस दृष्टि से अमावस और जुगनू से भी आगे का कदम मालूम पड़ता है। अँधेरे बन्द कमरे में एक मनोवैज्ञानिक केस की तथा एक मनोचिकित्सक की जरा सी चर्चा मात्र है। अमावस और जुगनू के अन्त में पात्रों का मानसिक संतुलन मानसिक आघातों के कारण नष्ट हो जाता है। दो मनोचिकित्सक आते हैं। विधिवत सम्मोहन तथा मनोविश्लेषण पद्धति से चिकित्सा करते हैं और उपन्यास के ७० ८०

पृष्ठों मे छाये रहते है। परन्तु पतझर मे प्रथम पंक्ति से डॉ० सक्सेना, जो अभी विलायत से पढ़कर आये है और दिमाग का इलाज करते हैं प्रवेश करते है तो अंतिम पंक्ति तक उपस्थित रहते है और कथासूत्र का संचालन करते रहते है। जगन्नाथ और मोहिनी मानसिक रोगी के रूप मे चिकित्सार्थ प्रवेश करते है तो उनकी मनोग्रंथियो के उन्मूलन तथा मानस स्वास्थ्य लाभ के साथ ही उपन्यास का अन्त होता है। जगन्नाथ एक ऐसा पात्र है जिसमे किसी मानसिक आघात के कारण देखने की शक्ति जाती रही है। मोहिनी एक ऐसी नारी है जो पहले तो बोलती नहीं थी पर अब सारी बातों का जवाब गीतों मे गाकर देती है। चिकित्सा के ग्रंथो मे ऐसे अनेक रोगियो के उदाहरण भरे पडे है, जिनमे दृष्टि शक्ति-हीनता तथा वाग्शक्ति-हीनता मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न हुए है। अतः इन पुस्तकों पर मनोविश्लेषण का प्रभाव स्पष्ट है।

श्री लक्ष्मी नारायण लाल के उपन्यास रूपाजीवा (१९५९) की चर्चा भी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों पर विचार करते समय असंगत नहीं होगी। यह अवश्य है कि इस उपन्यास मे मनोवैज्ञानिक शब्दावलियों का प्रयोग नहीं किया गया है। केवल एक पक्ति ऐसी है जिसमें 'कुन्ठा' शब्द का प्रयोग हुआ है। "एक भयानक कुण्ठा थी वह जो सारे फैसलों की जड मे बैठी थी।[१९] पर उपन्यास के जितने प्रमुख पात्र है—रूपाजीवा, सूरजा ईसरी, उनके व्यवहार, क्रियाओं आचरण को Face-value पर ही स्वीकार कर लेना समुचित नहीं होगा। उनके अन्दर एक भयानक चीत्कार है, वेदना है, बड़वा नल का दाह है। वे जरा सी बात पर उबल पड़ते हैं, अकाड-ताडव करने लगते है, वे ऐसे आचरण करने लगते है, जो उनको उत्पन्न करने वाले तात्कालिक कारणों से सानुपातिक रूप से संगत नहीं होते। देखने से वैसी ही कल्पना होने लगती है मानो एक पैसे की चोरी करने वाले को प्राणदण्ड की सजा दी गई हो। भरी पिस्तौल हो जो जरा से हल्के झटके पर ही फूट पडती हो। हमने अन्यत्र मनोवैज्ञानिक कथा-साहित्य के अभिप्रायों (Guilt feelings) की चर्चा की है। इस भावना के आधार पर रचित उपन्यास का यह अच्छा उदाहरण हो सकता है। किसी दुर्बल क्षण मे मनुष्य से कोई भूल हो जाती है या उसका वहम हो जाता है। वह अपने को अपराधी समझने लगता है और दण्डित होना चाहता है, ताकि उसकी आत्मा के अन्दर जो वृश्चिक दर्शन हो रहा है, उससे तो मुक्ति मिले। वह ऐसी परिस्थति भी उत्पन्न करता है, जिससे दण्ड सुलभ हो सके। यदि

यथोचित दण्ड मिल गया तो ठीक नहीं तो वह विक्षिप्त हो जाता है और उसकी यह विक्षिप्तता अनेक अकाण्ड ताण्डवों के रूप में प्रकट होती है। पति को जब अपने बच्चे को प्यार करते देखती है जलकर खाक हो जाती है, 'तेरा बच्चा भी हो।' पति के सज्जनतापूर्ण व्यवहार पर उसे नामर्द कहकर घृणा प्रदर्शित करता है। श्रीघड़बाबा जब चिमटों से मारकर उसकी पीठ का हड्डी तक तोड़ देते हैं, उससे उसे अपार सतोष होता है। मधु का वह पसन्द नहीं करती थी पर जब उसका पति बहुत दिनों के बाद आने के लिए २००) चाहता है तो रूपाजीवा अधिक ही रुपया देती है कि वह शीघ्र आ जावे क्योंकि वह ऐसे पति का प्रतीक है जिसमें मर्दानगी है और जो अपनी पत्नी के पास आ रहा है। उसी तरह ईसरी भी कम मनोवैज्ञानिक पात्र नहीं है। प्रारम्भ में तो नहीं पर आगे चल कर सूरज में भी मनोविज्ञानिक रंग उत्तरोत्तर प्रगाढ होता गया है।

रूपाजीवा के पाठक का ध्यान एक बात की ओर आकर्षित हुए बिना न रहेगा। इस उपन्यास का पर्याप्त अंश सूरज के बाल्यकालीन जीवन से घिरा हुआ है। जो बहुत सजीव, मार्मिक तथा हृदय को छूनेवाला है, मैंने एक स्थान पर कहा है कि कथा-साहित्य में बालक का साधिकार प्रवेश मनोविज्ञान विजय का सकेत है। बालक का यह अभियान शेखर से हिन्दी कथा-साहित्य में प्रारम्भ हुआ और तब से यह बात बहुधा देखने में आती है कि वैसे उपन्यासों में भी कुछ न कुछ बालक की चर्चा हो ही जाती है, यद्यपि वर्ण्य वस्तु तथा थीम दृष्टि से यह नितान्त अनिवार्य नहीं था। यह भी बात देखा जाता है कि उपन्यासकार जहाँ पर बाल जीवन का वर्णन करता है, वह प्रौढ जीवन सम्बधी भाग से अधिक तन्मयता तल्लीनता, तथा प्रभावोत्पादक ढग से लिखा गया प्रतीत होता है। ऐसा मालूम होता है कि उनके हृदय में अपने वयस्क तथा प्रौढ़ जीवन से अधिक मोह अपने बाल्यकालीन जीवन से है और न काल क्रमानुसार बाल्य-जीवन का अतिक्रम भले ही कर गये हैं, पर उनके व्यक्तित्व में कहीं न कहीं बालक लगा ही चला आया हो और वह समय पाकर लेखक के हाथ से लेखनी को छीनकर अपने सपनों के ससार की ओर प्रेरित कर देता हो। और आप जानते ही हैं कि सपनों का ससार वास्तविक जगत से अधिक मधुमय होता ही है।

सच बात तो यह है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण, जैसा कि मनोवैज्ञानिक कहते हैं, उसके जीवन के प्रथम पाँच-सात वर्षों में हो हो जाता है, उसे जो कुछ बनना होता है उसी समय बन जाता है। बाल्यकाल से

वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता, वह जीवन पर्यन्त बालक बना रहता है। शिशु का जीवन कल्पना का जीवन होता है, उसके लिए कल्पना तथा वास्तविकता मे अन्तर नहीं होता, उसकी दुनिया omnipotence of thought की दुनिया है। उपन्यासकार जब कल्पना के संसार मे प्रवेश करता है तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह वही मानसिक क्रिया है जिसे बाल्यकालीन जीवन के प्रति प्रात्यवर्त्तन (Regression to childhood) कह सकते है। इस दृष्टि से प्रत्येक बालक उपन्यासकार होता है, पर असफल। यदि कोई असफल उपन्यास हमे मिले तो उसे (Regression towords infancy) के रूप मे देखना बड़ा ही मनोरंजक हो सकता है। उपन्यास की सफलता के लिए उपन्यासकार मे अनेक गुणों की आवश्यकता है पर उसमे एक गुण का होना अनिवार्य है। वह भले ही बाल्यकाल से मिलती-जुलती कल्पना के लोक मे प्रत्यावर्तित कर जाय, परन्तु वह उस कल्पना को वैसी भावनाओं से समन्वित करे जो एक वयस्क व्यक्ति के अनुरूप हो। हमने कितनों स्थानों पर संकेत दिया है कि उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार के व्यक्तिगत जीवन की झाँकी भी ली जा सकती है। हो सकता है कि यह असंभव हो पर एक उपन्यासकार द्वारा लिखित उपन्यासों में विशेष पैटर्न होता है। सबमें कोई न कोई बात, पात्र, घटना रूप बदल बदल कर सबमे आती रहती है, और यह विशिष्ठता या पैटर्न वही है जो उसके शैशव मे ही निश्चित हो जाता है। वर्णनात्मक उपन्यासों की बात छोड़िये। उनमे तो मनोविज्ञान समाज के भार के नीचे दबा रहकर सर उठाने नहीं पाता। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार जैसे अज्ञेय, जैनेन्द्र इलाचंद जोशी इत्यादि के सब उपन्यास एक खास ढंग से ढले से दीख पडते है, सब की तर्जे अदा एक सी ही हैं। यह बात सब उपन्यासों पर लागू होती है। भगवतीचरण वर्मा के सब उपन्यास चित्रलेखा से लेकर सामर्थ्य और सीमा के Structure में इतनी एकता है कि उसे एक फार्मूले के आधार पर चीड़-फाड़कर रख दिया जा सकता है। लक्ष्मी नारायण का दूसरा उपन्यास अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। चूंकि प्रथम उपन्यास 'रूपा जीवा' मे उन्होंने शैशवकालीन जीवन का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है अतः कोई आश्चर्य नहीं यह उपन्यास उनके शैशव के पैटर्न पर गठित हुआ हो और अन्य उपन्यास भी इसका अनुसरण करें। अंग्रेजी में एक प्रसिद्ध No novelist has ever written more one story .

पादटिप्पणी

१ अंधेरे बन्द कमरे, प्रथम संस्करण, १६६१, भूमिका
२ The withered Branch by D S Savage London, Lyre, Spottish woode, P 32
३ बाणभट्ट की आत्मकथा, प्रथम संस्करण, पृ० २१७
४ Creative Process
५ Present Age by David Daiches, Fiction
६ अंधेरे बन्द कमरे, प्रथम संस्करण, पृ० १५°
७ वही, पृ० १४६
८ वही, पृ० २५३
९ Psychology and Literature by F L Lucas P
१० वही
११ अंधेरे बन्द कमरे, प्रथम संस्करण, पृ० २०५
१२ अज्ञेय का 'अपने अपने अजनबी' भी अस्तित्ववाद के लिए द्रष्टव्य है।
१३ The Novel and the modern world by David Daiches chapter on Virginia woolfe
१४ सुविनाय, प्रथम संस्करण, पृ० ३१
१५ अमावस और जुगनू, प्रथम संस्करण, पृ० ४४६
१६ रूपाजीवा, प्रथम संस्करण, पृ० ३४६

* डायरियों के प्रयोग की दृष्टि से रमेश बक्षी का सद्य प्रकाशित लघु उपन्यास 'किस्से ऊपर किस्सा' भी द्रष्टव्य है। इसमें पात्र कई रंगों की डायरियाँ रखता है। प्रत्येक रंग का अपना महत्व है, और प्रत्येक रंग वाली डायरी की घटनाओं से उपन्यास पर प्रकाश पड़ता है। यह उपन्यास मानव मन की जटिलता के प्रदर्शन की प्रतिज्ञा लेकर चलता है। पर वास्तव में वर्णित मानव से सीधा सादा दूसरा कोई नहीं हो सकता।

●

पन्द्रह परिच्छेद

उपसंहार

हिन्दी साहित्य में मनोवैज्ञानिकता का प्रारंभ :

हम अब अपनी अनुसंधान-यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुँच रहे है। हम इस मतलब से निकले थे कि हिन्दी आधुनिक उपन्यास साहित्य में मनोवैज्ञानिकता के पद-चिह्नों को ढूँढ़े और देखें कि इसने यहाँ अपने लिये कैसा स्थान बना लिया है, इस क्षेत्र को इसने कहाँ तक प्रभावित किया है और इसे वस्तु तथा वस्तु-विन्यास की दृष्टि से कहाँ तक समृद्ध किया है? यों तो साहित्य मे मनोवैज्ञानिकता का पुट रहता ही है परन्तु हिन्दी मे भक्तिकाल के प्रारम्भ से हम मनोवैज्ञानिकता की झलक स्पष्ट पाते है। सूर और तुलसी के काव्य मे अनेक स्थल है जहाँ मनोवैज्ञानिकता का निर्देशन और चमत्कार इतना स्पष्ट है कि ऐसा मालूम पड़ता है कि वे जीवन के गहनतम अनुभव और निरीक्षण के आधार पर उसी भूमि पर पहुँच गये थे जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान अथवा उससे प्रभावित साहित्य पहुँचता है। मंथरा और कैकेयी के अकाण्ड ताण्डवों को हम अचेतन मे दमित भावनाओं के विस्फोटात्मक रूप मे समझ सकते हैं। सूर का साहित्य तो मानो मनोविज्ञान का सागर ही है। आलोचकों ने कहा है कि शृङ्गार के रसराजत्त्व को दृढ आधार पर यदि किसी ने स्थापित किया तो सूर ने। विरह की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं वे सूर के भ्रमर-गीत में वर्त्तमान है। इसी को हम आधुनिक भाषा मे कहेंगे कि सूर ने अपनी बन्द आँखों से मानव-हृदय के गूढ़ रहस्यों को अच्छी तरह से देखा है और उसकी सूक्ष्मता को बड़ी बारीकी से पकड़ा है।

हमे तो आश्चर्यमय प्रसादन हुए बिना नहीं रहता जब हम देखते हैं कि सूर का मनोवैज्ञानिक संधान कहीं कहीं तो फ्रायडियन मनोविज्ञान की याद दिला देता है। गोपियाँ व्रज की गलियों मे दही बेच रही हैं। दही बेचने के समय लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए 'ले दही, ले दही' की आवाज लगानी पड़ती है। पर गोपियाँ यह आवाज लगाना भूल जाती हैं और 'ले कृष्ण, ले कृष्ण' की रट लगाने लगती है।[1] इस प्रसंग को आप फ्रायड द्वारा निर्धारित उन विचारों से मिलाकर पढिये जिन्हे उसने जीभ की

फिसलन, स्लिप्स ऑफ टंग (Slip of tongue) या छोटी-मोटी दैनिक भूलों के मनोविज्ञान के बारे में अभिव्यक्त किया है। आप पायेंगे कि सूर में उन्हीं विचारों का व्यावहारिक रूप चित्रित है। पर आगे के साहित्यिकों के द्वारा यह मनोवैज्ञानिक परम्परा विकसित नहीं हो सकी और उनकी दृष्टि शब्द जाल में या मानव मन के ऊपरी सतह को टटोलती रह गई।

आधुनिक युग में प्रेमचन्द के आविर्भाव के साथ पुनः मनोविज्ञान का प्रवेश हिन्दी कथा साहित्य में प्रारम्भ हुआ और तब से आज तक इसकी धारा निश्चित रूप से विकसित होता चला जा रही है। सम्बन्धित परिच्छेद में हमने देखा कि प्रेमचन्द जी के आगमन के साथ ही अन्य गुणों के साथ उपन्यास-साहित्य में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास प्रारम्भ हो गया है और उसके कलेवर में इसके कारण कितने ही परिवर्तन हुए हैं। इसमें एक ओर संगठन की, तो दूसरी ओर लचीलेपन की वृद्धि हुई है। मानव जीवन ही प्रेमचन्द के उपन्यासों की आधार शिला रहा। अतः मनोविज्ञान के कुछ महत्वपूर्ण अंशों का वहाँ समावेश हो सका। जैनेन्द्र को हम गेस्टाल्टवादियों के समीप पाते हैं। "जहाँ तक मनोवैज्ञानिकता की बारीकी का प्रश्न है वहाँ जैनेन्द्र जी रवीन्द्रनाथ को भी पीछे छोड़ गये हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिकता के केवल कुछ विशेष-विशेष पहलुओं को ही लिया है और बारीकियों को वह छोड़ते चले गये हैं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के पात्र उतने जटिल हैं भी नहीं जितने जैनेन्द्र जी के।"[२] इलाचन्द्र और अज्ञेय को हम मनोविश्लेषण से प्रभावित पाते हैं या यह कहा जाय कि उनके उपन्यासों में इसकी प्रवृत्ति पाई जाती है। यशपाल में यद्यपि मनोविज्ञान की गहरी पुट है पर चूँकि उनके पात्रों पर बाह्य वातावरण का प्रभाव अधिक है, उनके व्यक्तित्व का निर्माण अन्दर में उभारने वाली अचेतन प्रेरणाओं से अधिक बाहर की परिस्थितियाँ, विशेषतः आर्थिक, से होता है। अतः हम कहना हो चाहें तो उन्हें आवरण वाला मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कह सकते हैं।

परन्तु अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए हमने विषय प्रवेश शीर्षक प्रथम परिच्छेद में निरूपण किया है कि भिन्न भिन्न आधुनिक समस्याओं के प्रभाव को समाहित करने वाले उपन्यासों को तो मनोवैज्ञानिक कहेंगे ही, पर उनके अतिरिक्त अनुभूति के अन्तर्निष्ठ रूप (Subjective aspect) को प्रस्तुत करने वाले उपन्यास भी मनोवैज्ञानिक ही कहे जायेंगे। कविता में 'छायावाद' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है उसमें थोड़े

भिन्न अर्थ मे यहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'सब्जेक्टिव' या आत्मनिष्ठ उपन्यास से हमारा मतलब उन उपन्यासों से है जिनमे पात्रों के मस्तिष्क की प्रक्रिया, उसकी अवस्थाओं के प्रकटीकरण तथा स्पष्टीकरण की विशेष प्रवृत्ति है, दृढ आग्रह है। दास्तावेस्की के अथवा हिन्दी मे अज्ञेय के, इलाचन्द जोशी के उपन्यासों को हम सब्जेक्टिव आत्मनिष्ठ अतः मनोवैज्ञानिक कहेगे क्योंकि उनका ध्येय पात्रों की क्रियाओं का वर्णन नहीं परन्तु उनकी मूल प्रवृत्तियों का वर्णन है। हमारे पूर्व के अन्य परिच्छेदों के निवेदन से पता चलेगा कि हिन्दी उपन्यास-साहित्य ने इस ओर कितनी प्रगति की है। एक छोर पर प्रेमचंद के पूर्व के औपन्यासिकों को रखिये और प्रेमचन्द से प्रारम्भ कर दूसरे छोर पर गत अध्याय के कथाकारों को रखिये तो स्पष्ट हो जायेगा कि हिन्दी उपन्यास ने मानव-मन की कितनी भूमि को आच्छादित किया, कितनी लम्बी मंजिल पार की है।

मनोवैज्ञानिकता, यथार्थवादी दृष्टिकोण का एक रूप

वर्त्तमान युग निराशावाद (Pessimism) तथा यथार्थवाद (Realism) का है। यह बात हिन्दी से अधिक आंग्ल साहित्य के लिये लागू है और चूँकि हिन्दी उपन्यास अंग्रेजी उपन्यासों से ही प्रभावित है, अतः हिन्दी के लिये भी यही बात सत्य है। वास्तव मे देखा जाय तो उपन्यास या साहित्य के किसी भाग मे मनोविज्ञान का आग्रह उसी दृष्टिकोण का एक रूप है जिसे यथार्थवाद कहा जाता है और जो १६वीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति की विजय-घोषणा थी।

१६वी शताब्दी के परार्द्ध दशकों मे भौतिक विज्ञान ने प्रकृति के रहस्यों का मर्म समझने और उस पर विजय प्राप्त करने मे अपूर्व सफलता प्राप्त की। प्रकृति पर उसका नियंत्रण इतना अप्रतिरोध्य सा दीख पडने लगा कि हम समझने लगे कि हम अपनी इच्छानुसार जब चाहे जैसी सेवा मे उसे नियुक्त कर सकते है। यह तो हुआ ही, पर सबसे बड़ी जो बात हुई वह यह कि लोगों की विचारधारा तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण मे महान क्रान्ति हुई। जीवन सम्बन्धी हमारी परिभाषा ही बदल गई। विज्ञान की सारी बाते प्रत्यक्ष होती है, उसके जितने सिद्धान्त है वे अकाट्य ऐन्द्रिय साधनोपलब्ध प्रमाणों की आधार-शिला पर स्थापित होते है। अतः उनमे सहज विश्वासोत्पादकता होती है। पूर्वकाल की दार्शनिक रहस्यमयता को, उससे आच्छादित धुँधलेपन से भरे अनिर्दिष्ट ज्ञानातीत बातों को विज्ञान अवहेलना की दृष्टि से

फिसलन, स्लिप्स ऑफ टंग (Slip of tongue) या छोटी-मोटी दैनिक भूलों के मनोविज्ञान के बारे में अभिव्यक्त किया है। आप पायेंगे कि सूर में उन्हीं विचारों का व्यावहारिक रूप चित्रित है। पर आगे के साहित्यिकों के द्वारा यह मनोवैज्ञानिक परम्परा विकसित न हो सकी और उनकी दृष्टि शब्द जाल में या मानव मन के ऊपरी सतह को टटोलती रह गई।

आधुनिक युग में प्रेमचन्द के आविर्भाव के साथ पुनः मनोविज्ञान का प्रवेश हिन्दी कथा साहित्य में प्रारम्भ हुआ और तब से आज तक इसकी धारा निश्चित रूप से विकसित होती चली जा रही है। सम्बन्धित परिच्छेद में हमने देखा कि प्रेमचन्द जी के आगमन के साथ ही अन्य गुणों के साथ उपन्यास-साहित्य में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का विकास प्रारम्भ हो गया है और उसके कलेवर में इसके कारण कितने ही परिवर्तन हुए हैं। इसमें एक बार संगठन की, तो दूसरी ओर लचीलेपन की वृद्धि हुई हुई है। मानव जीवन ही प्रेमचन्द के उपन्यासों की आधार शिला रहा। अतः मनोविज्ञान के कुछ महत्वपूर्ण अंशों का वहाँ समावेश हो सका। जैनेन्द्र को हम गेस्टाल्टवादियों के समीप पाते हैं। "जहाँ तक मनोवैज्ञानिकता की बारीकी का प्रश्न है वहाँ जैनेन्द्र जी रवीन्द्रनाथ को भी पीछे छोड़ गये हैं। रवीन्द्रनाथ ने अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिकता के केवल कुछ विशेष-विशेष पहलुओं को ही लिया है और बारीकियों को वह छोड़ते चले गये हैं। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ के पात्र उतने जटिल हैं भी नहीं जितने जैनेन्द्र जी के।"[२] इलाचन्द्र और अज्ञेय को हम मनोविश्लेषण से प्रभावित पाते हैं या यह कहा जाय कि उनके उपन्यासों में इसकी प्रवृत्ति पाई जाती है। यशपाल में यद्यपि मनोविज्ञान की गहरी पुट है पर चूँकि उनके पात्रों पर बाह्य वातावरण का प्रभाव अधिक है, उनके व्यक्तित्व का निर्माण अन्दर से उभारने वाली अचेतन प्रेरणाओं से अधिक बाहर की परिस्थितियों, विशेषतः आर्थिक, से होता है। अतः हम कहना ही चाहें तो उन्हें आचरण-वादी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कह सकते हैं।

परन्तु अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए हमने विषय प्रवेश शीर्षक प्रथम परिच्छेद में निवेदन किया है कि भिन्न भिन्न आधुनिक सम्प्रदायों के प्रभाव को समाहित करने वाले उपन्यासों को तो मनोवैज्ञानिक कहेंगे ही, पर इनके अतिरिक्त अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप (Subjective aspect) को प्रद-र्शित करने वाले उपन्यास भी मनोवैज्ञानिक ही कहे जायेंगे। कविता में 'सब्जेक्टिव' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है उससे थोड़े

भिन्न अर्थ में यहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'सब्जेक्टिव' या आत्मनिष्ठ उपन्यास से हमारा मतलब उन उपन्यासों से है जिनमे पात्रों के मस्तिष्क की प्रक्रिया, उसकी अवस्थाओं के प्रकटीकरण तथा स्पष्टीकरण की विशेष प्रवृत्ति है, दृढ आग्रह है। दास्तावेस्की के अथवा हिन्दी मे अज्ञेय के, इलाचन्द जोशी के उपन्यासों को हम सब्जेक्टिव आत्मनिष्ठ अतः मनोवैज्ञानिक कहेगे क्योंकि उनका ध्येय पात्रो की क्रियाओं का वर्णन नहीं परन्तु उनकी मूल प्रवृत्तियों का वर्णन है। हमारे पूर्व के अन्य परिच्छेदों के निवेदन से पता चलेगा कि हिन्दी उपन्यास-साहित्य ने इस ओर कितनी प्रगति की है। एक छोर पर प्रेमचद के पूर्व के औपन्यासिकों को रखिये और प्रेमचन्द से प्रारम्भ कर दूसरे छोर पर गत अध्याय के कथाकारों को रखिये तो स्पष्ट हो जायेगा कि हिन्दी उपन्यास ने मानव-मन की कितनी भूमि को आच्छादित किया, कितनी लम्बी मंजिल पार की है।

मनोवैज्ञानिकता, यथार्थवादी दृष्टिकोण का एक रूप

वर्त्तमान युग निराशावाद (Pessimism) तथा यथार्थवाद (Realism) का है। यह बात हिन्दी से अधिक आग्ल साहित्य के लिये लागू है और चूॅकि हिन्दी उपन्यास अंग्रेजी उपन्यासों से ही प्रभावित है, अतः हिन्दी के लिये भी यही बात सत्य है। वास्तव मे देखा जाय तो उपन्यास या साहित्य के किसी भाग मे मनोविज्ञान का आग्रह उसी दृष्टिकोण का एक रूप है जिसे यथार्थवाद कहा जाता है और जो १६वीं शताब्दी की वैज्ञानिक प्रगति की विजय-घोषणा थी।

१६वी शताब्दी के परार्द्ध दशको मे भौतिक विज्ञान ने प्रकृति के रहस्यों का मर्म समझने और उस पर विजय प्राप्त करने मे अपूर्व सफलता प्राप्त की। प्रकृति पर उसका नियंत्रण इतना अप्रतिरोध्य सा दीख पडने लगा कि हम समझने लगे कि हम अपनी इच्छानुसार जब चाहे जैसी सेवा मे उसे नियुक्त कर सकते है। यह तो हुआ ही, पर सबसे बड़ी जो बात हुई वह यह कि लोगों की विचारधारा तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण मे महान क्रान्ति हुई। जीवन सम्बन्धी हमारी परिभाषा ही बदल गई। विज्ञान की सारी बाते प्रत्यक्ष होती है, उसके जितने सिद्धान्त है वे अकाट्य ऐन्द्रिय साधनोपलब्ध प्रमाणों की आधार-शिला पर स्थापित होते है। अतः उनमे सहज विश्वासोत्पादकता होती है। पूर्वकाल की दार्शनिक रहस्यमयता को, उससे आच्छादित धुॅधलेपन से भरे अनिर्दिष्ट ज्ञानातीत बातों को विज्ञान अवहेलना की दृष्टि से

देखता है। उसकी दृष्टि "इदमित्थं" प्रधान है। इस विज्ञान के प्रभाव के कारण हमारी विचारधारा भी वैज्ञानिक हो गई। हमारे विचारों के आदर्श बदल गये और हमारे मन में यह धारणा बद्धमूल हो गई कि चाक्षुष, स्पार्श, कार्ण और बौद्धिक प्रतीति की सीमा में आनेवाली प्रतीतियाँ ही सत्य हैं और इनसे परे जो कुछ भी है वह सदेहास्पद है, उनकी सत्यता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक विपत्तियों, दुखों और निराशाओं से पूर्ण इस असार ससार को भी एक इन्द्रियातीत बोधातीत और सर्वव्यापकत्व के सहारे सह्य बना लेने में समर्थ होने वाली श्रद्धा और विश्वास आस्था भावना का सर्वथा लोप हो गया और हम इस ससार की प्रत्येक तरग पर उठने गिरने तथा विनष्ट हो जाने वाली नाविकहीन, पतवारहीन नौके की तरह छोड़ दिये गये। थोड़ी सी श्रद्धा और आस्था थी जिसको लेकर जीवन की वेदनाओं को हम ललकारते रहते थे वह भी हमारे हाथ से छिन गई। वह व्यापकत्व जो अपनी व्यापकता और असीमता से हमारे ऐहिक मरणशील जीवन धर्म को सार्थकता, अमरता और आनन्द से सादर्य मण्डित करता था वह सदा के लिए लुप्त हो गया और मनुष्य के हाथ में आई दो वस्तुएँ, निराशावाद और यथार्थवाद। निराशा का कारण यही कि विज्ञान की प्रगतिशील ज्ञान राशि ने इस बात का ज्ञान कराया कि इस विस्तृत विश्वमण्डल में मानव कितना तुच्छातितुच्छ प्राणी है, नगण्य और अवहेलनीय है। मानव और मानव जीवन सृष्टि की सर्वोत्तम कृति न रह कर सृष्टि क्रम में प्राकृतिक नियमों के द्वारा उत्पन्न यों ही सा अर्थहीन पदार्थ (Bye-product) रह गया। यथार्थ वादिता का कारण यह कि विज्ञान ने हम प्रयोगशाला की पद्धति से परिचित कराया जो प्रत्येक वस्तु की यथार्थता आँखों से देखकर, कानों से सुनकर, त्वचा से स्पर्श कर ही स्वीकार करने की अभ्यासिनी है। दूसरे शब्दों में निराशावाद जीवन सम्बन्धी आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओं, सिद्धान्तों, जीवन को अध्यात्म के मेरु शिखर की उत्तुग सुरक्षित प्रतिष्ठा से उतार जमीन की सतह पर लाकर रख देने वाली विचार धारा का परिणाम है और यथार्थवाद उस विश्लेषण काँट-छाँट सूक्ष्म छान-बीन और अनुसधान की प्रवृत्ति का परिणाम है जिसे हमें विज्ञान ने सिखाया है। अनन्त की चक्करदार प्रगति में मानव ज्यों-ज्यों लघु से लघुतर होता गया, छोटा होता गया, अकेला पड़ता गया, जीवन की सार्थकता और महत्ता के मान कम होते गये त्यों-त्यों

जीवन का निराशामय चित्र उनके सामने उगता गया और वे साक्षात् वास्तविकता की ओर झुकते गये क्योंकि वही उनकी ठोस पकड मे आ सकती थी। इधर आस्था विश्वास के भाव हटे, उधर यथार्थ के प्रति आग्रह के भाव जागे।

उपन्यास की व्याख्यात्मकता

आजकल प्रत्येक विषय मे विशेषतः कथा साहित्य के क्षेत्र मे मनोवैज्ञानिकता के समावेश की तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययनो की प्रथा सी चल पडी है। प्रत्येक साहित्य स्रष्टा और कलाकार मे मानव मन की रहस्यमय व्यापार प्रक्रिया तथा उसकी जटिलता के प्रति दिलचस्पी, मोह, आसक्ति और लगन अत्यधिक मात्रा मे जागृत है। कोई भी साहित्य-स्रष्टा नहीं जो अपनी कृति मे मनोवैज्ञानिक सचाई का दावा उपस्थित नहीं करता हो। मनोविज्ञान पहिले तो दर्शनशास्त्र का अंग होकर रहा, उसका पृथक अस्तित्व ही स्वीकृत नहीं था। १९वीं शताब्दी मे वह शरीर विज्ञान (Physiology) की गोद मे फूला-फला और आज वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा करता हुआ जीवन के प्रत्येकपहलू पर छा जाना चाहता है। पर वास्तव मे देखा जाय तो यह मनोवैज्ञानिकता उसी यथार्थवाद का विशिष्ट रूप है जिसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। हम साहित्य मे अधिक से अधिक जीवन की सच्चाई और अनुरूपता देखना चाहते हैं। उसे कारण कार्य की शृंखला मे गुथित देखना देखना चाहते है और चाहते है कि उसमे कोई भी ऐसी चीज न आने पाये जो हमारी बौद्धिक प्रतीति को खटके। मनोवैज्ञानिकता की प्रवृत्ति यथार्थवाद के प्रति अनुराग या भक्ति का ही एक रूप है—यह भक्ति अन्तर्मुखी भले ही हो।

मनुष्य के व्यवहार तथा आचरण के मूल प्रेरक तल को झाँक कर देखने की प्रवृत्ति कोई नई वस्तु नहीं। चेतना के उदय के साथ ही मानव कदाचित आचरण के मूल स्रोत के देखने की चेष्टा करता आया है—परन्तु जिस तरह निर्मल और स्वच्छ जल की धार मे नदी का तल साफ दृष्टिगोचर हो जाता है, उसी तरह प्राचीन काल मे मानव के व्यक्तित्व की धारा कुछ ऐसी शान्त स्थिर स्वच्छ गति से प्रवाहित होती थी कि उसके मूल स्रोत को देखना कठिन नहीं था। ग्रीक, यूनान के शास्त्रीय (Classical) नाटकों, आख्यानों में, शेक्सपियर के नाटकों में, संस्कृत के कथात्मक गद्य-काव्य कथा, चम्पू आख्यायिका तथा नाटकों में पात्रों की मूल प्रेरक शक्तियाँ स्पष्ट दीख पड़ती थीं। उनमे किसी तरह के मतभेद का स्थान नहीं था। सब भाव जाने पहि-

देखता है। उसकी दृष्टि "इदमित्थ" प्रधान है। इस विज्ञान के प्रभाव के कारण हमारी विचारधारा भी वैज्ञानिक हो गई। हमारे विचारों के आदर्श बदल गये और हमारे मन में यह धारणा बद्धमूल हो गई कि चाक्षुष, स्पार्श, कार्ण और बौद्धिक प्रतीति की सीमा में आनेवाली प्रतीतियाँ ही सत्य हैं और इनसे परे जो कुछ भी है वह संदेहास्पद है, उनकी सत्यता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक विपत्तियों, दुखों और निराशाओं से पूर्ण इस असार संसार को भी एक इन्द्रियातीत बोधातीत और सर्वव्यापकत्व के सहारे मधु बना लेने में समर्थ होने वाली श्रद्धा और विश्वास आस्था भावना का सर्वथा लोप हो गया और हम इस संसार की प्रत्येक तरंग पर उठने गिरने तथा विनष्ट हो जाने वाली नाविकहीन, पतवारहीन नौके की तरह छोड़ दिये गये। थोड़ी सी श्रद्धा और आस्था था जिसको लेकर जीवन की वेदनाओं को हम ललकारते रहते थे वह भी हमारे हाथ से छिन गई। वह व्यापकत्व जो अपनी व्यापकता और असीमता से हमारे ऐहिक मरणशील जीवन धर्म को सार्थकता, अमरता और आनन्द से सादर्य मण्डित करता था वह सदा के लिए लुप्त हो गया और मनुष्य के हाथ में आई दो वस्तुएँ, निराशावाद और यथार्थवाद। निराशा का कारण यही कि विज्ञान की प्रगतिशील ज्ञान राशि ने इस बात का ज्ञान कराया कि इस विस्तृत विश्वमण्डल में मानव कितना तुच्छातितुच्छ प्राणी है, नगण्य और अवहेलनीय है। मानव और मानव जीवन सृष्टि की सर्वोत्तम कृति न रह कर सृष्टि क्रम में प्राकृतिक नियमों के द्वारा उत्पन्न यों ही सा अर्थहीन पदार्थ (Bye-product) रह गया। यथार्थवादिता का कारण यह कि विज्ञान ने हम प्रयोगशाला की पद्धति से परिचित कराया जो प्रत्येक वस्तु की यथार्थता आँखों से देखकर, कानों से सुनकर, त्वचा से स्पर्श कर ही स्वीकार करने का अभ्यासी है। दूसरे शब्दों में निराशावाद जीवन सम्बन्धी आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओं, सिद्धान्तों, जीवन को अध्यात्म के मेरु शिखर की उत्तुंग सुरक्षित प्रतिष्ठा से उतार जमीन की सतह पर लाकर रख देने वाली विचार धारा का परिणाम है और यथार्थवाद उस विश्लेषण काँट-छाँट सूक्ष्म छान-बीन और अनुसंधान की प्रवृत्ति का परिणाम है जिसे हमें विज्ञान ने सिखाया है। अनन्त की चक्करदार प्रगति में मानव ज्यों-ज्यों लघु से लघुतर होता गया, छोटा होता गया, अकेला पड़ता गया, जीवन की सार्थकता और महत्ता के भार कम होते गये त्यों-त्यों

हो और थोड़ा सा ही बोझ उसके साथ हो तो उसे विश्राम करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आज के उपन्यास क्षेत्र के यात्री-पात्र मे स्वस्थता नहीं, असाधारणता है, उसका मानस मनोविकार-ग्रस्त है, वह अचेतन अथवा अर्द्धचेतन कितनी ही अज्ञात शक्तियों से परिचालित है, उसमे कितनी ही कुँठाएँ हैं और वह न जाने अपने ऊपर कितने ही विरोधो अवरोधों और दमन का भार लिये फिरता है। सियारामशरण या प्रेमचन्द का यात्री स्वस्थ है, भले ही पहलवान न हो। उस पर बोझ भी अधिक नहीं और सीधे बढता ही चला गया है। ठहरता भी है तो ऐसा मालूम होता है कि क्या करे बेचारा प्राकृतिक आवश्यकताओं की अवहेलना तो नहीं की जा सकती है न। पर वह ठहरना नहीं है, वह भी चलने का ही अंश है। 'गोद' मे शोभाराम अपने पिता वगैरह की इच्छा के विरुद्ध जाकर किशोरी से विवाह कर लेता है। वहाँ कहानी थोडी ठहरती सी अवश्य है पर रामचन्द्र मुखिया के द्वारा कथा सूत्र जुड कर चल निकलता है मानो अश्वारोही को अश्व की पीठ से गिरते देर नहीं लगी कि झट से धूल झाड कर वह बढ़ चला। उसी तरह अन्तिम आकांक्षा मे रामलाल के चले जाने के बाद होता है पर कहानी झट आगे बढ जाती है।

आज के उपन्यासकार अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द की रचनाओं को पढकर एक ऐसे मानव की कल्पना हो आती है जिसके जीवन के सूत्र आपस मे बेतरह उलझ गये हों, जिनके ओर छोर का पता मिलना कठिन हो और जिसे सुलझने के लिये लेखक व्यग्र हो। यही कारण है कि आज के उपन्यासकार को एक बद कठोरी मे, रात्रि के निविड अन्धकार मे एक बडे ही सशक्त हजारों काडिल पावर वाले बल्ब के नीचे बैठ कर हम गुत्थियाँ सुलझाते पायेंगे। उसके उपन्यास मे ब्लास्ट फर्नेस का तीक्ष्ण प्रकाश है। उसमे एक ही जगह पर उन्मत्तता से नाचने वाले बगूले के चक्कर हैं, आकाश पाताल के कुलावे एक कर देने का भागीरथ प्रयत्न है। गुप्त जी तथा उनके सजातीय उपन्यासकारों के सूत्र उलझे नहीं है। अतः ये बातें भी उनकीरचनाओं मे नहीं पाई जाती

मनोविज्ञान का साधारण प्रभाव

इस तरह साधारण मनोविज्ञान अर्थात् मनुष्य की मानसिक जटिलता के ऊहापोह से अर्थात् जिसे हमने अनुभूति का आत्म-निष्ठ रूप, सब्जेक्टिव आस्पेक्ट ऑफ एक्सपीरियन्स कहा है उसके समावेश का प्रभाव हिन्दी

कथा का चक्रगतित्व

आज का उपन्यास इसी मशक रूप को धारण कर लंका को छानने के लिये, उसके कोने कोने का झाँकने के लिये, रावण को ढूँढ़ने के लिये, विभीषण, त्रिजटा तथा सीता का पता लेने के लिये चल पड़ा है। यही कारण है कि वह सीधी सादी गति से न चल कर, एक ही साँस में सरपट न लगाकर सर्प की तरह टेढ़ी मेढ़ी गति से, विराम करता चलता है। साँप कुछ आगे बढ़ता है फिर कुछ पीछे फिसल जाता है और इसी फिसलन में वह गति संचित कर आगे बढ़ता है। जिस अनुपात में उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता का भार बढ़ता गया है उसी अनुपात में उसकी कथा की गति में वक्रता और विराम करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है। आधुनिक युग में भी ऐसे उपन्यासकार हैं जिनकी रचनाओं में मनोवैज्ञानिक जटिलताओं का समावेश नहीं है। उदाहरणार्थ सियाराम शरण जी गुप्त के तीन उपन्यासों को लीजिये 'गोद' "अन्तिम आकांक्षा" और 'नारी"। इनके पात्रों का अपना व्यक्तित्व है अवश्य, पर उन पर किसी तरह का आच्छादन नहीं जिसे हटा कर देखना पड़े। जमुना, पार्वती, सोना, दयी शोभाराम, रामचन्द्र भाटे चाहे कोई भी हो सबका हृदय पारदर्शक शीशे की तरह साफ है। यदि उनके हृदय में करुणा, दया और माया है तो वह साफ दिखलाई पड़ता है अथवा क्रूरता या कायरता है तो वह भी साफ दीख पड़ती है। यही कारण है कि उनकी कथा की गति सीधी सादी है, उसमें कहीं भी ठहराव नहीं है, कहीं भी थकावट के चिन्ह नहीं। यही बात थोड़े परिवर्तन के साथ प्रेमचन्द के लिये भी सत्य है।

पर दूसरे प्रकार के औपन्यासिक अज्ञेय, जैनेन्द्र, पहाड़ी, शिवचन्द्र के उपन्यासों की कथा की गति में वक्रता है, उसमें विश्राम करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। कारण कि इन उपन्यासों में छोटी मोटी दुबली-पतली नाजुक-बदन कथाओं पर अधिक भार डाल दिया जाता है, उनसे अधिक काम लिया जाने लगा है, उन्हें गन्तव्य अगतव्य सब स्थानों में घर दिया जाता है। दूसरे शब्दों में उनका शोषण (exploitation) किया जाता है। अतः कथा में इस भार से थक कर थोड़ा विश्राम कर लेने की इच्छा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। यदि भार दुर्बल हो, कथा छोटी हो, जैसा आधुनिक उपन्यासों में होता है और उसके सर पर भार हो जैसे मनोवैज्ञानिकता का, तो राह में ठहर कर विश्राम करना आवश्यक होगा ही। पर भार स्वयं

हो और थोड़ा सा ही बोझ उसके साथ हो तो उसे विश्राम करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। आज के उपन्यास क्षेत्र के यात्री-पात्र मे स्वस्थता नहीं, असाधारणता है, उसका मानस मनोविकार-ग्रस्त है, वह अचेतन अथवा अर्द्धचेतन कितनी ही अज्ञात शक्तियों से परिचालित है, उसमे कितनी ही कुंठाएँ है और वह न जाने अपने ऊपर कितने ही विरोधो अवरोधों और दमन का भार लिये फिरता है। सियारामशरण या प्रेमचन्द का यात्री स्वस्थ है, भले ही पहलवान न हो। उस पर बोझ भी अधिक नहीं और सीधे बढता ही चला गया है। ठहरता भी है तो ऐसा मालूम होता है कि क्या करे बेचारा प्राकृतिक आवश्यकताओं की अवहेलना तो नहीं की जा सकती है न। पर वह ठहरना नहीं है, वह भी चलने का ही अंश है। 'गोद' मे शोभाराम अपने पिता वगैरह की इच्छा के विरुद्ध जाकर किशोरी से विवाह कर लेता है। वहाँ कहानी थोडी ठहरती सी अवश्य है पर रामचन्द्र मुखिया के द्वारा कथा सूत्र जुड कर चल निकलता है मानो अश्वारोही को अश्व की पीठ से गिरते देर नहीं लगी कि झट से धूल झाड कर वह बढ़ चला। उसी तरह अन्तिम आकाक्षा मे रामलाल के चले जाने के बाद होता है पर कहानी झट आगे बढ जाती है।

आज के उपन्यासकार अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द की रचनाओं को पढ़कर एक ऐसे मानव की कल्पना हो आती है जिसके जीवन के सूत्र आपस मे बेतरह उलझ गये हों, जिनके ओर छोर का पता मिलना कठिन हो और जिसे सुलझने के लिये लेखक व्यग्र हो। यही कारण है कि आज के उपन्यासकार को एक बंद कठोरी मे, रात्रि के निविड़ अन्धकार मे एक बडे ही सशक्त हजारों काडिल पावर वाले बल्ब के नीचे बैठ कर हम गुत्थियाँ सुलझाते पायेगे। उसके उपन्यास मे ब्लास्ट फर्नेस का तीक्ष्ण प्रकाश है। उसमे एक ही जगह पर उन्मत्तता से नाचने वाले बगूले के चक्कर है, आकाश पाताल के कुलावे एक कर देने का भागीरथ प्रयत्न है। गुप्त जी तथा उनके सजातीय उपन्यासकारों के सूत्र उलझे नहीं है। अतः ये बाते भी उनकीरचनाओ मे नहीं पाई जाती

मनोविज्ञान का साधारण प्रभाव

इस तरह साधारण मनोविज्ञान अर्थात् मनुष्य की मानसिक जटिलता के ऊहापोह से अर्थात् जिसे हमने अनुभूति का आत्म-निष्ठ रूप, सब्जेक्टिव आस्पेक्ट ऑफ एक्सपीरियन्स कहा है उसके समावेश का प्रभाव हिन्दी

उपन्यासों पर स्पष्ट है। पर जब हम आधुनिक मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का प्रभाव ढूँढते हैं तो उसे दो चार शब्दों में बता देना, किन्हीं विशेषताओं पर उँगली रखकर उन्हें निर्देशित कर देना कठिन है। आधुनिक मनोविज्ञान के विविध सम्प्रदायों का सम्मिलित प्रभाव इसी बात में परिलक्षित होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में औपन्यासिकों की धारणा बदल गई है। वह पहिले की तरह सानुपातिक सुडौल और शृंखलित इकाई न रह कर उच्छिन्न हो गया है, टुकड़ों में विभाजित हो गया है। आधुनिक मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों के विचार विजृम्भण ने मानवात्मा की धज्जी धज्जी उड़ाकर उसको अनेकधा विभक्त कर दिया है। इस नाना रूप और नाम धारण करते रहने वाले जीव के सतत विकासोन्मुख या पतनोन्मुख जीवन प्रवाह के पीछे एक वस्तु है जिसको लेकर यह सारा व्यापार चल रहा है इस सिद्धान्त में पहले हमारा विश्वास था। एक व्यक्ति आज बालक है, कुछ दिन बाद युवा होता है, फिर वृद्धत्व को प्राप्त होता है। इन तीनों रूपों में कितना महान अन्तर है पर फिर भी इन तीनों रूपों के पीछे खड़े एक विशिष्ट व्यक्तित्व का पहिचानना कठिन नहीं होता था। आणविक बम ने तो आज अणु और परमाणु को तोड़ कर विश्व में प्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया है पर इसकी नींव उसी समय पड़ चुकी थी जिस समय मनोविदों ने मानवात्मा को चकनाचूर कर दिया था। इन्होंने कहा कि मानवात्मा देखने में भले ही एक मालूम पड़े, कुछ विशेष गुणों तथा क्रियाओं के द्वारा कुछ थोड़े से शब्दों में उसे सीधे-सीधे ढंग से समझा दिया जा सके।

पर यह उसका वास्तविक रूप नहीं है। एक मानवात्मा में कितनी मानवात्मायें रहती हैं, एक मनुष्य के अन्दर कितने मनुष्यों का निवास रहता है और उनमें पारस्परिकता हो यह कोई आवश्यक नहीं। हमारे उपन्यासों में व्यक्ति को जिस सीधे, सरल, ऋजु रूप में एक विशेष मार्ग से (चाहे वह कितना ही चौड़ा हो) चलनेवाले के रूप में दिखलाया गया है उतना सीधा और सहज प्राणी वह नहीं है। प्रेमचन्द की सुमन, होरी, सूरदास, जालपा इत्यादि को दो चार गुणों और अवगुणों का लेबिल चिपका कर उन्हें सम्पूर्ण रूपेण समझ लिया जा सकता है। पर मनोविज्ञान ने बतलाया कि व्यक्ति पर किसी तरह की सीमा नहीं, वह तरल है, वायव्य है। हमारा प्रचलित धारणाओं और विचारों का प्राच्छादन उसे ढक नहीं सकता। अनगिनत इकाइयों को लेकर व्यक्ति का निर्माण हुआ है और ये इकाइयाँ भिन्न-भिन्न द्वन्द्वों का और एकत्र हुई हैं। इनमें परस्पर युद्ध छिड़ा रहता है अथवा

ये एक दूसरे के प्रति उदासीन है तथा एक को दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं है। इस सम्बन्ध में एक आलोचक के कुछ शब्द उद्धरणीय[४] है "प्राचीन उपन्यासकारों का यह दृढ़ विश्वास था कि अनेक परिवर्त्तनशील मनोवेगों के रहते भी मनुष्य मूल रूप मे एक ही रहता है, परन्तु ठीक इसके विपरीत प्रुस्ट इस बात मे विश्वास करता था कि वह एक नहीं है अनेक है। उसके पात्रों का निर्माण तह पर तह जमा कर किया गया है। कहना चाहे यह भी कह सकते हैं कि वे किसी न किसी अंश मे एक नहीं अनेक व्यक्तित्व धारी मनुष्य हैं। दूसरों की ज्ञानोपलब्धि की हमारी मानसिक प्रक्रिया को ध्यान में रखकर मनुष्य की इस जटिलता को देखा जाय तो पता चलेगा कि इसे पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने के लिये एकही उपाय है कि पात्रों के चित्रण के लिये संस्मरण-लेखक की कला का आश्रय लिया जाय। पात्रों का चरित्र निर्माण प्रत्यक्ष निरीक्षण तथा जीवन के भिन्न-भिन्न अवसर पर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मार्शल[५] से उनके सम्पर्क से तो होता ही है पर किम्वदन्तियों से भी उसमे सहायता मिलती है। इस तरह प्रुस्ट[६] पात्रों को एकाधिक दृष्टि-कोण से उपस्थित करने में तथा यह दिखलाने में समर्थ हो सका है कि एक ही व्यक्ति पृथक-पृथक लोगों को पृथक-पृथक रूप मे दिखलाई पड़ सकता है।"* यही कारण है कि इलाचन्द तथा अज्ञेय के उपन्यासों मे कहीं डायरी

---

*The classical novelists were convinced that inspite of his changing moods, man was essentially one. Proust was equally convinced that he was many. His characters are composed in layers or, if one prefers, they are all, to some degree, multiple personalities. The only way of bringing out this complexity and of dealing with the very real problems of our knowledge of other people was to apply the method of the memoir-writer to his characters They are constructed by direct observatoin, by encounters between Marcel and the other characters at different periods of their lives and in different situations, but also by gossip and hearsay. This enables Proust to present them from a large number of different angles and to show that the same person may appear completely different to different people.

पे पृष्ठों से, कहीं पत्रों से कहीं प्रत्यक्ष निरीक्षण से, कहीं वर्णनात्मकता से अर्थात् हर प्रणाली से काम लिया गया है।

फ्रायड ने मानव की चेतना को खण्ड-खण्ड किया ही, युँग ने इसे एक पग और बढ़ाया और न जाने उसे किन किन स्मृतियों संस्कारों का पुँज बना कर जटिल बना दिया। मनोविज्ञान में हम साहचर्य के नियम (Law of association) से परिचित थे, हम जानते कि बाँसुरी को देखकर कृष्ण की, धनुष का देखकर राम का स्मृति जग जाती है पर आचरणवादियों ने बतलाया कि ये ऐसोसियेशन्स ऐसे ऊटपटाँग विचित्र और आश्चर्यजनक हो सकते हैं कि इनका रूप निश्चित करना असंभव है। प्रत्येक आत्मा या व्यक्तित्व अलग अलग एक इस भौतिक शरीर के साथ आबद्ध है। परन्तु कल्पना के द्वारा तथा आत्मा और आत्मा के मध्य में काम करने वाले अनन्त और सूक्ष्म तंतुजाल के द्वारा वे परस्पर संलग्न भी हैं और इन क्रियाओं प्रक्रियाओं की दुनियाँ में मानव आत्मा का कल्पना एक उबलते हुये कड़ाह, नाचते हुए बगूले तथा नदी के वात्याचक्र के रूप में ही की जा सकती है। 'नदी के द्वीप' की नायिका रेखा का पति है हेमेन्द्र। इन दोनों का जीवन पति पत्नी का न होकर पारस्परिक संघर्ष में निरत शाश्वतिक विरोधी शत्रु-जन्तुओं से भी अधिक नारकीय है पर प्रारम्भ में रेखा से हेमेन्द्र ने विवाह इसलिये किया था कि रेखा की आँखें उसकी एक प्रेयसी से मिलती-जुलती थीं।"

मानवात्मा के इसी उच्छिन्न रूप को लेकर आधुनिक उपन्यासकार अपनी कला की ओर अग्रसर हुए हैं और इसका प्रभाव उनका कला पर अनेक रूपों में पड़ा है। कोई भी कथाकार व्यक्ति तथा उसकी अनुभूति की अवहेलना कर अपना अस्तित्व स्थापित नहीं कर सकता। उनको अपनी कला की लपट में लाना उसके लिये अपरिहार्य है परन्तु अनुभूतियों के भोक्ता व्यक्ति के सम्बन्ध में उनकी धारणा में भयानक परिवर्तन होने के कारण उनके उपन्यासों के स्वरूप में भी परिवर्तन हो गये हैं। पूर्ववर्ती मनोवैज्ञानिक कथाकार एक काम चलाऊ ढाँचा बना लेते और उसी में अपने उपन्यास प्राणी को बैठा देते थे और उन अनेक विषमताओं जिनको लेकर ही व्यक्ति की विशिष्टता बनी है उनकी एक दम अवहेलना कर देते थे। यह बात आज के उपन्यासकारों के लिये असह्य है। वे व्यक्ति का व्यक्ति के रूप में ही उसकी सारी असंगतियों और विचित्रताओं के साथ ही चित्रित करेंगे। राउंड होल (Round hole) में स्क्वायर (Sqare peg) को फिट करने के लिये उसे काट-छाँट कर विकृत नहीं करेंगे। वे नई नई पद्धतियों, नये नये

टेकनीक, नये-नये ढङ्ग का आविष्कार करेंगे जो उनकी परिवर्त्तनशील धारणाओं को उचित रूप प्रदान कर सकने मे समर्थ हों। एक तरह से कह सकते है कि नये औपन्यासिकों की स्पिरिट क़लासिक न होकर रोमान्टिक है, उनकी कला किसी नियमानुवर्त्तन से उन्मुक्त हो स्वतंत्र रूप से विचरण करना अधिक पसन्द करती है। अज्ञेय और जैनेन्द्र सब कुछ होते हुये भी रोमान्टिक ही है[६] (ख)।

आधुनिक मनोविज्ञान को ज्ञात या अज्ञात रूप से अपने व्यक्तित्व में समाहित करने वाले औपन्यासिकों मे स्थापत्य कला की गुरु गम्भीरता उच्चता, उदारता और भव्यता लुप्त हो गई है। उसका स्थान संगीत की "नाचिर मूर्छना", उसकी मीठी तान तथा ध्वनि लेती जा रही है। उनके उपन्यासों मे प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति से संवलित फलागम के प्रति आग्रह न होकर हवा मे धीरे से उठकर विलीन हो जाने वाली तान की क्षणभंगुरता है। दोनों पाटों से घिरी रहने वाली सरिता का कलरव नर्त्तन नहीं पर उठते और गिरते रहने वाले बुद-बुद की छटपट है, उनमे नाटकीय प्रभाव ("Dramatic effect) गीतिमयता (Lyricism) है, वे प्रबन्ध काव्य से अधिक मुक्तक गीतियों के समीप हैं। जैनेन्द्र और अज्ञेय को हम गीति औपन्यासिक (लीरिक नावलिस्ट) कह सकते है। प्रबन्ध का सौष्ठव इनमे नहीं पर गीति की तरह इनमे हृदय की घनीभूत व्यथा है। उसे कथा का बल प्राप्त नहीं। उनकी औपन्यासिक कृतियाँ अपनी आन्तरिक शक्ति पर ही सर उठाती हैं और ललकारती है। कहती है कम, पर उनके एक-एक शब्द न जाने कितना इतिहास कह जाते है। पाठक को वह वस्तु प्राप्त होती है कि उसे वर्णनात्मक उपन्यासों से प्राप्त होने वाली वस्तु के अभाव की शिकायत नहीं रह जाती।

पूर्व के उपन्यास केन्द्रानुगामी होते थे। एक सीमित विषय को लेकर अपने स्वरूप का विस्तार करते थे। उसी को पूर्णरूप से विकसित कर, उभार कर रखने मे अपनी सार्थकता का अनुभव करते थे। उपन्यास की सारी शक्ति एक किसी विशिष्ट व्यक्ति या विषय पर आकर केन्द्रित हो जाती थी पर आज के उपन्यास केन्द्रापगामी होते जा रहे हैं। उनमे एक स्थान से उद्भूत होकर बिखर जाने की प्रवृत्ति बढती जा रही है। गर्म लाल लोहे पर हथौड़ा मारने से जिस तरह चिनगारियाँ चारों ओर निकल पड़ती हैं उसी तरह आधुनिक उपन्यासों मे एक स्थान से चलकर इतस्ततः वह जाने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगती है। इस दृष्टि से इन उपन्यासों में और हितोपदेश

और पचतन की शैली पर लिखा गई कथाओं में जहाँ कथा कहीं से प्रारम्भ होकर कहीं भी अत हो सकती है ऊपरी सतही समानता मालूम पड़ती है पर फिर भी दोनों की स्पिरिट, टोन और मुख्य ध्येय में इतना अन्तर है कि इन्हें तुलना करने की कोई कल्पना भी नहीं हो सकती।

पूर्ववर्त्ती उपन्यासों में कृति सातत्य (Unity of action) की प्रधानता रहती थी। कोई क्रिया प्रारभ होकर अपनी नियमित गति से अपने निर्दिष्ट पथ पर कुछ देर तक अग्रसर होकर अपने स्वरूप का विस्तार करती हुई समाप्त होती थी पर आज परिवर्तित दृष्टिकोण न इस एकता को छिन-भिन कर दिया है। अब औपन्यासिकों की यह मान्यता होती जा रही है कि जीवन का वास्तविक चित्रण क्रिया सातत्य के द्वारा नहीं हो सकता। जो क्रिया कुछ देर तक चलती रहे उसमें जीवन की अनुरूपता नहीं होती परन्तु खण्डित, परस्पर निरपेक्ष, बीच बीच में टूट-टूट कर फिर उठने वाली उच्छृङ्खल रूप से इधर-उधर बाँध को तोड़ कर बह पड़ने वाली बाढ़ की तरह उमड़ उमड़ पड़ने वाली धारा में जीवन को प्रतिनिधित्व करने की अधिक क्षमता होती है। जीवन धारा एक ऐसी दीपमालिका नहीं जिसकी अखण्ड ज्योति अपने प्रकाश को विकीर्ण करती रहती है। यह एक ऐसी विद्युन्मालिका है जिसमें मेक ब्रेक होता रहता है, जिसमें बत्तियाँ कभी इधर, कभी मन्द ज्योति से, कभी प्रखर, कभी एक रग का कभी दूसरे, कभी समीप, कभी दूर प्रज्ज्वलित होकर जीवन की झलक दिखा जाती है। जीवन में कोई भी क्रिया आरम्भ होकर साफ सुथरे ढग से समाप्त नहीं होती जिसकी समाप्ति पर पर्दा गिरता सा मालूम पड़े और एसा लगे कि अब इसके बाद इसके सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें कुछ भी नहीं रह गई जहाँ पर जाकर एक विराम स्थल पर पहुँच कर सन्तोष की गम्भीर साँस ली जा सके। जीवन में रिक्तता की भावना रहती है, जीवन रिक्त है, शून्य है जिसे हम अपनी कल्पना के द्वारा ही भर सकते हैं। ऐसी अवस्था में कहीं भी किसी तरह की व्यवस्था आदि अन्त चाहे मध्य में आकर जीवन को झुठलायेगी ही। उसका सच्चा निर्देश नहीं कर सकती।

ये ही कुछ प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें नूतन मनोविज्ञान ने कथाकारों को ज्ञात या अज्ञात रूप से अपनाने के लिये बाध्य किया है। अज्ञात रूप से इसलिए कहा है कि जिस वातावरण में हम रहते हैं, जिस जलवायु में हम साँस लेते हैं उसमें कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो हम पर समय-समय अपना प्रभाव डालते रहते हैं इस तरह कि इसका हमें ज्ञान भी नहीं होता। हमें ज्ञान हो या न हो

पर वायु पर तैरते रहने वाले अलक्ष्य कीटाणुओं के पुञ्ज हमारे शरीर पर अपना प्रभाव डाल कर उसमे परिवर्त्तन उपस्थित करते ही रहते है ।

विभिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय और आधुनिक हिन्दी उपन्यास

किसी एक विशिष्ट मनोविज्ञान के सम्प्रदाय को लेकर कहना कि इसने हिन्दी उपन्यास साहित्य को किस रूप मे प्रभावित किया है यह तो और भी कठिन है । वास्तव मे बात तो यह है कि अलग-अलग रूप मे हिन्दी के लेखकों को भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायो का परिचय नगण्य है । हिन्दी मे मनोविज्ञान की पुस्तकों के अभाव के कारण हमारे लेखकों का इनके ज्ञान के लिये अग्रेजी की पुस्तकों पर ही निर्भर करना पडता है । पर अंग्रेजी के ज्ञान की अपरिपक्वता के कारण वे उसके मर्म को हृदयंगम नहीं कर पाते । परिणाम यह होता है कि यह ज्ञान-लवविदुर्दग्धता उनके मानस की ऊपरी सतह को छू कर रह जाती है । व्यक्तित्व की उस गहराई को नहीं छू पाती जहाँ से सृजनात्मक प्रतिभा जाग्रत होती है । पावलभ (Pavlov) की अभ्यस्त प्रक्रिया (Conditioned reflex) सम्बन्धी प्रयोग तथा वाटसन का उग्र आचरणवादी मनोविज्ञान के प्रभाव ने हिन्दी मे एक भी उपन्यास की सृष्टि नहीं की । आज से करीब २० वर्ष पहिले राहुल साकृत्यायन जी की एक पुस्तक 'बाइसवीं सदी' प्रकाशित हुई थी जिसमे एलडस हैक्सले के उपन्यास 'ब्रेभ न्यू वर्ल्ड' (Brave new world) की तरह एक आदर्श दुनिया की कल्पना की गई थी जिसमे मनुष्य के जीवन का विकास इच्छानुसार अभ्यस्त (Conditioned) तरीके पर किया जा सकेगा । पर यह परम्परा वहीं खतम हो गई । आगे इस विषय को लेकर किसी ने उपन्यास नहीं लिखा ।

जो बात आचरणवादी मनोविज्ञान के लिये कही गई है वही गेस्टाल्टवाद के लिये भी सत्य है । गेस्टाल्टवाद का नाम भी शायद ही किसी हिन्दी के उपन्यासकार ने सुना हो । ऐसी अवस्था मे उसके सचेष्ट और सक्रिय प्रभाव की बात करना ही निर्मूल है । पिछले परिच्छेद मे जैनेन्द्र को जो गेस्टाल्टवादी उपन्यासकार कहा गया है वह इसी सीमित अर्थ में कि उनके उपन्यास ऐसे है कि इस दृष्टिकोण के अनुरूप सहज ही ढल जा सकते हैं और इस रूप में उनकी व्याख्या सुगमता पूर्वक हो सकती है । मानव व्यक्तित्व सम्बन्धी ज्ञान के लिये, उनके विविध आन्तरिक रूपों के परिचय के लिये यह कोई आवश्यक नहीं कि साहित्यकार की सृजनात्मक प्रतिभा मनोविज्ञान वेत्ताओं की ऋणी ही हो । नहीं, उसकी प्रतिभा की किरणें स्वतन्त्र रूप में

भी उस रहस्यमय स्थल को आलोकित कर सकती है जहाँ मनोवैज्ञानिक का पहुँचने में देर लगे। शेक्सपियर के समय में फ्रायड कहाँ थे ! पर उनके पात्रों के व्यक्तित्व में इडिपस ग्रंथि के चमत्कार पाये ही जाते हैं। वास्तव में साहित्यिकों की कल्पना ही उन सामग्रियों को धीरे धीरे उपस्थित कर देती है जिन्हें आगे चलकर कोई वैज्ञानिक व्यवस्थित कर एक सिद्धान्त का रूप देता है। ७०वीं वर्षगाँठ के उत्सव के अवसर पर प्रशंसकों ने फ्रायड को अचेतन का आविष्कारक (Discoverer of unconscious) कह कर सम्बोधित किया तो उसने उनकी भ्रमोक्ति को सुधारते हुए कहा कि नहीं, दार्शनिकों और साहित्यिकों ने मेरे पहिले ही अचेतन का आविष्कार कर दिया था। मैंने तो केवल उस वैज्ञानिक पद्धति का आविष्कार किया है जिसके द्वारा अचेतन का अध्ययन किया जा सकता है।*

अतः, गेस्टाल्ट के नाम सुने बिना भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में गेस्टाल्ट के चिन्ह पाये जायँ यह असम्भव नहीं। यहाँ पर इस बात का उल्लेख इतने ही भर के लिये किया गया है कि गेस्टाल्ट के सिद्धान्त कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के लिए कवि (यहाँ उपन्यासकार और आलोचक) दोनों के लिए बहुत उत्तम आधार प्रस्तुत करते हैं। इसका यह सिद्धान्त कि सम्पूर्णता (Gestalt) ही हमारी अनुभूति का मूलतत्व है—वह सम्पूर्णता जो अंशों के योग से पृथक हो परन्तु उनको भी सार्थकता प्रदान करती है हमारी साक्षात् सौन्दर्य मूलक अनुभूति से मेल खाता है। हम अपने मतव्यों को ध्वनिकार के शब्दों में यों कह सकते हैं कि जैसे अगना में उसके सुशोभन अंगों के अतिरिक्त लावण्य, सौष्ठव, कान्ति एक अलग पदार्थ है वैसे ही महाकवियों की वाणी में एक वस्तु होती है जो शब्द अर्थ और रचना वैचित्र्य से अलग प्रतीयमान होती है।[5] अर्थात् सौन्दर्यमूलक अनुभूति ध्वन्यात्मक होती है। यही बात साहित्य में चरितार्थ होती है। किसी साहित्यिक रचना कहानी उपन्यास या काव्य की महत्ता उसकी सहकारी सामग्री शब्द अर्थ इत्यादि के जोड़ से अतिरिक्त किसी अधिक व्यापक वस्तु में रहती है जो अपनी व्यापकता में अपने सहकारी अंशों को भी सार्थकता प्रदान करता है अर्थात् वह "तदन्यतातिरिक्त" है। यह व्यक्तित्व के प्रगतिशील सम्पूर्णता में

---

* The poets and philosophers before me discovered the unconscious What I discovered was the scientific method by which the unconscious can be studied

विश्वास करता है, मनुष्य को कारण और कार्य के टुकड़ो मे तोड कर देखने वाली दृष्टि का विरोध करता है और कहता है कि व्यक्ति अखण्ड है, उसको तोड़-तोड़ कर जिन टुकडों मे विभाजित किया जा सकता है उसके योगफल से वह बिल्कुल भिन्न पदार्थ है। विज्ञान ने जो हमे बौद्धिक विश्लेषण करने तथा किसी वस्तु को यान्त्रिक और तथ्यवादी रूप मे वर्णन करने का दृष्टिकोण उपस्थित किया है उसके विरुद्ध गेस्टाल्ट ने प्रतिक्रिया उत्पन्न की है। साहित्य का काम सूखा चित्रण नही, फोटोग्राफी नहीं परन्तु चित्र बनाना है। साहित्य चित्रकार है जो चित्र को छोटी-छोटी पंक्तियों मे न देखकर एक व्यापक सम्पूर्णता में देखता है। उपन्यासकार की कला प्रभाववादी (Impressionist) की होती है। यदि इतनी सी बात जिसे आज गेस्टाल्ट मनोविज्ञान जोर देकर कहता है हमारे उपन्यासकारो को याद रहे तो अश्क के 'गिरती दीवारें' तथा 'गर्मराख' जैसे उपन्यास अपने खण्ड के छोटे-छोटे अंश सम्पूर्ण से विच्छिन्न पडे हुए वर्णनों के कारण अपने गौरव को नष्ट न करे। यदि लेखक मे यह दृष्टिकोण होता तो उसके ये दोनों उपन्यास कहीं अधिक ऊँचाई को उठे होते क्योंकि इन उपन्यासों के विषय ऐसे थे जो उचित ढंग से निबाहने पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की शोभा हो सकते थे।

इन आधुनिक मनोविज्ञान के सम्प्रदायों मे हमारा हिन्दी उपन्यास साहित्य फ्रायड, एडलर और जुंग के मनोविश्लेषण से सर्वाधिक प्रभावित हुआ है। इसने अचेतन और अर्द्धचेतन की एक विशाल दुनिया के रहस्यों से हमारे औपन्यासिकों को परिचित कराया है। हिन्दी उपन्यासों में क्षति परिपूर्ति की (Compensation) की बात होने लगी है, दमित इच्छाओं के शिकार स्वरत्यात्मक पात्रों का चित्रण होने लगा है, आत्म-पीड़क और पर-पीड़क पात्र हमारे उपन्यासों के क्षेत्र में घूमने लगे हैं, मानसिक ग्रन्थियों का बाजार गर्म हो चला है। वैयक्तिक विकृतियों और वैवसियों से ग्रस्त पात्रों के प्रवेश से सारा उपन्यास साहित्य पाट सा गया है। कोई पात्र हीनता के भाव से ग्रस्त है, किसी ने अपनी इच्छाओं का उदात्तीकरण कर लिया है, कोई इडिपस ग्रथि का मारा पिता को प्रतिद्वन्दी के रूप में देखता है और माँ को प्रेम की नजरों से देख रहा है। हमारे उपन्यासों के बालक सेक्स की भावनाओं से प्रचलित होने लगे है। अश्क का चेतन और अज्ञेय का शेखर दोनों अपने माता-पिता के प्रणय व्यापारों को छिप कर देखने मे बडे पटु है। भाई बहिन का सम्बन्ध अधिक सरस हो उठा है। इसके लिये डॉ० देवराज के 'पथ की

है। उसे पता चलता है कि इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसे और पीछे मुड़कर शैशवकालीन स्मृतियों को कुरेदना पडेगा। तब ५ से १५ वर्ष की अवस्था। फिर दो से पाँच। अंत मे जन्म से लेकर २ वर्ष की अवस्था की स्मृतियों की याद करता है। अंत मे इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उसकी सारी अशांति के बीज इन्हीं प्रथम कुछेक वर्षों मे पड चुके थे जो उसे अन्दर से विवश कर रहे है, लाचार कर रहे है। पुस्तक मे फ्रायड और पावलम के सिद्धान्तो की चर्चा मे पूरे के पूरे परिच्छेद ही दिए गए है। हिन्दी मे इस तरह के उपन्यास अब आने लगे है। शेखर मे इस तरह का प्रयास किया गया है पर वह परिस्फुटित रूप मे सामने नहीं आ सका है। इसका कारण भी यही है कि फ्रायड के सिद्धान्तों से भी हमारे लेखकों का पूर्ण परिचय नहीं है। यदि पूर्ण परिचय होता तो यह बहुत सम्भव था कि मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयों की प्रयोगशालाओं से रोगियों के जो इतिहास प्राप्त हुए है, केस हिस्ट्रीज मिली है उनके आधार पर अधिक उपन्यास लिखे जाते। जब किसी सत्य के पारखी ने यह कहा था कि ट्रुथ इज स्ट्रेन्जर दैन फिक्शन अर्थात् सत्य कथाओ से कहीं अधिक अद्भुत और विस्मयकारी है तो लोगों ने अविश्वास किया था। पर आज इन रोगियों के इतिहास के बाद तो इसकी सत्यता मे कुछ भी संशय नहीं रहा। आशा है भविष्य मे इस तरह के और उपन्यास अवश्य लिखे जायेंगे।

हिन्दी उपन्यासकारों को अवसर

जहाँ तक आधुनिक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को हिन्दी मे लाकर उन्हें कलात्मक रूप देने का प्रश्न है हमारे उपन्यासकार बहुत ही अनुकूल परिस्थिति मे हैं। अंग्रेजी के उपन्यासों मे इस मनोविज्ञान को पर्याप्त रूप में अपनाया जा चुका है। डी. एच. लारेन्स, जेम्स ज्वायस, वरजिनिया वुल्फ इत्यादि के उपन्यासों को मनोविज्ञान ने बहुत दूर तक प्रभावित किया है। इनके प्रयोग हमारे सामने है, इनकी अच्छाइयाँ भी और इनकी बुराइयाँ भी। इनमे एक तो नए धर्म परिवर्त्तन करने वाले का उमड़ता हुआ जोश था और दूसरे इनमे पूर्ववर्त्ती युग के वाह्याडम्बर के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया के भाव थे। अतः मनोविज्ञान के उन्नत और उदात्त रूप को वे नहीं अपना सके। इनके उपन्यास एक विचित्र पहेली बनकर रह गए। टेकनीक की दृष्टि से भी और मिथुनाचार की प्रशस्ति गाने की दृष्टि से भी। इन्होंने अचेतन में दमित भावनाओं को नग्न रूप में वाहर लाकर स्वतंत्र रूप से

उधम मचा देने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देने में ही अपने कर्त्तव्य की इति श्री समझ ली। उन्हें समझना चाहिए था कि घाव के सुरट को उखाड़ कर मवाद निकाल देना तो स्वस्थता के लिए लाभ प्रद अवश्य है पर उन्हें हवा में तैरते हुए कीटाणुओं के विकास क्षेत्र बनने के लिए खुला छोड़ देना अति भयंकर है। आप दमित वृत्तियों को चेतन स्तर पर लायें अवश्य, पर उनके उदात्तीकरण की भी व्यवस्था अवश्य करें।

वर्त्तमान हिन्दी कथा साहित्य का सौभाग्य है कि इसमें जेम्स ज्वायस, ग्रुटुड स्टेन, विरजिनिया वुल्फ इत्यादि के प्रयोगों के अवाछनीय आतिशय्य ने इसे बुरी तरह भाराक्रान्त नहीं किया है। अज्ञेय के 'शेखर', 'नदी के द्वीप', माचवे के 'परन्तु' तथा जैनेन्द्र के कुछ प्रयोगों में कथा के सौष्ठव का तुड़मुड़ भले ही यत्र मिल जाए परन्तु वे पहेली नहीं बन पाए हैं। मनुष्य की चेतना को ही चित्रित करने के लिए, उनकी आतरिक धाराओं के प्रति इमानदार रहकर उसे पूरा सच्चाइ के साथ शब्दों में बाँधकर रख देने की प्रवृत्ति ने विदेशी उपन्यासों में जिन उलूलजुलूल प्रवृत्तियों को जन्म दिया है उन सबसे हिन्दी कथा साहित्य बहुत कुछ वचित रहा है। यह हिन्दी कथाकार की सजगता का प्रमाण है।

जिस दिन हिन्दी कथा साहित्य में जीवन के यथा तथ्य चित्रण के नाम पर, मनुष्य मनोविज्ञान के सच्चे साहित्यिक प्रतिनिधित्व के नाम पर विलियम फाकनर की आत्मा अवतरित होगी घटना का थोड़ा सा बाह्य वर्णन कर उसके अन्दर जा हो रहा है इनके लिए पाठक को अन्धकार में टटोलने के लिए छोड़ दिया जायगा, एक पात्र को अनेक नाम से या अनेक पात्रों को एक नाम से पुकारा जाने लगेगा, उपन्यास के प्रचलित कथा सूत्र को एकाएक तोड़कर दूसरी ही एकदम असबद्ध कथा कहा जाने लगेगा, पहली कथा का एक पैराग्राफ या एक वाक्य के मध्य में ही तोड़ कर दूसरा असम्बद्ध कहानी प्रारम्भ होने लगेगा, पाठक पन्ने पर पन्ना पढ़ता चला जायेगा और कथा का ओर छोर न पा सकेगा, कहीं विराम चिन्हों का पता नहीं लगेगा, कहीं छोटे टाइप के तो कहीं बड़े टाइप तथा इटालिक्स अक्षर दीखने लगेंगे, भाषा के गड़बड़झाले से सारा उपन्यास आच्छादित होने लगेगा, जब सज्ञा और क्रिया यहाँ तक कि सज्ञा और विशेषण के बीच में परेंथिसिस दिये जाने लगेंगे और वे परेंथिसिस इतने लम्बे होंगे कि अर्थ सगति बैठाने के लिए आँखों को पुन लौटकर ब्रेकेट के आरम्भ को देखना होगा तब हिन्दी कथा साहित्य के लिए दुर्भाग्य का दिन होगा।

जेम्स वायस के एक उपन्यास की प्रथम पंक्ति वाक्य के मध्य भाग से प्रारम्भ होती है और अंत की पंक्ति मे एक वाक्य के कुछ प्रारम्भिक अंश है और वह वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया गया है। हमारे कथाकारों की प्रतिभा ने साहित्य के क्षेत्र मे संतुलन के महत्व को समझा है और वे यह अनुभव करते है कि आत्म-निष्ठ जटिल भावों की अत्यधिक विवृत्ति से, मानसिक संवेदनाओं के विस्तृत विवरण का महत्व नष्ट हो जाता है यदि इनके द्वारा जीवन के उन्नायक तत्वों का संकेत न मिलता हो। यदि ये साधन न रह कर स्वयं साध्य का स्थान ग्रहण कर लेते है और आन्तरिक चेतना प्रवाह का मात्र चित्रण ही चरम लक्ष्य हो जाता है तो इनको अभिव्यक्त करने वाले उपन्यास मे और प्रदर्शिनी मे रखे गए उस वैज्ञानिक यत्र मे अन्तर ही क्या है जिसमे इस बात का कुछ भी संकेत नहीं हो कि यह किस काम के लिए निर्मित हुआ है।

कथाकार अपनी सामग्री जीवन प्रवाह से ही चयन करता है चाहे वह प्रवाह बाह्य जगत मे अनेक वैविध्य पूर्ण भारी भरकम घटनाओ के रूप मे ही हो, चाहे आत्म निष्ठता की आतरिक गहराई मे चेतना की आवेगमयी तरलता के रूप मे प्रवाहित होता हो। पर उसे अनेक मे से कुछ के उपयोगी, अभीष्ट साधक वस्तुओ को चुन लेना ही पडता है। जेम्स ज्वायस इत्यादि कुछ कथाकारों ने बीडा तो उठाया था कि २४ घंटे के अन्दर मानव हृदय मे जो कुछ घटता है उसे ज्यो का त्यों अपनी ओर से बिना कुछ काट-छाँट किए शब्दों मे पकड़ कर लिपिबद्ध कर दे, पर वे क्या सफल हो सके ?[१] एक दिन क्या एक घटे के अन्दर मनुष्य के अन्दर जिस विश्व का निर्माण और ध्वंस होता है, भावों और विचारों का जो वात्याचक्र चल जाता है उसको ही भाषा मे बाँध कर रखने के लिए युलेसिस से अधिक वृहद्काय पुस्तक की आवश्यकता होगी और तिस पर भी उसके साथ न्याय न हो सकेगा। मानव मन, कहा भी गया है, वायु से भी चचल होता है, अतीत और भविष्य दोनों की ओर उसकी गति होती है। जिस तरह पिंड मे ब्रह्माण्ड छिपा रहता है, उसी तरह एक क्षण मे सारा महाकाल प्रवाह आकर सिमटा रहता है। वह एक तुच्छातितुच्छ काल का विन्दु है तो क्या स्वयमेव चरम महाकाल है।

एक उदाहरण लीजिए एक उपन्यास का नायक ठीक समय पर घड़ी देखकर संकेत स्थल पर आ जाता है। यह व्यावहारिक काल है और यह ग्रिन्विच के काल से मर्यादित घड़ी के द्वारा परिगणित होता है और सब के

लिए एक सा है। वह नायक नायिका की प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता से करता है, पर वह प्रतीक्षा का एक क्षण युग से भी अधिक बड़ा हो जाता है कारण कि यहाँ पर समय की गणना नायक का आत्मनिष्ठ मनोवैज्ञानिक मूल्यों और महत्ता के अर्थ में होती है। प्रतीक्षा करते करते वह अपने मन में उन सारी घटनाओं की पुनरावृत्ति करता है, सारी मनःस्थितियों, आशाओं और निराशाओं तथा इनसे सम्बन्धित हजारों बातों को अपने स्मृति पटल पर लाता है। इन स्मृतियों, बातों या घटनाओं को प्राचीन बातों या घटनाओं का जोड़ तोड़ मात्र पुनर्निर्माण या पुनरावृत्ति या सहेतु वर्णन कहना न्याय्य नहीं होगा। भिन्न भिन्न के काल प्रवाह में पड़ और इस विभिन्न भावावेग पूर्ण स्थिति में प्रतिष्ठित नायक की भावनाओं के रंग में रंगे जाने के कारण इनका रूप ही बदल गया है। अन्त में नायक अपनी नायिका का स्वागत करता है उस स्वागत क्षण पर विगत क्षणों का भार है। साथ ही वह एक आनन्दपूर्ण भविष्य के आशामय उद्देश्य से भी प्रभावित है अर्थात् वह क्षण अतीत वर्तमान और भविष्य सब का मिश्रण है। ऐसी अवस्था में जो एक क्षण की भी सारी बातों को विशेषतः मानसिक व्यापारों को लिपिबद्ध करने की प्रतिज्ञा लेकर चलता है वह भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। अतः उसे निर्वाचन, परिशोधन और परिमार्जन तथा काट-छाँट का आश्रय लेना ही पड़ेगा। परिपूर्णता, चाहे वह एक लघु क्षण की हो अथवा एक लम्बी अवधि की, मनुष्य के बूते की चीज नहीं। वह परमात्मा के लिए सुरक्षित छोड़ देनी चाहिए।

आधुनिक कथाकार जिन्हें अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक जोड़ने Putting-in-every thing School कहा है अपनी कला के द्वारा परमात्मा के स्थान पर अपने को प्रतिष्ठापित करना चाहते हैं और नव साहित्य में घटाना निर्मातृ विश्वसृजश्च कलह का अशोभन दृश्य उपस्थित हो जाता है। हिन्दी कथा साहित्य ने अभी तक अपने को किसी तरह की अतिवादिता से बचाया है और इस कलह की जटिलता से अपनी रक्षा की है। कथाकार का कर्त्तव्य है कि वह बाहर के प्रवाह से ही अपनी सामग्री ले उससे ही अपना गागर भरे और फिर उसे जीवन के प्रवाह में डाल दे। यह पुनः प्रक्षेपन से केवल निकाली हुई क्षति की पूर्ति न हो पर जीवन कहीं अधिक आर्द्र और समृद्ध होकर आगे बढ़े, वह भव्यतर मालूम पड़े ठीक उसी तरह जिस तरह खुले मैदान में गहरी साँस लेने से फफड़े सबलता, सशक्तता तथा विस्तार का अनुभव करते हैं।

पाद टिप्पणियां

१. दधि वेचत व्रज ग्वालिन फिरै ।
गोरस लेन वुलावत कोऊ ताको सुधी नेकहु न करै ।
इनकी वात सुनत नहि स्रवननि, कहति कहाँ ये घरन जरै ।
दूध इह्यों हाँ लेत न कोऊ प्रातहि ते सिर लिये ररै ।
वोलि उठति पुनि लेउ गोपालही घर घर लोक लाज निदरै ।
सूर, श्याम के रूप महारस जाके वल काहू न डरै ।

२. विवेचना, द्वितीय संस्करण सं० २०००, पृ० ११६ ।

३. वेदान्ती (यहाँ वेदांत वाला मनुष्य ।)

४. Novel in France by Martin Turnelle, 1st edition P. 371 । ५. एक पात्र का नाम। ६. प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार ।

६. (क) नदी के दीप, प्रथम संस्करण ।

६. (ख) द्रष्टव्य इस निवन्ध का जैनेन्द्र वाला परिच्छेद ।

७. The liberal Imagination by Lionel Trilling, London 1951, Secker and Warling P. 34 ।

८. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महा कवीनाम्
तत्तदप्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवामनासु

९. Soviet Litrerature To-day by George Reavey LINDSAY DRUMMOOND, 1946, 2 GUNIL FORD place London. W. C. I.

सहायक ग्रन्थों की नामावली

(क) मनोविज्ञान संबंधी सहायक ग्रन्थ

1 Contemporary school of Psychology by R Woodworth
2 Normal and abnormal Psychology by J Ernest Nicole, London
3 Psychiatary for Every man by J A C Brown Philosophical Library New york 1947
4 Hundred years of Psychology by J C. Flugel
5 Outlines of Abnormal Psychology by W Macdugall
6 Psycho dynamics of Abnormal behaviour by J F Brown
7 Collected papers—5 Volumes by S Frend
8 Introductory lectures on Pycho analysis by S Freud
9 Adhunik Manovigyana by Shri Lallji Ram Shukla, Banaras
10 Files of Manovigyana a Hindi Monthly edited by Shri Lallji Ram Shukla, Banaras
11 Man Morals and Society by J C Flugel
12 Leonardo Vinci by S Freud
13 Psychopathology of Every day life by S Freud
14 Psychopathology of Women 2 Vol by Helene Deutsch
15 Our Inner conflict by K Honey
16 Secret self by theodor Reik
17 Listening with the third ear by theodor Reik

(ख) कथा-साहित्य संबंधी आलोचनात्मक और सहायक ग्रन्थ

1 The Twentieth Century Novels by J W Beach
2 Modern Fiction by J Muller
3 Time and Novel by A W Mendilow
4 Supernatural in Fiction by P Penzoldt
5 The English Novelists Edited by D Verschoyle
6 Evolution of English Novels by Stoddard
7 English Novels by Cross
8 Novel in France by Martin Turnell
9 *Cavalcade of English Novel by E Wagenknecht*
10 Common Reader—2 Vol by V woolf
11 Exploration by L C Knights
12 Dostovesky by Andre Gide

13 Literature and Psychology by F. L Lucas.
14. Art of Novel—prefaces by H. James.
15. Decadence—C. E. M. Joad.
16. Guide to Mndern Thought by C. E. M, Joad.
17. Novel and our Time by Alex comfort.
18. Liberal Imaginations by L. Trilling.
19. An Assessment of 20th Century Literature by J. ISSACS.
20. Psycho-analytic Explorations in Arts by Ernst kris.
21. Novel and the Modern world by David Daichis
22. Present world by David Daiches
23. Mirror on the Road by V. O' connor

(ग) हिन्दी के सहायक ग्रन्थ

१. हिन्दी उपन्यास, ले० शिवनारायण श्रीवास्तव
२. साहित्य सदेश का उपन्यास अंक
३. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य, ले० गंगाप्रसाद पाण्डेय
४. जैनेन्द्र के विचार, सं० प्रभाकर माचवे।
५. आलोचना की फाइल
६. सहित्य का मर्म, ले० हजारी प्रसाद द्विवेदी
७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, ले० स्व० रामचन्द्र शुक्ल
८. विवेचना, ले० इलाचन्द जोशी
९. हिन्दी साहित्य—ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१०. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, ले० डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल
११. ध्वन्यालोक
१२. काव्यालोक—ले० स्व० रामदहिन मिश्र
१३, आधुनिक हिन्दी साहित्य, ले० नन्ददुलारे वाजपेयी

उन कथाकारों तथा उनकी रचनाओं की नामावली जिनकी चर्चा इस निबंध में आई है।

१. प्रेमचंद—'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प', 'गबन', गोदान, मानसरोवर—५ भाग।
२. जैनेन्द्र—'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', विवर्त्त, व्यतीत, अनाम स्वामी, एक रात नीलम देश की राजकन्या और अन्य कहानियाँ, पाजेब, जयसंधि, जय वर्धन

३ अज्ञेय—शेखर एक जीवनी, नदी के द्वीप, विपथगा, कोठरी की बात, परम्परा, जयदोल, अपने अपने अजनबी।
४ इलाचन्द्र जोशी—सन्यासी, प्रेत और छाया, पर्दे की रानी, निर्वासित, मुक्तिपथ, जिप्सी, रोमाण्टिक छाया, डायरी के नीरस पन्ने, होली और दिवाली, खण्डहर की आत्मायें।
५ यशपाल—दादा कामरेड, देश द्रोही, दिव्या, मनुष्य के रूप, झूठा सच।
६ 'अश्क'—सितारों के खेल, गिरती दीवारें, गर्म राख
७ भगवती चरण वर्मा—टेढ़े-मेढ़े रास्ते, भूले बिसरे चित्र, सामर्थ्य और सीमा।
८ भगवती प्रसाद वाजपेयी—चलते-चलते
९ सियाराम शरण गुप्त—अंतिम आकांक्षा, गोद, नारी
१० सेठ गोविन्ददास—इन्दुमती
११ नरोत्तम प्रसाद नागर—दिन के तारे
१२ जयशंकर प्रसाद—कंकाल
१३ राहुल सांकृत्यायन—बाइसवीं सदी, जय यौधेय, सिंह सेनापति, मधुर स्वप्न
१४ डा० देवराज—पथ की खोज, अजय की डायरी
१५ द्वारिका प्रसाद—घेरे के बाहर
१६ शिवचंद—नया आदमी
१७ अंचल—चढ़ती धूप
१८ देवकी नन्दन खत्री,—चन्द्रकान्ता संतति
१९ प्रभाकर माचवे—परन्तु
२० पहाड़ी—सराय
२१ विष्णु प्रभाकर
२२ मोहन राकेश—अंधेरे बन्द कमरे
२३ डॉ० रघुवंश—तंतुजाल
२४ *राजेन्द्र प्रसाद सिंह—अमावस और तुलनू*
२५ योगेश गुप्त—छुविनाथ
२६ शशि प्रभा शास्त्री—वीरान रास्ते और झरने
२७ डॉ० रांगेय राघव—पतझर
२८ डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल—रूपाजीवा